

प्रकाशक :

अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ

जोधपुर



शाखा कार्यालय

नेहरू गेट बाहर, ब्यावर (राजस्थान)

☎ : (01462) 251216, 257699, 250328

त्रीणिछेदसुत्राणि

(दशाश्रुतरकन्ध, बृहत्कल्प,
व्यवहार सूत्र)

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

आवरण सौजन्य

विद्या बाल मंडली सोसायटी, मेरठ

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ साहित्य रत्न माला का १२६ वाँ रत्न

त्रीणि छेदसूत्राणि

(दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, बृहत्कल्प सूत्र, व्यवहार सूत्र)

(शुद्ध मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन सहित)

अनुवादक एवं विवेचक

प्रो० डॉ० छगनलाल शास्त्री

एम. ए. (त्रय), पी. एच.डी., काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि

डॉ० महेन्द्रकुमार रांकावत

बी.एस.सी. एम. ए., पी. एच. डी.

सम्पादक

नेमीचन्द बांठिया

पारसमल चण्डालिया

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

शास्त्रा-नेहरू गेट बाहर, व्यावर-305901

☎ (01462) 251216, 257699 फेक्स नं. 250328

द्रव्य सहायक

उदारमना श्रीमान् सेठ जशवंतलाल भाई शाह, बम्बई प्राप्ति स्थान

१. श्री अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, सिटी पुलिस, जोधपुर 2626145
२. शाखा-अ. भा. सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ, नेहरू गेट बाहर, ब्यावर 251216
३. महाराष्ट्र शाखा-माणके कंपाउंड, दूसरी मंजिल आंबेडकर पुतले के बाजू में, मनमाड
४. श्री जशवन्तभाई शाह एदुन बिल्डिंग पहली धोबी तलावलेन पो० बाँ० नं० 2217, बम्बई-2
५. श्रीमान् हस्तीमल जी किशनलालजी जैन प्रीतम हाऊ० काँ० सोसा० ब्लॉक नं० १०
स्टेट बैंक के सामने, मालेगांव (नासिक) 252097
६. श्री एच. आर. डोशी जी-३६ बस्ती नारनौल अजमेरी गेट, दिल्ली-६ 23233521
७. श्री अशोकजी एस. छाजेड़, १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद 5461234
८. श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग, बुलडाणा
९. श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सांगानेरी गेट, भीलवाड़ा 236108
१०. श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगंज, इन्दौर
११. श्री विद्या प्रकाशन मन्दिर, ट्रांसपोर्ट नगर, मेरठ (उ. प्र.)
१२. श्री अमरचन्दजी छाजेड़, १०३ वाल टेक्स रोड, बम्बई 25357775
१३. श्री संतोषकुमार बोयरा बर्द्धमान स्वर्ण अलंकार ३६४, शांतिग सेन्टर, कोटा 2360950

मूल्य : ५०-००

द्वितीय आवृत्ति

१०००

वीर संवत् २५३३

विक्रम संवत् २०६४

मई २००७

मुद्रक - स्वास्तिक प्रिन्टर्स प्रेम भवन हाथी भाटा, अजमेर 2423295

प्रस्तावना

आचार और विचार, धर्म और दर्शन, ज्ञान और विज्ञान, न्याय और नीति आदि सभी दृष्टि से जैन आगम साहित्य का भारतीय साहित्य जगत् में अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। इसका मुख्य कारण इसके उपदेश या तो सर्वज्ञ सर्वदर्शी की वीतरागता अथवा पूर्वधर श्रुतकेवली स्थविर भगवन्तों के विशिष्ट ज्ञान की प्रसादी। जैन दृष्टि से जिन्होंने पूर्णरूपेण राग-द्वेष को जीत लिया, वे जिन, तीर्थंकर, सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाते हैं, उनके मुखारविन्द से निकली हुई वाणी सम्पूर्ण दोषों से रहित होती है यानी वीतरागता के कारण उनकी वाणी में किञ्चित् मात्र दोष की संभावना नहीं रहती और न ही उसमें पूर्वापर विरोध ही होता है। ऐसे तीर्थंकर भगवन्तों के पावन वचनों को गणधर भगवन्त अपनी विमल बुद्धि से सूत्र रूप में संकलन करते हैं, जो अंग साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त जैन साहित्य में अंग-बाह्य साहित्य को भी मान्य किया गया है, जो यद्यपि तीर्थंकर प्रणीत तो नहीं पर पूर्वधर श्रुतकेवली स्थविर भगवन्त द्वारा रचित होता है। ये श्रुतकेवली, सूत्र और अर्थ दोनों दृष्टि से अंग साहित्य में पारंगत होते हैं। अतएव ये जो कुछ भी रचना करते हैं, उनमें किञ्चित् मात्र भी विरोध नहीं होता है। दोनों में मात्र अन्तर इतना ही है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्त्व को प्रत्यक्ष जानते हैं जबकि श्रुत केवली परोक्ष रूप से जानते हैं। साथ ही उनके वचन इसलिए भी प्रामाणिक होते हैं क्योंकि वे नियमतः सम्यग्दृष्टि होते हैं।

जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांग सूत्र में मिलता है। वहाँ पूर्व और अंग के रूप में इसका विभाजन किया गया है। संख्या की दृष्टि से पूर्व चौदह और अंग बारह होते हैं। दूसरा वर्गीकरण नंदी सूत्र में मिलता है, वहाँ सम्पूर्ण आगम साहित्य को अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य के रूप में निरूपित किया गया है। तीसरा वर्गीकरण विषय सामग्री के हिसाब से द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, धर्मकथानुयोग और चारित्रानुयोग के रूप में भी हुआ। चौथा और सब से अर्वाचीन आगमों का वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल और छेद के रूप में किया गया। यह वर्गीकरण सभी में उत्तरवर्ती है जो वर्तमान में प्रचलित है।

प्रस्तुत आगम छेद सूत्र है। छेद शब्द जैन परम्परा के लिए नवीन नहीं है। चारित्र के

पांच भेदों में दूसरा भेद छेदोपस्थापनीय चारित्र है। जिसका आशय पूर्व पर्याय का छेद करके जो नवीन रूप से महाव्रत आरोपण करना है। इन छेद सूत्रों में संयमी साधक के संयमी जीवन में किसी प्रकार के दोष लगने पर उन्हें प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होने का वर्णन है। संयमी साधक पांच आचार का पालक होता है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार, इन पांच आचार के बीच में चारित्राचार को स्थान देने का आशय है कि ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार तथा वीर्याचार की समन्वित साधना निर्विघ्न सम्पन्न हो। इसका एक मात्र साधन चारित्राचार है। चारित्राचार के अन्तर्गत पांच समिति-तीन गुप्ति रूप प्रवचन माता का यथाविध पालन करना आवश्यक है। पांच समितियाँ साधक के लिए निवृत्तिमूलक प्रवृत्ति रूप हैं और तीन गुप्तियाँ तो मात्र त्रिवृत्ति मूलक ही हैं। इन प्रवचन रूप आठ प्रवचन माता का संयमी साधक यद्यपि पूर्ण सावधानी रखता हुआ पालन करता है। फिर भी विषय-कषाय, राग-द्वेष आदि कारण उपस्थित होने पर अथवा अनिच्छा से, विस्मृति से और प्रमाद से समिति, गुप्ति, महाव्रत, संयम मर्यादा में यदाकदा स्खलना होना स्वभाविक है। वह स्खलना अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार अथवा अनाचार रूप में हो सकती है। अतः उनकी शुद्धि के लिए छेद सूत्रों में प्रायश्चित्त का विधान किया है। जिसे ग्रहण करके अपने संयम रत्न को पुनः उज्ज्वल किया जा सकता है। बानी साधक अपने मूलगुण, उत्तरगुण में प्रतिसेवना का घुन लग जाने पर, वह उनके परिहार के लिए प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर सकता है। इसीलिए आगमकार महर्षियों ने छेद सूत्रों को उत्तम सूत्र माना है। इसका समाधान करते हुए फरमाया है कि छेद सूत्रों में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चारित्र की शुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है। श्रमण जीवन में क्या कल्पनीय और क्या अकल्पनीय है? उनकी मर्यादा, कर्तव्य इत्यादि प्रश्नों पर चिंतन किया गया है। साधना जीवन में प्रविष्ट असंयम अंश को काट कर पृथक करना, दोष मलिनता को निकाल कर साफ करना, भूलों से बचने के लिए सतत् सावधान सतर्क रहना, भूल होने पर प्रायश्चित्त आदि ग्रहण कर उसका परिमार्जन करना, यह सब छेद सूत्रों का विषय है।

भगवती/सूत्र शतक ६ उद्देशक ६ तथा उववाई सूत्र में प्रायश्चित्त के दस भेद बतलाये गये हैं यथा - १. आत्तोचना २. प्रतिक्रमण ३. तदुभय ४. विवेक ५. व्युत्सर्ग ६. तप ७. छेद ८. मूल ९. अनवस्थाप्य १०. पाराञ्चिक।

 १. आलोचना - स्वीकृत व्रतों का यथाविध पालन करते हुए छद्मस्थता के कारण जो अतिक्रमण आदि दोष लगे हों, उन्हें गुरु के सन्मुख निवेदन करना।

२. प्रतिक्रमण - अपने कर्तव्य का पालन करते हुए भी जो भूले हुई हैं, उनका "मिच्छामि दुक्कडं" शब्द का उच्चारण कर अपने दोषों से निवृत्त होना।

३. तदुभय - मूल अथवा उत्तरगुणों में लगे अतिचारों की निवृत्ति के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना।

४. विवेक - गृहीत भक्त-पान आदि के सदोष ज्ञात होने पर उन्हें परटना।

५. व्युत्सर्ग - गमनागमन करने पर, निद्रावस्था में बुरा स्वप्न आने पर, नौका आदि से नदी पार करने पर इत्यादि प्रवृत्तियों के बाद निर्धारित श्वासोच्छ्वास काल प्रमाण काया का उत्सर्ग करना अर्थात् खड़े होकर ध्यान करना।

६. तप - प्रमाद-विशेष से अनाचार के सेवन करने पर गुरु द्वारा दिये गये तप का आचरण करना।

७. छेद - अनेक व्रतों की विराधना करने वाले और बिना कारण अपवाद मार्ग का सेवन करने वाले साधु की दीक्षा का छेदन करना छेद प्रायश्चित्त है। यह प्रायश्चित्त छह माह तक का हो सकता है। इससे अधिक प्रायश्चित्त देना आवश्यक होने पर मूल (नई दीक्षा) प्रायश्चित्त दिया जाता है।

८. मूल - जो साधु-साध्वी जानबूझ कर द्वेष भाव से किसी पंचेन्द्रिय प्राणी की घात करे, मृषावाद आदि पापों का अनेक बार सेवन करें और स्वतः आलोचना न करे तो उसकी पूर्वगृहीत दीक्षा का सम्पूर्ण छेदन करना मूल प्रायश्चित्त है।

९. अनवस्थाप्य - हिंसा, चोरी आदि पाप करने पर जिसकी शुद्धि मूल प्रायश्चित्त से भी संभव न हो, उसे गृहस्थ वेष धारण कराये बिना पुनः दीक्षित न करना अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त है। इसमें अल्पकाल के लिए गृहस्थ वेष धारण करना आवश्यक है।

१०. पाराञ्चिक - अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से भी जिनकी शुद्धि संभव न हो, ऐसे विषय, कषाय या प्रमाद की तीव्रता से दोष सेवन करने वाले को जघन्य एक वर्ष उत्कृष्ट बारह वर्ष तक गृहस्था वेष धारण कराया जाता है एवं उस वेष में साधु के सब व्रत नियमों का पालन कराया जाता है, उसके पश्चात् नवीन दीक्षा दी जाती है।

प्रायश्चित्त के इन दस भेदों में प्रथम के छह प्रायश्चित्त तो सामान्य दोषों की शुद्धि के लिए है। चार प्रायश्चित्त प्रबल दोषों की शुद्धि के लिए है। आगम साहित्य में व्याख्याकारों ने छेदार्थ प्रायश्चित्त में अन्तिम चारों प्रायश्चित्तों में प्रथम प्रायश्चित्त यानी सातवें प्रायश्चित्त के लिए आयुर्वेद का एक रूपक प्रस्तुत किया है। उसमें बतलाया गया कि किसी व्यक्ति का अंग-उपांग रोग या विष से इतना अधिक दूषित हो जाय कि उपचार से उसके स्वस्थ होने की संभावना ही नहीं रहे, तो शल्य चिकित्सा से उस अंग-उपांग का छेदन करना उचित है, पर रोग या विष शरीर में व्याप्त नहीं होने देना चाहिए क्योंकि ऐसा न करने पर अकाल मृत्यु अवश्यंभावी है। किन्तु अंग छेदन से पूर्व वैद्य का कर्तव्य है कि रुग्ण व्यक्ति और उसके निकट सम्बन्धियों को समझाए कि इनके अंग-उपांग रोग से इतने दूषित हो गए हैं कि अब औषधोपचार से स्वस्थ होना संभव नहीं है। जीवन की सुरक्षा और वेदना से मुक्ति चाहो तो शल्य क्रिया से अंग-उपांग का छेदन करवा लो। यद्यपि शल्य क्रिया से अंग-उपांग का छेदन करते समय तीव्र वेदना तो होगी पर उस थोड़ी देर की वेदना से शेष जीवन उसका सुरक्षित और रोग रहित हो जायेगा। इस प्रकार समझाने पर रुग्ण व्यक्ति और उसके अभिभावक अंग छेदन के लिए सहमत हो जाय तो चिकित्सक का कर्तव्य है कि उस रोगी के अंग का छेदन कर उसके शेष शरीर को व्याधि से मुक्त करे।

इस रूपक की तरह ही आचार्य दोषसेवी अनगार को समझावे कि आपके द्वारा दोष प्रतिसेवना से आपके उत्तर गुण इतने अधिक दूषित हो गए हैं कि अब उनकी शुद्धि आलोचनादि सामान्य प्रायश्चित्तों से संभव नहीं हैं। अब आप चाहे तो प्रतिसेवनादि काल के दिनों का छेदन कर शेष संयमी जीवन को सुरक्षित किया जाये अन्यथा न समाधिभ्रमण होगा और न ही भवभ्रमण से मुक्ति होगी। इस प्रकार समझाने पर वह अनगार यदि मान जाय तो आचार्य महाराज छेद प्रायश्चित्त देकर शुद्धि करे।

प्रथम के सात प्रायश्चित्त वेष युक्त साधक को उत्तर गुणों में लगे दोषों की शुद्धि के लिए दिए जाते हैं जबकि मूल गुणों में लगे दोषों की शुद्धि के मूलादि तीन अन्तिम प्रायश्चित्तों से होती है।

साधक का साधना जीवन सरल, छल कपट रहित होना चाहिए। उसका जीवन खुली

किताब के सदृश्य हो, तब ही उसकी साधना सफल हो सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन में इस बात को निम्न गाथा के द्वारा इस प्रकार निरूपित किया गया है -

सोही उज्जय-भूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिदुइ।

णिव्वाणं परमंजाइ, घयसित्तिव्व पावए ॥१२॥

भावार्थ - मनुष्य-जन्म, धर्मश्रवण, धर्मश्रद्धा और संयम में परक्रम यह चार अंग पाकर मुक्ति की ओर प्रवृत्त हुए सरल भाव वाले साधक की शुद्धि होती है और शुद्धि प्राप्त आत्मा में धर्म ठहर सकता है। घी से सींची हुई अग्नि के समान तप तेज से देदीप्यमान होता हुआ वह आत्मा परम निर्वाण-मोक्ष को प्राप्त करता है।

हाँ तो संयमी साधक को पूर्ण सर्तकता एवं सावधानी रखते हुए भी छद्मस्थता अनिच्छा, प्रमाद वश कभी दोष का सेवन हो जाय तो उसे अपने दोष को सहज भाव से स्वीकार कर आलोचना प्रायश्चित्त लेकर शुद्धिकरण कर लेना चाहिए। तब ही उसकी आलोचना फलदायक हो सकती है। उसके विपरीत जो साधक अपनी साधना में लगे दोषों को अपनी वक्र और ~~जड़ बुद्धि~~ से ~~उन्की~~ आलोचना सहज भाव से नहीं करता तो उसकी शुद्धि कभी नहीं हो सकती है। कहने का तात्पर्य दोष सेवन करने वाले साधक की मनोभूमिका ऋजु, छल-कपट से रहित होनी चाहिए। उसके अन्तर हृदय में पश्चात्ताप की भावना हो, तभी उसके दोषों का परिमार्जन संभव है।

इसी प्रकार सुनने वाले आचार्यादि भी धीर, वीर, गंभीर हो, जो आगम के गहन ज्ञाता हों, प्रायश्चित्त के विधिविधानों के ज्ञाता (मर्मज्ञ) बहुश्रुत हों, तटस्थ हों, परिस्थिति का परिज्ञान करने में सक्षम हों, आलोचक के द्वार कहे गये दोषों को गुप्त रखने वाले हों। स्वयं निर्दोष हों, पक्षपात रहित हों, आदेय वचन वाले हों, ऐसे सुयोग्य साधक ही दोषी साधक को उचित प्रायश्चित्त देकर उसे निर्दोष एवं संयम में स्थित बना सकते हैं।

छेद सूत्र के दो प्रमुख कार्य हैं - दोषों से बचाना और प्रमादवश लगे हुए दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त के विधि विधान का निरूपण। प्रस्तुत छेद सूत्र - दशाश्रुत स्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार तीनों आगम चौदहपूर्वी भद्रबाहु स्वामी द्वारा प्रत्याख्यान पूर्व का निर्यूहण माना गया है। दशाश्रुत स्कन्ध की दस अध्ययन (दशा), बृहत्कल्प के छह उद्देशक और व्यवहार के दस उद्देशक हैं, जिनकी संक्षिप्त विषय सामग्री इस प्रकार है।

दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र

दशाश्रुत स्कन्ध के कुल दस अध्ययन (दशा) हैं यथा - १. असमाधिस्थान २. सबल दोष ३. अशातना ४. गणिसम्पदा ५. चित्त समाधी स्थान ६. उपासक प्रतिमा ७. भिक्षु प्रतिमा ८. पर्युषण कल्प ९. महामोहनीय स्थान १०. आयति स्थान।

१. असमाधि स्थान - जिन कार्यों से चित्त में शांति रहे, ज्ञान, दर्शन, चारित्र में निरन्तर विकास हो, वे समाधि स्थान कहलाते हैं। इसके विपरीत जिन कार्यों से चित्त में अप्रशस्त एवं अशान्त भाव उत्पन्न हो, जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र में बाधक हो। जो साधना जीवन को चोपट कर दे उसे असमाधि स्थान कहा गया है। ये असमाधि स्थान बीस हैं - १. उतावल से चले २. बिना पूंजे चले ३. अयोग्य रीति से पूंजे ४. पाट-पाटला अधिक रखे ५. बड़ों के गुरुजनों के सामने बोले ६. वृद्ध-स्थविर-गुरु का उपघात करे (मृत प्रायः करे) ७. साता-रस-विभूषा के निमित्त एकेन्द्रिय जीव हणें ८. पल पल में क्रोध करे ९. हमेशा क्रोध में जलता रहे १०. दूसरे के अवगुण बोले, चुगली-निंदा करे ११. निश्चयकारी भाषा बोले १२. नया क्लेश खड़ा करे १३. दबे हुए क्लेश को पीछा जगावे १४. अकाल में स्वाध्याय करे १५. सचिन्त पृथ्वी से भरे हुए हाथों से गोचरी करे १६. एक प्रहर रात्रि बीतने पर भी जोर-जोर से बोले १७. गच्छ में भेद उत्पन्न करे १८. क्लेश फैला कर गच्छ में परस्पर दुःख उपजावे १९. सूर्य उदय होने से अस्त होने तक खाया ही करे और २०. अनेषणीय अप्रासुक आहार लेवे।

२. सबल दोष - जिन कार्यों को करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट होती है, जो चारित्र को चित्तकबरा बना डाले, उन्हें सबल कहा गया है। वे सबल दोष २१ हैं - १. हस्तकर्म करे। २. मैथुन सेवे। ३. रात्रि-भोजन करे। ४. आधाकर्मी आहारादि सेवन करे। ५. राजपिण्ड सेवन करे। ६. पांच बोल सेवे - खरीद किया हुआ, उधार लिया हुआ, जबरन छिना हुआ, स्वामी की आज्ञा बिना लिया हुआ और स्थान पर या सामने लाकर दिया हुआ आहार आदि ग्रहण करे (साधु को देने के लिए ही खरीदा हो। अन्यथा स्वाभाविक तो सभी खरीदा जाता है)। ७. त्याग कर के बार-बार तोड़े। ८. छह-छह महीने में गण-संप्रदाय-पलटे। ९. एक मास में तीन बार कच्चे जल का स्पर्श करे - नदी उतरे। १०. एक मास में तीन बार माया (कपट) करे। ११. शय्यातर (स्थान दाता) के यहाँ का आहार करे।

१२. जानबूझ कर हिंसा करे। १३. जानबूझ कर चोरी करे। १५. जानबूझ कर सचित्त-पृथ्वी पर शयन-आसन करे। १६. जानबूझ कर सचित्त-मिश्र पृथ्वी पर शय्या आदि करे। १७. सचित्त शिला तथा जिसमें छोटे-छोटे जन्तु रहें, वैसे काष्ठ आदि वस्तु पर अपना शयन-आसन लगावे। १८. जानबूझ कर दस प्रकार की सचित्त वस्तु खावे-मूल, कंद, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। १९. एक वर्ष में दस बार सचित्त जल का स्पर्श करे - नदी उतरे। २०. एक वर्ष में दस बार माया (कपट) करे। २१. सचित्त जल से भीगे हुए हाथ से गृहस्थ, आहारादि देवे और उसे जानता हुआ ले कर भोगवे।

३. आशातना - अपने जिस आचरण - व्यवहार से गुरु भगवन्तों, ज्ञान, दर्शन, चारित्र का, अपमान हो वे आशातना कहलाती है। वे आशातनाएं तेतीस कही गई हैं - १. गुरु या बड़ों के सामने शिष्य अविनय से चले। २. गुरु आदि के बराबर चले। ३. गुर्वादि के पीछे भी अविनय से चले। ४-६. गुर्वादि के आगे-पीछे या बराबर अविनय से खड़ा रहे। ७-९. गुर्वादि के आगे पीछे या बराबर अविनय से बैठे। १०. बड़ों के साथ शिष्य स्थण्डिल जावे और उनसे पहले शौचकर्म कर के आगे चला आवे। ११. गुरु के साथ शिष्य बाहर गया हो और पीछा लौटने पर ईर्यापथिकी पहले प्रतिक्रमे। १२. कोई पुरुष उपाश्रय में आवे तब उनसे गुरु से पहले ही शिष्य बोले। १३. रात्रि के समय जब गुरु कहे- 'अहो आर्य! कौन नींद में है और कौन जाग रहा है?' तब आप जागते हो, तो भी नहीं बोले। १४. आहारादि ला कर उसकी आलोचना पहले अन्य मुनि के सामने करे और बाद में गुरु के समक्ष करे। १५. आहारादि पहले अन्य मुनि को बतावे और बाद में गुरु को बतावे। १६. आहारादि के लिए पहले अन्य मुनि को आमंत्रण दे और बाद में गुरु को दे। १७. गुरुजनों को पूछे बिना ही अन्य मुनियों को आहारादि देवे। १८. बड़ों के साथ भोजन करते समय, सरस मनोज्ञ आहार स्वयं अधिक तथा शीघ्र करे। १९. गुर्वादि के पुकारने पर भी मौन रहे। २०. गुर्वादि के बुलाने पर अपने आसन पर बैठे ही कहे - "मैं यहाँ हूँ," परन्तु आसन छोड़ कर उनके पास जावें नहीं। २१. गुरु के बुलाने पर जोर से तथा अविनय से कहे कि "क्या कहते हो?" २२. गुर्वादि कहे - 'हे शिष्य! यह काम (वैयावच्चादि) तेरे लाभकारी है, इसे कर, तब कहे कि - 'यदि लाभकारी है, तो आप ही क्यों नहीं कर लेते' २३. शिष्य, बड़ों के साथ कठोर-कर्कश भाषा बोले। २४. शिष्य, गुरुजन के साथ वैसे ही शब्द बोले, जैसे गुरुजन शिष्य के साथ बोलते हैं।

२५. गुरुजन धर्मोपदेश देते हों तब सभा में ही कहे कि 'आप जो कहते हो वैसा उल्लेख कहाँ है?' २६. गुरुजन से व्याख्यान में कहे कि - 'आप तो भूलते हो, यह कहना सत्य नहीं है।' २७. गुरुजन के व्याख्यान को ध्यान से नहीं सुन कर उपेक्षा करे। २८. गुरुजन व्याख्यान देते हों, तब सभा में भेद डालने के लिए कहे - "महाराज! गोचरी का या अमुक काम का समय हो गया है।" २९. गुरुजन व्याख्यान देते हों, तब श्रोताजन के मन को व्याख्यान से हटाने की चेष्टा करे। ३०. गुरुजन का व्याख्यान पूरा नहीं हुआ हो, उसके पूर्व ही आप व्याख्यान शुरू कर दे। ३१. गुर्वादि की शय्या-आसन को पाँव से टुकरावे। ३२. बड़ों की शय्या पर आप खड़ा रहे, बैठे, सोए। ३३. गुरु के शयन आसन से अपना शयन आसन ऊँचा करे या बराबर (समान) करे और उस पर सोए, बैठे तो आशातना लगे।

४. **गणि सम्पदा** - संत समुदाय को गण कहा जाता है और जो गण का अधिपति होता है, वह गणी कहलाता है। इनकी आठ सम्पदाएँ कही गई हैं। आचार सम्पदा, श्रुत सम्पदा, शरीर सम्पदा, वचन सम्पदा, वाचना सम्पदा, मति सम्पदा, प्रयोग मति सम्पदा और संग्रह परिज्ञा सम्पदा।

५. **चित्त समाधि** - इस दशा में चित्त समाधि के दस स्थानों का वर्णन है। संयमी साधक को धर्म का चिन्तन करते हुए ऐसी अपूर्व आत्म समाधि उत्पन्न होती है जो पहले कभी उत्पन्न नहीं हुई। धर्म-भावना, स्वप्नदर्शन, जातिस्मरणज्ञान, देवदर्शन, अवधिज्ञान, अवधिदर्शन, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, केवल दर्शन, केवल मरण (निर्वाण) इन दस स्थानों के वर्णन के साथ महामोहनीय के विषय पर भी प्रकाश डाला गया है।

६. **उपासक प्रतिमा** - इसमें श्रावक की कठोरतम साधना के उच्च नियमों का परिज्ञान कराया गया है। श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन कर यह बतलाया गया है जो श्रावक सर्व विरति साधना अंगीकार करने में अपने आप को असमर्थ मानता है। वह गृहस्थावस्था में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएँ स्वीकार कर श्रावक धर्म की उत्कृष्ट साधना कर सकता है।

७. **भिक्षु प्रतिमा** - इस दशा में साधु की कठिनतम साधना का वर्णन किया गया है भिक्षु की कुल बारह प्रतिमाएँ हैं (कठिन साधना पद्धति) इन प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षु को सर्व प्रथम चौदह कठोर नियमों का पालन करना होता है। प्रथम सात प्रतिमा एक-

 एक माह की है। प्रथम प्रतिमा में एक दत्ति आहार और पानी तथा दूसरी में दो दत्ति आहार और पानी इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी, सातवीं में क्रमशः तीन चार पांच छह और सात दत्ति आहार और पानी लेना कल्पता है।

आठवीं, नववीं, दसवीं प्रतिमा सात-सात दिन रात्रि की है जिनमें चौविहार एकान्तर तप करना तथा विशेष आसन से सोने एवं ध्यान करना बतलाया है। ग्यारहवीं प्रतिमा एक अहोरात्रि की बतलाई गई। इनमें साधक चौविहार बेला करे, नगर के बाहर जाकर दोनों हाथों एवं घुटनों को लम्बा करके दण्ड की तरह खड़े होकर कायोत्सर्ग करना होता है। बारहवीं प्रतिमा एक रात्रि की जिसमें चौविहार तैले की आराधना की जाती है। नगर के बाहर जाकर एकान्त में दृष्टि किसी पुद्गल पर रख कर कायोत्सर्ग किया जाता है। उपसर्ग आने पर संभाव पूर्वक सहन करने पर तीन ज्ञानों (अवधि, मनःपर्वय केवल) से एक ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और विचलित होने पर दीर्घकाल तक रोगी हो जाता है, पागल हो जाता है अथवा केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

८. पर्युषणा कल्प - इस दशा का नाम "पर्युषणाकल्प" है, इसका उल्लेख ठाणांग सूत्र के दसवें ठाणों में है। प्रस्तुत आगम में संक्षिप्त में प्रभु महावीर के उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में देवलोक से च्यवन, गर्भ संहरण, दीक्षा, केवलज्ञान तथा स्वाति नक्षत्र में मोक्ष पधारने का वर्णन किया गया है। शेष भाग को व्यवच्छिन्न माना है। जबकि कुछ मनीषी विद्वानों का मत वर्तमान में उपलब्ध कल्पसूत्र के समाचारी प्रकरण को दशाश्रुत स्कन्ध की आठवीं दशा मानना है। यह शोध का विषय है।

९. महामोहनीय - इस दशा में महामोहनीय कर्म बन्ध के तीस स्थानों का वर्णन है। जहाँ दुष्ट अध्यवसायों की तीव्रता और क्रूरता के प्रबल परिणाम हो और जिन स्थानों के आचरण से जीव के उत्कृष्ट स्थिति के कर्मों का बन्ध होता है, ऐसे स्थान महामोहनीय स्थान कहलाते हैं। जैसे - त्रस जीव को जल में डुबा कर, मस्तक पर गीला चमड़ा बांध, शस्त्र से छेदन भेदन कर मारना, बहुश्रुत नहीं होते हुए अपने को बहुश्रुत कहना, तपस्वी न होते हुए भी तपस्वी कहना, ब्रह्मचारी न होते हुए ब्रह्मचारी कहना, ज्ञानदाता गुरु का उपहास करना, इसी प्रकार के अन्य स्थानों का क्लिष्ट भावों से सेवन करने से महामोहनीय कर्म का बंध होता है।

१०. आयतिस्थान - इस दशा में विभिन्न प्रकार के निदानों का वर्णन है। मोह के उदय से भौतिक लालसाओं, कामादि की इच्छा की पूर्ति के संकल्प कर अपनी साधना दाव पर लगा डालने को आगमिक भाषा में निदान कहा गया है। निदान के परिणाम स्वरूप मोक्ष के अनन्त सुख देने वाली साधना को साधक कोडियों में - तुच्छ भौतिक सुखों में बेच डालता है और अपना संसार परिभ्रमण बढ़ा लेता है। इसी कारण इस दशा का नाम "आयति" रखा गया है। आयति से "ति" पृथक कर लेने पर "आय" अवशिष्ट रहता है। जिसका मतलब है लाभ यानी जिस निदान से जन्म मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है।

बृहत्कल्प सूत्र

वर्तमान के कल्प सूत्र (पर्युषणा कल्प) कि अपेक्षा इस सूत्र में साधु-साध्वी की समाचारी का विस्तृत वर्णन है। अतः इसे "बृहत्कल्प" कहते हैं। टीका भाष्य में इसे 'महाकल्प' भी कहा है, जैसे - 'खुडियायार कहा' बताया तो 'महल्लियायार कहा' भी बताया है।

इस सूत्र की रचना १४ पूर्वी आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने की है। ऐसा दशाश्रुतस्कन्ध की निर्युक्ति में बताया है। दुष्काल के समय में इस सूत्र की रचना हुई ऐसा इतिहासकारों का मानना है, उस समय लोगों के धान्य खाने में कमी होने से लोग जलीय कंदों एवं फलों आदि को खाते थे। उनकी आकृतियाँ भी तरह-तरह की होती थी वैसे वस्तुएं प्राप्त होने पर साधु-साध्वियों को आहारादि किस विधि से ग्रहण करना चाहिए उनका वर्णन प्रारंभ के पांच सूत्रों में बताया है।

वैसे कल्प शब्द अनेक अर्थों का बोधक है। किन्तु प्रस्तुत आगम में कल्प शब्द का आशय धर्म मर्यादा से है। इस आगम में श्रमण-श्रमणियों के आचार विषयक कल्पनीय-अकल्पनीय, विधि-निषेध, उत्सर्ग, अपवाद, तप, प्रायश्चित्त आदि का विस्तृत चिन्तन किया गया है। इसके छह उद्देशक हैं -

प्रथम उद्देशक - इस उद्देशक में १. तालप्रलंब फल अखण्ड एवं अपक्व निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों ग्रहण न करने २. वर्षा ऋतु के अलावा हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में किसी नगर में निर्ग्रन्थ को एक माह और निर्ग्रन्थनियों दो माह अधिक ठहरना नहीं कल्पता ३. बाजार में जहाँ पुरुषों का आवागमन ज्यादा हो, ऐसे उपाश्रयों में साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता,

साधुओं को कल्पता है, बिना दरवाजे वाले मकान में साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता, साधुओं को कल्पता है, साधु-साध्वी को चिलमिलिका (मच्छरदानी) रखनी कल्पती है, साधु-साध्वी को जलाशय के किनारे बैठना नहीं कल्पता, चित्र युक्त मकान में ठहरना नहीं कल्पता, साध्वियों को शय्यातर के संरक्षण में ठहरना चाहिए, साधुओं के लिए संरक्षण आवश्यक नहीं, साधु-साध्वियों को विरोधी राजा के राज्य में जाना नहीं कल्पता। इसी प्रकार रात्रि में आहार रखना विहार करना आदि का निषेध बतलाया है।

दूसरा उद्देशक - इस उद्देशक में बतलाया गया जिस उपाश्रय में धान (अनाज) बिखरा हुआ हो उसमें साधु साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता, जिस मकान की सीमा में मद्य के घड़े या अचित्त शीत-उष्ण जल के घड़े पड़े हो, अग्नि या दीपक पूरी रात जलते हो, जिस मकान में खाद्य पदार्थ के बरतन इधर-उधर बिखरे पड़े हों, वहाँ साधु-साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता, असुरक्षित स्थानों पर साध्वियों को ठहरना नहीं कल्पता, अनेक व्यक्तियों के स्वामित्व के मकान में एक की आज्ञा को शय्यातर मानना, इसी प्रकार वस्त्र, रजोहरण आदि के कल्पाकल्प आदि का इसमें वर्णन किया गया है।

तीसरा उद्देशक - इस उद्देशक में साधु को साध्वियों के उपाश्रय और साध्वियों को साधु के उपाश्रय में सोना नहीं कल्पता, बहुमूल्य वस्त्र एवं अखण्ड धान साधु-साध्वियों को रखना नहीं कल्पता, साधु को लगोट जाँघिया नहीं रखना चाहिए। साध्वी को ये उपकरण कल्पते हैं। दीक्षा ग्रहण करने समय साधु-साध्वी को वस्त्र, रजोहरण एवं आवश्यक उपकरण ग्रहण करना कल्पता है, चातुर्मास में साधु-साध्वी को वस्त्र ग्रहण करना नहीं कल्पता है, स्वस्थ साधु-साध्वी को गृहस्थ के घर बैठना नहीं कल्पता है, शय्यातर अथवा अन्य गृहस्थ के यहाँ से लाई कोई वस्तु विहार से पूर्व उसे लौटा देना चाहिए, साधु साध्वी जहाँ भी ठहरे हुए हैं उस मकान के मालिक से आज्ञा लेना आवश्यक है, नये आए हुए साधु-साध्वी पूर्वाज्ञा में ठहर सकते हैं, दीक्षा पर्याय के क्रम से वंदन व्यवहार, गृहस्थ के घर बैठकर चर्चा वार्ता करना साधु-साध्वी के लिए कल्पनीय नहीं है, इत्यादि विभिन्न विषयों का इसमें वर्णन है।

चौथा उद्देशक - इस उद्देशक में हस्त कर्म, मैथुन सेवन एवं रात्रि भोजन करने वाले साधु-साध्वी को अनुद्घातिक प्रायश्चित्त, क्रोध वश किसी साधु की घात करने, विषयासक्ति से साध्वी-स्त्री आदि विषय सेवन करने एवं मदिरा आदि नशीली वस्तुओं के सेवन पर साधु

 को दसवाँ पाराञ्चिक प्रायश्चित्त का विधान, तीन प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा देने का निषेध, तीन अवगुण वाले (दुष्ट मूढ़ और कदाग्रही) की वाचना देने का निषेध, प्रथम प्रहर के आहार पानी को चतुर्थ प्रहर में ग्रहण नहीं करना, दो कोस से आगे आहार-पानी ले जाकर नहीं भोगना और औद्देशिक आधाकर्मी आहार पानी ग्रहण करना नहीं इत्यादि अनेक विषयों के कल्प्याकल्प्य का इसमें विधान है।

पाँचवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में मैथुन भाव के प्रायश्चित्त का, क्लेश करके आये हुए भिक्षु के प्रति कर्तव्य का, संसक्त आहार के विवेक का, साध्वी को एकाकी विचरण का, उपाश्रय के बाहर आतापना लेने का, अनेक उपकरणों के कल्प्याकल्प्य का, परिवारित आहार औषध के कल्प्याकल्प्य का, गोचरी करते समय सचित्त जल की बूंदें गिर जाने पर कल्प्याकल्प्य, पौष्टिक आहार आने पर उसके सेवन इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

छठा उद्देशक - इस उद्देशक में साधु साध्वी को छह प्रकार के वचन बोलने का निषेध, साधु-साध्वी पर किसी प्रकार असत्य आरोप लगाने का निषेध, उत्सर्ग में साधु-साध्वी का और साध्वी-साधु के पैर का कांटा, आँख की रज आदि नहीं निकाल सकते, किन्तु परिस्थिति वश निकालने का विधान, इसी प्रकार एक दूसरे को सहारा देने, परिचर्या आदि करने का विधान, साधु-साध्वी को संयम नाशक छह दोषों को जानकर उनके त्याग का विधान इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

व्यवहार सूत्र

बृहत्कल्प की भांति व्यवहार सूत्र भी छेद सूत्र है। दोनों सूत्र एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें साधु-साध्वी के आचार विषयक विधि-निषेध, उत्सर्ग, अपवाद तप प्रायश्चित्त आदि पर चिंतन किया गया है। इसके दस उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक - इस उद्देशक में कपट रहित और कपट सहित आलोचना करने वाले तथा बार-बार दोषों का सेवन करने वाले साधु-साध्वी के प्रायश्चित्त का विधान, पारिहारिक एवं अपारिहारिक साधु-साध्वी के एक साथ बैठने, रहने आदि के कल्प्याकल्प्य, एकल विहारी साधु आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि के पुनः गच्छ में आने की भावना पर

उनके छेद प्रायश्चित्त का विधान, दोष का सेवन करने वाला साधु-साध्वी किन-किन के पास आलोचना कर सकते हैं इत्यादि विषयों का चिन्तन किया गया है।

दूसरा उद्देशक - इस उद्देशक में परिहार तप वहन करने का विधान, रुग्ण साधु साध्वी की उपेक्षा कर उन्हें गच्छ से बाहर नहीं निकालना बल्कि अग्लानभाव से सेवा करने का विधान, आक्षेप एवं विवाद पूर्ण स्थिति प्रमाणित होने पर प्रायश्चित्त देना इत्यादि विषयों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

तीसरा उद्देशक - इस उद्देशक में सिंघाड़ा प्रमुख बनकर विचरने वाले साधु- साध्वी की योग्यता, आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक के पद के लिए कितनी दीक्षा पर्याय, आगमिक जानकारी की आवश्यकता होनी चाहिए साथ ही परिस्थिति वश निर्धारित योग्यता से कम योग्यता वाले को भी इस पद पर आरूढ किया जा सकता है, आचार्य उपाध्याय की नेश्राय में तरुण एवं नवदीक्षित साधुओं को रहने का विधान, चतुर्थव्रत भंग करने वाले, छल कपट करने वाले को इस पद से मुक्त करने का विधान इत्यादि अन्य विषयों पर इस उद्देशक में चिन्तन किया गया है।

चौथा उद्देशक - इस उद्देशक में आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक कम से कम कितने साधुओं के साथ विचरण करे, सिंघाड़ा प्रमुख काल धर्म को प्राप्त होने पर योग्य साधु को उनके स्थान पर नियुक्त करना, आचार्य के निर्वाण होने पर उनके निर्देशानुसार अन्य साधु को उनके स्थान पर नियुक्त करना, बड़ी दीक्षा का समय निर्धारण करना, अन्य गण में अध्ययन आदि के लिए गये साधु के साथ व्यवहार का विवेक, अनेक साधु, आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक साथ में विचरण करते समय किन-किन बातों का ध्यान रखना इत्यादि विषयों पर चिन्तन किया गया है।

पाँचवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में प्रव्रतनी, गणावच्छेदिका को कम से कम कितनी साध्वियों के साथ विचरण करना चाहिए, साध्वी प्रमुखा काल धर्म प्राप्त हो जाने पर शेष साध्वियों में से योग्य साध्वी को साध्वी प्रमुखा बना कर विचरण करे, प्रव्रतनी काल धर्म को प्राप्त होने पर उनके निर्देशानुसार अन्य को उनके स्थान पर नियुक्त करे और वह योग्य न हो तो अन्य को उनके स्थान पर नियुक्त करे, आचारांग निशीथ सूत्र प्रत्येक साधु साध्वी को अर्थ

सहित कण्ठस्थ धारण करना चाहिए, इसके अलावा साधु साध्वी को परस्पर सेवा करने का विधान सर्प काट खा जाने पर चिकित्सा आदि विषयों का कथन किया गया है।

छठा उद्देशक - इस उद्देशक में अपने जातिजनों के घरों में जाने के लिए आचार्यादि की विशेष आज्ञा प्राप्त करना, बिना गीतार्थ साधु के साथ अकेले को उनके वहाँ नहीं जाना चाहिये, आचार्य, उपाध्याय के आचार सम्बन्धी पांच अतिशय और गणावच्छेदक के दो अतिशय का वर्णन, गीतार्थ और अगीतार्थ साधुओं के निवास सम्बन्धी विचारणा, एकल विहारी साधु के निवास सम्बन्धी विचारणा इसके अलावा शुक्रपुद्गल निष्कासन का प्रायश्चित्त आदि कथन किया गया है।

सातवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में अन्य गच्छ से आ हुई दूषित आन्वार वाली साध्वी को प्रवर्तिनी बिना आचार्य को पूछे और दोषों का शुद्धिकरण किये बिना नहीं ले सकती, उपेक्षा पूर्वक तीन बार एषणा दोष का सेवन करने पर साधु-साध्वी को प्रायश्चित्त का विधान, कब बिना साध्वी के संत किसी सती को दीक्षा दे सकते, इसी प्रकार साध्वी बिना साधु की उपस्थिति में संत को दीक्षा दे सकती है, अस्वाध्याय काल टाल कर स्वाध्याय करना, अपने शारीरिक अस्वाध्याय में स्वाध्याय नहीं करना, साधु-साध्वी के मृतशरीर को परठने की विधि, शय्यातर के द्वारा मकान बेचे और किराये दिये जाने नूतन स्वामी की आज्ञा लेना आदि विषयों का कथन किया गया है।

आठवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में स्थविर गुरु भगवन्तों की आज्ञा से शयनासन भूमि का ग्रहण करना, व्याख्यानदि के लिए ऐसा पाट आदि लाना जो सरलता से एक हाथ में उठा कर लाया जा सके, एकल विहारी वृद्ध साधु की औपग्रहिक उपकरण हो तो उन्हें भिक्षाचारी के लिए जाते समय किसी की देखरेख में छोड़ सकता है, साधु-साध्वी के उपकरण रास्ते में गिर जाने पर अन्य साधु साध्वी को मिलने पर कैसा विवेक रखना, सदा ऊनोदरी तप करना इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

नववाँ उद्देशक - इस उद्देशक में किन परिस्थिति में शय्यातर का खाद्य पदार्थ लेना कल्पता है, चार प्रकार की दत्तियों की मर्यादा में भिक्षा ग्रहण कर साधु प्रतिमाओं की आराधना कर सकते हैं, दत्तियों के स्वरूप, अभिग्रह योग्य आहार के प्रकारों का इत्यादि का कथन किया गया है।

दसवाँ उद्देशक - इस उद्देशक में चन्द्रप्रतिमाओं का, आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा, जीत इन पांच व्यवहारों का जिस समय जो उपलब्ध हो उनका क्रमशः निष्पक्ष पालन करने, सेवा कार्य एवं गण कार्यों में साधु को किस प्रकार संलग्न रहना चाहिये, स्थविर भगवन्तों के प्रकार, दीक्षा के लिए आयु का कालमान अवयस्क (१६ वर्ष से कम उम्र) वाले को आचारांग और निशीथ की वाचना न देना, आचार्यादि दस की भाव पूर्वक वैयावृत्य करना इत्यादि विषयों का कथन किया गया है।

इस आगम का अनुवाद जैन दर्शन के जाने-माने विद्वान् डॉ० छगनलालजी शास्त्री काव्यतीर्थ एम.ए., पी.एच.डी. विद्यामहोदधि ने किया है। आपने अपने जीवन काल में अनेक आगमों का अनुवाद किया है। अतएव इस क्षेत्र में आपका गहन अनुभव है। प्रस्तुत आगम के अनुवाद में भी संघ द्वारा प्रकाशित अन्य आगमों की शैली का ही अनुसरण आदरणीय शास्त्रीजी ने किया है यानी मूल पाठ, कठिन शब्दार्थ, भावार्थ एवं विवेचन आदि। आदरणीय शास्त्रीजी के अनुवाद की शैली सरलता के साथ पांडित्य एवं विद्वता लिए हुए है। जो पाठकों के इसके पठन अनुशीलन से अनुभव होगी। आदरणीय शास्त्रीजी के अनुवाद में उनके शिष्य डॉ० श्री महेन्द्रकुमारजी का भी सहयोग प्रशंसनीय रहा। आप भी संस्कृत एवं प्राकृत के अच्छे जानकार हैं। आपके सहयोग से ही शास्त्रीजी इस विशालकाय शास्त्र का अल्प समय में ही अनुवाद कर पाये। अतः संघ दोनों आगम मनीषियों का आभारी है।

इस अनुवादित आगम को परम श्रद्धेय श्रुतधर पण्डित रत्न श्री प्रकाशचन्द्रजी म. सा. की आज्ञा से पण्डित रत्न श्री लक्ष्मीमुनिजी म. सा. ने गत कोण्डागांव चातुर्मास में सुनने की कृपा की। सेवाभावी सुश्रावक श्री दिलीपजी चोरड़िया, कोण्डागांव निवासी ने इसे सुनाया। पूज्य श्री जी ने आगम धारणा सम्बन्धित जहाँ भी उचित लगा संशोधन का संकेत किया। तदनुसार यथास्थान पर संशोधन किया गया। तत्पश्चात् मैंने एवं श्रीमान् पारसमलजी चण्डालिया ने पुनः सम्पादन की दृष्टि से इसका पूरी तरह अवलोकन किया। इस प्रकार प्रस्तुत आगम को प्रकाशन में देने से पूर्व सूक्ष्मता से पारायण किया गया है। बावजूद इसके हमारी अल्पज्ञता की वजह से कहीं पर भी त्रुटि रह सकती है। अतएव समाज के विद्वान् मनीषियों की सेवा में हमारा नम्र निवेदन है कि इस आगम के मूल पाठ, अर्थ, अनुवाद आदि में कहीं पर भी कोई अशुद्धि, गलती आदि दृष्टिगोचर हो तो हमें सूचित करने की कृपा करावें। हम उनके आभारी होंगे।

संघ का आगम प्रकाशन का कार्य पूर्ण हो चुका है। इस आगम प्रकाशन के कार्य में **धर्म प्राण समाज रत्न तत्त्वज्ञ मुश्रावक श्री जशवंतलाल भाई शाह एवं श्राविका रत्न श्रीमती मंगला बहन शाह, मुम्बई** की गहन रुचि है। आपकी भावना है कि संघ द्वारा जितने भी आगम प्रकाशित हुए हैं वे अर्द्ध मूल्य में ही बिक्री के लिए पाठकों को उपलब्ध हों। इसके लिए उन्होंने सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान करने की आज्ञा प्रदान की है। तदनुसार प्रस्तुत आगम पाठकों को उपलब्ध कराया जा रहा है, संघ एवं पाठक वर्ग आपके इस सहयोग के लिए आभारी हैं।

आदरणीय शाह साहब तत्त्वज्ञ एवं आगमों के अच्छे ज्ञाता हैं। आप का अधिकांश समय धर्म साधना आराधना में बीतता है। प्रसन्नता एवं गर्व तो इस बात का है कि आप स्वयं तो आगमों का पठन-पाठन करते ही हैं, पर आपके सम्पर्क में आने वाले चतुर्विध संघ के सदस्यों को भी आगम की वाचनादि देकर जिनशासन की खूब प्रभावना करते हैं। आज के इस हीयमान युग में आप जैसे तत्त्वज्ञ श्रावक रत्न का मिलना जिनशासन के लिए गौरव की बात है। आपकी धर्म सहायिका **श्रीमती मंगलाबहन शाह एवं पुत्र रत्न मयंकभाई शाह एवं श्रेयांसभाई शाह** भी आपके पद चिह्नों पर चलने वाले हैं। आप सभी को आगमों एवं थोकड़ों का गहन अभ्यास है। आपके धार्मिक जीवन को देख कर प्रमोद होता है। आप चिरायु हों एवं शासन की प्रभावना करते रहें। त्रीणि छेदसूत्राणि की प्रथम आवृत्ति का डागा परिवार, जोधपुर के आर्थिक सहयोग से प्रकाशन किया गया। जो अल्प समय में ही अप्राप्य हो गई। अब इसकी द्वितीय आवृत्ति का प्रकाशन शाह परिवार, मुम्बई की ओर से किया जा रहा है। जैसा कि पाठक बन्धुओं को मालूम ही है कि वर्तमान में कागज एवं मुद्रण सामग्री के मूल्य में काफी वृद्धि हो चुकी है। फिर भी श्रीमान् सेठ **जशवंतलाल भाई शाह, मुम्बई** के आर्थिक सहयोग से इसका मूल्य मात्र **रु. ५०) पचास रुपये** ही रखा गया है जो कि वर्तमान् परिपेक्ष्य में ज्यादा नहीं है। पाठक बन्धु इस द्वितीय आवृत्ति का अधिक से अधिक लाभ उठाएंगे।

इसी शुभ भावना के साथ!

ठ्यावर (राज.)

दिनांक: ५-५-२००७

संघ सेवक

नेमीचन्द बांठिया

अ. भा. सु. जैन सं. रसक संघ, जोधपुर

अस्वाध्याय

निम्नलिखित बत्तीस कारण टालकर स्वाध्याय करना चाहिये।

आकाश सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

१. बड़ा तारा टूटे तो-
२. दिशा-दाह ✽
३. अकाल में मेघ गर्जना हो तो-
४. अकाल में बिजली चमके तो-
५. बिजली कड़के तो-
६. शुक्ल पक्ष की १, २, ३ की रात-
७. आकाश में यक्ष का चिह्न हो-
- ८-९. काली और सफेद धूँअर-
१०. आकाश मंडल धूलि से आच्छादित हो-

काल मर्यादा

- एक प्रहर
- जब तक रहे
- दो प्रहर
- एक प्रहर
- आठ प्रहर
- प्रहर रात्रि तक
- जब तक दिखाई दे
- जब तक रहे
- जब तक रहे

औदारिक सम्बन्धी १० अस्वाध्याय

- ११-१३. हड्डी, रक्त और मांस,
१४. अशुचि की दुर्गंध आवे या दिखाई दे-
१५. श्मशान भूमि-

- ये तिर्यच के ६० हाथ के भीतर हो। मनुष्य के हो, तो १०० हाथ के भीतर हो। मनुष्य की हड्डी यदि जली या धुली न हो, तो १२ वर्ष तक।
- तब तक
- सौ हाथ से कम दूर हो, तो।

✽ आकाश में किसी दिशा में नगर जलने या अग्नि की लपटें उठने जैसा दिखाई दे और दिशा हो तथा नीचे अंधकार हो, वह दिशा-दाह है।

१६. चन्द्र ग्रहण-

खंड ग्रहण में ८ प्रहर, पूर्ण हो
तो १२ प्रहर

(चन्द्र ग्रहण जिस रात्रि में लगा हो उस रात्रि के प्रारम्भ से ही अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१७. सूर्य ग्रहण-

खंड ग्रहण में १२ प्रहर, पूर्ण हो
तो १६ प्रहर

(सूर्य ग्रहण जिस दिन में कभी भी लगे उस दिन के प्रारंभ से ही उसका अस्वाध्याय गिनना चाहिये।)

१८. राजा का अवसान होने पर,

जब तक नया राजा घोषित न
हो

१९. युद्ध स्थान के निकट

जब तक युद्ध चले

२०. उपाश्रय में पंचेन्द्रिय का शव पड़ा हो,

जब तक पड़ा रहे

(सीमा तिर्यच पंचेन्द्रिय के लिए ६० हाथ, मनुष्य के लिए १०० हाथ। उपाश्रय बड़ा होने पर इतनी सीमा के बाद उपाश्रय में भी अस्वाध्याय नहीं होता। उपाश्रय की सीमा के बाहर हो तो यदि दुर्गन्ध न आवे या दिखाई न देवे तो अस्वाध्याय नहीं होता।)

२१-२४. आषाढ़, आश्विन,

कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा

दिन रात

२५-२८. इन पूर्णिमाओं के बाद की प्रतिपदा-

दिन रात

२९-३२. प्रातः, मध्याह्न, संध्या और अर्द्ध रात्रि-

इन चार सन्धिकालों में-

१-१ मुहूर्त

उपरोक्त अस्वाध्याय को टालकर स्वाध्याय करना चाहिए। खुले मुंह नहीं बोलना तथा सामायिक, पौषध में दीपक के उजाले में नहीं वांचना चाहिए।

नोट - नक्षत्र २८ होते हैं उनमें से आर्द्रा नक्षत्र से स्वाति नक्षत्र तक नौ नक्षत्र वर्षा के गिने गये हैं। इनमें होने वाली मेघ की गर्जना और बिजली का चमकना स्वाभाविक है। अतः इसका अस्वाध्याय नहीं गिना गया है।



त्रीणि छेदसूत्राणि विषयानुक्रमणिका दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र

क्र०	विषय	पृष्ठ
	पढमा दसा - प्रथम दशा	१-५
१.	बीस असमाधिस्थान	
	बिइया दसा - द्वितीय दशा	६-१३
२.	इक्कीस शबल दोष	
	तइया दसा - तृतीय दशा	१४-२१
३.	तेतीस आशातनाएं	
	चउत्था दसा - चतुर्थ दशा	२२-३९
४.	अष्टविध गणिसंपदा	२८
५.	शिष्य के प्रति आचार्य का दायित्व	३२
६.	आचार्य और गण के प्रति शिष्य की कर्तव्यशीलता	३५
	पंचमा दसा - पंचम दशा	४०-४८
७.	चित्तसमाधि के दश स्थान	
	छट्टा दसा - षष्ठ दशा	४९-७१
८.	अक्रियावादी-क्रियावादी - स्वरूप एवं फल	४९
९.	एकादश उपासक प्रतिमाएं	६३
	सत्तमा दसा - सप्तम दशा	७२-९३
१०.	द्वादश भिक्षु प्रतिमाएं	७२
११.	मासिकी भिक्षु प्रतिमा आराधना में उपसर्ग	७३
१२.	एकमासिकी भिक्षु प्रतिमा	७५
१३.	भिक्षाकाल	७५
१४.	गोचर चर्या	७६
१५.	प्रतिमाधारी का आवासकाल	७६
१६.	भाषाप्रयोग : कल्पनीय	७७

क्र०	विषय	पृष्ठ
१७.	कल्पनीय उपाश्रय	७७
१८.	कल्पनीय संस्तारक	७८
१९.	स्त्री-पुरुष विषयक उपसर्ग	७८
२०.	अग्नि का उपसर्ग	७९
२१.	कण्टक आदि निकालने का निषेध	७९
२२.	नेत्रापतित सूक्ष्म जीव आदि को निकालने का निषेध	८०
२३.	सूर्यास्तोपरांत विहार निषेध	८१
२४.	सचित्त पृथ्वी के निकट निद्रा-निषेध	८२
२५.	मलावरोध निषेध	८२
२६.	सचित्त देह से गोचरी जाने का निषेध	८२
२७.	हाथ आदि धोने का निषेध	८३
२८.	दुष्ट प्राणियों का उपद्रव : निर्भीकता	८३
२९.	शीतोष्ण परीषह सहिष्णुता	८४
३०.	मासिकी भिक्षु प्रतिमा की सम्यक् सम्पन्नता	८४
३१.	द्वितीय यावत् द्वादश भिक्षु प्रतिमाएँ	८५
३२.	प्रथम सप्तअहोरात्रिक भिक्षुप्रतिमा	८५
३३.	द्वितीय सप्तअहोरात्रिक प्रतिमा	८६
३४.	तृतीय सप्तअहोरात्रिकी प्रतिमा	८७
३५.	अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा	८७
३६.	एकारात्रिकी भिक्षुप्रतिमा	८८
	अट्टमा दसा - अष्टम दशा	९४-९५
३७.	पर्युषणा कल्प	
	णवमा दसा - नवम दशा	९६-१०७
३८.	महामोहनीय कर्म-बन्ध के स्थान	
	दसमा दसा - दशम दशा	१०८-१४४
३९.	आयति स्थान	
४०.	अलंकार विभूषित राजा का उपस्थानशाला में आगमन	१०८
४१.	राजा श्रेणिक द्वारा अधिकारीवृन्द को आदेश	१०९

क्र०	विषय	पृष्ठ
४२.	श्रमण भगवान् महावीर का समवसरण	१११
४३.	दर्शन, वंदन हेतु श्रेणिक का गमन—	११३
४४.	साधु-साध्वियों का निदान-संकल्प	११९
४५.	साधु द्वारा उत्तम मानुषिक भोगों का निदान	१२१
४६.	साध्वी द्वारा श्रेष्ठ मानुषिक भोगों का निदान	१२५
४७.	साधु द्वारा स्त्रीत्व प्राप्ति हेतु निदान	१२७
४८.	साध्वी द्वारा पुरुषत्व प्राप्ति हेतु निदान	१३०
४९.	देवलोक में स्व-पर देवी भोगैषणा निदान	१३२
५०.	देवलोक में स्वदेवी भोगैषणा निदान	१३४
५१.	स्वकीय देवियों के साथ दिव्यभोग निदान	१३७
५२.	श्रमणोपासक होने का निदान	१३९
५३.	श्रमण होने का निदान	१४२
५४.	निदानरहित को मुक्ति	१४४

बृहत्कल्प सूत्र

पढमो उद्देशओ - प्रथम उद्देशक	१-३६
१. साधु साध्वियों के लिए फल ग्रहण विषयक विधि-निषेध	१
२. साधु-साध्वियों के लिए गाँव आदि में प्रवास करने की कालमर्यादा	८
३. क्रय-विक्रयकेन्द्रवर्ती स्थान में ठहरने का कल्प-अकल्प	१३
४. कपाटरहित स्थान में साधु-साध्वियों की प्रवास मर्यादा	१४
५. साधु-साध्वी को घटीमात्रक रखने का विधि-निषेध	१६
६. मशकादिनिरोधिनी आवरणवस्त्रिका का विधान	१७
७. जलतीर के निकट अवस्थित होने आदि का निषेध	१८
८. चित्रांकित उपाश्रय में ठहरने का निषेध	१९
९. सागारिक की निश्रा में प्रवास करने का विधान	२०
१०. सागारिक युक्त स्थान में आवास का विधि-निषेध	२१
११. प्रतिबद्धशय्या (उपाश्रय) में प्रवास का विधि-निषेध	२३
१२. प्रतिबद्ध मार्ग युक्त उपाश्रय में ठहरने का कल्प-अकल्प	२४

क्र०	विषय	पृष्ठ
१३.	स्वयं को उपशान्त करने का विधान	२५
१४.	विहार सम्बन्धी विधि-निषेध	२६
१५.	वैराज्य एवं विरुद्धराज्य में पुनः-पुनः गमनागमन निषेध	२७
१६.	भिक्षार्थ अनुप्रविष्ट साधु द्वारा वस्त्रादि लेने का विधिक्रम	२८
१७.	रात्रि में भक्तपान निषेध एवं इतर अपवाद विधान	३१
१८.	रात्रि में गमनागमन निषेध	३२
१९.	विचारभूमि एवं विहार में रात्रि में अकेले गमनागमन का निषेध	३४
२०.	आर्य क्षेत्रवर्ती देशों में विहरण का विधान	३५
	बिड़ओ उद्देसओ - द्वितीय उद्देशक	३७-५४
२१.	शान्तयुक्त उपाश्रय में प्रवास विषयक कल्प-अकल्प	३७
२२.	मद्ययुक्त स्थान में प्रवास करने का विधि-निषेध, प्रायश्चित्त	३९
२३.	जलयुक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध	४०
२४.	अग्नि या दीपक युक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध, प्रायश्चित्त	४१
२५.	खाद्य सामग्रीयुक्त गृह में प्रवास का विधि-निषेध, प्रायश्चित्त	४३
२६.	विश्रामगृह आदि में ठहराव का विधि-निषेध	४५
२७.	अनेक स्वामी युक्त गृह में शय्यातरकल्प	४६
२८.	शय्यातर पिण्ड-ग्रहण विधि-निषेध	४७
२९.	सागारिक के घर आगत तथा अन्यत्र प्रेषित आहार-ग्रहण विषयक विधि निषेध	४९
३०.	शय्यातर के आहारांश से युक्त भक्त-पान - ग्रहण का विधि-निषेध	५०
३१.	पूज्यजनों को समर्पित आहार को ग्रहण करने का विधि-निषेध	५१
३२.	वस्त्रकल्प	५२
३३.	पञ्चविध रजोहरण की कल्पनीयता	५३
	तड़ओ उद्देसओ - तृतीय उद्देशक	५५-७६
३४.	निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को एक-दूसरे के उपाश्रय में अकरणीय क्रियाएँ	५५
३५.	चर्मग्रहणविषयक विधि-निषेध	५६
३६.	वस्त्र-ग्रहण संबंधी विधि-निषेध	५७
३७.	अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक धारण का विधि-निषेध	५९
३८.	साध्वी को बिना आज्ञा वस्त्र-ग्रहण-निषेध	६०

क्र०	विषय	पृष्ठ
३९.	दीक्षा के समय ग्रहण करने योग्य उपधि	६२
४०.	प्रथम समवसरण में वस्त्र ग्रहण निषेध एवं द्वितीय में विधान	६३
४१.	दीक्षा पर्याय के ज्येष्ठत्व के अनुक्रम से वस्त्र लेने का विधान	६४
४२.	शय्या-संस्तारक-ग्रहण का विधान	६४
४३.	कृतिकर्म का विधान	६५
४४.	गृहस्थ के घर में ठहरने का विधि-निषेध	६६
४५.	गृहस्थ के यहाँ मर्यादित वार्ता का विधान	६७
४६.	गृहस्थ के यहाँ मर्यादित धर्मकथा का विधान	६८
४७.	प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक को व्यवस्थित लौटाने का विधान	६९
४८.	शय्या-संस्तारक खो जाने पर अन्वेषण का विधान	७०
४९.	पूर्वाज्ञा का विधान	७१
५०.	स्वामी रहित आवास में आज्ञा का विधान	७३
५१.	मार्ग आदि में पूर्वाज्ञा का विधान	७४
५२.	सेना के समीपवर्ती क्षेत्र में गोचरी जाने एवं प्रवास का विधान	७५
५३.	अवग्रह क्षेत्र का विधान	७६
	चउत्थो उद्देसओ - चतुर्थ उद्देशक	७७-११०
५४.	अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के हेतु	७७
५५.	पाराज्विक प्रायश्चित्त के हेतु	७८
५६.	अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के स्थान	७९
५७.	दीक्षार्थ अयोग्य त्रिविध नपुंसक	८०
५८.	वाचना के लिए योग्य एवं अयोग्य	८१
५९.	शिक्षार्थ योग्य-अयोग्य	८३
६०.	ग्लान में उद्भूत मैथुन भाव का प्रायश्चित्त	८४
६१.	प्रथम प्रहर में गृहीत आहार को चतुर्थ प्रहर में रखने का निषेध	८५
६२.	दो कोस से आगे आहार ले जाने का निषेध	८६
६३.	गृहीत अनेषणीय आहार का उपयोग या परिष्ठापन विधान	८७
४४.	औद्देशिक आहार की कल्पनीयता-अकल्पनीयता	८८
६५.	श्रुतग्रहण हेतु अन्य गण में जाने का विधि-निषेध	८९

क्र०	विषय	पृष्ठ
६६.	सांभोगिक व्यवहार हेतु अन्य गण में जाने का विधान	९२
६७.	वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में अन्य गण में जाने का विधि-निषेध	९७
६८.	काल धर्म प्राप्त भिक्षु के शरीर को परठने की विधि	१०१
६९.	कलहकारी भिक्षु के संदर्भ में विधि-निषेध	१०४
७०.	परिहार तप में अवस्थित भिक्षु का वैयावृत्य विधान	१०५
७१.	महानदी पार करने की मर्यादा	१०७
७२.	घास-फूस से आवृत छत वाले स्थान में प्रवास का विधान	१०८
	पंचमो उद्देशओ - पञ्चम उद्देशक	१११-१३३
७३.	विकुर्वणाप्रसूत विपरीत लिङ्गीय दिव्य शरीर संस्पर्श का प्रायश्चित्त	१११
७४.	कलहोपसन्त आगत भिक्षु के प्रति कर्तव्यशीलता	११२
७५.	सूर्योदय से पहले एवं सूर्यास्त के पश्चात् आहारग्रहण विषयक प्रायश्चित्त	११३
७६.	वमन विषयक प्रायश्चित्त	११७
७७.	सचित्त समायुक्त आहार के अशन एवं परिष्ठापन का विधान	११८
७८.	परिपतित सचित्त जलबिन्दुमय आहार का ग्रहण विधान	११९
७९.	पशु-पक्षी के संस्पर्श से अनुभूत मैथुनभाव का प्रायश्चित्त	१२०
८०.	साध्वी को एकाकी गमन का निषेध	१२१
८१.	साध्वी को वस्त्र-पात्र रहित होने का निषेध	१२२
८२.	साध्वी के लिए आसनादि का निषेध	१२२
८३.	साध्वियों के लिए आकुंचनपट्टक धारण का निषेध	१२५
८४.	सहारे के साथ बैठने का विधि-निषेध	१२६
८५.	शृंगयुक्त पीठ आदि के उपयोग का विधि-निषेध	१२७
८६.	सवृन्त तुम्बिका रखने का विधि-निषेध	१२७
८७.	सवृन्त पात्रकेशरिका रखने का विधि-निषेध	१२८
८८.	दण्डयुक्त पादप्रोञ्छन का विधि-निषेध	१२८
८९.	मूत्र के आदान-प्रदान का निषेध	१२९
९०.	पर्युषित आहार-औषध आदि रखने की मर्यादा	१२९
९१.	परिहारकल्पस्थित भिक्षु द्वारा दोष सेवन का प्रायश्चित्त	१३१
९२.	पुलाकभक्त ग्रहीत होने पर पुनः भिक्षार्थ जाने का विधि-निषेध	१३२

क्र०	विषय	पृष्ठ
	छट्टो उद्देशओ - छठा उद्देशक	१३४-१४४
९३.	अकल्प्य वचन निषेध	१३४
९४.	मिथ्या आरोपी के लिए तदनुरूप प्रायश्चित्त विधान	१३६
९५.	परस्पर काँटा आदि निकालने का विधान	१३७
९६.	संकटापन्न स्थिति में साधु द्वारा साध्वी को अवलम्बन का विधान	१३९
९७.	संयमविधातक छह स्थान	१४१
९८.	कल्पस्थिति के छह प्रकार	१४३

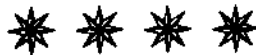
व्यवहार सूत्र

	पढमो उद्देशओ - प्रथम उद्देशक	१-२५
१.	कुटिलता सहित एवं कुटिलता रहित आलोचना : प्रायश्चित्त	१
२.	पारिहारिकों तथा अपारिहारिकों का पारस्परिक व्यवहार	११
३.	परिहार-तप निरत भिक्षु का वैयावृत्य हेतु विहार	१२
४.	एकाकी विहरणशील का गण में पुनरागमन	१६
५.	पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द विहरणशील आदि का गण में पुनरागमन	१८
६.	अन्य लिंग-ग्रहण के अनन्तर पुनरागमन	२०
७.	संयम परित्याग के पश्चात् पुनः गण में आगमन	२१
८.	आलोचना-क्रम	२२
	बिड़ओ उद्देशओ - द्वितीय उद्देशक	२६-४२
९.	विहरणशील साधर्मिकों के लिए परिहार-तप का विधान	२६
१०.	रुण भिक्षुओं को गण से बहिर्गत करने का निषेध	२८
११.	अनवस्थाप्य एवं पारंचित्त भिक्षु का संयमोपस्थापन	३३
१२.	अकृत्यसेवन : आक्षेप : निर्णयविधि	३४
१३.	संयम त्यागने के इरादे से बहिर्गमन : पुनरागमन	३६
१४.	एकपाक्षिक भिक्षु के लिए पद विधान	३७
१५.	पारिहारिक-अपारिहाहिक भिक्षुओं का आहार विषयक पारस्परिक व्यवहार	३९
	तड़ओ उद्देशओ - तृतीय उद्देशक	४३-६३
१६.	गणधारक - गणाग्रणी भिक्षु-विषयक विधान	४३

क्र०	विषय	पृष्ठ
१७.	उपाध्याय, आचार्य एवं गणावच्छेदक पद-विषयक योग्यताएं	४५
१८.	अल्पदीक्षा-पर्याय युक्त भिक्षु के संबंध में पद-विषयक विधान	४९
१९.	साधु-साध्वी को आचार्य आदि के निर्देशन में रहने का परिवर्जन	५१
२०.	अब्रह्मचर्य-सेवी को पद देने के संदर्भ में विधि-निषेध	५४
२१.	संयम को छोड़कर जाने वाले के लिए पद-विषयक विधि-निषेध	५८
२२.	पापसेवी बहुश्रुतों के लिए पद नियुक्ति का निषेध	६०
	चउत्थो उद्देशओ - चतुर्थ उद्देशक	६४-८९
२३.	आचार्य आदि के सहवर्ती निर्ग्रन्थों की संख्या	६४
२४.	समूह-प्रमुख भिक्षु का निधन होने पर सहवर्ती भिक्षुओं का कर्त्तव्य	६७
२५.	रोग ग्रस्त आचार्य आदि द्वारा पद-निर्देश : करणीयता	६९
२६.	संयम त्याग कर जाते हुए आचार्य आदि द्वारा पद-निर्देश : करणीयता	७१
२७.	उपस्थापन विधि	७२
२८.	अध्ययनार्थ अन्य गण में गए भिक्षु की भाषा	८१
२९.	सम्मिलित विहरण-गमन-विषयक विधि-निषेध	८२
३०.	चारिका प्रविष्ट-निवृत्त भिक्षु-विषयक निरूपण	८४
३१.	शैक्ष एवं रत्नाधिक का पारस्परिक व्यवहार	८६
३२.	दीक्षा-ज्येष्ठ का अग्रणी-विषयक विधान	८७
	पंचमो उद्देशओ - पंचम उद्देशक	९०-१०३
३३.	प्रवर्तिनी आदि के साथ विहरणशीला साध्वियों का संख्याक्रम	९०
३४.	संघाटकप्रमुखा का देहावसान होने पर साध्वी का विधान	९२
३५.	प्रवर्तिनी द्वारा निर्देशित पद : करणीयता	९४
३६.	आचारप्रकल्प के भूल जाने पर पद-मनोनयन-विषयक प्रतिपादन	९७
३७.	स्थविर हेतु आचारप्रकल्प की पुनरावृत्ति का विधान	९९
३८.	पारस्परिक आलोचना-विषयक विधि-निषेध	१००
३९.	पारस्परिक सेवा-विषयक विधि-निषेध	१०१
४०.	सांप डस जाने पर उपचार-विषयक विधान	१०२
	छट्टो उद्देशओ - षष्ठ उद्देशक	१०४-११७
४१.	स्वजनों के घर भिक्षा आदि हेतु जाने के संबंध में विधि-निषेध	१०४

क्र०	विषय	पृष्ठ
४२.	आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक पद के गरिमानुरूप विशेष विधान	१०७
४३.	अनधीतश्रुत भिक्षुओं के संवास-विषयक विधि-निषेध	१०९
४४.	एकाकी भिक्षु के लिए वास-विषयक विधि-निषेध	१११
४५.	शुक्रपात का प्रायश्चित्त	११३
४६.	अन्य गण से आगत सदोष साध्वी को गण में लेने का विधि-निषेध	११५
	सत्तमो उद्देशओ - सप्तम उद्देशक	११८-१३७
४७.	अन्य गण से आगत शबलाचार युक्त साध्वी को गण में लेने का विधि-निषेध	११८
४८.	संबंध-विच्छेद-विषयक विधि-निषेध	१२०
४९.	प्रव्रज्यादि - विषयक विधि-निषेध	१२२
५०.	दूरवर्ती गुरु आदि के निर्देश के संदर्भ में विधि-निषेध	१२५
५१.	कलहोपशमन-विषयक विधि-निषेध	१२६
५२.	निषिद्ध काल में साधु-साध्वियों के लिए स्वाध्याय विषयक विधि-निषेध	१२७
५३.	साधु-साध्वियों के लिए स्वाध्याय-अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय-विषयक विधि-निषेध	१२८
५४.	दैहिक अस्वाध्यायावस्था में स्वाध्याय-विषयक विधि-निषेध	१२८
५५.	साध्वी के लिए आचार्य-उपाध्याय पद-नियुक्ति-विषयक विधान	१२९
५६.	मार्ग में मृत श्रमण के शरीर का परिष्ठापन तथा उपकरण-ग्रहण का विधान	१३१
५७.	परिहरणीय शय्यातर-विषयक निरूपण	१३२
५८.	आवास स्थान में ठहरने के संबंध में आज्ञा-विधि	१३४
५९.	राज-परिवर्तन की दशा में अनुज्ञा-विषयक विधान	१३५
	अट्टमो उद्देशओ - अष्टम उद्देशक	१३८-१५३
६०.	साधुओं द्वारा शयन-स्थान-चयन-विधि	१३८
६१.	शय्यासंस्तारक - आनयन-विधि	१३९
६२.	एकाकी स्थविर के उपकरण रखने तथा भिक्षार्थ जाने का विधिक्रम	१४२
६३.	शय्यासंस्तारक-विषयक विधि-निषेध : पुनःअनुज्ञा	१४४
६४.	शय्यासंस्तारक प्रतिग्रहण-विषयक विधान	१४६
६५.	मार्ग-पतित उपकरण के ग्राहित्व के संदर्भ में विधान	१४७
६६.	अतिरिक्त प्रतिग्रह परिवहनादि-विषयक विधान	१५०

क्र०	विषय	पृष्ठ
६७.	ऊनोदरी-विषयक परिमाणक्रम	१५१
	णवमो उद्देशओ - नवम उद्देशक	१५४-१७३
६८.	शय्यातर के घर पर अन्यो के निमित्त निष्पन्न आहार-ग्रहण-विषयक विधि-निषेध	१५४
६९.	सागारिक की साझेदारी युक्त दुकान से वस्तु लेने के संबंध में विधि-निषेध	१५९
७०.	सप्तसप्तमिका आदि भिक्षु प्रतिमाएँ	१६४
७१.	मोक-प्रतिमा-विधान	१६६
७२.	दत्ति-विषयक प्रमाण	१६९
७३.	त्रिविध आहार	१७१
७४.	अवगृहीत आहार के भेद	१७२
	दसमो उद्देशओ - दशम उद्देशक	१७४-२११
७५.	यवमध्य एवं वज्रमध्य चंद्रप्रतिमाएँ	१७४
७६.	पंचविध व्यवहार	१८५
७७.	विविध रूप में कार्यशील साधक	१८७
७८.	धार्मिक दृढता के तीन चतुर्भंग	१९०
७९.	आचार्य एवं शिष्य के भेद	१९३
८०.	त्रिविध स्थविर	१९५
८१.	त्रिविध शैक्ष-भूमिका	१९७
८२.	आठ वर्ष से कम वय में प्रव्रजित बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देने का विधि-निषेध	१९८
८३.	प्राप्त-अप्राप्त-यौवन साधु-साध्वी को आचारप्रकल्प पढ़ाने का विधि-निषेध	१९९
८४.	दीक्षा-पर्याय के आधार पर आगमाध्ययनक्रम	२००
८५.	दशविध वैयावृत्य : महानिर्जरा	२०४



श्री अ० भा० सुधर्म जैन सं० रक्षक संघ, जोधपुर आगम बत्तीसी प्रकाशन योजना के अन्तर्गत प्रकाशित आगम

अंग सूत्र

क्रं.	नाम आगम	मूल्य
१.	आचारांग सूत्र भाग-१-२	५५-००
२.	सूयगडांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
३.	स्थानांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	समवायांग सूत्र	२५-००
५.	भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
६.	जाताधर्मकथांग सूत्र भाग-१, २	६०-००
७.	उपासकदशांग सूत्र	२०-००
८.	अन्तकृतदशा सूत्र	२५-००
९.	अनुत्तरोपपातिक दशा सूत्र	१५-००
१०.	प्रश्नव्याकरण सूत्र	३५-००
११.	विपाक सूत्र	३०-००

उपांग सूत्र

१.	उववाइय सुत्त	२५-००
२.	राजप्रश्नीय सूत्र	२५-००
३.	जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग-१, २	६०-००
४.	प्रज्ञापना सूत्र भाग-१, २, ३, ४	१६०-००
५.	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति	५०-००
६-७.	चन्द्रप्रज्ञप्ति-सूर्यप्रज्ञप्ति	२०-००
८-१२.	निरयावलिका (कल्पिका, कल्पवतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा)	२०-००

मूल सूत्र

१.	दशवैकालिक सूत्र	३०-००
२.	उत्तराध्ययन सूत्र भाग-१, २	६०-००
३.	नंदा सूत्र	२५-००
४.	अनुयोगद्वार सूत्र	५०-००

छेद सूत्र

१-३.	त्रीणिछेदसुत्ताणि सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार)	५०-००
४.	निशीथ सूत्र	५०-००
१.	आवश्यक सूत्र	३०-००

आगम बत्तीसी के अलावा संघ के प्रकाशन

क्रं.	नाम	मूल्य	क्रं.	नाम	मूल्य
१.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग १	१४-००	५१.	लौकाशाह मत समर्थन	१०-००
२.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग २	४०-००	५२.	जिनागम विरुद्ध मूर्ति पूजा	१५-००
३.	अंगपविद्धसुत्ताणि भाग ३	३०-००	५३.	बड़ी साधु बंदना	१५-००
४.	अंगपविद्धसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	५४.	तीर्थकर पद प्राप्ति के उपाय	५-००
५.	अनंगपविद्धसुत्ताणि भाग १	३५-००	५५.	स्वाध्याय सुधा	७-००
६.	अनंगपविद्धसुत्ताणि भाग २	४०-००	५६.	आनुपूर्वी	१-००
७.	अनंगपविद्धसुत्ताणि संयुक्त	८०-००	५७.	सुखविपाक सूत्र	२-००
८.	अनुत्तरोववाहय सूत्र	३-५०	५८.	भक्तामर स्तोत्र	२-००
९.	आयारो	८-००	५९.	जैन स्तुति	७-००
१०.	सूयगडो	६-००	६०.	सिद्ध स्तुति	३-००
११.	उत्तरज्जयणाणि (गुटका)	१०-००	६१.	संसार तरणिका	अप्राप्य
१२.	दसवेयालिय सुत्तं (गुटका)	५-००	६२.	आलोचना पंचक	२-००
१३.	णंदी सुत्तं (गुटका)	अप्राप्य	६३.	विनयचन्द्र चौबीसी	१-००
१४.	चउच्छेयसुत्ताई	१५-००	६४.	भवनाशिनी भावना	अप्राप्य
१५.	आचारसंग सूत्र भाग १	२५-००	६५.	स्तवन तरंगिणी	५-००
१६.	अंतगहदसा सूत्र	१०-००	६६.	सामायिक सूत्र	१-००
१७-१९.	उत्तराध्ययनसूत्र भाग १, २, ३	४५-००	६७.	सार्थ सामायिक सूत्र	३-००
२०.	भावश्यक सूत्र (सार्थ)	१०-००	६८.	प्रतिक्रमण सूत्र	३-००
२१.	दशवैकालिक सूत्र	१०-००	६९.	जैन सिद्धांत परिचय	अप्राप्य
२२.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	१०-००	७०.	जैन सिद्धांत प्रवेशिका	४-००
२३.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २	१०-००	७१.	जैन सिद्धांत प्रथमा	४-००
२४.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ३	१०-००	७२.	जैन सिद्धांत कोविद	३-००
२५.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग ४	१०-००	७३.	जैन सिद्धांत प्रवीण	४-००
२६.	जैन सिद्धांत थोक संग्रह संयुक्त	१५-००	७४.	तीर्थकरों का लेख	१-००
२७.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग १	८-००	७५.	जीब-घड़ा	२-००
२८.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग २	१०-००	७६.	१०२ बोल का बासठिया	०-५०
२९.	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग ३	१०-००	७७.	लघुदण्डक	३-००
३०-३२.	तीर्थकर चरित्र भाग १, २, ३	१४०-००	७८.	महादण्डक	१-००
३३.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३५-००	७९.	तेतीस बोल	२-००
३४.	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००	८०.	गुणस्थान स्वरूप	३-००
३५-३७.	समर्थ सभाधान भाग १, २, ३	५७-००	८१.	गति-आगति	१-००
३८.	सम्यक्त्व विमर्श	१५-००	८२.	कर्म-प्रकृति	१-००
३९.	आत्म साधना संग्रह	२०-००	८३.	समिति-गुप्ति	२-००
४०.	आत्म शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	२०-००	८४.	समकित के ६७ बोल	२-००
४१.	नवतत्वों का स्वरूप	१३-००	८५.	पञ्चीस बोल	३-००
४२.	अगार-धर्म	१०-००	८६.	नव-तत्त्व	६-००
४३.	Saarth Saamaayik Sootra	अप्राप्य	८७.	सामायिक संस्कार बोध	४-००
४४.	तत्त्व-पृच्छा	१०-००	८८.	मुखवलििका सिद्धि	३-००
४५.	तेतली-पुत्र	४५-००	८९.	विद्युत् संचित तेऊकाय है	३-००
४६.	शिविर व्याख्यान	१२-००	९०.	धर्म का प्राण घटना	२-००
४७.	जैन स्वाध्याय माला	१८-००	९१.	सामयण सङ्घिष्मो	अप्राप्य
४८.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	२२-००	९२.	अमल प्रभातिका	१.२५
४९.	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००	९३.	कुगुरु गुर्वाभास स्वरूप	४-००
५०.	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००			

॥ णमो सिद्धाणं ॥

त्रीणि छेदसूत्राणि

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र

पढमा दसा - प्रथम दशा

वीस असमाधिस्थान

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहि(ठा)द्वणा पणत्ता, कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिद्वणा पणत्ता ?

इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिद्वणा पणत्ता । तंजहा-

दवदवचारी यावि भवइ ॥ १ ॥

अ(८)पमज्जियचारी यावि भवइ ॥ २ ॥

दुप्पमज्जियचारी यावि भवइ ॥ ३ ॥

अइरित्तसेज्जासणिए ॥ ४ ॥

राइणियपरिभासी ॥ ५ ॥

थेरोवघाइए ॥ ६ ॥

भूओवघाइए ॥ ७ ॥

संजलणे ॥ ८ ॥

कोहणे ॥ ९ ॥

पिट्ठिमंसिए ॥ १० ॥

अभिवखणं अभिवखणं ओहा(रि)रइत्ता भवइ ॥ ११ ॥

णवाणं अहिगरणाणं अणुप्पणाणं उप्पाइत्ता भवइ ॥ १२ ॥

पोराणाणं अहिगरणाणं खामिय विउसवियाणं पुणो (उ)दी(रि)रेत्ता भवइ ॥ १३ ॥

अकालसज्जायकारए यावि भवइ ॥ १४ ॥

ससरक्खपाणिपाए ॥ १५ ॥

सहकरे (भेयकरे) ॥ १६ ॥

झंझकरे ॥ १७ ॥

कलहकरे ॥ १८ ॥

सूरुप्पमाणभोई ॥ १९ ॥

एसणाऽसमिए यावि भवइ ॥ २० ॥

एए खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं वीसं असमाहिट्ठाणा पणत्ता ॥ २१ ॥ त्ति वेमि ॥

॥ पढमा दसा समत्ता ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - सुयं - सुना गया है, मे - मेरे द्वारा, आउसं - आयुष्मन्, तेणं भगवया - उन भगवान् द्वारा, एवमवखायं - ऐसा कहा गया है, इह - यहाँ, थेरेहिं भगवंतेहिं - स्थविर भगवतों द्वारा, असमाहिट्ठाणा - असमाधि स्थान, पणत्ता - कहे गए हैं - प्रज्ञापित हुए हैं, कयरे - कौनसे, दवदवचारी - शीघ्र-शीघ्र चलना, यावि - चापि, अप्पमण्जियचारी - प्रमार्जन किए बिना चलना, दुप्पमण्जियचारी - दुष्प्रमार्जित कर - यथावत् प्रमार्जन न कर चलना, अइरित्तसेज्जासणिए - अतिरिक्त शय्या, आसन रखना, राइणियपरिभासी - रत्नाधिक - श्रमण पर्याय में ज्येष्ठ के समक्ष परिभाषण करना - आवश्यकता से अधिक बोलना, थेरोवघाइए - स्थविरों - वयोवृद्ध, चारित्रवृद्ध श्रमणों का उपघात करना, भूओवघाइए - पृथ्वी आदि का उपघात करना, संजलणे - संज्वलन - क्रोध से जलना, कोहणे - कोपाविष्ट होना, पिट्ठिमंसिए - पीठ पीछे आलोचना करना, अभिवखणं-क्षण-क्षण, ओहारइत्ता - अवधारणात्मक - निश्चयात्मक, णवाणं - नवीन, अहिगरणाणं-कलह - क्लेश आदि, अणुप्पणाणं - उत्पन्न न हुए हों, उप्पाइत्ता - उत्पत्तिकारक, पोराणाणं - पुराने, खामिय - क्षमित, विउसवियाणं - व्युत्सारित करना, अकाल-

सञ्जायकारण - अनध्यायकाल में स्वाध्याय करना, ससरक्खपाणिपाए - सचित्त रजयुक्त हाथ-पैर, सहकरे - अनावश्यक शब्द बोलना (भेयकरे - भेद उत्पन्न करना), झंझकरे - झंझट पैदा करना, कलहकरे - कलह करना, सूरप्पमाणभोई - सूर्य प्रमाणभोजी- सूर्योदय से सूर्यास्त तक (जब तक सूर्य रहे) खाने वाला, एसणाऽसमिण् - एषणा असमिति- एषणा समिति रहित होना - अवेषणीय आहार-पानी आदि लेना।

भावार्थ - आयुष्मन्! मैंने सुना है, उन - सर्वज्ञ, सर्वदर्शी या परिनिर्वृत भगवान् ने जिस प्रकार आख्यात किया है। तदनुसार स्थविर भगवन्तों ने बीस असमाधिस्थान प्रतिपादित किए हैं।

स्थविर भगवन्तों ने वे बीस असमाधिस्थान कौनसे प्रज्ञापित किए हैं?

स्थविर भगवन्तों ने निम्नांकित रूप में बीस असमाधिस्थान प्रतिपादित किए हैं, यथा -

१. चलने में शीघ्रता करना।
२. प्रमार्जित किए बिना चलना।
३. भलीभांति प्रमार्जित किए बिना चलना।
४. प्रमाणाधिक बिछौने, आसन आदि रखना।
५. जो अपने से दीक्षा में बड़े हों, उन साधुओं के सामने अनावश्यक बोलना।
६. स्थविरों - वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध श्रमणों को पीड़ा पहुँचाना।
७. पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीवों को उपहत करना।
८. क्रोध से जलना।
९. कोपाविष्ट होना।
१०. किसी की अनुपस्थिति में उसकी आलोचना - चुगली करना।
११. प्रतिक्षण निश्चयात्मक भाषा प्रयुक्त करना।
१२. नवीन, अनुत्पन्न क्लेश आदि को उत्पन्न करना।
१३. क्षमित - क्षमापना द्वारा उपशमित पुराने क्लेश को पुनः जगाना।
१४. वर्जित या निषिद्ध समय में स्वाध्याय करना।
१५. सचित्त (आर्द्र) रज आदि से लिप्त हाथ-पैर युक्त रहना।
१६. जहाँ बोलना अपेक्षित न हो वहाँ अवाञ्छित रूप में बोलते जाना (या परस्पर भेद उत्पन्न करना)।

१७. झंझट पैदा करना (जिससे संघ की मर्यादा आहत हो)।

१८. कलह करना।

१९. सूरज उगने से लेकर छिपने तक कुछ न कुछ खाते ही रहना।

२०. एषणा समिति का प्रतिपालन न करते हुए - बिना गवेषणा किए भोजन, जल आदि ग्रहण करना।

इस प्रकार स्थविर भगवंतों द्वारा ऐसे बीस स्थान - हेतु बतलाए गए हैं, जिनसे असमाधि उत्पन्न होती है।

इस प्रकार प्रथम दशा का समापन होता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त असमाधि शब्द एक विशेष आशय को लिए हुए हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह 'सम' एवं 'आ' उपसर्ग तथा 'धि' धातु के योग से बना है। 'सम' का तात्पर्य सम्यक् या भलीभाँति है। 'आ' व्यापक अर्थ या 'चारों ओर' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'धि' धातु का अर्थ धारण करना, अपने आप में स्थिर रहना है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार समाधि का अर्थ आत्मस्थितता या स्वाभाविक अवस्था में रहना है। जहाँ ऐसी स्थिति नहीं होती, उसे असमाधि कहा जाता है। यहाँ निषेधसूचक 'अ' उपसर्ग अभाव का द्योतक है।

प्राणातिपात आदि के सर्वथा परित्यागी दूसरे शब्दों में - मन, वचन, काय एवं कृत, कारित, अनुमोदित रूप में महाव्रताधारक श्रमण का जीवन, यदि वह अपनी विहित चर्या में सदैव अनुरत रहता है तो समाधिमय तथा प्रशान्त होता है। श्रमण में ऐसा होना वांछित है। समाधि शब्द पातंजल योग में निरूपित योग के आठ अंगों में अन्तिम है। योग के आन्तरिक अंग धारणा, ध्यान और समाधि हैं। ध्यानसिद्धि से समाधि अवस्था प्राप्त होती है।

पातंजलि के शब्दों में जहाँ केवल आत्मस्वरूप भासित हो, उससे भिन्न पदार्थ शून्यवत् हो जाएं, वह स्थिति समाधि है, परमशान्तावस्था है।

दोनों ही परंपराओं में प्रयुक्त समाधि शब्द एक ऐसे केन्द्र बिन्दु पर पहुँचता है, जहाँ विभावावस्था का अपगम (अभाव - नाश) और स्वाभावावस्था का अधिगम (लाभ - प्राप्ति) होता है।

यद्यपि साधक विकार वर्जन में संकल्पबद्ध होता है किन्तु आखिर वह है तो मानव ही। जब कभी अन्तःकरण में दुर्बलता उभर आती है तो चाहे अनचाहे अनुचित कार्य होना आशंकित है। ऐसी स्थिति साधक के जीवन में कदापि न आए, एतदर्थ इस सूत्र में उन

कारणों का जिक्र किया है, जो जीवन की दैनंदिन क्रिया से संबद्ध हैं। चलना, बोलना, खाना-पीना, गुरुपदस्थानीय, ज्येष्ठ, वरिष्ठ पुरुषों के साथ व्यवहार आदि में अजागरूकता न आए, समिति और गुप्तिपूर्वक उसकी गतिविधि संचालित हो, इसलिए एतद्विषयक उन सभी निषिद्ध या दोषयुक्त कार्यों का इस सूत्र में प्रतिपादन हुआ है, जो आत्मसमाधि को मिटा देते हैं।

यहाँ प्रयुक्त उपघात, अवधारणा शब्द विशेष रूप से ज्ञेय हैं। घात का अर्थ हनन या नाश होता है। 'घात' से पूर्व प्रयुक्त 'उप' उपसर्ग उसके अर्थ को हल्का बना देता है। 'उप' सामीप्य द्योतक है। यहाँ घात तो नहीं होता किन्तु उस जैसी पीड़ा, वेदना या परेशानी होती है, उसे उपघात कहा जाता है।

'अवधारणा' शब्द 'अव' उपसर्ग और 'धृ' धातु से बना है। 'अव' समन्तात् या सर्वथा का द्योतक है। जहाँ सर्वथामूलक - इत्थंभूत (ऐसा ही है) भाषा का प्रयोग हो, उसे निश्चय भाषा कहा जाता है। श्रमण के लिए वैसा करना वर्जित है। क्योंकि सर्वज्ञत्व प्राप्ति के बिना वैसी भाषा प्रयोक्तव्य नहीं मानी जाती।

समीप ज्ञान का धनी सार्वदिक या सर्वदेशीय शब्दावली प्रयुक्त करने का अधिकारी नहीं होता। इसलिए श्रमण के लिए संभावनामूलक भाषा का प्रयोग करना विहित है।

प्रमार्जन, दुष्प्रमार्जन आदि का जो विशेष रूप से प्रयोग हुआ है, वह सूक्ष्म जीवों की दृष्टि से है। श्रमण द्वारा धारण किए जाने वाले उपकरणों में रजोहरण का यही प्रयोजन है। जहाँ प्रकाश का अभाव हो, वहाँ व्यक्ति कितनी ही सावधानी से चले, सूक्ष्म जीवों का घातोपघात आशंकित रहता है, इसलिए प्रमार्जन भी बहुत अच्छी तरह हो, परंपरानिर्वाह मात्र न हो।

गच्छ के साधु साध्वियों में अलगाव की भावना को उत्पन्न करना 'भेद' कहलाता है। इसमें काषायिक वृत्तियाँ होने के कारण इसमें चारित्र अस्वस्थ्य (असमाधिस्थ) हो जाता है। इसलिए भेद करने की प्रवृत्ति को असमाधिस्थान में बताया गया है। गच्छ में रहते हुए भी गच्छ के अमुक साधुओं को अपने पक्ष में बनाकर गच्छ में भेद की स्थिति को उत्पन्न करने में तीव्र काषायिक परिणाम रहते हैं इन विचारों से संयम के पर्याय बहुत नष्ट होते हैं। उसकी शुद्धि के लिए आगमकारों ने "पारांचिक" प्रायश्चित्त बताया है।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की प्रथम दशा समाप्त ॥

बिड़िया ढसा - द्वितीय ढशा

इक्कीस शबल दोष

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थैरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं
सबला पण्णत्ता,

कयरे खलु ते थैरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता ?

इमे खलु ते थैरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पण्णत्ता । तंजहा -

हत्थकम्मं करेमाणे सबले ॥ १ ॥

मेहुणं पडिसेवमाणे सबले ॥ २ ॥

राइभोयणं भुंजमाणे सबले ॥ ३ ॥

आहाकम्मं भुंजमाणे सबले ॥ ४ ॥

रायपिंडं भुंजमाणे सबले ॥ ५ ॥

(उद्देसियं) * कीयं वा पामिच्चं वा अच्छिज्जं वा अणिसिट्ठं वा आहट्टु दिज्जमाणं
वा भुंजमाणे सबले ॥ ६ ॥

अभिकखणं अभिकखणं पडियाइक्खेत्ताणं भुंजमाणे सबले ॥ ७ ॥

अंतो छण्हं मासाणं गणाओ गणं संकममाणे सबले ॥ ८ ॥

अंतो मासस्स तओ दगलेवे करेमाणे सबले ॥ ९ ॥

अंतो मासस्स तओ मा(ईठा)इट्ठणे करे(सेव)माणे सबले ॥ १० ॥

सा(ग)गारियपिंडं भुंजमाणे सबले ॥ ११ ॥

आउट्टियाए पाणाइवायं करेमाणे सबले ॥ १२ ॥

आउट्टियाए मुसावायं वयमाणे सबले ॥ १३ ॥

आउट्टियाए अदिण्णादाणं गिण्हमाणे सबले ॥ १४ ॥

आउट्टियाए अणंतरहियाए पुढवीए ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चे(त)एमाणे
सबले ॥ १५ ॥

* क्वचित् "उद्देसियं वा" इति पदं अस्ति

एवं ससिणिद्धाए पुढवीए एवं ससरक्खाए पुढवीए ॥ १६ ॥

एवं आउट्टियाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलूए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइट्टिए सअंडे सपाणे सबीए सहरिए सउस्से सउदगे सउत्तिंगे पणगदगम(ट्टिय)ट्टीए मक्कडासंताणए तहप्पगारं ठाणं वा सिज्जं वा णिसीहियं वा चेएमाणे सबले ॥ १७ ॥

आउट्टियाए मूलभोयणं वा कंदभोयणं वा खंधभोयणं वा तथाभोयणं वा पवालभोयणं वा पत्तभोयणं वा पुप्फभोयणं वा फलभोयणं वा बीयभोयणं वा हरियभोयणं वा भुंजमाणे सबले ॥ १८ ॥

अंतो संवच्छरस्स दस दगलेवे करेमाणे सबले ॥ १९ ॥

अंतो संवच्छरस्स दस माइट्टाणाइं करेमाणे सबले ॥ २० ॥

आउट्टियाए सीओदयवियडवग्घारिय (पाणिणा)हत्थेण वा मत्तेण वा द(विण्ण)व्वीए वा भायणेण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता भुंजमाणे सबले ॥ २१ ॥

एए खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं एगवीसं सबला पणत्ता ॥ २२ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ बिइया दसा समत्ता ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - सबला - शबल दोष, हत्थकम्मं - हस्तकर्म - हस्त मैथुन, करेमाणे - करता हुआ, मेहुणं - मैथुन - संभोग, पडिसेवमाणे - सेवन करता हुआ, राइभोयण - रात्रि भोजन, भुंजमाणे - खाता हुआ, आहाकम्मं - आधाकर्मिक आहार, रायपिंडं - राजा के यहाँ से प्राप्त आहार, उद्देशियं - औद्देशिक - साधुओं को देने के उद्देश्य से बनाया हुआ, वा - अथवा, कीयं - क्रीत - खरीदा हुआ, पामिच्चं - उधार लाया हुआ, अच्छिज्जं - छीना हुआ, अणिसिट्ठं - अनिसृष्ट - बिना आज्ञा के लाया हुआ, आहट्टु दिज्जमाणं - साधु के स्थान पर लाकर दिया हुआ, अभिक्खणं-अभिक्खणं - क्षण-क्षण-पुनः-पुनः, पडियाइक्खेत्ताणं - प्रत्याख्यान या त्याग करके, अंतो - भीतर, छण्हं मासाणं- छह महीनों के, गणाओ - गण से - साधु संघ से, संकप्पमाणे - संक्रमण करता हुआ - जाता हुआ, अंतो मासस्स - एक महीने के भीतर, तओ - तीन बार, दगलेवे - उदक लेप - जल स्पर्श करता हुआ - नदी-नाले आदि पार करता हुआ, माइट्टाणे - माया स्थान-

माया या छलपूर्ण व्यवहार, सागारियपिंडं - जिसके आगार या घर में साधु ठहरा हो, उसके आहार का सेवन करने वाला, आउट्रियाए - आवर्तित - जान बूझकर, पाणाइवायं - प्राणातिपात प्राणघात - हिंसा, मुसावायं - मृषावाद - असत्य भाषण, वयमाणे - बोलता हुआ, अदिण्णादाणं गिण्हमाणे - न दी हुई वस्तु ग्रहण करता हुआ, अणंतरहियाए - अन्तर रहित - संलग्न या समीपवर्ती, पुढवीए - (सचित्त) पृथ्वी के, ठाणं - स्थान - (कायोत्सर्ग में खड़े होना), सेज्जं - शयन - सोना, णिसीहियं - निसीदन - बैठना, चेएमाणे - करता हुआ, एवं - इसी प्रकार, ससिणिद्धाए - सचित्त जल आदि से स्निग्ध या चिकनी, ससरक्खाए - सचित्त रज या बालु युक्त, चित्तमंताए - सचित्त - सप्राण, सिलाए - पत्थर, लेलूए - ढेला, कोलावासंसि - दीमक, दारुए - काष्ठ, जीवपइट्टिए - जीवप्रतिष्ठित (जीव युक्त), सअंडे - अंडों से युक्त, सपाणे - प्राण - द्वीन्द्रिय आदि जीव युक्त, सबीए - बीज सहित, सहरिए - हरियाली सहित, सउस्से - ओस युक्त, सउदगे - उदक - जल युक्त, सउत्तिंगे - चींटियों के बिल (कीड़ी नगरे) से युक्त, पणगदगमट्टीए - शैवाल और गीली मिट्टी युक्त, मक्कडासंताणए - मकड़ी के जाले सहित, तहप्पगारं - उस प्रकार के, खंधं - स्कंध - तना, तथा - त्वचा - छाल, पवाल - प्रवाल - कोंपल, पत्त - पत्र, पुप्फ - पुष्प, संवच्छरस्स - संवत्सर - वर्ष के, सीओदय - शीतोदक - सचित्त जल से, वियड - विकृत - दोष युक्त, वग्घारिय - व्याप्त, हत्थेण - हाथ द्वारा, मत्तेण - छोटे बर्तन से, दक्वीए - चम्मच द्वारा, भायणेण - भाजन - बड़े बर्तन द्वारा, पडिगाहिता - प्रतिग्रहीत करे।

भावार्थ - हे आयुष्मन्! मैंने सुना है, भगवान् महावीर ने, जो निर्वाण प्राप्त हैं, ऐसा कहा- यहाँ आर्हत प्रवचन में स्थविर भगवंतों ने इक्कीस शबल दोष प्रतिपादित किए हैं।

वे कौनसे इक्कीस शबल दोष हैं, जो श्रमण भगवंतों ने बतलाए हैं?

स्थविर भगवंतों ने ये इक्कीस दोष प्रज्ञापित किए हैं -

१. हस्तकर्म।
२. मैथुन - संभोग।
३. रात्रि भोजन।
४. आधाकर्मिक - नैमित्तिक आहार।

५. राजपिंड - राजा के आवास में आहार-ग्रहण।
 ६. औद्देशिक - साधु के उद्देश्य से लाये हुए, खरीदे हुए, उधार लिये हुए, कमजोर से छीने हुए आहार का स्वीकरण।
 ७. बार-बार प्रत्याख्यान - त्याग करके आहार सेवन।
 ८. छह मास के भीतर ही एक गण से अन्य गण में गमन या प्रवेश।
 ९. एक मास के भीतर तीन बार नदी आदि पार करते हुए जल संस्पर्श।
 १०. एक मास में तीन बार माया युक्त - प्रवंचनापूर्ण व्यवहार।
 ११. शय्यातर के यहाँ से आहार आदि ग्रहण।
 १२. जान-बूझकर या आवर्तित रूप में प्राणातिपात करना।
 १३. जानते-बूझते असत्य प्रयोग।
 १४. जान-बूझकर अदत्त - नहीं दी गई वस्तु का आदान या ग्रहण।
 १५. पूर्वोक्त रूप में (आवर्तित रूप में) सचित्त भूमि से संस्पृष्ट या निकटवर्ती स्थान पर कायोत्सर्ग।
 १६. जानते-बूझते सचित्त जल से स्निग्ध, संलिप्त भूमि पर और सचित्त रज से युक्त भूमि पर खड़े होना (बैठना आदि)।
 १७. जान-बूझकर सचित्त शिला पर - पाषाण पर, पत्थर के ढेले पर, दीमक लगे हुए, जीव युक्त काष्ठ पर, अंडों से युक्त, द्वीन्द्रिय आदि जीवों से युक्त आर्द्र मृत्तिका पर एवं मकड़ी के जाले से युक्त स्थान पर खड़ा होना, सोना, बैठना, खड़ा होना।
 १८. आवर्तित रूप में पत्ते, कंद, स्कंध, छाल, कोंपल, पत्ते, फूल, फल, बीज और हरित वनस्पति का भोजन।
 १९. एक वर्ष के भीतर दस बार नदी-नाले आदि पार करने के संदर्भ में जल स्पर्श।
 २०. एक वर्ष के भीतर दस बार प्रवंचना - छलपूर्ण व्यवहार।
 २१. आवर्तित रूप में शीतल - सचित्त जल से परिव्याप्त हाथ, लघु पात्र, चम्मच, बड़ा पात्र (भाजन) आदि के प्रयोगपूर्वक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि का सेवन करना।
- ये इक्कीस शबल दोष हैं।

श्रमण भगवंतों ने इस - उक्त प्रकार से इक्कीस शबल दोषों का आख्यान किया है।

इस प्रकार दूसरी दशा का समापन होता है।

विवेचन - इस सूत्र में ऐसे दूषित कृत्यों का वर्णन है, जो एक श्रमण के जीवन को कलंकित कर डालते हैं। इन्हें शबल दोष के नाम से संज्ञित किया गया है। **“दूषयतीति दोषः”** - के अनुसार जो आत्मा को दूषित, विकृत, विभावगत करता है, उसे दोष कहा जाता है। दोष के साथ लगा हुआ शबल विशेषण उसकी अत्यधिक विकृतावस्था का द्योतक (दर्शक) है। शबल शब्द चितकबरे का द्योतक है। किसी गौरवर्ण पर तरह-तरह के लगे धब्बे उसके सौन्दर्य का नाश करते हैं, बड़े भदे प्रतीत होते हैं। ये शबल दोष श्रमण जीवन की उजली चद्दर पर लगे हुए वे कलंक के धब्बे हैं, जो उसे विकृत, अतिदूषित बना देते हैं। इनका सेवन श्रमण जीवन के लिए अभिशापवत् है। इस सूत्र में ऐसे इक्कीस कुत्सित कृत्यों का शबल के नाम से उल्लेख है, जिनसे निर्मल, पवित्र साधु जीवन लज्जास्पद हो जाता है।

इन इक्कीस दोषों का संबंध मुख्यतः वासना, भोजन, आहार, आवास तथा उपकरणोपयोग इत्यादि दिनानुदिन प्रयोजनीय कार्यों के साथ है।

यद्यपि एक श्रमण प्राणतिपात, परिग्रह, अब्रह्मचर्य इत्यादि का सर्वथा मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदित रूप में त्यागी होता है। अतः ऐसे दोष उसके जीवन में घटित हों, यह बहुत कम संभावित है। सामान्यतः वह इनसे अस्पृष्ट होता है। किन्तु वह भी तो एक मानव है। संसारावस्था से विरक्तावस्था में गया है। मन में कभी दुर्बलता आ जाए तो ऐसा आशंकित है, उसके द्वारा न चाहते हुए भी वह अकृत्य बन पड़े।

मन बड़ा चंचल है। इसे वश में कर पाना वैसा ही कठिन है, जैसे हवा को पकड़ पाना। फिर भी वैराग्य और अभ्यास से यह परिग्रहीत किया जा सकता है।

काम को जो दुर्जेय कहा गया है, वह सच है। जब मन में वासना का उभार आता है तब व्यक्ति अपने स्वरूप को भूल जाता है। काम, भोग, वासना के कारण साधु के मन में चंचलता अस्थिरता न व्यापे इसलिए दोषों में पहले उसी की चर्चा है।

प्राकृत में संभोग के लिए **‘मेहुण’** शब्द का प्रयोग होता है, जिसका संस्कृत रूप मैथुन है। इसके मूल में **‘मिथस्’** (मिथः) शब्द है, जिसका अर्थ युगल या जोड़ा है। यह स्त्री-पुरुष के जोड़े के रूप में उपयोग में आता है। स्त्री-पुरुष युगल का यौन संबंध - संभोग **‘मैथुन’** कहा जाता है।

इन इक्कीस शबल दोषों में पहला दोष हस्तकर्म आया है। सामान्यतः भाषा में इसके लिए हस्तमैथुन का प्रयोग मिलता है, जो शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से समुचित नहीं है। क्योंकि मैथुन शब्द, जैसा ऊपर लिखा गया है, द्वैतात्मक है, युगल द्वारा ही संभव है। हस्तकर्म में व्यक्ति स्वयं (एकाकी) ही यह कुकृत्य करता है। हस्त के साथ आया हुआ कर्म शब्द सामान्यतः “**क्रीयतेति कर्म**” - के अनुसार किए जाने वाले काम का द्योतक है। किन्तु यहाँ दूषित, निन्दित कृत्यों की शृंखला में आने से इसका अर्थ कुत्सित हो गया है, कुकर्म का द्योतक हो गया है। यह अत्यन्त जघन्य एवं निंदनीय कार्य है।

हस्तकर्म के बाद मैथुन सेवन का जो उल्लेख हुआ है, वह भी आजीवन ब्रह्मचर्य व्रतधारी के लिए घोर कलंक रूप है। नव बाड़ एवं दशम कोट सहित ब्रह्मचर्य पालन एक साधु के लिए सर्वथा अपरिहार्य है। इस संबंध में वह कभी विचलित न हो जाए इसलिए मैथुन की यहाँ विशेष रूप से चर्चा की है।

“**मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणात्**” यह जो कहा गया है, सर्वथा तथ्यपूर्ण है। शुक्रनाश मृत्यु है और उसकी सुरक्षा - धारणा जीवन है।

जो ब्रह्मचर्य का अखंड पालन करते हैं, वे निःसंदेह धन्य हैं। “**तवेषु वा उत्तमं ब्रह्मचरं**” - इसीलिए ब्रह्मचर्य को सब तर्कों में उत्तम, उत्कृष्ट बतलाया गया है। ब्रह्मचारी साधक विश्ववन्द्य, विश्वपूज्य होता है। कहा है -

देव-दानव-गंधर्वा, जकख-रकखरस-किन्नरा।

ब्रह्मचारि नमसंति, दुष्करं जे करंति तं॥ (उत्तराध्ययन सूत्र-१६/१६)

अर्थात् देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर - ये सभी उस ब्रह्मचारी को नमस्कार करते हैं, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

ब्रह्मचर्य की उच्च भूमिका में श्रमण सदैव अपने आपको हिमालयवत् अटल बनाए रखे यह आवश्यक है। किन्तु यह बहुत सरल नहीं है, दुष्कर है। इसके लिए साधक को क्षण-क्षण सावधान, जागरूक और प्रयत्नशील रहना होता है। क्योंकि काम का आवेग बड़ा दुर्वह है। कहा है -

जउकुंभे जोइउवगूढे, आसुऽभितते णासमुवयाई।

एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयति॥

(सूत्रकृतांग सूत्र १-४-१-२७)

अर्थात् जिस प्रकार लाख का घड़ा अग्नि से तप्त होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्त्री-सहवास से अनगार (मुनि) नष्ट हो जाता है।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। कामविजय के लिए प्रयुक्त ब्रह्मचर्य शब्द अपने आप में बड़ा व्यापक अर्थ लिए हुए है। “**ब्रह्मणि - परमात्मनि अथवा परमात्मस्वरूपे चरणं चर्यं वा ब्रह्मचर्यम्**” - आत्मा के विशुद्ध स्वरूप में परिणमनशील रहना ब्रह्मचर्य है। वैसी स्थिति प्राप्त होने में जो विघ्न आशंकित हैं, उनमें स्त्री-प्रसंग या काम-भोग अत्यंत प्रबल और दुर्जेय हैं। इसीलिए निषेध की भाषा में काम-भोग परित्याग को ब्रह्मचर्य कहा गया है। परमात्मारोधन में इससे बड़ा बाधक कारण अन्य नहीं है।

आहार या भोजन भौतिक जीवन के लिए परमावश्यक है। गृही या श्रमण - सभी को भोजन करना ही होता है। एक श्रमण के लिए भोजन देह निर्वाह का साधन मात्र है क्योंकि देह उसके संयमी जीवन का एक आवश्यक उपकरण या आधार है। अत एव भोजन विषयक आकर्षण से, जिसे जिह्वा लोलुपता कहा जाता है, वह सदैव दूर रहता है। इसके अतिरिक्त जैन श्रमण के आहार की एक असाधारण विशेषता है। वह अपने लिए पकाए हुए, खरीदे हुए, किसी भी प्रकार उस हेतु संग्रह किए हुए भोजन को आहार के रूप में स्वीकार नहीं करता। इसके पीछे एक गहरा मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि श्रमण गृहस्थों पर किसी भी प्रकार से भार न आए। दूसरी बात यह भी है कि यदि औद्देशिक - नैमित्तिक आहार विहित हो तो श्रद्धातिरेकवश उपासक अपने पूजनीय श्रमणों को उत्तम से उत्तम आहार देने का प्रयास करता है, जो साधनामय जीवन में प्रतिबंधक है। इसीलिए यहाँ तक कहा गया है - जिस प्रकार साँप बांबी में प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार एक श्रमण जरा भी आस्वाद लिए बिना भोजन के कौर - ग्रास को नीचे उतारे। निर्भार और आस्वाद वृत्ति का श्रमण जीवन में बड़ा महत्त्व है।

चर्या में कितना सूक्ष्मतापूर्ण चिंतन है, जिस भवन में साधु प्रवास हेतु रुके, उसके स्वामी का आहार लेना, उसके लिए वर्जित है। इसमें भी दो बातें हैं, गृहस्वामी पर भार न आए, अथवा अपने स्थान में प्रवसनशील साधु के प्रति आतिथ्यभाव, सत्कारभाव से कुछ तैयारी न कर ले।

‘राजपिण्ड’ का जो उल्लेख हुआ है, वह भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जैन चिन्तन-धारा की सूक्ष्मता व्यक्त करता है। राजा के यहाँ स्वादिष्ट, उत्तम भोजन बनते हैं। राजसिक भोजनगृह में विगय-प्रधान स्वादिष्ट, गरिष्ठ भोजन तैयार होता है। वैसा औद्देशिक न हो तो भी उसे अग्राह्य इसलिए माना है क्योंकि वह राजसिक-तामसिक वृत्तियों को बढ़ाता है। राजा के यहाँ आमिषादि अनेषणीय पदार्थों का परिपाक भी होता है। भोगविलासमय जीवन का वातावरण रहने से और भी अनेक विघ्न आशंकित हैं।

पाँचों महाव्रतों में अहिंसा का सर्वोपरि स्थान है। यह ऐसा महाव्रत है, जिसमें अन्य चारों का समावेश हो जाता है। क्योंकि अन्य चारों में मानसिक, वाचिक, कायिक रूप में हिंसा निषेध का समावेश है ही। यही कारण है कि दोषों में अप्काय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय आदि सूक्ष्म, स्थूल जीवों की हिंसा से बचने की दृष्टि से अनेक रूप में दैनंदिन क्रियाकलापों में बचते रहने का संकेत हुआ है।

अब्रह्मचर्य, जिह्वालौल्य, जानबूझकर हिंसापूर्ण कार्य - ये निःसंदेह श्रमण जीवन की पवित्रता, उज्ज्वलता को कलुषित करते हैं, एक प्रकार से ये ऐसे दोषपूर्ण धब्बे हैं, जिनसे श्रमण जीवन अवहेलनीय हो जाता है।

दुर्लभ शय्यादि के प्रसंग पर नहीं चाहते हुये भी मकान की प्राप्ति के लिए साधारण माया की स्थिति बन सकती है ऐसी माया का प्रसंग एक महीने में दो बार और पूरे शेषकाल के आठ महीनों में ९ बार आ सकता है इसलिए आगमकारों ने इससे अधिक माया-स्थान को सबल कहा है। अन्य कषाय क्रोध, मान, लोभ तो अपने आप में सबल (दोष) है ही।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की दूसरी दशा समाप्त ॥

तइया दसा - तृतीय दशा

तेतीस आशातनाएं

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं ते(ती)त्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ, कयरा खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ? इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ। तंजहा-

सेहे रा(य)इणियस्स पुरओ गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १ ॥

सेहे राइणियस्स सपक्खं गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २ ॥

सेहे राइणियस्स आसण्णं गंता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ३ ॥

सेहे राइणियस्स पुरओ चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ४ ॥

सेहे राइणियस्स सपक्खं चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ५ ॥

सेहे राइणियस्स आसण्णं (ठिच्चा)चिट्ठित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ६ ॥

सेहे राइणियस्स पुरओ णिसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ७ ॥

सेहे राइणियस्स सपक्खं णिसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ८ ॥

सेहे राइणियस्स आसण्णं णिसीइत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ९ ॥

सेहे राइणिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं णिक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आयमइ पच्छा राइणिए भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १० ॥

सेहे राइणिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खंते समाणे तत्थ सेहे पुव्वतरागं आलोएइ पच्छा राइणिए भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ११ ॥

केइ राइणियस्स पुव्वसंलवित्तए सिया, तं सेहे पुव्वतरागं आलवइ पच्छा राइणिए भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १२ ॥

सेहे राइणियस्स राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स अज्जो ! के सु(ते)त्ता के जाग(रे)रा? तत्थ सेहे जागरमाणे राइणियस्स अपडिसुणेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १३ ॥

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता तं पु [व्व]व्वामेव सेहतरागस्स आलोएइ पच्छा राइणियस्स भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १४ ॥

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता तं पुव्वामेव सेहतरागस्स उवदंसेइ पच्छा राइणियस्स भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १५ ॥

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता तं पुव्वामेव सेहतरागं उवणिमंतेइ पच्छा राइणि(ए)यं भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १६ ॥

सेहे राइणिण सद्धिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता तं राइणियं अणापुच्छिता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं (खंधं) २ तं दलयइ आसायणा सेहस्स ॥ १७ ॥

सेहे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहिता राइणिणं सद्धिं भुंजमाणे तत्थ सेहे खद्धं खद्धं डागं डागं ऊसढं ऊसढं रसियं रसियं मणुणं मणुणं मणामं मणामं णिद्धं णिद्धं लुक्खं लुक्खं आहारिता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ १८ ॥

सेहे राइणियस्स वाहर(आलव)माणस्स अपडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥१९ ॥

सेहे राइणियस्स वाहरमाणस्स तत्थ गए चेव पडिसुणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥२० ॥

सेहे राइणियस्स किंति-वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २१ ॥

सेहे राइणियं तुमंति-वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २२ ॥

सेहे राइणियं खद्धं खद्धं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २३ ॥

सेहे राइणियं तज्जाएणं तज्जाएणं पडिहणित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २४ ॥

सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स इति एवं वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २५ ॥

सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमरसीति वत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥२६ ॥

सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स णो सुमणसे भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २७ ॥

सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स परिसं भेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥ २८ ॥

सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स कहं अच्चिंदित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥२९ ॥

सेहे राइणियस्स कहं कहेमाणस्स तीसे परिसाए अणुट्टियाए अभिण्णाए अवुच्छिण्णाए अबोगडाए दो(दु)च्चंपि तच्चंपि तमेव कहं कहित्ता भवइ आसायणा सेहस्स ॥३० ॥

सेहे राइणियस्स सिज्जासंथारगं पाएणं संघट्टित्ता हत्थेण अणणुतावित्ता [अणणु(ण्णवे)वित्ता] गच्छइ भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ३१ ॥

सेहे राइणियस्स सिज्जासंथारए चिट्ठित्ता वा णिसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ३२ ॥

सेहे राइणियस्स उच्चासणंसि वा समासणंसि वा चिट्ठित्ता वा णिसीइत्ता वा तुयट्टित्ता वा भवइ आसायणा सेहस्स ॥ ३३ ॥

एयाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं तेत्तीसं आसायणाओ पण्णत्ताओ ॥ ३४ ॥
॥ त्ति बेमि ॥

॥ तइया दसा समत्ता ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - आसायणाओ - आशातनाए, सेहे - शैक्ष - अल्प दीक्षा पर्याय युक्त, राइणियस्स - रात्तिक, पुरओ - पुरतः - आगे, गंता - चलने वाला, सपक्खं - सपक्ष - बराबर में, आसण्णं - आसन्न - अति निकट, चिट्ठित्ता - खड़ा हो, णिसीइत्ता - बैठे, सद्धिं - साथ, बहिया - बाहर, वियारभूमिं - शारीरिक चिन्तानिवृत्ति भूमि - मलोत्सर्ग स्थान, पुव्वतरागं - पूर्वतर - पहले, आयमइ - शौच - शुद्धि, पच्छा - पश्चात्, विहारभूमिं - स्वाध्याय आदि के लिए स्थान, आलोएइ - आलोचना करे, पुव्वसंलवित्ताए - पूर्व बातचीत करना, वियाले - विकाल में - संध्या समय में, वाहरमाणस्स - पूछे जाने पर, अज्जो - आर्य, के - कौन, सुत्ता - सुप्त - सोए हुए, जागरा - जगे हुए, जागरमाणे - जागता हुआ, अपडिसुणेत्ता - अनसुना कर (अप्रतिश्रुतकर), पडिगाहित्ता - प्रतिगृहीत कर - लाकर, पुव्वामेव - पूर्व ही, सेहतरागस्स - अन्य शैक्ष को, उवदंसेइ - उपदर्शित करे - दिखलाए, उवणिमंतेइ - उपनिमंत्रित करे - आमंत्रित करे, अणापुच्छित्ता - बिना पूछे, जस्स-जस्स - जिस-जिस को, तस्स-तस्स - उस-उसको, खब्बं - क्षणाद्धं - आधे क्षण में (अतिशीघ्र), दलयइ - देता है, डारं - द्राक - विविध प्रकार के शाक, ऊसडं - उत्तम,

रसियं - रसयुक्त, मणुण्णं - मनोज्ञ, णिद्धं - स्निग्ध, लुक्खं - रूक्ष - रुखा, आहारित्ता-
 आहार करे, किंति-वत्ता - क्या बोलते हो, तुमति-वत्ता - तुम या तूं कहे, खद्धं खद्धं
 वत्ता - क्षण-क्षण वार्तालाप (अनर्गल प्रलाप) करे, तज्जाएणं - तर्जित करे - तिरस्कार
 करे, एवं वत्ता - ऐसा बोले, णो सुमरसीति - याद नहीं है, सुमणसे - मन को अच्छा
 लगना, परिसं - परिषद् को, भेत्ता - बिखेर दे - विसर्जन करवा दे, कहं - कथा,
 अच्छिंदित्ता - भिक्षादि-का समय होने का कहकर बाधा उत्पन्न करना, अणुट्टियाए -
 अनुत्थित - उठने से पूर्व, अवुच्छिण्णाए - अव्युत्सर्जित - बिखरने से पहले, अवोगडाए -
 अपगत होने से पूर्व, दोच्चंपि - दो बार, तच्चंपि - तीन बार, सिज्जासंधारगं - शय्या
 संस्तरक, संघट्टित्ता - स्पर्श होने पर, अणणुतावित्ता - अनुनय - क्षमायाचना किए बिना,
 तुयट्टित्ता - सोवे (त्वग्वर्तयिता - चमड़ी का स्पर्शन करे), उच्चासणंसि - ऊँचे आसन पर
 (रालिक से), समासणंसि - समान आसन पर।

भावार्थ - हे आयुष्मन्! मैंने मोक्षगत प्रभु महावीर से जैसे सुना है, स्थविर भगवंतों ने
 उसी प्रकार तेतीस आशातनाएँ प्रतिपादित की हैं। -

स्थविर भगवंतों द्वारा प्रतिपादित तेतीस आशातनाएँ कौनसी हैं ?

स्थविर भगवंतों द्वारा बतलाई गई तेतीस आशातनाएँ इस प्रकार हैं -

१. शौच (अल्प दीक्षा पर्याय युक्त साधु) का रत्नत्रयाधिक (दीक्षा ज्येष्ठ) साधु के
 आगे चलना।

२. उनके बराबर चलना।

३. उनके बहुत नजदीक होकर चलना।

४. रालिक के आगे खड़ा हो जाना।

५. बराबर खड़ा हो जाना।

६. अत्यंत नजदीक खड़ा हो जाना।

७. आगे बैठना।

८. बराबर बैठना।

९. अति समीप बैठना।

१०. बाहर शारीरिक चिंतानिवृत्त्यर्थ (स्थण्डिल भूमि में) जाने पर रत्नत्रयाधिक (दीक्षा-
 ज्येष्ठ) मुनि से पूर्व शौच-शुद्धि करना।

११. स्थण्डिल भूमि या स्वाध्याय स्थान से वापस लौटने पर दीक्षा ज्येष्ठ मुनि से पहले (शैक्ष का) ईर्या पथिक करना।

१२. रत्नाधिक (रत्निक) के पास किसी व्यक्ति के वार्तालाप हेतु आने पर पहले स्वयं ही आलाप करने लगना।

१३. रत्निक द्वारा रात्रि में अथवा संध्या समय में यह पूछे जाने पर "कौन सो रहे हैं, कौन जाग रहे हैं" शिष्य (शैक्ष) द्वारा जागते हुए भी अनसुना कर देना - उत्तर न दिया जाना।

१४. अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार (गृहस्थ के यहाँ से) लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष (लघुमुनि) के पास आलोचना कर फिर रत्नाधिक के समक्ष आलोचना करना।

१५. चतुर्विध आहार लाकर पहले किसी अन्य शैक्ष को दिखाना पश्चात् रत्नाधिक मुनि को दिखाना।

१६. अशन, पानादि आहार को लाकर पहले अन्य शैक्ष (लघु मुनि) को उपनिमंत्रित करना (बुलाना) तत्पश्चात् दीक्षा ज्येष्ठ को भोजनार्थ आमंत्रित करना।

१७. चतुर्विध आहार लाकर रत्नाधिक से बिना पूछे जिन-जिनको शैक्ष चाहे, शीघ्रतापूर्वक उन-उनको दिया जाना।

१८. गुरु (रत्निक) के साथ आहार करते हुए शैक्ष द्वारा प्रचुर मात्रा में विविध प्रकार के शाक उत्तम, रसयुक्त, सरस, मनोज्ञ, स्निग्ध और रूक्ष आहार को शीघ्रता-पूर्वक ग्रहण करना।

१९. रत्निक के बुलाने पर शैक्ष द्वारा उत्तर न देना।

२०. दीक्षा ज्येष्ठ द्वारा आह्वान किए जाने पर शैक्ष का अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही उत्तर देना।

२१. रत्नाधिक के बुलाने पर (दूर खड़े हुए ही) शैक्ष द्वारा 'क्या कहते हो' ऐसा कहना।

२२. दीक्षा ज्येष्ठ को 'तुम' आदि (अपमानजनक) शब्दों द्वारा संबोधित करना।

२३. शैक्ष द्वारा क्षण-क्षण बोलना - अनर्गल प्रलाप करना।

२४. रत्नाधिक द्वारा कहे गए वचनों का प्रतिकार करना (रत्नाधिक द्वारा आदिष्ट कार्य उन्हें ही करने के लिए कहना या प्रतिवचन बोलना)।

२५. दीक्षा ज्येष्ठ द्वारा कथा (प्रवचन) करने पर "ऐसा बोलना चाहिए" (इस प्रकार सुधार करना चाहिए) आदि कहना।

२६. रत्नाधिक द्वारा कथा करते समय (बीच में) बोलना कि "आपको स्मरण नहीं आ रहा है" (आप भूल रहे हैं) - इस प्रकार के वाक्य कहना।

२७. गुरु के व्याख्यान से प्रसन्न नहीं होना।

२८. व्याख्यान समय में (किसी बहाने से) परिषद् को विसर्जित कर देना, २९. प्रवचन समय में भिक्षादि का कारण बताकर बाधा उपस्थित करना, ३०. रत्नाधिक के कथा करते समय परिषद् के उठने, भिन्न होने या बिखरने के पूर्व ही उसी कथा (गुरु द्वारा कही हुई) को दो या तीन बार कहना।

३१. रात्रिक साधु के शय्या-संस्तारक का (प्रमादवश) पैर से स्पर्श हो जाने पर अनुनय विनय - क्षमायाचना किए बिना चला जाना।

३२. दीक्षा ज्येष्ठ के शय्या-संस्तारक पर शैक्ष का खड़ा होना, बैठना या सोना तथा

३३. शैक्ष द्वारा रात्रिक से ऊँचे या समान आसन पर खड़े होना या बैठना - ये उन स्थविर भगवंतों ने तेतीस आशातनाएँ प्ररूपित की हैं।

यहाँ तीसरी दशा परिसमाप्त होती है।

विवेचन - साधु के जीवन में गुरुजन, श्रमण पर्याय में ज्येष्ठ पूज्यजनों के प्रति मानसिक, वाचिक और कायिक रूप में विनय होना अत्यंत आवश्यक है। "विणयमूलो धम्मो" - धर्म का मूल विनय है। यह शास्त्रोक्ति इसी बात का परिचायक है। "विशेषेण नयः विनयः" के अनुसार इसका अर्थ अत्यंत विनीत, विनम्र रहना है। जीवन में विनयप्रता तभी आती है जब सदाचरण के प्रति निष्ठा, निरभिमानिता, मृदुता, ऋजुता आदि गुण हों।

बौद्ध धर्म में विनय शब्द सीधे - भिक्षु आचार के रूप में प्रयुक्त है। भिक्षु का गमनागमन, रहन-सहन, भोजन, भिक्षाचर्या इत्यादि सभी आचार विषयक क्रियाकलापों को विनय कहा जाता है।

विनयपिटक, सुत्तपिटक एवं अभिधम्मपिटक - बौद्ध धर्म के मूल ग्रंथ हैं। विनयपिटक आचार शास्त्र है। जिस प्रकार आचारांग सूत्र में साधु के आचार या चर्या का विशद विवेचन है, उसी प्रकार विनयपिटक में भिक्षुओं के आचार का विस्तृत वर्णन है।

“विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम्” - विद्या विनय देती है, विनय से पात्रता, योग्यता प्राप्त होती है। ऐसी अनेक संस्कृत व नीति शास्त्रीय उक्तियाँ विनय की महत्ता का सूचन करती हैं।

जीवन में विनय नहीं होता तब व्यक्ति हर क्रिया - प्रक्रिया में प्रमादपूर्ण, अशिष्टतापूर्ण व्यवहार करता है। एक साधु के जीवन में ऐसा कदापि घटित न हो यह अत्यंत आवश्यक है। अत एव प्रारंभ से ही एक श्रमण को वैसे संस्कार प्राप्त हों, इस पर बहुत जोर दिया गया है। इस सूत्र में प्रयुक्त शैक्ष शब्द नवदीक्षित श्रमण के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो शिक्षार्थी है, जिसे जीवन में बहुत शिक्षाएँ प्राप्त करनी हैं। नये रूप में शिक्षा का ज्ञान प्राप्त करता है अथवा अध्ययन करता है, उसे शैक्ष कहा जाता है। शिक्षा शब्द से निष्पन्न यह तद्धित प्रत्यान्त रूप है। पारिभाषिक रूप में जैन शास्त्रों में नव दीक्षा पर्याय युक्त श्रमण के लिए ही इसका प्रयोग होता रहा है। इस सूत्र में ऐसी शिक्षाएँ दी गई हैं, जिनसे नवदीक्षित श्रमण दैनंदिन व्यवहार में अविनयपूर्ण आचरण से बच सके।

यहाँ प्रयुक्त ‘आशातना’ शब्द के मूल में ‘शौ’ धातु है, जो पीड़ित, दुःखित या परेशान करने के अर्थ में है। इसी से ‘शातना’ शब्द बनता है। इससे पहले ‘आ’ उपसर्ग लगने से ‘आशातना’ होता है, जो अर्थ में और व्यापकता ला देता है। इस सूत्र में जिन-जिन दोषों का वर्णन किया है, वे ऐसे हैं, जिनके कारण सम्मुखीन जनों के मन में मानसिक पीड़ा और खिन्नता पैदा हो सकती है। जो साधना में आगे बढ़े हों, उनमें ऐसा न भी हो, तो भी ये कार्य पीड़ोत्पादकता के हेतु होने से हेय तथा दूषणीय तो हैं ही। नवदीक्षित या नवशिक्षार्थी के स्वयं के लिए भी तो ये हानिकारक हैं। ऐसी प्रमादपूर्ण प्रवृत्तियाँ विद्या और चारित्र - दोनों में ही उसके अग्रसर होने में बाधक बनती हैं।

इसीलिए यहाँ दैनंदिन कार्यों से संबद्ध चलना, फिरना, बैठना, रहना - इत्यादि से संबंधित छोटी से छोटी बातों को इस प्रकार कहा गया है, जैसे एक बालक को समझाया जाता है। क्योंकि छोटी-छोटी बातों में प्रमाद करने वाले में प्रमाद की वृत्ति पनपती है, जो उसे साधना में आगे नहीं बढ़ने देती। छोटी से छोटी बात में जो जागरूक रहता है, उसकी समग्र चर्या में सतत जागरूकता बनी रहती है। इस संदर्भ में दशवैकालिक सूत्र की निम्नांकित गाथा विशेष रूप से मननीय है -

जरुत चरे जरुत चिद्रे, जरुत आसे जरुत सए।

जरुत भुंजतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ ॥ (दशवै० अ० ४ गाथा ८)

इस गाथा में गमनागमन, खान-पान, रहन-सहन आदि में यतनापूर्वक कार्यशील रहने का जो उपदेश दिया है, उसमें समग्र श्रमण जीवन का हार्द है। जो इसे अपना लेता है, वह आशातना आदि के दोषों से अपने को बचाने में समर्थ हो जाता है। यह सामर्थ्य प्राप्त हो, इसके लिए इन दोषों के छोटे-बड़े सभी पक्षों को नवशिक्षार्थी के लिए जानना आवश्यक है। अत एव जीवनगत क्रियाओं को विविध रूप में व्याख्यात करते हुए उनकी दूषणीयता को तेतीस भागों में बांटा है।

मुख्यतः इनका संबंध विनय से है। विनय बड़ों के प्रति होता है। बड़ों को किसी भी प्रकार खेद, शातना आदि उत्पन्न न हो, ऐसा कोई काम नवदीक्षित साधु न करे, अतः इसे आशातना नाम दिया गया है।

जैन जगत् के महान् मनीषी श्री हरिभद्र सूरि ने, जो जैन योग के उद्भावक आचार्य माने जाते हैं, अपने 'योगविन्दु' नामक संस्कृत ग्रन्थ में अध्यात्मयोग के साधकों को अपने प्रारंभिक अभ्यास के रूप में 'पूर्व सेवा' के नाम से कतिपय नियमों के पालन का विधान किया है, जो गुरुजन के प्रति विविध रूप में विनयमूलक आचरण के सूचक हैं, जिन्हें उपात्त करना अध्यात्मयोगी के लिए अत्यन्त आवश्यक है। संयम साधना मूलक आध्यात्मिक योग के पथ पर आरूढ होने का यह प्रथम सोपान है। विशाल भवन की भूमि में गड़ी नींव की तरह यह विनयमूलक चर्या साधना के उच्च प्रासाद का मुख्य आधार है। इसीलिए इसका इतने विस्तार से वर्णन हुआ है। जैन आगमों में वर्णन पद्धति के दो रूप हैं - विस्तार रुचिपूर्ण और संक्षेप रुचिपूर्ण। नवशिक्षार्थियों और नवदीक्षितों को प्रत्येक विषय विस्तार के साथ, खोल-खोलकर बताया जाना अपेक्षित है। क्योंकि उनमें अध्यात्म और संयम के पवित्र संस्कारों को ढालना होता है। "यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारोनाऽन्यथा भवेत्" - कुंभकार द्वारा नये पात्र में जो संस्कार भर दिया जाता है, जब तक वह घट रहता है, तब तक वह विद्यमान रहता है। उसी प्रकार नवावस्था में जो पावन संस्कार ढाल दिए जाते हैं, वे यावज्जीवन अमिट रहते हैं।

यह विवेचन इसी पृष्ठ भूमि पर आधारित है।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की तीसरी दशा समाप्त ॥

चउत्था दसा - चतुर्थ दशा

अष्टविध गणिसंपदा

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्टुविहा गणिसंपया पण्णत्ता, कयरा खलु अट्टुविहा गणिसंपया पण्णत्ता?

इमा खलु अट्टुविहा गणिसंपया पण्णत्ता, तंजहा- आयारसंपया १, सुयसंपया २, सरीरसंपया ३, वयणसंपया ४, वायणासंपया ५, मइसंपया ६, पओगमइसंपया ७, संगहपरिण्णा णामं अट्टुमा ८ ।

से किं तं आयारसंपया? आयारसंपया चउत्विहा पण्णत्ता। तंजहा- संजमधुवज्जोगजुत्ते यावि भवइ, असंपगहियअप्पा, अणिययवित्ती, वुड्ढुसीले यावि भवइ। से तं आयारसंपया ॥ १ ॥

से किं तं सुयसंपया? सुयसंपया चउत्विहा पण्णत्ता। तंजहा - बहुसु(ते)ए यावि भवइ, परिचियसुए यावि भवइ, विचित्तसुए यावि भवइ, घोसविंसुद्धिकारए यावि भवइ। से तं सुयसंपया ॥ २ ॥

से किं तं सरीरसंपया? सरीरसंपया चउत्विहा पण्णत्ता। तंजहा - आरोहपरिण्णाह-संपण्णे यावि भवइ, अणोत्पसरीरे, थिरसंघयणे, बहुपडिपुण्णिंदिए यावि भवइ। से तं सरीरसंपया ॥ ३ ॥

से किं तं वयणसंपया? वयणसंपया चउत्विहा पण्णत्ता। तंजहा - आदेयवयणे यावि भवइ, महुरवयणे यावि भवइ, अणिसिसयवयणे यावि भवइ, असंदिद्धवयणे यावि भवइ। से तं वयणसंपया ॥ ४ ॥

से किं तं वायणासंपया? वायणासंपया चउत्विहा पण्णत्ता। तंजहा - विजयं उदिसइ, विजयं वाएइ, परिणिव्वावियं वाएइ, अत्थणिज्जावए यावि भवइ। से तं वायणासंपया ॥ ५ ॥

से किं तं मइसंपया? मइसंपया चउत्विहा पण्णत्ता। तंजहा - उग्गहमइसंपया, ईहामइसंपया, अवायमइसंपया, धारणामइसंपया। से किं तं उग्गहमइसंपया?

उगहमइसंपया छव्विहा पणत्ता। तंजहा - खिप्पं उगिणहेइ, बहु उगिणहेइ, बहुविहं उगिणहेइ, धुवं उगिणहेइ, अणिसियं उगिणहेइ, असंदिद्धं उगिणहेइ। से तं उगहमइसंपया। एवं ईहामइवि। एवं अवायमइवि। से किं तं धारणामइसंपया? धारणामइसंपया छव्विहा पणत्ता। तंजहा-बहु धरेइ, बहुविहं धरेइ, पोराणं धरेइ, दुद्धरं धरेइ, अणिसियं धरेइ, असंदिद्धं धरेइ। से तं धारणामइसंपया से तं मइसंपया ॥ ६ ॥

से किं तं पओगमइसंपया? पओगमइसंपया चउव्विहा पणत्ता। तंजहा - आयं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ, परिसं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ, खेत्तं विदाय वायं पउंजित्ता भवइ, वत्थु विदाय वायं पउंजित्ता भवइ। से तं पओगमइसंपया ॥ ७ ॥

से किं तं संगहपरिण्णा णामं संपया? संगहपरिण्णा णामं संपया चउव्विहा पणत्ता। तंजहा - बहुजणपाउग्गयाए वासावासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवइ, बहुजणपाउग्गयाए पाडिहारिय-पीढफलगसेज्जासंथारय उगिणित्ता भवइ, कालेणं कालं समाणइत्ता भवइ, अहागुरु संपूएत्ता भवइ। से तं संगहपरिण्णा णामं संपया ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अट्टविहा - अष्टविधा - आठ प्रकार की, गणिसंपया - गणिसंपदा-
आचार्य का वैभव, समृद्धि, सम्पन्नता, आचारसंपया - आचार संपदा, सुयसंपया - श्रुत
संपदा, सरीरसंपया - शरीर संपदा, वयणसंपया - वचन संपदा, वायणासंपया - वाचना
संपदा, मइसंपया - मतिसंपदा, पओगमइसंपया - प्रयोग मति संपदा, संगहपरिण्णा - संग्रह
परिज्ञा, चउव्विहा - चतुर्विध, संजमधुवजोगजुत्ते - संयम-धुव-योग-युक्त, असंपगहियअप्पा-
असंप्रगृहीतात्मता - अहंकार शून्यता, अणियय-वित्ती - अनियतवृत्तित्ता - अप्रतिबंधविहारिता,
वुड्ढसीले - वृद्धशीलता, परिचियसुए - परिचित श्रुत - श्रुत का यथार्थ ज्ञान, विचित्तसुए -
विचित्र श्रुत - स्व-पर शास्त्रवेत्ता, घोसविसुद्धिकारए - घोष विशुद्धिकारकता - आगम पाठ
के विशुद्ध उच्चारण की विशिष्ट योग्यता, आरोहपरिण्णाहसंपण्णे - देह की समुचित लम्बाई-
चौड़ाई युक्त, अणोत्तप्पसरीर - अनवत्राप्यता - अंगहीनत्व का अभाव (सुरूप आकार युक्तता),
थिरसंघयणे - स्थिर संहनन - वज्ररूढभनाराचादि दृढ़ संहननशालिता, बहुपडिपुण्णिंदिए -
बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता - इन्द्रियों की सर्वथा परिपूर्णता, आदेयवयणे - आदेय वचनता, मधुरवयणे-
मधुर वचनता, अणिसियवयणे - अनिश्रित वचनता - निष्पन्न वचनता, विजयं उहिसइ -
विदित्वा उद्दिशति - योग्यता को जानकर शिक्षा देना, वाएइ - वाचना देना, परिणिव्वावियं-

परिनिर्वापित - शिष्य को पूर्व पठित विषय कितना स्वायत्त है, यह जानना, **अत्यणिजावए** - अर्थनिर्यापकता - पूर्वापर आशय-संगति पूर्वक शिक्षा देना, **उग्गहमइसंपया** - अवग्रहमति संपदा, **खिण्णं उगिण्हेइ** - क्षिप्रमवगृह्णाति - शीघ्र अवगृहीत - स्वायत्त करना, **धुवं** - नित्य, **दुद्धरं** - विशेष बौद्धिक श्रम द्वारा ग्राह्य, **अणिस्सियं** - अनिश्रित - किसी अन्य साधना या हेतु के बिना सहज रूप से अर्थ को ग्रहण करना, **आयं** - आत्मानं - अपने आपको, **विदाय** - (विदित्वा) जानकर, **वायं** - वाद - परमत-खण्डन स्वमत स्थापन पूर्वक, **पडंजित्ता** - प्रयोग करता है, **परिसं** - परिषद्, **खेत्तं** - क्षेत्र, **वत्थु** - वस्तु, **बहुजणंपाउग्गयाए** - बहुजनप्रायोग्यतया - अनेक मुनियों के लिए शास्त्र-मर्यादानुरूप आवास योग्य, **पडिलेहिता** - बारीकी से पर्यवेक्षण कर, **पाडिहारिय** - प्रातिहारिक - प्रयोग कर वापस दिए जाने वाले, **समाणइत्ता** - समयानुरूप (अवसरानुरूप) कार्य करना, **अहागुरु** - यथागुरु-दीक्षा-ज्येष्ठ के प्रति यथारूप व्यवहार, **संपूएत्ता** - संपूजयिता - सम्यक् वंदन-व्यवहार, आदर-सत्कार करना।

भावाथं - आयुष्मन्! मैंने श्रवण किया है, परिनिर्वाण प्राप्त प्रभु महावीर ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है - अरहन्त भगवंत के प्रवचन में उन द्वारा प्ररूपित तत्त्वविवेचन के अन्तर्गत स्थविर भगवंतों ने अष्टविध गणिसंपदा का कथन किया है।

अष्टविध गणिसंपदा कौन-कौनसी बतलाई गई है?

अष्टविध गणिसंपदा का इस प्रकार विवेचन हुआ है-

१. आचारसंपदा २. श्रुतसंपदा ३. शरीरसंघदा ४. वचनसंपदा ५. वाचनासंपदा ६. मतिसंपदा ७. प्रयोगमतिसंपदा ८. संग्रह परिज्ञा संपदा।

१. आचारसंपदा कैसी है?

आचारसंपदा चार प्रकार की प्रतिपादित हुई है -

(अ) संयम विषयक क्रियाओं में सदैव उपयोग रखना - जागरूकता पूर्वक वर्तन करना।

(ब) किसी भी प्रकार का अहंकार या अभिमान न करना।

(स) अप्रतिबंधविहरणशील रहना।

(द) दीक्षावृद्ध, ज्ञानवृद्ध आदि के प्रति सम्मान का भाव रखना -

ये चार प्रकार की आचार संपदाएं हैं।

२. श्रुतसंपदा कितनी कही गई हैं?

श्रुतसंपदा चार प्रकार की निरूपित हुई हैं -

(अ) बहुश्रुत - अनेक शास्त्रों का ज्ञाता होना।

(ब) परिचित श्रुत - सूत्रगत रहस्य - आशय का भलीभाँति ज्ञान होना।-

(स) विचित्र श्रुत - अपने दर्शन के सिद्धान्तों तथा अन्य दर्शन के सिद्धान्तों का अभिज्ञान होना।

(द) घोषविशुद्धिकारकता - उच्चारण विशुद्धि का भलीभाँति ज्ञान होना।

ये चार श्रुतसंपदाएँ हैं।

३. शरीरसंपदा कितने प्रकार की बतलाई गई हैं ?

यह चार प्रकार की परिज्ञापित हुई है -

(अ) समुचित अनुपात युक्त लम्बाई-चौड़ाई युक्त देह का होना।

(ब) अंग विकलता का अभाव (सांगोपांग होना)।

(स) स्थिर संहनन - दैहिक संहननात्मक सुदृढ़ता

(द) बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियता - इन्द्रियों की सर्वथा परिपूर्णता।

यह चतुर्विध देह संपदा का स्वरूप है।

४. वचनसंपदा कितने प्रकार की प्ररूपित हुई है ?

यह चार प्रकार की परिज्ञापित हुई है -

(अ) आदेयवचनता - श्रद्धातिशय युक्त होने से ग्रहण करने योग्य वचन।

(ब) मधुरवचनता - वाणी में मधुरता।

(स) अनिश्रितवचनता - किसी पर भी अनाश्रित अनाधारित, पक्षपात शून्यवचन युक्तता

(द) असंदिग्धवचनता - संदेह रहित वचनशीलता,

चतुर्विध वचनसंपदा का यह स्वरूप है।

५. वाचनासंपदा के कितने प्रकार बतलाए गए हैं ?

इसके चार प्रकार कहे गए हैं -

(अ) शिष्य की ग्रहण विषयक योग्यता (क्षमता) को समझ कर तदनुरूप सूत्र विशेष की वाचना देना।

(ब) शिष्य की धारणाशक्ति के अनुसार युक्ति तर्क-हेतु-दृष्टांत पूर्वक वाचना देना।

(स) पूर्वाधीत सूत्र की धारणा शिष्य को कहाँ तक है, यह जानकर आगे वाचना देना (जिससे पूर्व स्मरण लुप्त न हो)।

(द) अर्थनिर्यापकता - पूर्वापर विषयों के सामंजस्य पूर्वक वाचना देना।

ये वाचनासंपदा के चार प्रकार हैं।

६. मतिसंपदा कितने प्रकार की होती है?

मतिसंपदा चार प्रकार की होती है -

(अ) अवग्रहमतिसंपदा - साधारणतया सूत्रार्थ का ज्ञान होना।

(ब) ईहामतिसंपदा - सामान्य रूप से ज्ञान अर्थ को विशेष रूप से जानने की वांछा,

(स) अवायमतिसंपदा - ईहा द्वारा स्वायत्त वस्तु स्वरूप का विशेष रूप से निश्चय करना।

(द) धारणामतिसंपदा - निश्चित रूप से ज्ञात वस्तु को चिरस्थायी रूप से स्मृति में टिकाना।

अवग्रहमतिसंपदा के कितने प्रकार हैं?

इसके छह प्रकार हैं -

(i) क्षिप्र अवग्रह - ज्ञेय विषय को सामान्य रूप में शीघ्र गृहीत करना,

(ii) बहु अवग्रह - बहुलतया, व्यापक रूप में गृहीत करना,

(iii) बहुविध अवग्रह - अनेक प्रकार से गृहीत करना,

(iv) ध्रुव अवग्रह - निश्चित रूप में गृहीत करना,

(v) अनिश्रित अवग्रह - बिना किसी आधार के अपनी बुद्धि से ग्रहण करना,

(vi) असंदिग्ध अवग्रह - संदेह रहित रूप में अवगृहीत करना,

यह अवग्रह मतिसंपदा का स्वरूप है।

इसी प्रकार ईहामतिसंपदा एवं अवायमतिसंपदा के संबंध में ज्ञातव्य है।

धारणामतिसंपदा कितने प्रकार की बतलाई गई है?

धारणामतिसंपदा छह प्रकार की है -

(i) बहु धारणा - विविध जाति युक्त पदार्थों के ज्ञान को स्मृति में रखना,

(ii) बहुविध धारणा - धारणा में गृहीत पदार्थ के विविध पक्षों को स्मृति में रखना,

(iii) पुराणा धारणा - अतीकालीन विषयों, वृत्तों, घटनाओं को स्मृति में रखना,

(iv) दुर्धर धारणा - अतिबौद्धिक परिश्रम के द्वारा जिन्हें स्मृति में रखा जा सके, ऐसे विषयों

को स्मृति में बनाए रखना,

- (v) अनिश्रित धारणा - बिना किसी अन्य साधन, आधार, सहयोग आदि के स्मृति में रखना,
 (vi) असंदिग्ध धारणा - सर्वसंशयवर्जनपूर्वक किसी विषय को स्मृति में धारण करना,
 यह धारणामति संपदा का स्वरूप है। यह मति संपदा का स्वरूप है।

७. प्रयोगमतिसंपदा कितने प्रकार की है ?

प्रयोगमतिसंपदा चार प्रकार की बतलाई गई है -

- (अ) अपनी क्षमता को समझ कर वाद (शास्त्रार्थ) का प्रयोग करना,
 (ब) परिषद् - सभा की स्थिति का आकलन कर वाद का प्रयोग करना,
 (स) क्षेत्रीय स्थिति को यथावत् जानकर वाद का प्रयोग करना,
 (द) वस्तु विषय को अवगत कर वाद का प्रयोग करना,
 यह प्रयोगमतिसंपदा का स्वरूप है।

८. संग्रहपरिज्ञासंपदा कितने प्रकार की निरूपित हुई है ?

संग्रहपरिज्ञासंपदा चार प्रकार की बतलाई गई है -

- (अ) वर्षावास में अनेक मुनिगण के रहने योग्य उपयोगी क्षेत्र का शास्त्रमर्यादानुरूप गवेषण,
 चयन करना,
 (ब) अनेक साधुओं के लिए अपेक्षित, समुचित, प्रातिहारिक पाट, बाजौट, शय्या, संस्तारक
 इत्यादि का शास्त्र विधि सम्मत संचयन करना,
 (स) काल के बहुआयामी स्वरूप का अवबोध कर, जिस काल में जो कार्य (स्वाध्याय,
 प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन आदि) शास्त्र सम्मत विधि से करणीय हों, उन्हें उसी काल में यथावत् रूप
 में करना,
 (द) पर्यायज्येष्ठ, ज्ञानवृद्ध आदि का सम्मान करना,
 यह संग्रहपरिज्ञासंपदा का स्वरूप है।

विवेचन - चौथी दशा के अन्तर्गत आठ प्रकार की गणि संपदा का विवेचन हुआ है।
 गणी का अर्थ आचार्य है। 'गणोऽस्थास्तीति गणी' के अनुसार गणी शब्द के मूल में
 गण है। जो गण का स्वामी, अधिपति या अधिनायक होता है, उसे गणी कहा जाता है। गण
 का सामान्य अर्थ जनसमूह या प्रजाजन है। जैन शास्त्रों में गण शब्द का समान आचार-
 व्यवहार युक्त साधुओं के लिए प्रयुक्त होता है। ऐसे साधु समूह के अधिपति आचार्य होते
 हैं। आचार्य गण में सर्वोच्च पद है।

संघ की सब प्रकार की देखभाल का मुख्य दायित्व आचार्य पर रहता है। संघ में उनका आदेश अन्तिम और सर्वमान्य होता है।

गणी या आचार्य की आठ संपदाओं का यहाँ जो वर्णन हुआ है, वह आचार्य के व्यक्तित्व की उन विशेषताओं का द्योतक है, जो आत्म साधना के साथ-साथ धर्म और शासन को उजागर करने में प्रेरक एवं सहायक होती हैं। संपदा शब्द सामान्यतः धन संपत्ति के लिए प्रयुक्त होता है। श्रमण तो ज्यों ही दीक्षा स्वीकार करते हैं, सभी प्रकार की भौतिक संपदाओं का प्रत्याख्यान या परित्याग कर देते हैं। वे पूर्णतः अपरिग्रही होते हैं। सांसारिक धन-दौलत उनके लिए तृण-तुल्य होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन और चरित्र ही उनका धन, वैभव या ऐश्वर्य है। आचार्य की आठ संपदाओं में इन्हीं के आधार पर धर्मोद्योत और अध्यात्मप्रभावना का भाव समाविष्ट है। जिन-जिन उपादानों, कारणों से, विशेषताओं से यह सधे, उन्हीं का इनमें विशेष रूप से निरूपण हुआ है। संतों, आचार्यों की तो यही विभूति, समृद्धि या संपत्ति है।

गणी या आचार्य की अष्टविध संपदाओं में पहली आचार संपदा है। साधु जीवन में आचार का सर्वोपरि स्थान है। आचार साधुत्व का मूल गुण है। आचार पूर्वक ही विद्या, वक्तृता आदि गुण शोभित होते हैं। “आचार मूलो धर्मो” “आचारः प्रथमो धर्मः” इत्यादि उक्तियाँ इसी आशय की द्योतक हैं। “आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः” अर्थात् आचार हीन को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। अन्यान्य शास्त्रों में भी ऐसे कथन प्राप्त होते हैं।

आचार्य शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है :-

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।

स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते ॥

अर्थात् जो शास्त्रों के अर्थ का आचयन - संचयन - संग्रहण करते हैं, स्वयं आचार का पालन करते हैं, दूसरों को आचार में स्थापित करते हैं, (इन कारणों से) वे आचार्य कहे जाते हैं।

आचार्य शब्द के मूल में मुख्यतः आचार शब्द है।

प्रस्तुत सूत्र में आचार संपदा के जो चार भेद निरूपित हुए हैं, वे प्रधानतया आचार्य की उत्कृष्ट आचार साधना के सूचक हैं। तदनुसार संयमविषयक क्रियाओं में सदैव ध्रुवयोग युक्त रहना - मानसिक, वाचिक, कायिक रूप में कृत, कारित और अनुमोदित पूर्वक आचार विधाओं का अविचल रूप में परिपालन करना अभीप्सित है। आचार्य अपने उच्च पद आदि

का कभी अभिमान नहीं करते, क्योंकि अहंकार विकास का बाधक है। निर्मल आचार, स्वावलम्बी जीवन, ममत्वशून्य व्यवहार तथा लोककल्याण की दृष्टि से आचार्य नियमानुरूप, मर्यादारूप जनपद विहारी होते हैं। वे किसी एक स्थान पर स्थिर रूप में नहीं रहते। इसीलिए कहा गया है - बहता जल और पर्यटनशील - विहरणशील संत निर्मल होते हैं। आचार्य के स्वभाव में वृद्धों, अनुभवीजनों की तरह गंभीरता होती है, इससे उनका आचार अलंकृत - विभूषित बनता है।

आचार के पश्चात् शास्त्र ज्ञान या विद्या का स्थान है। शास्त्रज्ञान को श्रुत कहा गया है। लिपिबद्ध होने से पूर्व शास्त्रज्ञान की परंपरा श्रवण या सुनने के आधार पर चलती रही। शिष्य गुरुजन से श्रवण करते, उसे स्मृति में रखते, यों आगे से आगे ज्ञान चलता रहता।

‘श्रु’ धातु के आगे ‘क्त’ प्रत्यय जोड़ने से श्रुत शब्द बनता है, जिसका अर्थ ‘सुना हुआ’ है। सुना हुआ ही उत्तरोत्तर सुना जाता रहा। श्रवण के माध्यम से गतिशील रहा। श्रुत कहे जाने का यह एक हेतु है।

बहुमतता, परिचितश्रुतता, विचित्रश्रुतता तथा घोषविशुद्धिकारकता के रूप में जो चार श्रुत संपदाओं का उल्लेख हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि आचार्य अनेक आगमों एवं शास्त्रों के अध्येता होते हैं। उनमें निहित गंभीर आशय, अभिप्राय, रहस्य एवं तत्त्व से सुपरिचित-उनके विशेषज्ञ होते हैं, अपने सिद्धान्तों के साथ-साथ वे पर सिद्धान्तों के भी ज्ञाता होते हैं। ऐसा होने से वे तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक रूप में अपने सिद्धान्तों को स्थापित करने में समर्थ होते हैं। घोष विशुद्धि के रूप में जो चौथी श्रुत संपदा का उल्लेख हुआ है, इसका तात्पर्य यह है कि उनका उच्चारण सर्वथा शुद्ध होता है। धर्मदेशना, धर्मोपदेश आदि में उच्चारण की शुद्धता तथा स्पष्टता की विशेष आवश्यकता है। वैसा होने से प्रवचन या उपदेश बहुत प्रभावकारी होता है।

साधु जीवन का परम लक्ष्य आध्यात्मिक विकास है। यद्यपि शरीर गौण है किन्तु वह एक साधक के लिए साधना में उपकरण रूप है। अतः उसका भी अपना एक दृष्टि से महत्त्व है। आचार्य के लिए इस बात का और अधिक महत्त्व है। आत्मकल्याण के साथ-साथ साधु-साध्वी संघ का विद्या एवं चरित्रमय विकास, जन-जन में अहिंसामूलक धर्म का व्यापक प्रचार, आर्हत् प्रवचन, धर्मशासन की प्रशस्ति आदि का आचार्य पर विशेष दायित्व है। अत एव शारीरिक अंगोपांगों, इन्द्रियों की पूर्णता, सुदृढ़ एवं समुचित अनुपात युक्त संहनन, दैहिक

सौष्ठव इत्यादि प्रभावक व्यक्तित्व के हेतु हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है, आचार्य अपने आपको ऐसा बनाने का (अपनी ओर से) ऐसा कोई प्रयास नहीं करते किन्तु आचार्य के मनोनयन, चयन में इन सब बातों पर गौर किया जाता है। विद्या, चारित्र्य, शील आदि के साथ-साथ दैहिक वैशिष्ट्य भी प्रभावोत्पादकता का अवश्य हेतु है, क्योंकि सबसे पहले लोगों की दृष्टि देह पर जाती है।

जीवन में भाषा-व्यवहार, वाक्प्रयोग या वचन का बहुत महत्त्व है। भाषा ही व्यक्ति के भावों की अभिव्यक्ति का मुख्य माध्यम है। वह समीचीन, संगत और सुप्रयुक्त हो, यह वांछित है। कहा है -

**चरित है मूल्य जीवन का,
वचन प्रतिबिम्ब है मन का।
सुयश है आयु सज्जन की,
सुजनता है प्रभा धन की॥**

इस पद्य की दूसरी पंक्ति में जैसा कहा गया है, वचन मनोभावना का, मानसिकता का प्रतिबिम्ब है। उच्च, गंभीर, महत्त्वपूर्ण विचारों को व्यक्त करने हेतु तनुरूप सुंदर, सुगम, उपयोगी शब्दों का प्रयोग होना अपेक्षित है। आचार्य चतुर्विध धर्म संघ के धार्मिक अधिनायक होते हैं, वे तीर्थंकर देव के प्रतिनिधि रूप हैं, इसी कारण नमस्कार सूत्र में अर्हंतों तथा सिद्धों के पश्चात् उन्हीं का समावेश है। वे सर्वज्ञोपदिष्ट धर्म तत्त्व के अधिवक्ता और उद्बोधक होते हैं, अतः एव उनके जीवन में वाणी या वचन का बहुत महत्त्व है। आदेयता, मधुरता, अनिमितता एवं असंदिग्धता - ये उनकी वाणी की विशेषताएँ हैं। 'आ' उपसर्ग, 'दा' धातु एवं 'यत्' प्रत्यय के योग से आदेय शब्द बनता है। "आदातु योग्यमादेयम्" आदेय का अर्थ 'ग्रहण करने योग्य' है। आचार्य अपनी वाणी में ऐसे श्रद्धातिशययुक्त, युक्तिपूर्ण, तर्कसंगत वचनों का उपयोग करते हैं, जो श्रोताओं को ग्रहण करने योग्य प्रतीत होते हैं। क्योंकि उनमें विसंगति नहीं होती। साथ ही साथ उनके वचनों में मधुरता रहती है। वे जो भी कहते हैं, मधुरता के साथ कहते हैं, जिससे उनके वचन अप्रिय नहीं लगते। आचार्य की वाणी सार्वजनीन होती है। व्यक्ति विशेष, दल विशेष के प्रति उसमें कोई पक्ष नहीं होता। वे तत्त्वद्रष्टा होते हैं। इसलिए उनके वचनों में संदेह का समावेश नहीं होता।

एक जैन साधु के जीवन का मूल आधार सर्वज्ञ निरूपित आगमश्रुत हैं। आगमों में उन

सभी सिद्धान्तों का विवेचन है, जो साधु जीवन के विशुद्ध परिपालन के लिए अपेक्षित हैं, जिन्हें प्रत्येक साधु को भलीभाँति आत्मसात करना होता है। आचार्य साधुओं की आगम अध्ययन विषयक व्यवस्था का सम्यक् संचालन करते हैं। साधुओं की क्षमता, धारणाशक्ति, अधीत पाठ की सम्यक् उपस्थिति आदि को देखकर वाचना, अध्ययन आदि का निर्धारण करते हैं, ताकि श्रमणवृन्द में श्रुताध्ययन सम्यक् रूप में चले, चिरकाल तक स्मृति में रह सके।

पाँच ज्ञानों में मतिज्ञान पहला है। बौद्धिक चिन्तन, प्रज्ञाप्रकर्ष, नवाभिनव विचारोद्भव इत्यादि मतिज्ञान पर आश्रित हैं। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा मतिज्ञान के उत्तरोत्तर विकास के हेतु हैं। मति ज्ञानावरण के क्षयोपशम के अनुरूप इनकी प्राप्ति में बहुविध तरतमता बनी रहती है। आचार्य में मतिज्ञान के इन सभी पूरक अंगों का विलक्षण वैशिष्ट्य होता है। उन द्वारा विषय का अवग्रह, उसमें विशेष गवेषणात्मक औत्सुक्य, तदनु रूप निश्चिती (निश्चयात्मक अवधारणा) तथा स्मृति में उसका चिरन्तन स्थायित्व उत्कर्ष रूप में विद्यमान हो, यह अपेक्षित है। ऐसा होने से प्रत्येक कठिन, जटिल, दुखगाह प्रश्नों पर उनकी बुद्धि कदापि अकृत्कार्य नहीं रहती। वे विशेष रूप से प्रत्युत्पन्न-मतिशाली (Presence of Mind) होते हैं।

प्रयोग शब्द 'प्र' उपसर्ग और 'योग' शब्द के मेल से बनता है। 'योग' शब्द 'युज्' धातु से बनता है, जो जोड़ने के अर्थ में है। 'युज्वतीति योगः' - जो योजित करता है, वह योग है। प्रयोग का अर्थ किसी क्रिया में प्रकृष्ट रूप में, विशिष्ट रूप में जुड़ना है। जहाँ कर्म के साथ व्यक्ति की मानसिकता भी रहती है। अत एव उसका निष्कर्ष या परिणाम सार्थक होता है। आचार्य में क्रियागत, प्रयोगात्मक वैशिष्ट्य अपेक्षित है। क्योंकि आचार्य के प्रत्येक कार्य की फलनिष्पत्ति उनके अपने लिए ही नहीं होती, औरों पर भी उसका प्रभाव होता है।

आचार्य के जीवन में अन्य मतवादियों से शास्त्रचर्चा के प्रसंग आते ही रहते हैं। वहाँ सफल या विजेता होने के लिए उन्हें यह ध्यान देना आवश्यक है कि वह क्षेत्र कैसा है, जिस परिषद् में चर्चा हो रही है। वह किस योग्यता की है, उनमें स्वपक्ष या परपक्ष के व्यक्ति किस कोटि के हैं, निरूपणीय विषय, हेयोपादेयता की दृष्टि से कैसा है, स्वयं में विषय के प्रस्तुतीकरण आदि का सामर्थ्य कैसा है? अर्थात् इन विषयों में आचार्य की विशेषता हो। ऐसे आचार्य वाद में निष्णात एवं सफल होते हैं, आर्हत् प्रवचन की प्रशस्ति एवं अभिवृद्धि करते हैं।

संग्रहपरिज्ञा में उन गुणों का निर्देश है, जिनका गण या साधु-साध्वी संघ के अधिनायक (आचार्य) में होना आवश्यक है। आचार्य के निर्देशन में अनेक साधु-साध्वी होते हैं। अत एव आचार्य केवल अपनी व्यक्तिगत चिन्ता नहीं करते वरन् समस्त गण की चिन्ता करते हैं, मर्यादोचित आनुकूल्य का ध्यान रखते हैं। साधु-साध्वियों के जीवन में वर्षावास का बहुत महत्त्व है क्योंकि जब निरन्तर, चार मास तक किसी एक ही स्थान पर उन्हें प्रवास करना होता है। एक दो दिन तो व्यक्ति सुविधा-असुविधा में निकाल सकता है, किन्तु जहाँ चार महीने रहना हो, वहाँ शास्त्रमर्यादारूप सभी अनुकूलताएँ वाँछित हैं, जिनसे उनकी साधना दृढ़ होती हो। अत एव आवास स्थान, दैनंदिन प्रयोग में आने वाली पीठ फलक, आसन-शय्या-संस्तारक आदि उनके लिए समीचीन रूप में उपलब्ध हों। आचार्य जैसे क्षेत्र का, स्थान का चयन करते हैं। वे कालोचित करणीयताओं का यथासमय पालन करवाते हैं। ज्ञानवृद्ध, दीक्षावृद्ध साधुओं के सम्मान का पूरा ध्यान रखते हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जैन शासन में आचार्य का मतों के आधार पर निर्वाचन नहीं होता, आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी आचार्य का पदस्थापन करते हैं। इन विशेषताओं से युक्त आचार्य ही अपने समकक्ष उत्तराधिकारी का चयन कर सकते हैं।

शिष्य के प्रति आचार्य का दायित्व

आयरिओ अंतेवासी इमाए चउव्विहाए विणयपडिवत्तीए विणइत्ता भवइ णिरणत्तं गच्छइ। तंजहा-आयारविणएणं, सुयविणएणं, विक्खेवणाविणएणं, दोस-णिग्घायणविणएणं ॥ ९ ॥

से किं तं आयारविणए? आयारविणए चउव्विहे पण्णत्ते। तंजहा - संजमसा(स)-मायारी यावि भवइ, तवसामायारी यावि भवइ, गणसामायारी यावि भवइ, एगल्लविहारसामायारी यावि भवइ। से तं आयारविणए ॥ १० ॥

से किं तं सुयविणए? सुयविणए चउव्विहे पण्णत्ते। तंजहा - सुत्तं वाएइ, अत्थं वाएइ, हियं वाएइ, णिस्सेसं वाएइ। से तं सुयविणए ॥ ११ ॥

से किं तं विक्खेवणाविणए? विक्खेवणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते। तंजहा-अदिट्ठधम्मं दिट्ठपुव्वगत्ताए विणएइत्ता भवइ, दिट्ठपुव्वगं साहम्मियत्ताए विणएइत्ता भवइ,

चुयधम्माओ धम्मे ठावइत्ता भवइ, तस्सेव धम्मस्स हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए अणुगामियत्ताए अब्भुट्टेत्ता भवइ। से तं विक्खेवणाविणए ॥ १२ ॥

से किं तं दोसणिग्घायणाविणए? दोसणिग्घायणाविणए चउव्विहे पण्णत्ते। तंजहा-कुद्धस्स कोहविणएत्ता भवइ, दुट्टस्स दोसं णिगिण्हत्ता भवइ, कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवइ, आयासुप्पणिहिए यावि भवइ। से तं दोसणिग्घायणाविणए ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिरणत्तं - ऋणमुक्तता - उऋणता, विक्खेवणाविणएणं - विक्षेपणाविनय - सम्यक्त्व आदि विशिष्ट गुणों में स्थापित करना, दोसणिग्घायणाविणएणं- दोषनिर्घातनविनय - मिथ्यात्व आदि दोषों का निर्घातन - उच्छेदन करना, संजमसमाचारी - संयमसमाचारी - संयमानुरूप आचरण, अदिट्टुधम्मं - अदृष्टधर्म - धर्म के यथार्थ ज्ञान से रहित, दिट्टुपुव्वगत्ताए - दृष्टपूर्वकतया - धर्म विषयक सद्बोध द्वारा, विणएइत्ता - विनेता- ले जाने वाला, साहम्मियत्ताए - साधर्मिकता से, चुय-धम्माओ - धर्म से च्युत (गिरे हुए), ठावइत्ता - स्थापयिता - स्थापित कर, हियाए - हितार्थ, अणुगामियत्ताए - अनुयायी होकर, अब्भुट्टेत्ता - अभ्युत्थित होकर - आराधक बनकर, कुद्धस्स - क्रोधयुक्त होने पर, दुट्टस्स - दोषयुक्त का, कंखियस्स - कांक्षितस्य - परमत - आकर्षण का निवारण, कंखं- कांक्षा - इच्छा (भावना), छिंदित्ता - छेत्ता - निवारणकर्ता, आयासुप्पणिहिए - आत्मसुप्रणिहित - संयतचेता - आत्मस्थैर्यवान।

भावार्थ - आचार्य अपने अन्तेवासियों - शिष्यों को चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति - विनयमूलक आचारविद्या सिखाकर, प्राप्त करवाकर अपने ऋण से मुक्त हो जाते हैं।

वह चतुर्विध विनयप्रतिपत्ति इस प्रकार है -

१. आचार विनय २. श्रुत विनय ३. विक्षेपणा विनय एवं ४. दोषनिर्घातन विनय।

आचार विनय कितने प्रकार का बतलाया गया है?

आचार विनय चार प्रकार का बतलाया गया है -

१. संयमसमाचारी २. तपसमाचारी ३. गणसमाचारी ४. एकाकीविहार समाचारी सिखलाना चतुर्विध विनय समाचारी है।

यह आचार विनय का स्वरूप है।

श्रुतविनय कितने प्रकार का है?

श्रुतविनय चार प्रकार का बतलाया गया है।

१. आगमों का पाठन २. (सूत्रों के) अर्थ का परिज्ञापन ३. शिष्य के हित का उपदेश
४. सूत्रों का संपूर्णतया पाठन, अर्थ परिज्ञान।

यह श्रुतविनय का स्वरूप है।

विक्षेपणा विनय कितने प्रकार का कहा गया है?

विक्षेपणा विनय चार प्रकार का बतलाया गया है।

१. जिसने संयममूलक धर्म को पूर्णतः नहीं समझा है, उसे समझाना (मिथ्यात्व से हटाना)।

२. जिसने संयम धर्म को समझा हो, उसे साधर्मिक - अपने समान धर्मा (स्वसदृश) बनाना।

३. धर्म से च्युत - पतित को पुनः धर्म में स्थापित करना।

४. संयम धर्म में स्थित शिष्य के ऐहिक - पारलौकिक हित, सुख, सामर्थ्य एवं मोक्ष के लिए तथा भवान्तर में भी धर्म उसके अनुगत हो - उसे धर्म प्राप्ति हो, एतदर्थ प्रयत्नशील रहना।

यह विक्षेपणाविनय का स्वरूप है।

दोषनिर्घातन विनय कितने प्रकार का है?

वह चार प्रकार का बतलाया गया है -

१. शिष्य के (अकस्मात्) क्रोधाविष्ट हो जाने पर मृदु वचन द्वारा क्रोध को शान्त करना।
२. विषय कषाय आदि दोषों से युक्त शिष्य के इन दोषों को मिटाना।
३. अन्य मतवादियों की ओर आकृष्ट हुए शिष्य के आकर्षण या आकांक्षा का निवारण करना।
४. स्वयं संयमानुरत और आत्मस्थैर्य युक्त बने रहना।

यह दोषनिर्घातन विनय का स्वरूप है।

विवेचन - जीवन में अधिकार एवं कर्तव्य - दोनों का महत्त्व है। अधिकारों के पात्र वे होते हैं, जो तदनुरूप कर्तव्यपालन का दायित्व भी वहन करते हैं। शास्त्रों में आचार्य को जो अपरिसीम अधिकार दिए गए हैं, वहाँ उन पर सहज ही यह दायित्व आता है कि वे अपने शिष्यों के जीवन को उत्कृष्ट, पवित्र, ज्ञान एवं आचार की दृष्टि से उच्च बनाने का प्रयास करें। यही कारण है कि इस सूत्र में, प्रस्तुत प्रसंग में आचार्य के दायित्वबोध की भी चर्चा की गई है।

आचार्य के कर्तव्य के रूप में चार प्रकार की विनय प्रतिपत्तियों का उल्लेख हुआ है। यहाँ 'विनय' शब्द नम्रताद्योतक नहीं है। 'नीयतेऽनेनेति नयः'—जिसके द्वारा किसी विशेष दिशा में ले जाया जाए, मार्गदर्शन दिया जाए, उसे नय कहा जाता है। तर्कशास्त्र में जो नय शब्द का प्रयोग हुआ है, वहाँ ऐसा ही भाव है। नय तर्कपुरस्सर, युक्तिपूर्वक सत् तत्त्व की दिशा में अध्येता को ले जाता है। 'नय' के पूर्व 'वि' उपसर्ग लगने से विनय शब्द निष्पन्न होता है। 'विशेषेण नयः विनयः'—विशेष रूप से संलग्नता निष्पन्न करना विनय है।

आचार्य अपने शिष्य को आचार एवं श्रुत में संलग्न करता है। साधनापथ से च्युत होते देख, पतनोन्मुखता से हटाकर संयम में स्थिर करता है। इसके लिए विक्षेपणा शब्द का प्रयोग हुआ है। 'क्षेपण' का अर्थ फेंकना है। 'विक्षेपण' का अर्थ विशेष रूप से फेंकना या निवारण करना है। निरर्थक और निष्प्रयोज्य वस्तु को व्यक्ति झटपट फेंक देता है, उसी तरह मिथ्यात्व, असंयत प्रवृत्ति इत्यादि का आचार्य निवारण करता है और उसका संयम में उत्क्षेपण करता है, उसे उन्नत बनाता है।

दैनंदिन व्यवहार में दोष न व्यापे, एतदर्थ आचार्य अकस्मात् शिष्य को कोपावेश आदि में देखता है तो स्वयं स्थिर रहते हुए, उसे दूर करता है, जिससे उद्भूयमान दोष का निर्घातन-विनाश हो जाता है। यहाँ प्रयुक्त निर्घातन शब्द दोषों के मूलच्छेद का द्योतक है। 'निःशेषेण घातनं निर्घातनम्'—निःशेष का अर्थ समग्र तथा घातन का अर्थ घात करना या नाश करना है।

आचार्य और गण के प्रति शिष्य की कर्तव्यशीलता

तस्सेवं गुणजाइयस्स अंतेवासिस्स इमा चउत्विहा विणायपडिवत्ती भवइ। तंजहा-
उवगरणउप्पायणया, साहिल्लणया, वण्णसंजलणया, भारपच्चोरुहणया ॥ १४ ॥

से किं तं उवगरणउप्पायणया? उवगरण-उप्पायणया चउत्विहा पण्णत्ता। तंजहा-
अणुप्पण्णणं उवगरणणं उप्पाइत्ता भवइ, पोराणणं उवगरणणं सारविस्सत्ता संगोवित्ता
भवइ, परित्तं जाणित्ता पच्चुद्धरित्ता भवइ; अहाविहि संविभइत्ता भवइ। से तं
उवगरणउप्पायणया ॥ १५ ॥

से किं तं साहिल्लणया? साहिल्लणया चउच्चिहा पणत्ता। तंजहा-
अणुलोमवइसहिए यावि भवइ; अणुलोमकायकिरियत्ता, पडिरूवकायसंफासणया,
सव्वत्थेसु अपडिलोमया। से तं साहिल्लणया ॥ १६ ॥

से किं तं वण्णसंजलणया? वण्णसंजलणया चउच्चिहा पणत्ता। तंजहा-
अहातच्चाणं वण्णवाई भवइ, अवण्णवाई पडिहणित्ता भवइ, वण्णवाई अणुबूहित्ता
भवइ, आयवुड्डुसेवी यावि भवइ। से तं वण्णसंजलणया ॥ १७ ॥

से किं तं भारपच्चोरुहणया? भारपच्चोरुहणया चउच्चिहा पणत्ता। तंजहा-
असंगहियपरिजणसंगहित्ता भवइ, सेहं आयारगोयर-संगाहित्ता भवइ, साहम्मियस्स
गिलायमाणस्स अहाथामं वेयावच्चे अब्भुट्ठित्ता भवइ, साहम्मियाणं अहिगरणंसि
उप्पणंसि तत्थ अणिसिओवस्सिए (वसित्तो) अपक्खग्गाही मञ्जत्थभावभूए सम्मं
ववहरमाणे तस्स अहिगरणस्स खमावणाए विउसमणयाए सयासमियं अब्भुट्ठित्ता भवइ,
कहं णु साहम्मिया अप्पसहा अप्पझंझा अप्पकलहा अप्पकसाया अप्पतुमंतुमा संजमबहुला
संवबहुला समाहिबहुला अप्पमत्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणाणं एवं च णं
विहरेज्जा। से तं भारपच्चोरुहणया ॥ १८ ॥

एसा खलु थैरेहिं भगवंतेहिं अट्टविहा गणिसंपया पणत्ता ॥ १९ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ चउत्था दसा समत्ता ॥

कठिन शब्दार्थ - तस्स - उस (पूर्वोक्त शिष्य की), गुणजाइयस्स - गुणजातीय -
गुणसंपन्न, उक्खरणउप्पायणया - उपकरणोत्पादनता - संयमोपयोगी उपकरणों को प्राप्त
करना, साहिल्लणया - सहायकता - रुग्ण, अशक्त आदि श्रमणों को सहाय्य देना,
वण्णसंजलणया - वर्णसंज्वलनता - गण और गणी - आचार्य के गुणों, विशेषताओं को
प्रकाशित करना, संकीर्तित करना, भारपच्चोरुहणया - भारप्रत्यवरोहणता - गण विषयक,
स्वाश्रित उत्तरदायित्व का संवहन करना, अणुप्पण्णाणं - अप्राप्त, सारक्खित्ता - सांरक्षता,
संगोवित्ता - संगोपनता - यथावत् मर्यादानुरूप बनाए रखना, परित्तं - परीत - परिमित
च्यूनता, पण्णुद्धरित्ता - प्रत्युद्धारकता - साधु के पास उपकरणों की अल्पता-न्यूनता हो, उसे

पूर्ण करना, संविभङ्गता - उपकरणों का संविभाग करना, अणुलोमवइसहिए - अनुलोमवाक्सहितता - गुरु की गरिमा के अनुरूप वचन बोलना, अणुलोम-कायकिरियता-गुरु के अनुकूल - जैसा गुरु चाहे तदनु रूप कार्यकारिता, पडिरूवकायसंफासणया - प्रतिरूपकार्यस्पर्शिता - गुरु को जिस प्रकार से मनःसमाधि प्राप्त हो, वैसी सेवा-सुश्रूषा करना, सब्बत्थेसु अपडिलोमया - समस्त कार्यों में गुरु के प्रतिकूल व्यवहार न करना, अहातच्चाणं वण्णवाई - आर्हत प्रवचनानुरूप वर्तनशील गुरु, आचार्य का वर्णवाद - यशःकीर्तन करना, अवण्णवाई - अवर्णवादी - निन्दक, अणुबूहिता - अनुबूहिता - गुरु के गुणभाषी व्यक्ति को वर्धापित करना, आयवुड्ढसेवी - दीक्षा पर्याय आदि में ज्येष्ठ, वरिष्ठ साधुओं की सेवा करना, असंगहियपरिजण-संगहिता - असंगृहीत परिजन संग्रहिता - गण से पृथक्भूत नव शिष्य (साधु) को समझा-बुझाकर पुनः संघ में लाना, गिलायमाणस्स - ग्लानि प्राप्त - रोगयुक्त, अंहाथामं - यथास्थाम - यथाशक्ति, अहिगरणंसि उप्पणंसि - परस्पर कलह होने पर, अणिस्सिओवस्सिए - राग-द्वेष रहित होकर, अपक्खग्गाही - निष्पक्ष होकर, मज्झत्थभावभूए - माध्यस्थ्य भावयुक्त होकर, खमावणाए - क्षमापना से, विउसमणयाए - विशेष रूप से उपशान्त करना, सयासमियं - सदा शान्तियुक्त, अप्पसद्दा-अल्पशब्द - निम्न शब्द न हो, अप्पझंझा - तुच्छ-झंझट न हो, अप्पतुमंतुमा - तू-तू - मैं-मैं नहीं करना।

भावार्थ - गुणसंपन्न अंतेवासी की चार प्रकार की विनयप्रतिपत्ति - विनयाराधना होती है -

१. उपकरणोत्पादनता २. सहायकता ३. वर्णसंचलनता तथा ४. भारप्रत्यवरोहणता।

१. उपकरणोत्पादनता कितने प्रकार की कही गई है ?

उपकरणोत्पादनता के चार प्रकार प्रतिपादित हुए हैं -

(१) शिष्य अप्राप्त उपकरणों को प्राप्त कराता है।

(२) पूर्व प्राप्त उपकरणों का संरक्षण, संगोपन करता है।

(३) गणस्थित श्रमणों के पास अपेक्षित से कम उपकरण हों, उनकी पूर्ति करता है।

(४) प्राप्त उपकरणों का यथोचित संविभाग करता है।

यह उपकरणोत्पादनता का स्वरूप है।

२. सहायकता कितने प्रकार की निरूपित हुई है ?

सहायकता के चार भेद कहे गए हैं -

- (१) गुरु को गौरवानुरूप शब्दों से बोलता है (जैसी 'आपकी आज्ञा है' आदि)।
- (२) गुरु के अनुरूप कार्यशील होता है।
- (३) गुरु के लिए आत्मसमाधिकारक सेवा सुश्रूषा करता है।
- (४) समस्त कार्यों में गुरु के प्रतिकूल व्यवहार का वर्जन करता है।

इसे सहायकता का स्वरूप जानना चाहिए।

३. वर्णसंज्वलनता के कितने प्रकार हैं?

वर्णसंज्वलनता के चार प्रकार कहे गए हैं -

- (१) यथावत् संयम प्रतिपालक गुरु की यशः संकीर्तन करता है।
- (२) गुरु, आचार्य आदि के निन्दक को युक्तिपूर्वक निरुत्तर करता है।
- (३) जो आचार्य के गुणों का आख्यान करता है, उसको वर्धापित करता है।
- (४) दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ साधुओं की सेवा करता है।

यह वर्णसंज्वलनता का स्वरूप है।

४. भारप्रत्यवरोहणता का क्या स्वरूप है?

भारप्रत्यवरोहणता के चार प्रकार हैं -

- (१) वह गण से पृथक्भूत (नव) साधु को समझा-बुझाकर पुनः संघ में संगृहीत करता है।
- (२) नवदीक्षित (शैक्ष) को आचार-भिक्षाचर्या आदि क्रियाएँ सीखाता है।
- (३) साधर्मिक श्रमणों के रोगग्रस्त होने पर यथाशक्ति वैयावृत्य में संलग्न होता है।
- (४) साधर्मिकों - गण के सहवर्ती साधुओं में परस्पर कलह हो जाने पर स्वयं राग-

द्वेष-शून्य होकर, किसी एक का पक्ष न लेकर, माध्यस्थभावपूर्वक व्यवहार करता हुआ - उन्हें समझाता-बुझाता हुआ, उनमें परस्पर क्षमत-क्षमापना करवाता है, क्रोधादि उपशान्त करवाता है, सर्वथा शान्ति बनाता है। ये मुनि परस्पर तुच्छ शब्द न बोलें, व्यर्थ झंझटों से दूर रहें, परस्पर न झगड़ें, तू-तू-मैं-मैं न करें तथा संयम, संवर एवं समाधि में सुदृढ, सुस्थिर रहते हुए, अप्रमादी होकर संयम एवं तप द्वारा आत्मानुभावित होते हुए विहरणशील रहें, ऐसा प्रयत्न करता है।

यह भारप्रत्यवरोहणता का स्वरूप है।

स्थविर भगवन्तों ने इस प्रकार की आठ प्रकार की गणिसंपदा का आख्यान किया है।

विवेचन - गण के अनुशास्ता, नियामक, समुन्नायक गणी या आचार्य होते हैं। उन द्वारा अनुशासित, साधना पथ पर संचालित शिष्यवृन्द गण के मुख्य आधार हैं। आधार और आधेय का परस्पर अविनाभाव संबंध है। दोनों का पारस्परिक समन्वय सर्वथा अपेक्षित है। आचार्य गण का अभिवर्द्धन, संवर्द्धन एवं संचालन करते हैं। गण के सुखद निर्वाह, उत्थान एवं विकास में शिष्यों का - अन्तेवासी मुनियों का भी उत्तरदायित्व है। अत एव विनयसंपदा के रूप में सूत्र में उन कर्तव्यबोधक तथ्यों का विवेचन है, जिनसे शिष्यों का सीधा संबंध है। विनय को यहाँ जो संपदा कहा गया है, यह उसकी महत्ता का द्योतक है। **“विशोषेण नयः विनयः”** के अनुसार अत्यधिक विनम्रता, तदनुरूप शालीनता और ससम्मान कर्तव्यवाहिता का इसमें समावेश हो जाता है। शिष्य गणी के प्रति प्रत्येक व्यवहार में विनयशील तो होते ही हैं किन्तु गण के लिए अपेक्षित स्थितियों की परिपूरकता में भी उनका दायित्व है।

गणी के प्रति श्रद्धातिशयवश शिष्यों को चाहिए कि वे उनके उत्तम, प्रशस्त गुणों का यथावश्यक संकीर्तन करते रहें। इससे उनकी अपनी श्रद्धा तो बढ़ती ही है, लोगों के मन में गणी के प्रति सम्मान बढ़ता है, धर्मशासन की प्रभावना होती है। गणी के साथ-साथ स्थविरों, ज्ञानवृद्धों, वयोवृद्धों के प्रति भी शिष्यों के मन में समादर होना चाहिए।

वृद्ध, रुग्ण आदि मुनिगण का वैयावृत्य करना भी उनका उत्तरदायित्व है।

दिखने में छोटी लगने वाली बातों का विस्तार से जो उल्लेख हुआ है, उसके पीछे गण के समीचीन रूप में संचालन, चतुर्विध धर्मशासन की उत्तरोत्तर उन्नति, आर्हत् प्रवचन की प्रभावना इत्यादि का आशय रहा है।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की चौथी दशा समाप्त ॥



पंचमा दसा - पंचम दशा

चित्तसमाधि के दश स्थान

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थैरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता, कयरे खलु ते थैरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता ?

इमे खलु ते थैरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिठाणा पण्णत्ता । तंजहा - तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णयरे होत्था, एत्थं णयरवण्णओ भाणियव्वो । तस्स णं वाणियगामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए दूइपलासए णामं चेइए होत्था, चेइय वण्णओ भाणियव्वो । जियसत्तू राया, तस्स धारणी णामं देवी, एवं सव्वं समोसरणं भाणियव्वं जाव पुढवीसिलापट्टए सामी समोसढे; परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिग्गया ॥ १ ॥

अज्जो ! (इ)ति समणे भगवं महावीरे समणा णिग्गंथा णिग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी-“इह खलु अज्जो ! णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इरियासमियाणं भासासमियाणं एसणासमियाणं आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमियाणं उच्चार-पासवणखेलजल्लसिंघाण-पारिठावणियासमियाणं मणसमियाणं वयसमियाणं कायसमियाणं मणगुत्तीणं वयगुत्तीणं कायगुत्तीणं गुत्तिंदियाणं गुत्तबंभयारीणं आयट्ठीणं आयहियाणं आयजोईणं आयपरक्कमाणं पक्खियपोसहिएसु सुसमाहिपत्ताणं झियायमाणगं इमाइं दस चित्तसमाहिठाणाइं असमुप्पण्णपुव्वाइं समुप्पज्जेज्जा । तंजहा-

धम्मचिंता वा से असमुप्पण्ण-पुव्वा समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए ॥ २ ॥

सण्णिजाइसरणेणं सण्णिणा(णे)णं वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा (पुव्वभवे) अप्पणो पोराणियं जाइं सुमरित्तए ॥ ३ ॥

सुमिणंदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुमिणं पासित्तए ॥ ४ ॥

देवदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा दिव्वं देविट्ठिं दिव्वं देवजुं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए ॥ ५ ॥

ओहिणाणे वा से असमुप्यणपुव्वे समुप्यज्जेजा ओहिणा लोयं जाणित्तए ॥ ६ ॥

ओहिदंसणे वा से असमुप्यणपुव्वे समुप्यज्जेजा ओहिणा लोयं पासित्तए ॥ ७ ॥

मणपज्जवणाणे वा से असमुप्यणपुव्वे समुप्यज्जेजा अंतो मणुस्सक्खित्तेसु
अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु सण्णीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगए भावे जाणित्तए ॥ ८ ॥

केवलणाणे वा से असमुप्यणपुव्वे समुप्यज्जेजा केवलकप्पं लो(गं)यालोयं
जाणित्तए ॥ ९ ॥

केवलदंसणे वा से असमुप्यणपुव्वे समुप्यज्जेजा केवलकप्पं लोयालोयं
पासित्तए ॥ १० ॥

केवलमरणे वा से असमुप्यणपुव्वे समुप्यज्जेजा सव्वदुक्खपही[हा]णाए ॥ ११ ॥

ओयं चित्तं समादाय, ज्ञाणं समुप्यज्जइ ।

धम्मे ठिओ अविमणो, णिव्वाणमभिगच्छइ ॥ १२ ॥

ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ ।

अप्यणो उत्तमं ठाणं, सण्णिणाणेण जाणइ ॥ १३ ॥

अहातच्चं तु सुमिणं, खिण्णं पासेइ संवुडे ।

सव्वं वा ओहं तरइ, दुक्खदोय विमुच्चइ ॥ १४ ॥

पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं ।

अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसैति ताइणो ॥ १५ ॥

सव्वकामविरत्तस्स, खमणो भयभेरवं ।

तओ से ओही भवइ, संजयस्स तवस्सिणो ॥ १६ ॥

तवसा अवहट्टुलेस्सस्स, दंसणं परिसुज्जइ ।

उहुं अहे तिरियं च, सव्वं समणुपस्सइ ॥ १७ ॥

सुसमाहियलेस्सस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो ।

सव्वओ विप्यमुक्कस्स, आया जाणाइ पज्जवे ॥ १८ ॥

जया से णाणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं ।

तओ लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली ॥ १९ ॥

जया से दरिसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं ।
 तओ लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली ॥ २० ॥
 पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जं खयं ग(यं)ए ।
 असेसं लोगमलोगं च, पासेइ सुसमाहिए ॥ २१ ॥
 जहा मत्थय-सूईए, हंताए हम्मइ तले ।
 एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥ २२ ॥
 सेणावइमि णिहए, जहा सेणा पणस्सइ ।
 एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गए ॥ २३ ॥
 धूमहीणो जहा अग्गी, खीयइ से णिरिधणे ।
 एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥ २४ ॥
 सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहइ ।
 एवं कम्मा ण रोहंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥ २५ ॥
 जहा दड्ढाणं बीयाणं, ण जायंति पुणंकुरा ।
 कम्मबीएसु दड्ढेसु, ण जायंति भवंकुरा ॥ २६ ॥
 चिच्चा ओरालियं बोदिं, णाम गो(त्तं)यं च केवली ।
 आउयं वेयणिज्जं च; छित्ता भवइ णीरए ॥ २७ ॥
 एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो ।
 सेणिसुद्धिमुवागम्म, आया सुद्धि (सोहि) मुवागइ ॥ २८ ॥ त्ति बेमि ॥
 ॥ पंचमा दसा समत्ता ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - चित्तसमाहिठाणा - चित्तसमाधि के स्थान, वाणियगामे -
 वाणिज्यग्राम में, णयर - नगर, उत्तरपुरत्थिमे - उत्तरपूर्वी - ईशानकोण में, दिसीभाए -
 दिशाभाग में, पुढवीसिलापट्टए - पृथ्वीशिलापट्टक पर, पडिगया - प्रतिगत - लौट गई,
 णिगंगाथा - निकली (अपने-अपने स्थान से निकल कर आई), आमंतिच्चा - आमंत्रित -
 संबोधित कर, उच्चार-पासवण-खेल-जल्ल-सिंघाण-पारिठावणिया-समियाणं - मल-

मूत्र-कफ(खंखार)-मालिन्य-शिंघाण (नासामल) आदि की परिष्ठापना, गुत्तबंभयारीणं - गुप्त ब्रह्मचारी, आयपरक्कमाणं - आत्मपराक्रमी - आत्मकल्याण हेतु, पक्खियपोसहिणसु-पाक्षिक - पौषधों में, सुसमाहिपत्ताणं - सुसमाधि प्राप्त, झियायमाणणं - ध्यान करते हुए, असमुप्पण्णपुव्वा - पूर्व में अनुत्पन्न, समुप्पज्जेज्जा - समुत्पद्यन्ते - उत्पन्न होते हैं, जाणित्तए - जान लेता है, सुमिणदंसणे - स्वप्न दर्शन होने पर, अहात्तच्चं - यथातथ्य, सण्णिजाइसरणेणं - संज्ञी जातिस्मरण द्वारा, सण्णिणाणं - संज्ञी-ज्ञान द्वारा, देवदंसणे - देवदर्शन होने पर, देविह्तिं - देव ऋद्धि, देवजुइं - देवद्युति, देवाणुभावं - देव प्रभाव, ओहिणा - अवधिज्ञान द्वारा, लोयं - लोक को, ओहिदंसणे - अवधिदर्शन प्राप्त होने पर, मणपज्जवणाणे - मनःपर्यवज्ञान होने पर, मणुस्सक्खित्तेसु - मनुष्य क्षेत्र में, सण्णीणं - संज्ञी, पज्जत्ताणं - पर्याप्तियुक्त, केवलकप्पं - केवलकल्प, लोयालोयं - लोक एवं अलोक को, सव्वदुक्खपहीणाए - सब दुःखों से रहित हो जाने से, ओयं - ओज - आत्मतेजोमय (राग-द्वेष रहित), ज्ञाणं - ध्यान, अविमणो - अविमनस्क - स्थिरता रहित, ठिओ - स्थित, णिव्वाणमभिगच्छइ - निर्वाण प्राप्त करता है, भुज्जो - बार-बार, जायइ-उत्पन्न होता है, अप्पणो - अपना, सण्णिणाणेणं - संज्ञी ज्ञान द्वारा, खिप्पं - क्षिप्र - शीघ्रता पूर्वक, पासेइ - पश्यति - देखता है, संवुडे - संवर युक्त, ओहं - ओघ - प्रवाह (संसार सागर), तरइ - पार कर जाता है, दुक्खदो - दुःख से, य - च - और, विमुच्चइ-छूट जाता है, पंताइं - अन्त-प्रान्त - बचा-खुचा, भयमाणस्स - खाने वाले, विवित्तं - विविकित - एकान्त, अप्पाहारस्स - अल्पाहार, दंतस्स - इन्द्रियनिग्रही, ताइणो - छह काय के जीवों के रक्षक, सव्वकामविरत्तस्स - सभी कामनाओं से पृथक्भूत, भयभेरवं - अत्यधिक भयावह परीषह सहिष्णु, संजयस्स - संयति का, अवहडुलेस्सस्स - (अशुभ) लेश्याओं से रहित, परिसुज्झइ - परिशुद्ध होता है, उडुं - ऊर्ध्वलोक, अहे - अधोलोक में, तिरियं - तिर्यक्लोक में, समणुपस्सइ - सब-कुछ साक्षात् देखता है, सुसमाहियलेस्सस्स - सुसमाहित-निरवद्य - प्रशस्तलेश्यायुक्त, अवितक्कस्स - अवितर्कस्य - संकल्प-विकल्प रहित, भिक्खुणो-भिक्षोपजीवी, विप्पमुक्कस्स - छूटे हुए, आया - आत्मा, पज्जवे - पर्यायों को, मत्थय - मस्तक पर, सूईए - सूई द्वारा, हंताए - छेदन किए जाने पर, हम्मंति - विनष्ट होते हैं, सेणावडंमि - सेनापति के, णिहए - नष्ट हो जाने पर, पणस्सइ - विनष्ट हो जाते हैं.

धूमहीणो - धूमहीन, अग्गी - अग्नि, खीयइ - क्षीयते - क्षय को प्राप्त करते हैं, गिरिधणो-
ईधन रहित, सुवकमूले - शुष्कमूल - सूखे हुए मूल, सिंचमाणो - सिंचित किए जाने पर,
ण रोहइ - पल्लवित नहीं होता है, दङ्गाणं - जले हुए, बीयाणं - बीजों को, पुणंकुरा -
पुर्नजन्म रूप अंकुरण, जायंति - उत्पन्न होता है, चिच्चा - त्यक्त्वा - छोड़कर, ओरालियं-
औदारिक, बोदिं - शरीर को, छित्ता - छित्वा - छिन्न-भिन्न कर, णीरए - नीरज -
कर्मरहित, अभिसमागम्म- ऐसा अधिगत कर, सेणिसुद्धिमुवागम्म - क्षपक श्रेणी प्राप्त कर।

भावार्थ - हे आयुष्मन्! मैंने सुना है, मुक्तिप्राप्त भगवान् महावीर ने ऐसा प्रतिपादित
किया है - निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थविर भगवंतों ने चित्त समाधि के दस स्थान निरूपित किए हैं।

स्थविर भगवंतों ने वे कौनसे दस स्थान बतलाए हैं?

स्थविर भगवंतों ने जिन दस स्थानों का निरूपण किया है, वे ये हैं -

उस काल में - वर्तमान अवसरिणी के चौथे आरे के अन्त में, उस समय - जब आर्य
सुधर्मा विद्यमान थे, वाणिज्य ग्राम ऋम्क नगर था। यहाँ नगर विषयक वर्णन औपपातिक
आदि से कथनीय है।

उस वाणिज्यग्राम नामक नगर के बाहर, उत्तर-पूर्व दिशा भाग में - ईशानकोण में
दूतीपलाशक नामक चैत्य था। चैत्य का वर्णन अन्य आगमों की तरह ग्राह्य है। वहाँ के राजा
का नाम जितशत्रु था, महारानी का नाम धारिणी था, इस प्रकार यहाँ समवसरण पर्यन्त समग्र
वर्णन अन्यत्र की तरह योजनीय है, यावत् पृथ्वीशिलापट्टक पर भगवान् समवसृत हुए -
पधारे। (भगवान् का आगमन सुनकर) परिषद् - जनसमूह समवसरण में आने हेतु घरों से
निकला। भगवान् ने धर्मदेशना दी। (श्रवण कर) लोग वापस लौटे। १।

भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों - मुनियों, निर्ग्रन्थिनियों - आर्याओं को, हे आर्यों! यों
संबोधित कर इस प्रकार फरमाया - आर्यों! आर्हत् प्रवचन में ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-
भाण्ड-पात्र-निक्षेपणा, उच्चार-प्रस्रवण-खेल-शिंघाणक-जल्ल-मल समितियुक्त शारीरिक तथा
मानसिक - वाचिक एवं कायिक समिति युक्त एवं मनोवाक्काय गुप्तियुक्त, जितेन्द्रिय, सुदृढ
ब्रह्मचारी, आत्मार्थी - मोक्षाभिलाषी, आत्महितकर - षड्जीवनिकाय परित्राता, आत्मयोगी -
मानसिक, वाचिक, कायिक योगों के नियंत्रक, आत्मपराक्रमी, पाक्षिकपोषध प्रतिपालक, सुसमाधि
प्राप्त, ध्यानानुरत मुनियों के पूर्व अनुत्पन्न दस चित्तसमाधि स्थान हैं।

यथा - १. पूर्व में अनुत्पन्न ऐसी धर्मचिन्ता - धर्मविचारणा साधु के मन में उत्पन्न हो जाय, तो वह धर्मविषयक समग्र तथ्य जान लेता है।

२. पूर्व अनुत्पन्न संज्ञी जातिस्मरण ज्ञान द्वारा अभिज्ञात अपने पूर्व भवों से चित्त समाधि प्राप्त होती है।

३. पूर्व में अदृष्ट - नहीं देखे गए यथार्थ स्वप्न दर्शन से चित्त समाधि प्राप्त होती है।

४. पूर्व अदृष्ट देवदर्शन, दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति और दिव्य देवानुभाव को देखने से चित्त समाधि उत्पन्न होती है।

५. पूर्व में अनुत्पन्न अवधिज्ञान द्वारा लोक के अभिज्ञान से चित्त समाधि अधिगत होती है।

६. पूर्व में अनुद्भूत अवधिदर्शन द्वारा लोक दर्शन से चित्त समाधि स्वायत्त होती है।

७. पूर्व अनुत्पन्न मनःपर्याय ज्ञान द्वारा मनुष्य क्षेत्र के भीतर अढाई द्वीप समुद्रों में संज्ञी पंचेन्द्रिय, पर्याप्तियुक्त, जीवों के मनोगत भावों को जान लेने से चित्त समाधि प्राप्त होती है।

८. पूर्व अनुत्पन्न केवलज्ञान द्वारा केवलकल्प - संपूर्ण लोकालोक को देखने से चित्त समाधि प्राप्त होती है।

९. पूर्व अनुत्पन्न केवलदर्शन समस्त वस्तुतत्त्व रूप सामान्यावबोध से, लोकालोक दर्शन से चित्त समाधि प्राप्त होती है।

१०. पूर्व अनुत्पन्न केवलमरण - केवली के रूप में समस्त दुःखों के मिट जाने से चित्त समाधि प्राप्त होती है।

गाथाएँ - चित्त को आध्यात्मिक ओज परिपूर्ण - राग-द्वेष रहित, निर्मल बनाने से ध्यानावस्था प्राप्त होती है, जिससे अविमनस्कता - संशय रहित, सुस्थिर भावापन्नता उत्पन्न होती है एवं आत्मा निर्वाणाभिमुख बनती है ॥१॥

इस प्रकार चित्त समाधि को प्राप्त कर, आत्मा लोक में बार-बार जन्म नहीं लेती - वह जन्म-मरण रूप आवागमन से छूट जाती है। वह संज्ञी ज्ञान द्वारा अपना उत्कृष्ट स्थान - जीवन का परम लक्ष्य जान लेती है ॥२॥

संवृत्त - संवर युक्त, संयत आत्मा यथा तथ्य - सत्य-स्वरूप या यथार्थ स्वप्न को देख कर शीघ्र ही लोक प्रवाह - संसार-सागर को पार कर जाती है, सब प्रकार के दुःखों से विमुक्त हो जाती है ॥३॥

अन्त-प्रान्तभोजी, विविक्तशयनासनसेवी - एकान्तवासी, अल्पाहारी या कम भोजन करने वाले इन्द्रिय विजेता तथा छह काय के जीवों के त्राता - रक्षक, संयमी साधक को देव-दर्शन प्राप्त होता है ॥४॥

जो सब प्रकार की कामनाओं - काम-भोगों से विरक्त होता है, घोर, भयानक परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करता है, वैसे संयमी, तपस्वी साधक को अवधिज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

जिसने तप द्वारा अशुभ लेश्याओं को मिटा दिया हो, दूर कर दिया हो, उसे विशुद्ध अवधिदर्शन उपलब्ध होता है, वह उस द्वारा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक एवं तिर्यकलोक - इन सब को देखता है ॥६॥

जो उत्तम समाधि युक्त, प्रशस्त लेश्या युक्त एवं विकल्प रहित होता है, शुद्ध भिक्षावृत्ति से निर्वाह करता है, सब ओर से विप्रमुक्त - बन्धन मुक्त होता है, उस साधक के मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है ॥७॥

जब ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है, तब केवली - सर्वज्ञ, जिन, वीतराग साधक समस्त लोक और अलोक को जानता है ॥८॥

जब समस्त दर्शनावरणीय कर्म का क्षय हो जाता है, तब केवली, जिन समग्र लोक तथा अलोक को देखता है ॥९॥

प्रतिमाओं की विशुद्ध रूप से आराधना करने पर तथा मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर सुसमाहित - सम्यक् समाधियुक्त साधक समस्त लोक और अलोक को देखता है ॥१०॥

जैसे ताड़ का वृक्ष मस्तक-स्थान - ऊर्ध्ववर्ती मर्म-स्थल का सूई से छेदन कर दिये जाने पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर बाकी के सभी कर्म हत-विनष्ट हो जाते हैं ॥११॥

जैसे सेनापति के निहत हो जाने पर - मार डाले जाने पर सारी सेना प्रणष्ट - अस्त-व्यस्त हो जाती है या भाग छूटती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर शेष सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥१२॥

जैसे धूम रहित अग्नि, ईंधन के अभाव में - काष्ठ आदि न मिलने पर, क्षीण हो जाती है या सर्वथा बुझ जाती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षीण हो जाने पर सभी कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥१३॥

जैसे जड़ के सूख जाने पर, सींचे जाने पर भी पेड़ पल्लवित-पोषित नहीं होता, उसी प्रकार मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर अन्य कर्म विद्यमान नहीं रहते ॥१४॥

जैसे बीजों के दग्ध हो जाने पर - जल जाने या नष्ट हो जाने पर, अंकुर उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार कर्म रूप बीजों के दग्ध हो जाने पर, जन्म-मरण या आवागमन रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता ॥१५॥

औदारिक शरीर का परित्याग कर नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय कर्म का छेदन - नाश कर केवली भगवान् कर्म रज से सर्वथा रहित हो जाते हैं ॥१६॥

आयुष्मन्! इस प्रकार चित्त समाधि एवं श्रेणी विशुद्धि - शुद्ध श्रेणी या क्षपक श्रेणी को प्राप्त कर साधक परम शुद्धावस्था - मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है ॥१७॥

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में आया हुआ 'समाधि' शब्द आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह 'सम्' तथा 'आ' उपसर्ग, 'धा' धातु और 'कि' प्रत्यय के योग से बना है। 'सम् - सम्यक्, आ - समन्तात्, धीयते मनोयत्र, स समाधिः।' जहाँ मन को, अन्तर्वृत्तियों को भलीभाँति एकाग्र, प्रशान्त या आत्मोन्मुख बनाया जाता है, वैसी अवस्था समाधि शब्द द्वारा अभिहित की गई है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के पथ पर आरूढ़ साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने चित्त को सुसमाहित - सुसमाधियुक्त बनाए रखे। इससे संयम और साधना में स्थिरता एवं दृढता प्राप्त होती है।

पातंजल योग में योग के आठवें अंग को समाधि कहा गया है। यह योग साधना का प्रकर्ष - उत्कृष्टतम रूप है, जो धारणा और ध्यान के सिद्ध होने पर प्राप्त होता है। वह ऐसी स्थिति है, जहाँ शुद्ध आत्मस्वरूपमूलक ध्येय की ही प्रतीति होती है❶।

धारणा, ध्यान एवं समाधि जब ये तीनों एकत्र - एक ही ध्येय में केन्द्रित होते हैं, योग सूत्र में उसे संयम कहा गया है+।

चित्त समाधि तभी प्राप्त होती है, जब साधक अपने दैनंदिन समग्र कार्यों में जागरूक, संयत या यतनाशील रहता है, मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्तियों में सावध का वर्जन करता है, उसके अन्तरंग में धर्म-भावना व्याप्त रहती है। वैसा होने से ही वह धर्म की

❶ योग सूत्र - ३.३

+ योग सूत्र - ३.४

वास्तविकता को हृदयंगम कर पाता है। जब साधक की दिनचर्या धार्मिकता से ओत प्रोत रहती है तो सहज ही उसके चित्त में समाधि उत्पन्न होती है।

जब स्वप्न-दर्शन तथा क्रमशः अवधि, मनःपर्यव और केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन के रूप में साधक उत्तरोत्तर अभिनव उद्योतमय उद्बोध प्राप्त करता है, तब चित्त सहजतया समाहित होता जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने में साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह वासनाओं का विजय करें, मन का निग्रह करें, अशुभ, अप्रशस्त लेश्याओं का निरोध कर शुभ, उत्तम, या प्रशस्त लेश्याओं में आत्म-परिणामों को संप्रवृत्त करे, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एवं मोहनीय आदि कर्म रूप शत्रुओं का हनन करे, क्योंकि ये ही इस भवचक्र में, संसार-सागर में भटकने के कारण हैं। कार्य को नष्ट करने से पूर्व उसके कारण का नाश अत्यन्त आवश्यक है। अत एव साधक असमाधि के हेतुओं का वर्जन करता हुआ, आत्मा की शुद्धावस्था अधिगत करने की दिशा में उद्यत रहता हुआ, चित्त समाधि प्राप्त कर सकता है। चित्त समाधि के प्राप्त होने से ही संयम-साधना निर्बाध रूप में गतिशील रहती है, साधक अपना परम साध्य, परम लक्ष्य, जो निर्वाण है उसे प्राप्त कर लेता है।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की पांचवीं दशा समाप्त ॥



छट्टा दसा - षष्ठ दशा

ग्यारह उपासक प्रतिमाएं

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया महावीरेणं एवमक्खायं, इह खलु थैरेहिं भगवंतेहिं ए (इ) एकारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ, कयरा खलु ताओ थैरेहिं भगवंतेहिं एकारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ? इमाओ खलु ताओ थैरेहिं भगवंतेहिं एकारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ। तंजहा०-

कठिन शब्दार्थ - एकारस - ग्यारह, उवासगपडिमाओ - उपासक प्रतिमाएँ।

भावार्थ - आयुष्मन्! मैंने श्रवण किया है, उन मोक्षगत प्रभु महावीर ने निरूपित किया है, तदनुसार इस संदर्भ में स्थविर भगवन्तों ने ग्यारह उपासक प्रतिमाएँ आख्यात की हैं।

उन स्थविर भगवन्तों ने कौन-कौन सी ग्यारह प्रतिमाओं का निरूपण किया है?

स्थविर भगवन्तों ने ये (जिनका आगे वर्णन है) ग्यारह प्रतिमाएँ आख्यात की हैं। वे इस प्रकार हैं०।

(प्रतिमाओं के वर्णन से पूर्व उनमें दृढ़ता, सुस्थिरता हेतु प्रारम्भ में अक्रियावादी और क्रियावादी का निरूपण हुआ है।)

अक्रियावादी-क्रियावादी - स्वरूप एवं फल

अक्रियवादी यावि भवइ, णाहियवादी, णाहियपण्णे, णाहियदिट्ठी, णो सम्मावादी, णो णितियावादी, ण संति परलोगवादी, णत्थि इहलोए, णत्थि परलोए, णत्थि माया, णत्थि पिया, णत्थि अरहंता, णत्थि चक्कवट्ठी, णत्थि बलदेवा, णत्थि वासुदेवा, णत्थि णिरया, णत्थि णेरइया, णत्थि सुकडदुक्कडाणं फलवित्तिविसेसो, णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, णो दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति, अफले कल्लणपावए, णो पच्चायंति जीवा, णत्थि णिरयाई, णत्थि सिद्धी, से एवंवादी एवंपण्णे एवंदिट्ठी एवंछंदरागमइणिविट्ठे यावि भवइ ॥ १ ॥

० पासह एकारसमं समवायं

० इस संदर्भ में समवायांग सूत्र के ग्यारहवें समवाय को देखें।

से भवइ महिच्छे◆ महारंभे महापरिग्गहे अहम्मिए अहम्माणुए अहम्मसेवी अहम्मिदु
अहमक्खाई अहम्मरागी अहम्मपलोई अहम्मजीवी अहम्मपलज्जणे अहम्मसीलसमुदायारे
अहम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ ॥ २ ॥

“हण छिंद भिंद” विकत्तए लोहियपाणी चंडे रुहे खुहे असमिक्खियकारी साहरिसए
उक्कंचणवंचणमाइणियडिकूडमाई साइसंपओगबहुले दुस्सीले दुप्परिचए दुचरिए दुरणुणेए
दुव्वए दुप्पडियाणंदे णिस्सीले णिव्वए णिग्गुणे णिम्मैरे णिप्पच्चक्खाण-पोसहोववासे
असाहू ॥ ३ ॥

सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जाव सव्वाओ परिग्गहाओ,
एवं सव्वाओ कोहाओ सव्वाओ माणाओ सव्वाओ मायाओ सव्वाओ लोभाओ पेजाओ
दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुण्णपरपरिवायाओ अरइरइ-मायामोसाओ
मिच्छादंसणसल्लओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए ॥ ४ ॥

सव्वाओ कसायदंतकट्टणहणमहणविलेवणसहफरिसरसरूवगंध-मल्लओलंकाराओ
अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ सगडरहजाण-जुगगिल्लिथिल्लिसीयासंदमाणिया-
सयणासणजाणवाहणभोयण-पवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए ॥ ५ ॥

असमिक्खियकारी सव्वाओ आसहत्थिगोमहिसाओ गवेलयदासदासीकम्मकर-
पोरुस्साओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कयविक्कय-मासद्धमास-रूवगसंव-
वहाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ हिरण्ण-सुवण्ण-धण्ण-धण्ण-मणि-
मोत्तिय-संखसिलपवालाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कूडतुल्लकूडमाणाओ
अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए,
सव्वाओ पयण-पयावणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ करणकरावणाओ
अप्पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ कुट्टणपिट्टणाओ तज्जणतालणाओ
वहबंधपरिकिल्लेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए, जेयावण्णे तहप्पगारा सावज्जा
अबोहिद्या कम्म कज्जंति परपाणपरियावणक्का डा]रा कज्जंति तओवि य अप्पडिविरया
जावज्जीवाए ॥ ६ ॥

◆ विसीसो सुयगडविइयसुयक्खंधिइयओण्णयणपढमकिरियट्टाणओहम्मपक्खाओ णायव्वो ।

से जहाणामए-केइ पुरिसे कलम-मसूर-तिल-मुग्गमास-णिप्फाव-कुलत्थ-
आलिसिंदगजवजवा एवमाइएहिं अयत्ते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ एवामेव तहप्पगारे
पुरिसजाए तित्तिरवडुगलावयकवोयकविंजलभियमहिसवराहगाहगोहकुम्म-सरिसवाइएहिं
अयत्ते कूरे मिच्छादंडं पउंजइ ॥ ७ ॥

जावि य से बाहिरिया परिसा भवइ, तंजहा-दासेइ वा पेसेइ वा भत्तएइ वा
भाइल्लेइ वा कम्मकरेइ वा भोगपुरिसेइ वा तेसिंपि य णं अण्णयरगंसि अहालहुयंसि
अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेइ, तंजहा-इमं दंडेह, इमं मुंडेह, इमं तज्जेह, इमं
तालेह, इमं अंदुयबंधणं करेह, इमं णियलबंधणं करेह, इमं हडिबंधणं करेह, इमं
चारगबंधणं करेह, इमं णियलजुयल-संकोडियमोडियं करेह, इमं हत्थछिण्णयं करेह,
इमं पायछिण्णयं करेह, इमं कण्णछिण्णयं करेह, इमं णवकछिण्णयं करेह, इमं
उट्टुछिण्णयं करेह, इमं सीसछिण्णयं करेह, इमं मुहछिण्णयं करेह, इमं वेयछिण्णयं
करेह, इमं हियउप्पाडियं करेह, एवं णयण-वसण-दंसण-वयण-जिब(भु)भ उप्पाडियं
करेह, इमं उल्लंबियं करेह, इमं घासियं०, इमं घोलियं०, इमं सूला[का(पो)यत्त]इयं०,
इमं सूलाभिण्णं०, इमं खारवत्तियं करेह, इमं दब्भवत्तियं करेह, इमं सीहपुच्छयं करेह,
इमं वसभपुच्छयं करेह, इमं दवग्गिदडुयं करेह, इमं काक(णि)णीमंसखावियं करेह,
इमं भत्तपाणणिरुद्धयं करेह, जावज्जीवबंधणं करेह, इमं अण्णयरेणं असुभेणं कुमारेणं
मारेह ॥ ८ ॥

जावि य से अभिंतरीया परिसा भवइ, तंजहा - मायाइ वा पियाइ वा भायाइ वा
भगिणीइ वा भज्जाइ वा धूयाइ वा सुण्हाइ वा तेसिंपि य णं अण्णयरंसि अहालहुयंसि
अवराहंसि सयमेव गरुयं दंडं वत्तेइ, तंजहा - सीओदगवियडंसि कायं बोलित्ता भवइ,
उसिणोदगवियडेण कायं सिंचित्ता भवइ, अगणिकाएण कायं उट्टुहित्ता भवइ, जोत्तेण
वा वेत्तेण वा णेत्तेण वा कसेण वा छिवाडीए वा लयाए वा पासाइं उट्टालित्ता भवइ,
दंडेण वा अट्टीण वा मुट्टीण वा लेलुएण वा कवालेण वा कायं आउट्टित्ता भवइ,
तहप्पगारे पुरिसजाए संवसमाणे दुम्मणा भवंति, तहप्पगारे पुरिसजाए विप्पवसमाणे
सुमणा भवंति ॥ ९ ॥

तहप्यगारे पुरिसजाए दंडमासी (दंडपासी) दंडगरुए दंडपुरेक्खडे अहिए अस्सिं लोयंसि अहिए परंसि लोयंसि । ते दुक्खेति सोयंति एवं झूरंति तिप्यंति पिट्टेति परितप्यंति, ते दुक्खणसोयणझूरणतिप्यण-पिट्टणपरितप्यण-वहबंधपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया भवंति ॥ १० ॥

एवामेव ते इत्थिकामभोगेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिया अञ्जोववण्णा जाव वासाइं चउपंचा माइं छदसमाणि वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुजित्ता कामभोगाइं पसेवित्ता वेराययणाइं संचिणित्ता बहुयं पावाइं कम्माइं उसण्णं संभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए-अयगोलेइ वा सेलगोलेइ वा उदयंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धर(णि)णीयले पइट्टाणे भवइ एवामेव तहप्यगारे पुरिसजाए वज्जबहुले धुत्तबहुले पंकबहुले वेरबहुले दंभणियडिसाइबहुले आसायणाबहुले अयसबहुले अप्पत्तियबहुले उस्सण्णं तसपाणघाई कालमासे कालं किच्चा धरणीयलमइवइत्ता अहे णरगधरणीयले पइट्टाणे भवइ ॥ ११ ॥

ते णं णरगा अंतो वट्ठा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसप्पहा मेदवसामंसरुहिर-पूयपडलचिक्खल्लित्ता-णुलेवणतला असु(ई) वि विीसा परमदुब्धिगंधा काउयअगणिवण्णाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभा णरएसु वेयणा, णो चेव णं णरए णेरइया णिद्दायंति वा पयलायंति वा सुइं वा रइं वा धिइं वा मइं वा उवलभंति, ते णं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कक्कसं कडुयं चंडं दुक्खं दुगं तिक्खं तिक्खं दुरहियासं णरएसु णेरइया णरयवेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥ १२ ॥

से जहाणामए - रुक्खे सिया पव्वयग्गे जाए मूलछिण्णे अग्गे गरुए जओ णिण्णं जओ दुगं जओ विसमं तओ पवडइ एवामेव तहप्यगारे पुरिसजाए गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिणेरइए कण्हपक्खिए आगमेक्खाणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ । से तं अकिरियावाइं (यावि भवइ) ॥ १३ ॥

से किं तं किरियावाइं (यावि भवइ) ? तंजहा-आहियावाइं, आहियपण्णे, आहियविट्ठी, सम्मावाइं, णितियावाइं, संति परलोगवाइं, अत्थि इहलोगे, अत्थि परलोगे,

अत्थि माया, अत्थि पिया, अत्थि अरहंता, अत्थि चक्कवट्टी, अत्थि बलदेवा, अत्थि वासुदेवा, अत्थि सुकडदुक्कडाणं कम्माणं फलवित्तिविसेसे, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवंति, दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला भवंति, सफले कल्लणपावए पच्चायंति जीवा, अत्थि णेरइया जाव अत्थि देवा, अत्थि सिद्धी, से एवंवाई एवंपण्णे एवंदिट्ठीछंदरागमइणिविट्ठे यावि भवइ। से भवइ महिच्छे जावं उत्तरगामिए णेरइए सुक्कपक्खिए आगमेस्साणं सुलभबोहिए यावि भवइ। से तं किरियावाई ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अकिरियवाई - अक्रियवादी, णाहियवाई - नास्तिकवादी, णाहियपण्णे - नास्तिकप्रज्ञ, णाहियदिट्ठी - नास्तिकदृष्टि, सम्मावाई - सम्यक्वादी, णितियावाई - नित्यवादी, संति परलोगवाई - सत्परलोकवादी, पिया - पिता, माया - माता, णिरया - नरक, णेरइया - नारकीय जीव, सुकडदुक्कडाणं - सुकृत-दुष्कृत का - पुण्यों एवं पापों का, सुचिण्णा - श्रेष्ठ रूप में आचरित, दुचिण्णा - दुश्चीर्ण - दूषित रूप में आचरित, अफले - फल रहित, कल्लणपावए - पुण्य-पापात्मक, पच्चायंति - जन्मान्तर पाते हैं, एवंवाई - ऐसा कहने वाले, एवंपण्णे - ऐसा जानने वाले, एवंदिट्ठी - ऐसी दृष्टि रखने वाले, एवंछंदरागमइणिविट्ठे - अपने मत में अत्यंत आसक्ति रखने वाले, महिच्छे - महत्वाकांक्षी, महारंभे - घोर हिंसा आदि आरंभ-समारंभ युक्त, अहम्मिए - अधार्मिक - श्रुत चारित्रधर्म परिपंथी, अहम्माणुए - अधर्मानुगः - अधार्मिक कार्यों का अनुसरण करने वाला, अहम्मसेवी - अधर्मसेवी - पापात्मक कृत्यों में रत, अहम्मिट्ठे - अधर्मिष्ठ - अधर्म में अतिनिमग्न, अहम्मक्खाई - अधर्मप्ररूपक, अहम्मरागी - अधर्म में अनुरागयुक्त, अहम्मपलोई - अधर्मप्रलोक - घोर अधार्मिक दृष्टियुक्त, अहम्मजीवी - अधर्मजीवी - अधर्ममय आजीविका से निर्वाह करने वाला, अहम्मपलज्जणे - अधर्मप्ररज्जन - अधर्म में प्रसन्नता अनुभव करने वाला, अहम्मसीलसमुदायारे - धर्म एवं शील रहित आचार में संलग्न, वित्तिं - वृत्ति - आजीविका, कप्पेमाणे - प्रकल्पित (आचरित) करता हुआ, हण-हनन करो, मारो, छिंद - छेदन करो, भिंद - विदीर्ण करो, विकत्तए - मार-काट करने वाला, लोहियपाणी - रुधिर लिप्त हाथों वाला, चंडे - प्रचण्ड क्रोधी, रुद्धे - अति भयावह, खुद्धे - क्षुद्र - जीव-पीड़ा आदि निम्न कोटि के कर्म करने वाला, असमिक्खियकारी - बिना विचारे करने वाला, साहस्सिए - अनुचित कार्यों में बल प्रयोक्ता, उक्कंचण - उत्कोच - घूस लेने वाला (रिश्वतखोर), वंचण - ठगाई करने वाला, माइ - कपटी, छली,

कूडमाई - कूटमायी - कुटिलता से, प्रच्छन्नतापूर्वक ठगने वाला, **साइसंपओगबहुले** - प्रवंचना हेतु छलातिशयपूर्ण प्रयोगकारी, **दुस्सीले** - दुष्ट प्रकृतियुक्त, **दुष्परिचए** - दुष्परिचय-कृतघ्न, **दुचरिए** - दूषित चर्यायुक्त, **दुरणुणेए** - कठिनाई से नियंत्रित होने वाला, **दुव्वए** - दोष या पापपूर्ण व्यवहार करने वाला, **दुप्पडियाणंदे** - दूसरों को दुःखी देखकर आनंदित होने वाला, **णिस्सीले** - शीलरहित, **णिव्वए** - निर्व्रत - व्रत, प्रत्याख्यान रहित, **णिग्गुणे** - निर्गुण, **णिम्मैरे** - मर्यादाशून्य, **णिप्पच्चक्खाण-पोसहोववासे** - प्रत्याख्यान, पौषध और उपवास से रहित, **असाहु** - असाधु - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रविहीन तथा सावद्य प्रवृत्ति युक्त, **अप्पडिविरया** - विरति रहित, **पेज्जाओ** - प्रेम से, **अब्भक्खाणाओ** - व्यर्थ आलाप, **पेसुण्ण** - चुगली, **परपरिवायाओ** - परनिन्दा, **अरइरइ** - अरतिरति - धर्म में अननुराग तथा अधर्म में अनुराग, **मायामोसाओ** - कपट युक्त मिथ्याकथन, **दंतकट्टु** - दंतकाष्ठ - दंतौन, **ण्हाण** - स्नान, **मइण** - मर्दन - मालिश, **फरिस** - स्पर्श, **सगड** - शकट - गाड़ी, रह - रथ, **जाण** - जल-थल-आकाश में गमन का साधन, **जुग** - दो पुरुषों द्वारा वहन किए जाने योग्य यान, **गिल्ली** - पुरुषों द्वारा कंधों पर उठाये जाने वाली पालखी, **थिल्ली** - खच्चरगाड़ी, **सीया** - शिविका - पालखी विशेष, **संदमाणिया** - स्यंदमानिका - एक ही पुरुष के बैठने योग्य पालखी, **पविस्सर** - प्रविस्तर - कलश, थाली, लोटा आदि, **आंस** - अश्व, **गो** - गाय, **बैल**, **महिस** - भैंसा, **गवेलक** - मेंढा, **कम्मकर** - कर्मकर - पैदल चलकर कर्म करने वाले, **मास** - माषा - पाँच गुब्जाओं के समान वजन युक्त, **हिरण्ण** - चाँदी, **सुवण्ण** - सोना, **धणधण्ण** - धन-धान्य, **मोत्तिय** - मौक्तिक - मोती, **सिलप्पवाल** - विशिष्ट लालिमायुक्त मूँगे, **कूडतुलकूडमाण्णाओ** - कूट तौल माप, **पयण-पयावणाओ** - पकाना-पकवाना, **करणकरावणाओ** - करना-करवाना, **कुट्टण** - मूसल आदि से कूटना, **पिट्टण** - मोगरी (मुद्गर) आदि से पीटना, **तप्पज्जण** - तिरस्कार करना, धम्काना, **तालणाओ**-ताड़ना, **वह** - वध - तलवार आदि से मारना, **बंध** - सांकल आदि से बांधना, **परिकिलेस-परिक्लेश** - कष्ट देना, **यावण्णे** - अन्य - दूसरे, **तहप्पगारा** - दूसरे प्रकार के, **अबोहिया-**बोधिरहित, **कज्जंति** - करते हैं, **परपाणपरियावणकरा** - अन्य प्राणियों के लिए परितापकारी कार्य करने वाले, **केइ** - कोई, **कलम** - शालि जाति का धान्य विशेष, **मुग्ग** - मूँग, **मास-उर्द** (उड़द), **णिप्फाव** - निष्पाव - वालोल (वल्लकः), **कुलत्थ** - कुलथी (निम्न कोटिक अन्न विशेष), **आलिसिंदग** - (चपलः) चँवला, **जवजवा** - ज्वार, **एवभाइएहिं** - यों कहे जाने पर, **अयत्ते** - यत्न रहित, **मिच्छादंडं** - मिथ्यादण्ड - निरपराधियों पर झूठा आरोप

लगाकर दण्ड देना, **पडंजइ** - (प्रयुनक्ति) - प्रयुक्त कस्ते हैं, तहप्पगारे - वैसा, **वडुग** -
वर्तक - बटेर, **लावय** - लावक - लवा (पक्षी विशेष), **कवोय** - (कपोत) कबूतर,
कविंजल - (कपिञ्जल) कुरज, **मिय** - मृग, **वराह** - सूअर, **गाह** - ग्राह मगरमच्छ,
गोह - गोह, **कुम्म** - कूर्म - कछुआ, **सरिस** - सरीसृप - पेट के बल रेंगने वाले जन्तु,
पेसेइ - प्रेष्य - संवादवाहक भृत्य, **भत्तएइ** - भृत्य - वेतनजीवी, **भाइल्लेइ** - भागिक -
अंशग्राही, **कम्मकरेइ** - घरेलू नौकर, **भोगपुरिसेइ** - भोगपुरुष, अन्योपार्जित वित्तभोगी,
अण्णयरगंसि - किसी अन्य में, **अहालहुयंसि** - सर्वथा स्वल्प, **अवराहंसि** - अपराध करने
पर, **सयमेव** - स्वयमेव - खुद-ब-खुद, **गरुयं** - गुरुक - भारी, **वत्तेइ** - देता है, **तालेह** -
थप्पड़ मारो (चपेटा लगाओ), **अंदुयबंधणं** - हाथों को हथकड़ियों से जकड़ना, **णियलबंधणं**-
बेड़ी डालना, **हडिबंधणं** - खोड़े में डालना, **चारगबंधणं** - चारकबंधन - जेल में डालना,
णियलजुयल-संकोडियमोडियं - पैरों को बांधकर शरीर को पीछे की ओर मोड़ना,
हत्थच्छिण्णयं - हाथ काटना, **कण्ण** - कर्ण - कान, **णक्क** - नाक, **उट्ट** - ओष्ठ
(होठ), **सीस** - सिर, **वेय** - वेद - पुरुषचिह्न (जननेन्द्रिय), **हियउप्पाडियं** - हृदय चीरना,
णयण - नेत्र, **वसण** - वृषण (अण्डकोष), **दंसण** - दाँत, **वयण** - शरीर, **जिब्भ** -
जीभ, **उल्लंबियं** - उल्टा लटकाना, **घासियं** - घर्षित करना - घसीटना, **घोलियं** - मथ
डालना, **सूलाइयं** - शूलाचितं - सूली-पर चढ़ाना, **सूलाभिण्णं** - त्रिशूल से बाँध डालना,
खारवत्तियं - शस्त्रों से काटकर नमक छिड़कना, **दब्भवत्तियं** - डाभ आदि तीखे घास
चुभाना, **सीहपुच्छयं** - सिंह की पूँछ के साथ बांधना, **वसभपुच्छयं** - बैल की पूँछ के साथ
बांधना, **दवग्गिदडुयं** - जंगल की भयानक दावाग्नि में, **काकणीमंसखावियं** - कौड़ी
परिमाण टुकड़े-टुकड़े कर जंगली जानवरों को डाल देना, **भत्तपाणणिरुद्धयं** - खान-पान
रोक देना **अण्णयरेणं** - किसी दूसरे प्रकार से, **कुमारेणं** - कुत्सित मौत से, **भज्जाइ** -
भार्या, **धूयाइ** - पुत्री, **सुण्हाइ** - पुत्रवधू, **सीओदगवियडंसि** - ठण्डे जल से भरे हुए,
(जलाशय आदि), **बोलित्ता** - बुडिता - डूबाना, **उसिणोदगवियडेण** - अत्यन्त गर्म जल
द्वारा, **सिंचित्ता** - डालना (फेंकना), **अगणिकाएण** - अग्निकाय द्वारा, **उडुहित्ता** - जलाना,
जोत्तेण - बैल आदि के (शकट आदि में) बांधने की रस्सी से, **वेत्तेण** - बेंत द्वारा,
णेत्तेण - दही मथने की डोरी से, **कसेण** - चाबुक द्वारा, **छिवाडीए** - वल्लक वृक्ष की
चीरी हुई फली की तीक्ष्ण धार से, **लयाए** - लता से, **पासाइं** - पार्श्व से, **उहालित्ता** -
उधेड़ना, **दंडेण** - लाठी से, **अट्टीण** - हड्डी से, **मुट्टीण** - मुष्टि प्रहार द्वारा, **लेलुएण** -

पत्थर के ढेले द्वारा, कवालेण - घड़े के टुकड़े द्वारा, दुम्मणा - दुर्मनसः - दुःखी हृदय, विष्ववसमाणे - प्रवास में जाने पर, सुमणा - प्रसन्नचित्त, दंडमासी - दण्डमर्शी - माता-पिता के छोटे से अपराध पर गुरु दण्ड देने का विचार करने वाला, दंडपुरेक्खडे - आगे लाठी लिए चलना (क्रोधावेश में), अहिण् - अहितकारक, अस्सिं - इसमें, लोयंसि - लोक में, सोयंति - शोकाकुल करते हैं, झूरंति - अल्प आहार आदि देकर दुर्बल बनाते हैं, तिप्पंति - रुदन कराते हैं, पिट्टेंति - पीटते हैं, परितप्पंति - विविध रूप में संताप पहुँचाते हैं, इत्थिकामभोगेहिं - स्त्री-कामभोगों में, मुच्छिया - मूर्च्छित - मोहाविष्ट, गिद्धा - लोलुप, गहिया - आसक्त (गूँथे हुए), अण्णोववण्णा - (अध्युपपन्ना) दत्तचित्त (भोगासक्त), अप्पतरो - अल्पतर, भुज्जतरो - अतिबहुल - अत्यधिक, भुज्जित्ता - भोगकर, पसेवित्ता - सेवन कर, वेराययणाइं - वैर बंध के स्थानों का, संचिणित्ता - संचित कर, उसण्णं - बहुलतया, संभारकडेण - संभार कर - उपार्जन कर, अयगोलेइ - लोहे का गोला, सेलगोलेइ - पत्थर का गोला, उदयंसि - पानी में, पक्खित्ते - फेंका हुआ, उदगतलमइवइत्ता - जल का अतिक्रमण कर, धरणीयले - पृथ्वी तल पर, पइट्ठाणे - प्रतिष्ठान - अवस्थित होता है, वज्जबहुले - (अवद्यबहुलः) अतिपापिष्ठ (वज्र की भाँति कठोर पापों क्री बहुलता वाला), धुत्तबहुले - क्लेशकारी कर्मों से बहुल, पंकबहुले - पाप रूपी कीचड़ से भरा हुआ, दंभणियडिसाइबहुले - महादम्भी, कपटी और महाधूर्त, आसायणाबहुले - आशातना बहुल-देव, गुरु, धर्म की आशातना करने वाला, अयसबहुले - अकीर्तिबहुल - दुष्ट कार्यों से कुख्यात, अप्पत्तियबहुले - अत्यधिक अप्रिय, अविश्वसनीय, तसपाणघाईं - त्रसप्राणघाति - द्वीन्द्रिय जीवों को मारने वाले, कालमासे - मृत्यु समय में, कालं किच्चा - कालधर्म प्राप्त कर, णरगधरणीयले - तमतमादि निम्नकोटि नरक तल में, अंतो - मध्य में, वट्ठा - गोलाकार, चउरंसा - चार कोने वाले, खुरप्पसंठाणसंठिया - क्षुरप्रसंस्थानसंस्थित - उस्तरे के समान-तीक्ष्ण धार युक्त, णिच्चंधयारतमसा - सदैव अतिशय अंधकार युक्त, ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसप्पहा - व्यपगत ग्रह-चन्द्र-सूर्य-नक्षत्र-ज्योतिप्रभ - सूरज, चाँद, ग्रह एवं नक्षत्रों के प्रकाश से रहित, मेद - चर्बी, वसा - मज्जा, पूय - पीव - मवाद, पडल - समूह, चिक्खल्ल - अत्यधिक कीचड़, लित्त - लिप्त, अणुलेवण - अनुलेपन - लेपयुक्त, असुइवीसा - अपवित्र गंधयुक्त, दुब्धिगंधा - दुर्गंधयुक्त, काउयअगणिवण्णाभा-कबूतर के रंग की लपट सहित, कक्खडफासा - कर्कश स्पर्शयुक्त, दुरहियासा - दुरधिसह्या-कठिनता से सहे जाने योग्य, णिहायंति - नौद लेते हैं, णो पयलायंति - (प्रचलायन्ति) -

जरा भी प्रचला संज्ञक - हल्की नींद भी नहीं ले पाते, उखलभंति - प्राप्त करते हैं, उज्जलं-उज्ज्वल - सब ओर से जाज्वल्यमान, पगाढ - प्रगाढ - गहरी, चंड - क्रूर, दुग्गं - दुर्गम, तिक्खं - तीक्ष्ण, दुरहियासं - दुःख से सहे जाने योग्य, पच्चणुभवमाणा - अनुभव करते हुए, सिया - स्यात् - हो, पव्वयग्गे - पर्वत की चोटी पर, अग्गे - ऊपर से (आगे से), णिण्णं - नीचे, जओ - जहाँ से, दाहिणगामिणेरइए - दक्षिणगामिनैरयिक - नरक के दक्षिणी भाग में, कण्हपक्खिए - क्रूर कर्म करने वाला, आगमेस्साणं - होगा, दुल्लभबोहिए-दुर्लभबोधिक, आहियावाई - आस्तिकवादी, आहियपण्णे - आस्तिकप्रज्ञ - आस्तिकता में बुद्धि रखने वाला, णितियावाई - नित्यवादी - सर्वदा दुःखवर्जित, परमानंदमय मोक्ष का कथन करने वाला।

भावार्थ - अक्रियवादी के ये रूप हैं - नास्तिकवादी आत्मा आदि के अस्तित्व का कथन नहीं करने वाला, उनके अस्तित्व में बुद्धि और दृष्टि नहीं रखने वाला, सम्यक्त्व का कथन नहीं करने वाला, मोक्ष की नित्यता को नहीं कहने वाला, परलोक का अस्तित्व स्वीकार नहीं करने वाला, न वस्तुतः यह लोक है और न परलोक है, न माता-पिता, अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव ही हैं। न नारकीय जीव, नरकावास हैं। न पुण्य-पाप की फल निष्पत्ति है। न श्रेष्ठ रूप में आचरित कर्मों का अच्छा फल और दूषित रूप में आचरित कर्मों का कोई दूषित फल ही होता है। पुण्य-पाप फलशून्य हैं। जीव जन्मान्तर नहीं पाते हैं, नरकादि नहीं हैं, सिद्धि - मोक्षादि नहीं हैं - अक्रियावादी इस प्रकार के कथन करता है, उसकी दृष्टि इस प्रकार की होती है तथा वह अपनी मान्यता में अत्यंत आसक्त रहता है।

वह महत्त्वाकांक्षी● - राज्य, वैभव, परिवार आदि की महती इच्छा रखते हैं, घोर हिंसा आदि अत्यंत आरम्भमूलक कार्य करने वाले, अत्यधिक परिग्रहयुक्त, श्रुत चारित्र रूप धर्म के प्रतिरोधी, धर्म विपरीत कार्यों का अनुसरण करने वाला, पापपूर्ण कृत्यों में अनुरत रहने वाला, धर्म विपरीत कार्यों में अत्यन्त संलग्न, अधर्म की प्ररूपणा में दुष्प्रवृत्त, अधर्म में अनुरक्त, घोर अधार्मिक दृष्टि रखने वाला, अधर्मजीवी, अधर्म प्ररञ्जन, अधर्मशील होता है तथा अधर्म के आधार पर ही जीवनवृत्ति संचालित करता रहता है।

प्राणियों को मार डालो, छिन्न-भिन्न कर डालो - ऐसा कहता हुआ वह स्वयं जीवों के

● इस शब्द के विषय में विशेष वर्णन सूत्रकृतांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्ययन के प्रथम क्रिया स्थान के अधर्म पक्ष से ज्ञातव्य है।

प्राणों का हनन करता है। उसके हाथ खून से रंगे रहते हैं। वह क्रोध में प्रचण्ड बना रहता है, प्राणियों को भयभीत करता रहता है, जीव पीड़ा आदि नीच कार्य करता रहता है। बिना सोचे-विचारे अनुचित कार्यों में अपने बल को दुष्प्रयुक्त करता है। वह पापकार्य करने हेतु रिश्वत लेता है। वह ठग, छली, मायावी, प्रच्छन्नप्रवंचक तथा छलने हेतु विविध स्वांग (छलपूर्ण दुष्प्रयोग) करता है। वह दुष्टतापूर्ण स्वभावयुक्त, कृतघ्न, दुश्चरित्र, कठिनाई से निर्यंत्रित होने वाला, पापबहुल व्यवहारी, परदुःखानंदी, शीलवर्जित, व्रतशून्य, निर्गुण, मर्यादाशून्य, त्याग, प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास रहित तथा साधुत्वरहित होता है।

वह अक्रियावादी (नास्तिकवादी) जीवन भर के लिए समस्त प्राणातिपात यावत् समस्त परिग्रह से विरत नहीं होता - त्याग, प्रत्याख्यान नहीं करता। इसी प्रकार वह सभी प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम - राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान (व्यर्थ आलाप), चुगली, दूसरे के दोषों का उद्घाटन (निन्दा), अरति - रति, माया-मृषा तथा मिथ्यादर्शनशाल्य - इनसे जीवन भर के लिए अप्रतिविरत - (इनसे) विरति रहित होता है।

वह नास्तिकवादी सब प्रकार के कषायों से, दंतमार्जन, स्नान, मालिश, विलेपन (चन्दनादि का), शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध, माला, अलंकार के सेवन से जीवनभर के लिए अप्रतिविरत रहता है - उनका परित्याग प्रत्याख्यान नहीं कर पाता। सभी प्रकार के यातायात के शकट, पालखी आदि यानों - साधनों के प्रयोग से, शयन, आसन तथा भोजन, पात्र प्रयोग आदि से जीवन भर के लिए निवृत्त नहीं होता - उनका प्रत्याख्यान नहीं करता।

वह नास्तिकवादी असमीक्षितकारी - पुण्य पाप आदि का विचार किए बिना अंधाधुंध कार्य करता है। वह अश्व, गज, गो, महिष, मेष तथा दास, दासी, पदाति (कर्मकर) आदि से यावज्जीवन प्रतिविरत नहीं होता। वह सभी प्रकार के क्रय-विक्रय, मासा, आधामासा आदि तोल-परिमाण के व्यवहार से जीवनभर के लिए प्रतिविरत नहीं होता।

वह नास्तिकवादी सभी प्रकार के रजत, स्वर्ण, धन-धान्य, मणि, मौक्तिक, शंख, मूँगे इत्यादि के प्रयोग से जीवनभर के लिए विरत नहीं होता। वह सब प्रकार के मिथ्या तोल-माप आदि से जीवनभर के लिए अविरत होता है। सभी प्रकार के आरंभ-समारंभ से जीवनभर के लिए विरत नहीं होता। वह सब प्रकार के पचन-पाचन (भोजन पकाने-पकवाने) से जीवनभर के लिए विरत नहीं होता। वह सब प्रकार के (सावद्य) कर्म करने-करवाने से जीवनभर के लिए निवृत्त नहीं होता। सब प्रकार के कूटने, पीटने, तर्जित करने, ताड़ित करने,

वध करने, बांधने एवं परिवर्तित करने से जीवन भर के लिए विरत नहीं होता। इसी प्रकार के पूर्ववर्णित और भी सावद्य, अबोधजनक(मिथ्यात्ववर्धक) कर्म करता है, अन्य प्राणियों के लिए परितापकारी कार्य करता है, (वह) जीवनपर्यन्त उनसे निवृत्त नहीं होता।

पूर्वोक्त नास्तिकवादी पुरुष कलम संज्ञक शालि विशेष, मसूर, तिल, मूँग, उर्द, वालोल, कुलत्थ, चँवला, ज्वार इत्यादि धान्य वर्ग के वानस्पतिक जीवों में अयतनाशील रहता हुआ, क्रूरतापूर्वक मिथ्यादण्ड - निरपराध हिंसा का प्रयोग करता है - इनका अशनादि के रूप में निहनन करता है। इसी प्रकार उस कोटि का वह पुरुष तीतर, बटेर, लवा, कबूतर, कुरज, मृग, भैंसा, सूअर, मगर, गोह, कच्छप, सरीसृपों के संदर्भ में भी अयतनाशील, असंयत रहता हुआ, क्रूरतापूर्वक इन निरपराध प्राणियों का हनन करता है।

उस (नास्तिकवादी) पुरुष की बाह्य परिषद् - परिजनवृन्द यथा - दास, प्रेष्य, वेतनभोगी, अंशग्राही (स्वामी के लिए अर्जित आय में से प्राप्त न्यून अंशजीवी - (कमीशन एजेंट), कर्मकर, भोगपुरुष - इनके किसी प्रकार के छोटे से अपराध पर स्वयमेव भारी दंड देता है तथा (अपने आदेशवर्तीजनों से कहता है) - इन (दास आदि) को दंडित करो, मुण्डित करो - केश काट दो, इन्हें तर्जित करो, चपेटे लगाओ। इनके हथकड़ियाँ - बेड़ियाँ डाल दो, खोड़े में जकड़ दो, कारागृह में डाल दो, इनके शरीर को उल्टा मोड़कर पैरों के साथ बांध दो। इनके हाथ, पैर, कान, नाक, होठ, मस्तक, मुख तथा जननेन्द्रिय को काट डालो। हृदय को विदीर्ण कर डालो। साथ ही साथ नेत्र, अण्डकोष, दाँत, वदन, जीभ को उत्पाटित - विध्वस्त कर डालो, इन्हें उल्टे लटका दो। इनको (खुरदरे भाग पर) घसीटो। (दही की तरह) इन्हें मथ डालो। इन्हें शूली पर चढ़ा दो। इन्हें त्रिशूल से बींध डालो। इन्हें शस्त्रों से काटकर उस पर नमक आदि क्षार पदार्थ छिड़क दो। इनके शरीर में डाभ आदि तीखे घास चुभा दो। इन्हें शेर की पूँछ से बांध दो। उसी प्रकार बैल की पूँछ से बांध दो। इन्हें दावाग्नि से जला डालो। इनके शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े कर जंगली जानवरों के खाने के लिए फेंक दो। इनका खाना-पीना बन्द कर दो। जीवनभर के लिए इनको बांधे रखो। इन्हें अन्य किसी प्रकार की कुत्सित - निर्दयतापूर्ण मौत से मार डालो।

पूर्ववर्णित नास्तिकवादी पुरुष की जो आभ्यन्तर परिषद् होती है, जैसे - माता, पिता, भाई, बहिन, पत्नी, पुत्री तथा पुत्रवधू आदि - इनके भी छोटे से अपराध पर वह स्वयं बड़ा दंड देता है। यथा - शीत ऋतु में अत्यंत ठंडे पानी से परिपूर्ण जलाशय में डूबो देता है। उनके

शरीर पर अत्यंत गर्म पानी उड़ेलता है। अग्नि से शरीर को जला डालता है। बैल आदि को बांधने की रस्सी, बेंत, दही मथने की डोरी, लता आदि से शरीर के दोनों पाश्वर्ण - पसवाड़ों को उधेड़ डालता है। लट्टी, हड्डी, मुष्टिका, ढेला, फूटे हुए घड़े के टुकड़े से देह को कूटता-पीटता है - पीड़ा पहुँचाता है। जिससे ऐसे मनुष्य के नजदीक रहने पर माता-पिता आदि दुःखित होते हैं। वैसा व्यक्ति जब बाहर जाता है तो माता-पिता आदि प्रसन्न होते हैं।

पूर्व प्रतिपादित नास्तिकवादी पुरुष माता-पिता के थोड़े से अपराध के लिए दण्ड देने का विचार लिए रहता है। उसकी भारी दण्ड देने की प्रवृत्ति होती है। क्रूर स्वभाव के कारण लाठी आगे लिए रहता है। वह इस लोक में और परलोक में अपनी आत्मा का अहित करता है। ऐसे नास्तिकवादी मनुष्य औरों के लिए दुःख, शोक पहुँचाने के हेतु होते हैं। उन्हें (माता-पिता आदि को) यथेष्ट अन्न-पानादि न देकर कमजोर बना देते हैं, रुलाते हैं, पीटते हैं, विविध प्रकार से संतप्त करते हैं। इस प्रकार उन्हें दुःखित, शोकाकुल, दुर्बल, तर्जित, पीड़ित, परितापित, हत, बद्ध, परिक्लेशित करने से विरत नहीं होते।

इस प्रकार वे नास्तिकवादी स्त्री-काम भोगों में विमोहित, लोलुप, अत्यधिक आसक्त, तल्लीन बने रहते हैं यावत् चार, पाँच, छह या दस वर्ष पर्यन्त अथवा इससे कम या ज्यादा कामभोगों को भोगकर, वैरभाव संचित कर, अनेक भारी पापकर्मों का सेवन, उपार्जन करते हैं। जैसे जल में फेंका हुआ लोहे अथवा पत्थर का गोला, जल को अतिक्रान्त कर नीचे जल के पैंदे में - धरती तल पर पहुँच जाता है इसी प्रकार पूर्वोक्त कर्मों के भार से नास्तिकवादी पुरुष वज्रवत् पापों की कठोरता, क्लेशकारी कर्मों की बहुलता, कर्मपंक के आधिक्य, द्वेष बाहुल्य, दंभ तथा छल, कपट की बहुलता, आशातना के आधिक्य, अपयश बाहुल्य, अत्यधिक अप्रियता तथा त्रस प्राणियों की अत्यधिक हिंसा - इन दुष्कर्मों के कारण अत्यधिक भारी बना हुआ (वह पुरुष) आयुष्य पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त कर, धरणी तल को अतिक्रान्त करता हुआ, नीचे के निम्न कोटिक सप्तम (तमतमा) नारकभूमि में जा गिरता है।

वे नरकावास मध्य में गोल हैं तथा बाहर चार कोनों से युक्त हैं। नीचे से क्षुरप्र संस्थान संस्थित - उस्तरे की धार की तरह तीक्ष्ण हैं। नित्य घोर अंधकार युक्त हैं। वहाँ ग्रह, चंद्र, सूर्य तथा नक्षत्रों का प्रकाश नहीं है। ये अत्यधिक चर्बी, मज्जा, मांस, रक्त, मवाद से अनुलिप्त, सड़े हुए मांस जैसी गंध युक्त, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त, कबूतर के रंग जैसी अग्नि की

❁ इसे गुजराती में "नेतर" तथा राजस्थानी में "नेतरा" कहा जाता है।

ज्वालाओं से युक्त, कर्कश स्पर्शयुक्त तथा कठिनता से सहे जा सकने योग्य होने से (वे नरक) अशुभ हैं और वहाँ अशुभ ही वेदना है। नरकावास में रहने वाले नारकीय जरा भी सो नहीं पाते, प्रचला संज्ञक (हल्की) नींद (ऊंघ) भी नहीं ले पाते। उनको स्मृति (याददाश्त) प्रेम, धैर्य और बुद्धि अप्राप्त रहते हैं। वे नारकीय जीव वहाँ उज्ज्वल, विपुल, प्रगाढ, कर्कश, कटुक, क्रूर, दुःखद, दुर्गम, तीक्ष्ण, तीव्र तथा असह्य वेदना का अनुभव करते रहते हैं।

जैसे कोई एक वृक्ष पर्वत की चोटी पर उत्पन्न हुआ हो। यदि उसका मूल छिन्न हो जाए, कट जाए एवं ऊपर का भाग बहुत बोझिल हो तो वह दुर्गम, विषम स्थान में गिर पड़ता है। उसी प्रकार पूर्व वर्णित नास्तिकवादी पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मरण से दूसरे मरण में तथा एक दुःख से दूसरे दुःख में पड़ता जाता है। इस प्रकार वह नास्तिकवादी पुरुष दक्षिणवर्ती नरकावास में कृष्णपाक्षिक होता है - अर्द्ध पुद्गल परावर्त से अधिक काल तक भवचक्र में भटकता है तथा भविष्य में भी दुर्लभबोधि होता है - उसे सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं हो पाती।

यह अक्रियावादी का स्वरूप है।

(अक्रियावादी के विवेचन के अन्तर्गत अब क्रियावादी का वर्णन प्रस्तुत है।)

क्रियावादी किस प्रकार का होता है?

वह आस्तिकवादी, आस्तिकप्रज्ञ, आहितकदृष्टि, सम्यक्त्ववादी, नित्यवादी (मोक्षादि शाश्वत तत्त्वों के नित्यत्व में आस्थाशील), परलोक के अस्तित्व में विश्वासी होता है। उसका अभिमत एवं निरूपण ऐसा होता है - यह लोक है, नरक, स्वर्ग आदि परलोक हैं। माता, पिता, अर्हत् (तीर्थंकर), चक्रवर्ती, बलदेव एवं वासुदेव का अस्तित्व है। सुकृत - पुण्य एवं दुष्कृत - पाप कर्मों का फल क्रमशः सुखात्मक एवं दुःखात्मक होता है। शुभ परिणाम से कृत कर्मों का शुभ फल होता है तथा अशुभ परिणाम से किए हुए कर्मों का अशुभ फल होता है। पुण्य और पाप सुख तथा दुःख रूप फलप्रद होते हैं। जीव जन्मान्तर में जाते हैं। नरक यावत् देव पर्यन्त गतियों का अस्तित्व है। मुक्ति या मोक्ष है। वह इस प्रकार का कथन करता है, उसकी प्रज्ञा तदनुरूप होती है, उसकी दृष्टि उसी के अनुकूल होती है तथा वह अपनी मान्यता में अत्यंत निष्ठावान होता है।

यदि वह आस्तिकवादी महत्त्वाकांक्षी - राज्य, वैभव, परिवार आदि की इच्छा से युक्त होता है, महापरिग्रही हो जाता है तो वह अपनी-अपनी महत्त्वाकांक्षा एवं महापरिग्रह के

परिणामस्वरूप यावत् उत्तरवर्ती नरकावास में शुक्लपाक्षिक होता है - देश कम अर्द्धपुद्गलपरावर्त परिमित काल में मुक्ति प्राप्त करता है और भविष्य - जन्मान्तर में सुलभबोधि होता है।

यह क्रियावादी का स्वरूप है।

विवेचन - सत् में प्रवृत्त होने से पूर्व असत् को जानना आवश्यक होता है। जिस प्रकार स्वास्थ्यलाभ के लिए पूर्व संचित विकारों का विरेचन कर उपयुक्त पौष्टिक औषधि ली जाती है और वह कार्यकर होती है, वही बात यहाँ ज्ञातव्य है। अत एव उपासक प्रतिमाओं का वर्णन करने से पूर्व सूत्रकार ने आस्तिकवादी और नास्तिकवादी पक्षों का वर्णन किया है। अल्पज्ञ, अयथार्थज्ञ व्यक्ति केवल वर्तमान को देखता है। वर्तमान में प्राप्त सुख, अनुकूलता, संपन्नता, विलास - यही सब उसके लक्ष्य होते हैं। परोक्ष में, जिसके अन्तर्गत परलोक, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, मोक्ष आदि का विधान है उसका विश्वास नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के जीवन में अहिंसा, सत्य, शील, संतोष, अपरिग्रह आदि का जरा भी महत्त्व नहीं होता। वह उन्हें वाग्विडंबना के अतिरिक्त कुछ नहीं मानता। सत्क्रियाओं में, पुण्य कर्मों में उसका विश्वास नहीं होता। न पाप-पुण्य के फल में ही उसकी आस्था होती है। सूत्रकार ने उसे अक्रियावादी और नास्तिकवादी के रूप में अभिहित किया है। अक्रियावादी का यहाँ तात्पर्य सत् या उत्तम फलात्मक क्रियाओं को तद्रूप फलदायक न मानने से है। क्योंकि उसमें भी क्रियाशीलता तो होती है, पर वह अशुभ, सावद्य या पापपंकिल होती है।

अक्रियावादिता के संदर्भ में हिंसकता, निर्दयता, कठोरता, कठोरतम परिव्लेशकारिता, संतापबहुलता इत्यादि का बड़ा ही सूक्ष्म और मार्मिक विवेचन हुआ है। यह इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि कभी तथाकथित राज्य, वैभव, सत्तादि सम्पन्न बड़े लोग मात्र अपनी एषणापूर्ति और महिमातिशय तथा अधिकार और प्रभावशीलता का प्रदर्शन करने हेतु ऐसे कार्य करते रहे हों।

उत्पीडित करने के जो अत्यधिक क्रूरता और नृशंसतापूर्ण कुत्सित उपक्रम यहाँ उल्लिखित हुए हैं, वे इस तथ्य का साक्ष्य लिए हुए हैं। उपासक प्रतिमा से अपने आपको जोड़ने वाले साधक को जागरूक करने की दृष्टि से यह सब पूर्वभूमिका के रूप में बतलाया गया है ताकि इस कोटि के कुत्सित कार्य उसकी रोमावली तक भी न पहुँच पाएँ। उसकी जघन्यता, निन्दनीयता और हेयता सदैव उसके चित्त में व्याप्त रहे, जिसके कारण वह इनसे सर्वथा बचा रह सके।

अक्रियावादी के समकक्ष क्रियावादी का वर्णन जो इस सूत्र में आया है, वह सत्क्रियावाद का समर्थक है। वैसे क्रियावादी को आस्तिकवादी कहा गया है। क्योंकि उसकी आत्मा स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, मोक्ष आदि में अत्यन्त विश्वासयुक्त होती है। विश्वास ही कर्म में प्रतिफलित होता है। अत एव वह पापकर्मा नहीं होता। आगे उसे यह और चेतावनी दी गई है - ऐसी सन्निष्ठा, सद् विश्वास और आस्तिकवादिता के बावजूद यदि उसके क्रियाकलाप या कर्म सावद्यता और पापबहुलता से व्याप्त रहें तो वह भी नरकगामी होता है।

एकादश उपासक प्रतिमाएं

अह पढमा उवासगा पडिमा-सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं णो सम्मं पट्टवियपुव्वाइं भवंति, एवं उवासगस्स पढमा दंसणपडिमा ॥ १५ ॥

अहावरा दोच्चा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्टवियाइं भवंति, से णं सामाइयं देसावगासियं णो सम्मं अणुपालित्ता भवइ, दोच्चा उवासगपडिमा ॥ १६ ॥

अहावरा तच्चा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवयगुणवेरमण-पच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्टवियाइं भवंति, से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ, से णं चउइसिअट्टु-मिउहिट्टुपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं णो सम्मं अणुपालित्ता भवइ, तच्चा उवासगपडिमा ॥ १७ ॥

अहावरा चउत् (थी)था उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवय-गुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं सम्मं पट्टवियाइं भवंति, से णं सामाइयं देसावगासियं सम्मं अणुपालित्ता भवइ, से णं चउइसिअट्टुमिउहिट्टुपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालित्ता भवइ, से णं एगराइयं उवासगपडिमं णो सम्मं अणुपालित्ता भवइ, चउत्था उवासगपडिमा ॥ १८ ॥

अहावरा पंचमा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ, तस्स णं बहूइं सीलवय...जाव सम्मं अणुपालित्ता भवइ, से णं सामाइय...तहेव, से णं चउइसि...तहेव, से णं एगराइयं उवासगपडिमं सम्मं अणुपालित्ता भवइ, से णं असिणाणए वियडभोई

मडलिकडे दिया बंभयारी रत्तिं परिमाणकडे, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहणणेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं पंच मा(सं)से विहरइ, पंचमा उवासगपडिमा ॥ १९ ॥

अहावरा छ(ड्टी)ड्टा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव से णं एगराइयं उवासगपडिमंसम्मं अणुपालित्ता भवइ, से णं असिणाणए वियडभोई मडलिकडे दिया वा राओ वा बंभयारी, सचित्ताहारे से अपरिणाए भवइ, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहणणेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा (जाव) उक्कोसेणं छम्मासे विहारेज्जा, छट्टा उवासगपडिमा ॥ २० ॥

अहावरा सत्तमा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव राओवरायं वा बंभयारी, सचित्ताहारे से परिणाए भवइ, आरंभे से अपरिणाए भवइ, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहणणेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं सत्त मासे विहारेज्जा, से तं सत्तमा उवासगपडिमा ॥ २१ ॥

अहावरा अट्टमा उवासगपडिमा- सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव राओवरायं बंभयारी, सचित्ताहारे से परिणाए भवइ, आरंभे से परिणाए भवइ, पेसारंभे से अपरिणाए भवइ, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे (जाव) जहणणेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं अट्ट मासे विहारेज्जा, से तं अट्टमा उवासगपडिमा ॥ २२ ॥

अहावरा णवमा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव राओवरायं बंभयारी, सचित्ताहारे से परिणाए भवइ, आरंभे से परिणाए भवइ, पेसारंभे से परिणाए भवइ, उद्धिडुभत्ते से अपरिणाए भवइ, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहणणेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं णव मासे विहारेज्जा, से तं णवमा उवासग-पडिमा ॥ २३ ॥

अहावरा दसमा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव उद्धिडुभत्ते से परिणाए भवइ, से णं खुरमुंडए वा सिहाधारए वा, तस्स णं आभट्टस्स समाभट्टस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए, तंजहा - जाणं वा जाणं अजाणं वा णो जाणं, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहणणेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं दस मासे विहारेज्जा, से तं दसमा उवासगपडिमा ॥ २४ ॥

अहावरा एक्कारसमा उवासगपडिमा - सव्वधम्मरुई यावि भवइ जाव उहिदुभत्ते से परिण्णाए भवइ, से णं खुरमुंडए वा लुत्तसिरए वा गहियायारभंडगणेवत्थे, जे इमे समणाणं णिगंथाणं धम्मे पण्णत्ते। तं सम्मं काएण फासेमाणे पालेमाणे पुरओ जुगमायाए पेहमाणे ददतूण तसे पाणे उद्धट्टु पाए रीएज्जा, साहट्टु पाए रीएज्जा, तिरिच्छं वा पायं कट्टु रीएज्जा, सइ परक्कमे(ज्जा), संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा, केवलं से णायए पेज्जबंधणे अवोच्छिण्णे भवइ, एवं से कप्पइ णायविहिं वइत्तए ॥ २५ ॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पइ से चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए, णो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए। तत्थ (णं) से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिग्गाहित्तए, णो से कप्पइ चाउलोदणे पडिग्गाहित्तए। तत्थ से पुव्वागमणेणं दोवि पुव्वाउत्ताइं कप्पंति दोवि पडिग्गाहित्तए। तत्थ से पच्छागमणेणं दोवि पच्छाउत्ताइं णो से कप्पंति दोवि पडिग्गाहित्तए। जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिग्गाहित्तए। जे से तत्थ पुव्वा-गमणेण पच्छाउत्ते से णो कप्पइ पडिग्गाहित्तए ॥२६ ॥

तस्स णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स कप्पइ एवं वइत्तए "समणोवासगस्स पडिमापडिवण्णस्स भिक्खं दलयह" तं चेव एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे णं केइ पासित्ता वइज्जा-"केइ आउसो! तुमं वत्तव्वं सिया" "समणोवासए पडिमापडिवण्णए अहमंसीति" वत्तव्वं सिया, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा उक्कोसेणं एक्कारस मासे विहरेज्जा, एक्कारसमा उवासगपडिमा ॥ २७ ॥

एयाओ खलु ताओ थैरेहिं भगवंतेहिं एक्कारस उवासगपडिमाओ पण्णत्ताओ ॥ २८ ॥ तिबेमि ॥

॥ छट्ठा दसा समत्ता ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - उवासगपडिमा - उपासक प्रतिमा, सव्वधम्मरुई - सर्वधर्मरुचि - अहिंसा, क्षान्ति आदि समस्त धर्मों में अभिरुचिशील, पट्टुवियपुव्वाइं - प्रस्थापित पूर्वा - पहले से शील एवं गुणव्रत आदि में प्रवर्तित, पढमा - प्रथमा - पहली, दंसणपडिमा -

दर्शन प्रतिमा, तच्चा - तृतीय, देसावगासियं - देशावकाशिक, अहावरा - इसके बाद, एगराइयं - एकरात्रिक, वियडभोई - विकटभोजी - दिवाभोजी (रात्रि भोजन त्यागी), मउलिकडे - मुकुलिकृत - धौत वस्त्र की अबद्ध पट्टिका युक्त - खुली लांग वाला, रत्तिं - रात्रि में, परिमाणकडे - परिमाणकृत - नियत अब्रह्मचर्य सेवी, उक्कोसेणं - उत्कृष्ट - अधिकाधिक, राओवरायं - रात और दिन, पेसारंभे - संदेशवाहक आदि अन्यो से आरंभ कराना, उद्दिदुभत्ते - अपने लिए बनाए गए आहार का, खुरमुंडए - क्षुरमुण्डन - उस्तरे से मुण्डन, सिहाधारए - केशधारक (चोटी), आभदुस्स - आभाषितस्य - एक बार पूछने पर, समाभदुस्स - बार-बार पूछने पर, कप्पति - कल्पता है, जाणं - जानता हूँ, लुत्तसिए - केशों का लोच करता है, णेवत्थे - नेपथ्य - मर्यादित वस्त्र, डोरे सहित मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि, फासेमाणे - स्पर्श करता हुआ, पालेमाणे - पालता हुआ, जुगमायाए - युगमात्रया - झूसरा जुवाड़ा प्रमाण - चार हाथ प्रमाण, ददूण - देखकर, उद्धदु - उठाकर, रीएजा - ईर्या समिति पूर्वक, तिरिच्छं - तिरछा, कदु - करके, परक्कमेजा - प्रयत्न करे, उज्जुयं - सीधा, गच्छेजा - जाए, णायए - ज्ञाति वर्ग - स्वजन संबंधी, वइत्तए - जाता है, अवोच्छिण्णे - अव्युच्छिन्न - नहीं टूटता, चाउलोदणे - तण्डुलोदन - पके हुए चावल - भात, पच्छाउत्ते - पश्चात्, भिलिंगसूवे - मूंग आदि की दाल, पुव्वाउत्ताइं - पूर्व पकाए हुए, गाहावइकुलं - गाथापति के घर में, पिंडवायपडियाए - भोजन-पान लेने आए हुए, दलयह - देता है, पडिमापडिवण्णए - प्रतिमाधारी, वत्तव्वं - वक्तव्यं - कहना चाहिए, जहण्णेणं - जघन्यतः - कम से कम, उद्दिष्टा - अमावस्या।

भावार्थ - प्रथम प्रतिमा - अब प्रथम उपासक प्रतिमा का वर्णन किया जा रहा है - प्रथम प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्मरुचि - श्रुत, चारित्र रूप धर्म में अभिरुचिशील होता है। किन्तु वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपात विरमण, प्रत्याख्यान एवं पौषधोपवास आदि सम्यक् प्रस्थापित पूर्व - भलीभाँति धारण किए हुए नहीं होता।

यह उपासक की प्रथम दर्शन प्रतिमा है।

द्वितीय प्रतिमा - द्वितीय प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है, वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातदिविरमण, प्रत्याख्यान तथा पौषधोपवास आदि विधिबत् धारण किए हुए होता है। किन्तु वह सामायिक तथा देशाव काशिक व्रत का भलीभाँति प्रतिपालक - पालनकर्ता नहीं होता।

यह द्वितीय उपासक प्रतिमा है।

तृतीय प्रतिमा - तृतीय प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्म रुचिशील होता है। अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादिविरमण, प्रत्याख्यान तथा पौषधोपवास आदि को विधिवत् गृहीत किए हुए होता है। वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का भी भलीभाँति परिपालन करता है किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा - इन तिथियों में सम्पूर्ण पौषधोपवास का यथाविधि परिपालक नहीं होता।

यह तृतीय उपासक प्रतिमा का स्वरूप है।

चतुर्थ प्रतिमा - चतुर्थ प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है। वह अनेक शीलव्रत, गुणव्रत, प्राणातिपातादिविरमण प्रत्याख्यान तथा पौषधोपवास आदि को विधिवत् गृहीत किए हुए होता है। वह सामायिक और देशावकाशिक व्रत का भी भलीभाँति परिपालन करता है किन्तु चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णिमा - इन तिथियों में सम्पूर्ण पौषधोपवास का यथाविधि परिपालक होता है। वह एकरात्रिक उपासक प्रतिमा - कायोत्सर्गात्मक उपासक प्रतिमा का प्रतिपालक नहीं होता।

यह चतुर्थ उपासक प्रतिमा है।

पंचम प्रतिमा - पंचम प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है। वह अनेक शीलव्रत यावत् देशावकाशिक व्रत का सम्यक् परिपालन करता है। यहाँ चतुर्दशी आदि से संबंधित वर्णन भी पूर्वानुसार है। वह एकरात्रिक उपासक प्रतिमा - कायोत्सर्गात्मक उपासक प्रतिमा का प्रतिपालक नहीं होता।

वह स्नान नहीं करता है। दिवसभोजी होता है (रात्रि भोजन का त्याग करता है)। धोती की एक लांग खुली रखता है। दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करता है और रात्रि में परिमित अब्रह्मचर्य सेवी होता है। इस प्रकार की क्रियाओं में निरत रहता हुआ कम से कम एक, दो या तीन दिन तथा उत्कृष्टतः (अधिकतम) पांच मास तक इस प्रतिमा का परिपालन करता है।

यह पंचम प्रतिमा का स्वरूप है।

षष्ठ प्रतिमा - षष्ठ प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है यावत् वह एक रात्रिक कायोत्सर्गमय उपासक प्रतिमा का भलीभाँति परिपालन करता है। वह स्नानत्यागी, दिवाभोजी, मुकुलीकृत तथा दिन एवं रात में ब्रह्मचर्य का पालन करता है। सचित्ताहार का वह परित्यागी नहीं होता। इस प्रकार वह जघन्यतः एक, दो, तीन दिन और उत्कृष्टतः छह मास तक इस प्रतिमा की आराधना करता है।

यह छठी उपासक प्रतिमा का स्वरूप है।

सप्तम प्रतिमा - सप्तम प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है यावत् वह अहोरात्र (रात एवं दिन पर्यन्त) ब्रह्मचर्य का पालन करता है। सचित्ताहार का परित्यागी होता है। किन्तु वह पचन-पाचन रूप आरंभ का परित्यागी नहीं होता। इस प्रकार आचार परिपालन करता हुआ जघन्यतः एक, दो या तीन तथा उत्कृष्टतः सात माह पर्यन्त इस प्रतिमा का पालन करता है।

यह सातवीं प्रतिमा का स्वरूप है।

अष्टम प्रतिमा - अष्टम प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है यावत् अहर्निश (रात-दिन) ब्रह्मचर्य का पालन करता है। सचित्त आहार का परित्यागी होता है तथा सर्वआरंभ परित्यागी होता है किन्तु वह संदेशवाहक, भृत्य आदि अन्यो से आरंभ कराने का परित्यागी नहीं होता। इस प्रकार साधनाशील रहता हुआ वह न्यूनतम एक, दो या तीन दिवस तथा अधिकतम आठ मास पर्यन्त इस प्रतिमा की आराधना करता है।

यह अष्टम उपासक प्रतिमा का स्वरूप है।

नवम प्रतिमा - नवम प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है यावत् वह रात्रि-दिवस पर्यन्त ब्रह्मचर्य का पालक होता है। वह सचित्त आहार का, आरंभ का तथा अन्यो द्वारा आरंभ कराने का परित्यागी होता है किन्तु अपने लिए बनाए गए आहार का परित्यागी नहीं होता। इस प्रकार साधनारत रहता हुआ वह जघन्यतः एक, दो या तीन दिन से लेकर नव मास पर्यन्त इस प्रतिमा का परिपालन करता है।

यह नवम प्रतिमा का इतिवृत्त है।

दशम प्रतिमा - दशम प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील होता है यावत् वह उद्दिष्ट आहार का परित्यागी होता है। उस्तरे से सिर मुण्डित करवा लेता-है अथवा केश(चोटी) धारण करता है। किसी द्वारा एक बार या अनेक बार पृच्छा किए जाने पर उसे दो भाषाएं - दो प्रकार की वाणी (दो प्रकार के वाक्य) बोलना कल्पता है। यदि जानता हो तो "मैं जानता हूँ" ऐसा कहे तथा नहीं जानता हो तो "मैं नहीं जानता हूँ" ऐसा कहे। इस प्रकार अपने साधनाक्रम में विहरणशील रहता हुआ - तदनुरूप आचार परिपालन करता हुआ, वह जघन्यतः एक, दो या तीन दिन तथा उत्कृष्टतः दस मास पर्यन्त इस प्रतिमा की आराधना करता है।

यह दशम प्रतिमा का स्वरूप है।

एकादश प्रतिमा - एकादश प्रतिमाधारी उपासक सर्वधर्माभिरुचिशील - श्रुत-चारित्र रूप धर्म में आस्थायुक्त होता है यावत् उद्दिष्ट आहार का परित्यागी होता है। वह उस्तरे से मुण्डन करवाता है अथवा केशों का लुंचन करता है। वह साधु के आचार, पात्र आदि उपकरण एवं वेशभूषा - चदर, चौलपट्ट, रजोहरण, दोरकयुक्त मुखवस्त्रिका इत्यादि धारण करता है। श्रमण निर्ग्रन्थों का जो धर्म परिज्ञापित हुआ है, वह उसका भलीभाँति काया से स्पर्श करता हुआ - उसे आत्मसात् करता हुआ, अपने आपको उसमें सर्वथा क्रियाशील रखता हुआ, पालन करता हुआ, चलते समय आगे चार हाथ प्रमाण भूमि को देखता हुआ, त्रस प्राणियों को देखकर उनकी रक्षा के लिए पैर संकुचित करता हुआ अथवा उन्हें बचाने हेतु तिरछा चलता हुआ, साधवधानी से गतिशील रहता है। यदि अन्य जीवरहित मार्ग हो तो उसी पर यतनापूर्वक चलता है, जीव सहित सीधे मार्ग पर नहीं चलता। उसका पारिवारिकजनों से परस्पर स्नेहबंधन का व्यवच्छेद नहीं होता। इसीलिए इनके यहाँ भिक्षा हेतु जाना उसे कल्पता है।

गृहस्थ के घर में प्रतिमाधारी उपासक के भिक्षा हेतु जाने से पूर्व भात पके हुए हों किन्तु जाने के बाद दाल पके तो उपासक को भात लेना ही कल्पनीय है, दाल लेना कल्पनीय नहीं होता। प्रतिमाधारी के पहुँचने से पूर्व दाल पकी हुई हो परन्तु भात पश्चात् पके हों तो दाल लेना कल्पता है, भात लेना नहीं।

प्रतिमाधारी के आगमन से पूर्व भात और दाल-दोनों पके हुए हों तो दोनों लेना कल्पानुमोदित है। किन्तु पहुँचने के पश्चात् यदि दोनों पके हों तो लेना नहीं कल्पता।

प्रतिमाधारी जब गृहस्थ के घर में भिक्षार्थ प्रविष्ट हों, तब उसे इस प्रकार वाक् प्रयोग करना कल्पता है - "प्रतिमाप्रतिपन्न - प्रतिमा के आराधक श्रमणोपासक को भिक्षा दें।" उसके यों प्रतिमाधारी के स्वरूप को देखकर यदि कोई पूछे - "हे आयुष्मन्! आप कौन हैं, आपको किस रूप में संबोधित किया जाए?" तब उसका वक्तव्य इस प्रकार हो - "मैं प्रतिमाराधक श्रमणोपासक हूँ।" इस प्रकार वह अपनी प्रतिमामूलक साधना में संलग्न रहता हुआ जघन्यतः एक, दो या तीन दिन से लेकर उत्कृष्टतः ग्यारह मास पर्यन्त साधनापरायण रहे।

यह ग्यारहवीं उपासक प्रतिमा का स्वरूप है।

स्थविर भगवंतों ने इन ग्यारह उपासक प्रतिमाओं का प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार षष्ठ दशा सम्पन्न होती है।

विवेचन - साधना के क्षेत्र में उपासक शब्द एक विशेष आशय के साथ प्रयुक्त हुआ है। यह शब्द जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परंपराओं में प्राप्त होता है। शाब्दिक विश्लेषण की दृष्टि से 'उप' उपसर्ग, 'आस' धातु और 'ण्वुल' प्रत्यय के योग से **उपासक** शब्द बनता है। 'उप' का अर्थ समीप है तथा 'आस' धातु बैठने के अर्थ में है। इसका अभिप्राय यह है, जो गुरु के सान्निध्य में बैठता है, उनसे तत्त्व श्रवण करता है, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से प्रेरणा लेता है, तदनुरूप साधना में जुड़ता है। यह गृही साधक का सूचक है।

वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत छान्दोग्योपनिषद् में इसकी बहुत सुन्दर व्याख्या आई है, जो इस प्रकार है -

'स यदा बली भवति, अथ उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन् उपसत्ता भवति, उपसीदन् द्रष्टा भवति, श्रोता भवति, मंता भवति, बौद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति'।

अर्थात् जब गृही के मन में साधना का उत्साह उत्पन्न होता है, तब वह तदर्थ उठता है- उद्यत होता है। उठकर परिचरण करता है - तदनुसार आगे बढ़ता है। परिचरण कर - चलकर गुरु के समीप - सान्निधि में बैठता है। गुरु के तपोमय व्यक्तित्व को देखता है। गुरु की वाणी सुनता है। सुने हुए तत्त्व पर मनन करता है। तब तत्त्वबोध प्राप्त होता है। इसे जीवन में क्रियान्वित करता है। क्रियान्वयन के परिणामस्वरूप उसे विशिष्ट ज्ञान - सम्यक् बोध प्राप्त होता है।

यह उपासना में आगे बढ़ने का क्रम है। जैन परंपरा में गृही उपासक के पूर्व जो श्रमण शब्द लगा है, वह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है।

'श्रमण' शब्द का प्राकृत 'समण' है। प्राकृत में तालव्य, मूर्धन्य और दन्त्य - तीनों के लिए दन्त्य 'सकार' का ही प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के प्रारंभ में आए 'सम' के संस्कृत में श्रम, शम और सम - ये तीन रूप होते हैं। श्रम - तपोमूलक साधना का सूचक है। 'शम' - निर्वेद, वैराग्य या प्रशान्त भाव का द्योतक है। 'सम' - समत्व का बोधक है। जिसके जीवन में ये तीनों विशेषताएं होती हैं, वह श्रमण है। व्यावहारिक भाषा में कृत, कारित, अनुमोदित के रूप में सावद्य कर्म के नवाङ्गी प्रत्याख्यान का धारक श्रमण होता है, वही

● छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक - ७, खण्ड - ८, पद - १।

गुरुपद वाच्य है, उपदेश का अधिकारी है। ऐसे गुरु से सुनकर गृही बोध प्राप्त करता है। इसी कारण 'शृणोतीति श्रावकः' के अनुसार वह श्रावक पदवाच्य है।

उपासक के साथ आया प्रतिमा शब्द भी एक विशिष्ट अर्थ का बोधक है। सामान्यतः मूर्ति को प्रतिमा कहा जाता है। "प्रतिमीयतेऽनेन इति प्रतिमानं प्रतिमा वा" के अनुसार प्रतिमा का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यथावत् मूल्यांकन या परिमाण विशेष होता है। उन सिद्धान्तों की, जो साधना में विहित हैं, गुरुपदिष्ट हैं, प्रतिमाधारी के मन, वचन और काय में मूर्तता होती है। वे सिद्धान्त केवल वाक्गत नहीं, जीवनगत होते हैं।

उपासक की ग्यारह प्रतिमाओं का जो स्वरूप प्रस्तुत सूत्र में व्याख्यात हुआ है, उसका प्रारंभ सम्यग्-दर्शन से है, जो साधना का मूल है। 'छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्' - यदि मूल ही विच्छिन्न हो तो पौधा न अंकुरित ही हीता है और न उससे शाखाएं और पत्ते ही फूटते हैं। इसी प्रकार साधना में दर्शन विशुद्धि, सम्यक् दृष्टि या सत्यात्मक आस्था परमावश्यक है।

प्रत्येक प्रतिमा के प्रारंभ में "सर्वधर्माभिरुचिशील" जो कहा है, वह उपासक की श्रुत-चारित्रमूलक धर्म में सम्यक् श्रद्धा, दृढ़ आस्था या अखण्ड विश्वास का द्योतक है। वैसा होने पर ही प्रत्येक प्रतिमा में साध्य उपासनाक्रम फलित होता है।

इन प्रतिमाओं में क्रमशः आचार विशुद्धि मूलक साधनाक्रम उत्तरोत्तर ऊर्ध्वमुखी दृष्टिगोचर होता है। शीलव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत मूलक आदर्श उत्तरोत्तर जीवन में विकास पाते जाते हैं, जो अहिंसा, संतोष, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं व्रत-पौषधोपवास आदि संयममूलक अभ्यासक्रम को क्रमशः वृद्धिगत करते जाते हैं।

इस प्रकार साधनापथ पर आगे बढ़ता हुआ प्रतिमाधारी अंतिम - ग्यारहवीं प्रतिमा में साधु जैसी भूमिका का संस्पर्श करने लगता है। इसी कारण इसका एक नाम 'श्रमणभूत प्रतिमा' भी है।

श्रावक के लिए भगवत्प्ररूपित, उद्दिष्ट द्वादश व्रतात्मक सोपान मार्ग पर उत्कर्षपूर्वक तीव्रता से अग्रसर होने और क्रमशः श्रमण जीवन की महत्ता का संस्पर्श करने का जो रूप प्रतिमाओं में व्याख्यात हुआ है, वह साधना पथ पर गतिशील जनों के लिए निःसंदेह दिव्य पाथेय है।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की छठी दशा समाप्त ॥

सत्तमा दसा - सप्तम दशा

द्वादश भिक्षु प्रतिमाएँ

सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं, इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पणत्ताओ, कयरा खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पणत्ताओ? इमाओ खलु ताओ थेरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पणत्ताओ। तंजहा-मासिया भिक्खुपडिमा १, दोमासिया भिक्खुपडिमा २, तिमासिया भिक्खुपडिमा ३, चउमासिया भिक्खुपडिमा ४, पंचमासिया भिक्खुपडिमा ५, छम्मासिया भिक्खुपडिमा ६, सत्तमासिया भिक्खुपडिमा ७, पढमा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा ८, दोच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा ९, तच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा १०, अहोराइंदिया भिक्खुपडिमा ११, एगराइया भिक्खुपडिमा १२ ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - भिक्खुपडिमाओ - भिक्षु प्रतिमाएँ।

भावार्थ - आयुष्मन्! मैंने सुना है, निर्वाण प्राप्त प्रभु महावीर ने जैसा आख्यात किया है, स्थविर भगवंतों ने उसी प्रकार बारह भिक्षु प्रतिमाओं का प्रतिपादन किया है।

उन स्थविर भगवंतों ने कौनसी बारह भिक्षु प्रतिमाएं बतलाई हैं?

उन स्थविर भगवंतों ने ये बारह भिक्षु प्रतिमाएं निरूपित की हैं -

- | | |
|---|--|
| १. मासिकी भिक्षु प्रतिमा | २. द्वैमासिकी भिक्षु प्रतिमा |
| ३. त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा | ४. चातुर्मासिकी भिक्षु प्रतिमा |
| ५. पांच मासिकी भिक्षु प्रतिमा | ६. षण्मासिकी भिक्षु प्रतिमा |
| ७. साप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा | ८. प्रथमा सप्तरात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा |
| ९. द्वितीया सप्तरात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा | १०. तृतीया सप्तरात्रिदिवा भिक्षु प्रतिमा |
| ११. अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा | १२. एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा |

❖ वण्णविसेसमेयासिं ठाणतच्चठाणभगवई अंतगडाईहिंतो जाणियव्वं।

मासिकी भिक्षु प्रतिमा आराधना में उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णिच्चं वोसट्टुकाए चियत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जंति, तंजहा - दिव्वा वा माणुसा वा, तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पण्णे सम्मं सहइ खमइ तित्तिक्खइ अहियासेइ ।। २ ।।

कठिन शब्दार्थ - वोसट्टुकाए - दैहिक सज्जा का त्याग किए हुए, चियत्तदेहे - दैहिक आसक्ति छोड़े हुए, उवसग्गा - उपसर्ग - उपद्रव, उववज्जंति - उत्पन्न होते हैं, उप्पण्णे - उत्पन्न, सहइ - सहन करता है, तित्तिक्खइ - दैन्य, दौर्बल्य के बिना, अहियासेइ - सहन करे।

भावार्थ - एक मासिकी भिक्षु प्रतिमा की आराधना में संलग्न, शारीरिक सज्जा रहित, आसक्ति विवर्जित भिक्षु के यदि देव, मनुष्य या तिर्यचविषयक उपसर्ग उत्पन्न हों तो वह सम्यक् - कर्मनिर्जरणभाव पूर्वक सहन करे, क्रोध रहित होकर क्षम्य माने तथा अदीनभाव पूर्वक उन्हें झेले।

विवेचन - “श्रेयांसि बहु विघ्नानि” - श्रेयस्कर अथवा कल्याणकारी उत्तम कार्यों में अनेकानेक विघ्न आते ही रहते हैं। प्रतिमाओं की आराधना अध्यात्म साधना का उच्च कोटि का अभ्यासक्रम है। उसमें भी अनेक विघ्न - बाधाएँ आशंकित हैं। यद्यपि यह कार्य अत्यन्त पवित्र, श्लाघनीय और अभिनंदनीय है किन्तु कुत्सितचेता, मिथ्यात्वी प्राणी ऐसे भी होते हैं, जिन्हें यह अप्रिय अमनोज्ञ प्रतीत होते हैं। मनुष्यों और पशु-पक्षियों में तो नहीं वरन् देवों में भी ऐसे अनेक होते हैं, जो साधकों के साधनामय उपक्रमों में बाधाएँ डालने में आनंद लेते हैं।

उदाहरणार्थ - उपासकदशांग सूत्र में आनंद आदि श्रावकों के व्रतोपासनामय उपक्रमों में ऐसे अनेक प्रकार के उपसर्ग आए हैं।

एक मासिकी भिक्षु प्रतिमा में देव, मनुष्य और तिर्यच प्राणीकृत उपसर्गों की चर्चा हुई है।

एकमासिकी भिक्षु प्रतिमा

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहित्तए एगा पाणगस्स, अण्णायउंछं सुद्धं उवहडं णिज्जूहिता बहवे दुप्पयचउप्पय-

 समण-माहण-अतिहि-किवणवणीमगा, कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहित्तए,
 णो दुण्हं णो तिण्हं णो चउण्हं णो पंचण्हं, णो गुव्विणीए, णो बालवच्छाए, णो दारगं
 पेज्जमाणीए, णो अंतो एलुयस्स दोवि पाए साहडु दलमाणीए, णो बाहिं एलुयस्स दोवि
 पाए साहडु दलमाणीए, एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता
 एवं दलयइ एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए, एवं से णो दलयइ एवं से णो कप्पइ
 पडिगाहित्तए ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगा - एक, दत्ती - पात्र विशेष से एक बार में (एक धार से)
 प्रदत्त, पाणगस्स - पानी की, अण्णायउंछं - अज्ञात कुल से थोड़ा, सुद्धं - उद्गम आदि
 दोष वर्जित, उवहडं - अन्यो के लिए पकाकर रसोईघर में रखा हुआ, णिज्जूहिच्चा - देकर,
 किवण - कृपण, वणीमग - वनीपक - अपनी दुरवस्था के प्रदर्शन - पूर्वक दैन्यपूर्ण
 आलाप द्वारा भिक्षा मांगने वाले, गुव्विणीए - गर्भवती, बालवच्छाए - जिसका बालक छोटा
 हो, दारगं - बच्चे को, पेज्जमाणीए - स्तनपान कराती हुई, एलुयस्स - देहलीज (देहली)के,
 साहडु - साथ में (एकत्रित), किच्चा - कृत्वा - करके।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमा के आराधक को एक दत्ती भोजन और एक दत्ती जल
 लेना कल्प्य है। वह भी अज्ञात कुल से थोड़ी मात्रा में तथा अन्यो के लिए
 पकाकर(अनुद्दिष्ट)रखा हुआ एवं अनेक द्विपद चतुष्पद प्राणियों को, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि,
 कृपण(दीन, दरिद्र), वनीपक आदि को देने के पश्चात् जहाँ एक व्यक्ति भोजन कर रहा हो,
 दो, तीन, चार या पाँच व्यक्ति न हो, वहाँ आहार लेना कल्पता है। गर्भवती, छोटे बच्चे की
 माँ या बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री से आहार लेना नहीं कल्पता। (ऐसी नारी से) जिसके
 दोनों पैर देहली के भीतर या दोनों पैर देहली के बाहर हों, आहार लेना नहीं कल्पता, परन्तु
 एक पैर देहली के भीतर और दूसरा पैर बाहर हो, इस प्रकार देहली को दोनों पैरों के मध्य में
 किए हुए दे रही हो तो भिक्षा लेना कल्पता है। यदि इस प्रकार न दे रही हो तो लेना
 कल्पनीय नहीं होता।

विवेचन - जैन साधु का जीवन अन्न-पान आदि जीवन निर्वाह के विषय में इतनी
 पवित्र भूमिका पर अवस्थित है, जिससे दान देने वाले गृहस्थ के भोजन विषयक आरंभ-
 समारंभपूर्ण कार्यों से जरा भी संबंध न जुड़ा हो तथा ऐसी कोई भी स्थिति न हो, जिससे

गृहस्थ के पारिवारिक जीवन पर जरा भी बाधा आए। गर्भवती स्त्री, बालक को दूध पिलाती हुई स्त्री आदि से भिक्षा न लेने का विधान इसी तथ्य का द्योतक है। वहाँ यह उद्दिष्ट है कि गर्भिणी स्त्री को उठने आदि का कष्ट न हो, बालक के दुग्धपान में अन्तराय न हो। जहाँ एकाधिक व्यक्तियों का सामूहिक भोज हो, वहाँ आहार लेना जो अकल्पनीय बतलाया है, उसका आशय वहाँ अशंकित अधिक आरंभ-समारंभ से पार्थक्य है। साथ ही साथ भोजन करने वालों के भोजन में किसी भी प्रकार की बाधा उत्पन्न न करने का भाव भी निहित है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि साधु के विभिन्न अभिधानों में जो भिक्षु शब्द का स्वीकार है, वह मुख्यतः उसकी भिक्षाजीविता पर आधारित है। भिक्षा शब्द भिक्ष् धातु से निष्पन्न है, जो याचना के अर्थ में है। अनुद्दिष्ट भिक्षा अन्य लोगों पर निर्भरता का आधार तो है ही साथ ही साथ भिक्षा याचनाजनित 'लज्जा परीषह' का भी बोधक है। मांगना कोई आसान काम नहीं है। यह व्यावहारिक जीवन में असम्मानास्पद है। असम्मान को समभावपूर्वक सहना, उसकी जरा भी परवाह न करना तभी संभव है, जब व्यक्ति "समोमाणावमाणो" की उच्च भूमिका प्राप्त कर लेता है।

भिक्षाकाल

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स तओ गोयरकाला पण्णत्ता।
तंजहा - आ[दि]इमे म[ज्जे]ज्झिमे चरिमे, आइमे चरेज्जा, णो मज्जे चरेज्जा, णो
चरिमे चरेज्जा १, मज्जे चरेज्जा, णो आइमे चरेज्जा, णो चरिमे चरेज्जा २, चरिमे
चरेज्जा, णो आइमे चरेज्जा, णो मज्झिमे चरेज्जा ३ ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - गोयरकाला - गोचरी के समय, आइमे - आदिम - तीसरे प्रहर का प्रथम भाग, मज्झिमे - मध्य, चरिमे - अंतिम, चरेज्जा - जाए।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमाराधक साधु की भिक्षाचर्या के लिए तीन काल बतलाए गए हैं - तीसरे-प्रहर का प्रथम, मध्य और अन्तिम भाग। यदि तीसरे प्रहर के प्रथम भाग में भिक्षाचर्या हेतु जाए तो वह मध्य एवं अन्त्य भाग में न जाए। यदि तीसरे प्रहर के मध्य भाग में भिक्षाचर्या हेतु जाए तो प्रथम और अन्तिम भाग में तदर्थ न जाए। यदि तीसरे प्रहर के अन्तिम भाग में जाए तो प्रथम और मध्य भाग में न जाए।

गोचर चर्या

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स छव्विहा गोयर - चरिया पण्णत्ता ।
तंजहा-पेला, अद्धपेला, गोमुत्तिया, पयंगवीहिया, संबुक्कावट्टा, गत्तु(गंतुं)पच्चागया ॥५॥

कठिन शब्दार्थ - गोयर-चरिया - गोचरचर्या, पेला - चतुष्कोणमयी पेटिका, अद्धपेला - अद्धपेटिका, गोमुत्तिया - वृषभ की मूत्रधारा के सदृश वक्राकार युक्त, पयंगवीहिया - पतंगिये (चतुरिन्द्रिय प्राणी -कीट विशेष), संबुक्कावट्टा - शंबूकावर्त - शंख से गोल आवर्त से सदृश, गत्तुपच्चागया - भिक्षार्थ आगे जाकर वापस लौटना ।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमा प्रतिपत्र अनगार का गोचरी क्रम छह प्रकार का अभिहित हुआ है -

१. चतुष्कोण पेटि सदृश - चार कोनों की पेटिका के समान भिक्षु चारों कोनों में भिक्षार्थ जाए।
२. अद्ध पेटिका सदृश - दो कोनों में वह भिक्षार्थ जाए।
३. गोमूत्रिका - वृषभ के मूत्रोत्सर्ग की धार की तरह टेढ़े-मेढ़े क्रम से - भिन्न-भिन्न (आमने-सामने - एक घर इधर, एक घर उधर) स्थानों पर भिक्षार्थ जाए।
४. एक स्थान से उड़कर दूसरे स्थान पर जाने वाले पतंगिये या पक्षी की तरह किसी दूरवर्ती स्थान को भिक्षार्थ जाए।
५. शंख के आवर्त - घुमाव की तरह घूम-घूम कर भिक्षार्थ जाए।
६. जाता या पुनः लौटता हुआ भिक्षा ले।

प्रतिमाधारी का आवासकाल

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स जत्थ णं केइ जाणइ कप्पइ से तत्थ एगराइयं वसित्तए, जत्थ णं केइ ण जाणइ कप्पइ से तत्थ एगरायं वा दुरायं वा वसित्तए, णो से कप्पइ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - जत्थ - जहाँ, जाणइ - जानता हो, वसित्तए - वास करे, संतरा-मर्यादा का उल्लंघन, छेए - दीक्षाछेद, परिहारे - तपोरूप प्रायश्चित्त।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमाराधक अनगार को जहाँ कोई उसे जानता हो, वहाँ एक रात्रि का आवास कर सकता है। जहाँ कोई नहीं जानता हो, वहाँ उसे एक या दो रात रहना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक रहना कल्प्य नहीं है। यदि वह एक या दो रात से अधिक प्रवास करे तो उसे (उतने दिनों का) दीक्षाछेद या तदनुरूप तपः प्रायश्चित्त आता है।

भाषाप्रयोग : कल्पनीय

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ चत्तारि भासाओ भासित्तए, तंजहा-जायणी, पुच्छणी, अणुण्णवणी, पुट्टस्स वागरणी ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - जायणी - आहार आदि की याचना करने हेतु, पुच्छणी - मार्ग आदि पूछने के निमित्त, अणुण्णवणी - स्थान आदि में रहने हेतु, अनुज्ञा लेने के संदर्भ में, पुट्टस्स वागरणी - पूछे गए प्रश्न का उत्तर देने हेतु।

भावार्थ - मासिकी प्रतिमा के आराधक श्रमण को चार प्रकार की भाषाएँ बोलना - वचन प्रयोग करना कल्पता है। जैसे - आहार आदि की याचना, मार्ग आदि की पूछा, अपेक्षित स्थान आदि की अनुज्ञा तथा पूछे गए प्रश्नों का उत्तर देना।

कल्पनीय उपाश्रय

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ तओ उवस्सया पडिलेहित्तए, तंजहा - अहे आरामगिहंसि वा, अहे वियडगिहंसि वा, अहे रुक्खमूलगिहंसि वा। मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ तओ उवस्सया अणुण्णवेत्तए, तंजहा - अहे आरामगिहं, अहे वियडगिहं, अहे रुक्खमूलगिहं। मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स कप्पइ तओ उवस्सया उवाइणावित्तए, तं चेव ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - तओ - तीन, पडिलेहित्तए - प्रतिलेखन करना, आरामगिहंसि - उद्यान में निर्मित गृह में, वियडगिहंसि - चारों ओर से खुला किन्तु ऊपर से आच्छादित, रुक्खमूलगिहंसि - वृक्ष के नीचे या मूलवर्ती खोखले भाग में।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमा के आराधक अनगार को तीन प्रकार के उपाश्रयों का प्रतिलेखन करना कल्पता है - १. उद्यान में निर्मित गृह २. चारों ओर से उन्मुक्त तथा ऊपर से आच्छादित गृह ३. वृक्ष का मूल भाग या वहाँ बने हुए गृह में।

इसी तरह तीनों उपाश्रयों की अनुज्ञा प्राप्त करना कल्पता है।

यथा - अधः-आरामृह, अधोविवृत्तगृह तथा अधोवृक्षमूलगृह। मासिकी भिक्षु प्रतिमा के आराधक अनगार के लिए उपर्युक्त तीनों उपाश्रयों को स्वीकार करना कल्पता है।

कल्पनीय संस्तारक

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ तओ संथारगा पडिलेहित्तए, तंजहा - पुढवीसिलं वा, कडुसिलं वा, अहासंथडमेव वा। मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ तओ संथारगा अणुण्णवेत्तए, सेसं तं चेव। मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ तओ संथारगा उवाइणावित्तए, सेसं तं चेव ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - कडुसिलं - काष्ठफलक, अहासंथडमेव - यथासंस्तृत - पूर्व में गृहस्थ द्वारा संस्तारित।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमा स्वीकार किए हुए अनगार को तीन संस्तारकों का प्रतिलेखन करना कल्पता है - पत्थर की शिला, काष्ठफलक तथा यथासंस्तृत संस्तारक। मासिक भिक्षु प्रतिभा समापन्न अनगार के तीनों संस्तारकों की आज्ञा लेना कल्पता है। मासिक भिक्षु प्रतिमा समापन्न अनगार के तीनों संस्तारकों को उसी प्रकार (पूर्ववत्) स्वीकार करना कल्पता है।

स्त्री-पुरुष विषयक उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स इत्थी वा पुरिसे वा उवस्सयं हव्वं उवागच्छेज्जा, से इत्थी वा पुरिसे वा णो से कप्पइ तं पडुच्च णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - इत्थी - स्त्री, हव्वं - शीघ्र, उवागच्छेज्जा - आए, पडुच्च - जानकर, णिक्खमित्तए - बाहर निकले, पविसित्तए - प्रविष्ट होवे।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमा समापन्न अनगार के उपाश्रय में यदि कोई स्त्री पुरुष (रति हेतु) शीघ्रता से आएँ तो साधु का उपाश्रय से बाहर जाना तथा यदि उपाश्रय से बाहर हो तो भीतर आना नहीं कल्पता। अर्थात् वह उस ओर से अलिप्त, उदासीन रहता हुआ अपने तप, ध्यान आदि में तन्मय रहे।

अग्नि का उपसर्ग

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स केइ उवस्सयं अगणिकाएणं झामेज्जा णो से कप्पइ तं पडुच्च णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, तत्थ णं केइ बाहाए गहाय आगसेज्जा णो से कप्पइ तं अवलंबित्तए वा पलंबित्तए वा, कप्पइ से अहारियं रीइत्तए ॥११॥

कठिन शब्दार्थ - झामेज्जा - प्रज्वलित कर दे, बाहाए - भुजा से, आगसेज्जा - आकर्षित करे - खींचे, अवलंबित्तए - आश्रय लेना, पलंबित्तए - प्रलम्बन करना - पकड़ कर लटकना।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमा को गृहीत किए हुए अनगर के उपाश्रय में यदि कोई आग लगा दे तो उसे जानकर वह भीतर से बाहर न निकले तथा बाहर से भीतर न आए। (प्रज्वलित उपाश्रय में अवस्थित) भिक्षु को कोई भुजा से पकड़ कर बाहर निकाले तो उसका अवलम्बन या सहारा लेना अथवा उसको पकड़ने का प्रयास करना (लटकना) नहीं कल्पता वरन् ईर्यासमितिपूर्वक निष्क्रान्त होना कल्पता है।

विवेचन - आगम आदि जैन वाङ्मय में परीषह के साथ-साथ उपसर्ग शब्द का विशेष रूप से प्रयोग प्राप्त होता है। ये दोनों ही क्लेश या कष्ट के सूचक हैं। परीषह प्रायः भूख, प्यास आदि के रूप में स्वगत या स्वोद्भूत कष्ट के लिए प्रयुक्त होता है। उपसर्ग वह कष्ट है, जो किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति आदि के निमित्त से उत्पन्न किया जाता है। शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार “उप” उपसर्ग, “सृज्” धातु तथा “धञ्” प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। “उप” सामीप्य बोधक है। “सर्ग” के अनेक अर्थ हैं, जिनमें एक “आक्रमण” या “हमला” करना भी है। आक्रमण “पट सापेक्ष” होता है। देव, मानव, तिर्यच आदि द्वारा उत्पन्न की गई बाधाएं या दिए गए कष्ट आदि इसी कोटि में हैं। जड़ पदार्थों द्वारा भी जो तकलीफ पैदा होती है, वह भी इसी प्रकार की है।

कण्टक आदि निकालने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स पायंसि खाणू वा कंटए वा हीरए वा सक्करए वा अणुपविसेज्जा णो से कप्पइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा, कप्पइ से अहारियं रीइत्तए ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - पायंसि - पैर में, खाणु - स्थाणु - लकड़ी का टुकड़ा, कंटए - कंटक, हीरए - कांच का टुकड़ा, सक्करए - कंकड़, अणुपविसेजा - अनुप्रविष्ट हो जाए - चुभ जाए, णीहरित्तए - निकालना, विसोहित्तए - विशोधित - सम्मार्जित करना, अहारियं - ईर्यापूर्वक।

भावार्थ - मासिकी प्रतिमाधारी भिक्षु के पैर में यदि स्थाणु, कण्टक, काँच अथवा कंकड़ चुभ जाए तो उसे निकालना या सम्मार्जित करना नहीं कल्पता। उसे ईर्यापूर्वक चलते रहना कल्पता है।

नेत्रापतित सूक्ष्म जीव आदि को निकालने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स जाव अच्छंसि पाणाणि वा बीयाणि वा रए वा परियावज्जेजा, णो से कप्पइ णीहरित्तए वा विसोहित्तए वा, कप्पइ से अहारियं रीइत्तए ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अच्छंसि - आँख में, पाणाणि - सूक्ष्म प्राणी, बीयाणि - बीज, रए - रज - धूल, परियावज्जेजा - (पर्यापद्येरन्) पर्यापन्न हो जाए - गिर जाए।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमाधारी अनगर को यावत् आँख में सूक्ष्म जीव, बीज, रजकण आदि गिर जाए तो उसे निकालना या उस स्थान को सम्मार्जित करना (मसलना) नहीं कल्पता किन्तु उसे ईर्या पूर्वक सावधानी से चलते रहना कल्पता है।

विवेचन - प्रतिमाधारी दृढ़ मनोबली होते हैं। शरीर की शुश्रूषा एवं ममत्व के त्यागी होते हैं। अपनी तरफ से किसी भी प्राणी की विराधना नहीं होने देते हैं। आँख में प्राणी के गिर जाने पर उसके जीवित रहने तक पलकें भी नहीं झपकाते हैं। यदि वह आँख के मलादि में फंस गया हो एवं छटपटा रहा हो, नहीं निकल पा रहा हो, निकालना संभव हो तो उसकी अनुकम्पा की दृष्टि से निकाल सकते हैं। क्योंकि जिस प्रकार आग लग जाने पर भी वे तो नहीं निकलते हैं, किन्तु उन्हें कोई जबरदस्ती निकाल रहा हो तो वे ईर्यासमिति पूर्वक निकल जाते हैं। सर्प, सिंहादि के भयभीत होने पर मार्ग से हट जाते हैं। इन सबके पीछे स्वयं के शरीर की रक्षा की भावना नहीं होकर उन जीवों की अनुकम्पा की भावना ही है। इसी प्रकार आँखों में पड़े हुए जीव के बचने की संभावना हो, तो स्वयं की वेदना की उपशांति की दृष्टि से नहीं किन्तु उस जीव की रक्षा की दृष्टि से निकालने की ही संभावना लगती है। आगमकारों

ने तो उनकी कष्ट सहिष्णुता बताने के लिए ही 'आँख से रजकण आदि का नहीं निकालना' बताया है। जिस प्रकार स्थविरकल्पी शरीर पर आई हुई सचित्त रज आदि को हटाकर भिक्षार्थ जाते हैं किन्तु प्रतिमाधारी उस रज को इधर-उधर हटाने रूप कष्ट नहीं देकर जब तक वह पसीने आदि से अचित्त नहीं बन जाती है, तब तक गोचरी आदि घूमना बंद करके स्थिरकाय हो जाते हैं। जब एकेन्द्रिय की रक्षा का भी इतना ध्यान रखते हैं, तो त्रस की रक्षा का तो ध्यान रखते ही होंगे, ऐसा सहज अनुमान किया जा सकता है। अतः आगमीय विधान में उनकी कष्ट सहिष्णुता बताई गई है। इसे अनुकम्पा पर कुठाराघात नहीं समझना चाहिए।

सूर्यास्तोपरांत विहार निषेध

मासिद्यं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा तत्थ एव जलंसि वा थलंसि वा दुग्गंसि वा णिण्णंसि वा पव्वयंसि वा विसमंसि वा गड्डाए वा दरीए वा कप्पइ से तं रथणिं तत्थेव उवाइणावित्तए णो से कप्पइ पयमवि गमित्तए, कप्पइ से कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए जाव जलंते पाईणाभिमुहस्स वा दाहिणाभिमुहस्स वा पडीणाभिमुहस्स वा उत्तराभिमुहस्स वा अहारियं रीडत्तए ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - जत्थेव - जहाँ पर भी, सूरिए - सूर्य, अत्थमेज्जा - अस्त हो जाए - छिप जाए, थलंसि - स्थल पर, दुग्गंसि - दुर्गम स्थान, णिण्णंसि - निम्न स्थान, पव्वयंसि - पर्वत, विसमंसि - विषम - ऊबड़-खाबड़ स्थान, गड्डाए - गर्त, दरीए - गुफा, उवाइणावित्तए - चलने का निषेध, कल्लं - प्रातः काल, पाउप्पभायाए - सूर्य निकलने पर।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार के पादविहार के अन्तर्गत जहाँ पर भी सूर्यास्त हो जाए, चाहे जलपूर्ण स्थान, स्थल, दुर्गम स्थान, निम्न स्थान, पर्वत, ऊबड़-खाबड़ भूमि गर्त, या गुफा हो तो भी उसे रात भर उसी स्थान पर रहना कल्पता है। जरा भी उसे अतिक्रान्त करना - आगे बढ़ना नहीं कल्पता। रात्रि व्यतित होने पर यावत् सूर्योदय के पश्चात् अनगार को पूर्व, दक्षिण, पश्चिम या उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होते हुए - यथापेक्षित दिशा में ईर्या समिति पूर्वक आगे बढ़ना कल्पता है।

यहाँ सूत्र में आए हुए 'जलंसि' शब्द का आशय 'खुले आकाश वाले स्थान' समझना चाहिए।

सचित पृथ्वी के निकट निद्रा-निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णो से कप्पइ अणंतरहियाए पुढवीए णिद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, केवली बूया आयाणमेयं, से तत्थ णिद्दायमाणे वा पयलायमाणे वा हत्थेहिं भूमिं परामुसेज्जा, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए वा णिक्खमित्तए वा ।

कठिन शब्दार्थ - अणंतरहियाए - अन्तर रहित - निकट, णिद्दाइत्तए - निद्रा लेना, पयलाइत्तए - प्रचला संज्ञक अल्प निद्रा युक्त होना - ऊँघना, बूया - कहा है, आयाणमेयं - कर्म बंध, परामुसेज्जा - स्पर्श हो जाय, ठाइत्तए - स्थित होवे।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमा के आराधक अनगार के लिए सचित पृथ्वी के निकट नींद लेना या प्रचला निद्रायुक्त होना - ऊँघना नहीं कल्पता। केवली भगवान् ने निरूपित किया है कि यह आदान - कर्म बंध का हेतु है। वहाँ नींद लेते हुए या ऊँघते हुए भूमि का स्पर्श आशंकित है। इसलिए यथाविधि - साधु-मर्यादा के अनुरूप जहाँ ठहरना समुचित हो, वहीं ठहरे, विहार करे।

मलावरोध निषेध

उच्चारपासवणेणं उव्वाहिज्जा णो से कप्पइ उगिण्हत्तए [वा], कप्पइ से पुव्वपडिलेहिए थंडिले उच्चारपासवणं परिट्टवित्तए, तमेव उवस्सयं आगम्म अहाविहि ठाणं ठाइत्तए ॥ १५ ॥

कठिन शब्दार्थ - उच्चारपासवणेणं - उच्चारप्रस्रवण - मल-मूत्र की, उव्वाहिज्जा - बाधा उत्पन्न हो जाए - शंका हो जाए, उगिण्हत्तए - अवरोध करना - प्रतिरोध करना, परिट्टवित्तए - उत्सर्ग करे, आगम्म - आकर।

भावार्थ - प्रतिमाधारी अनगार के मल-मूत्र-त्याग की शंका हो जाए तो उसे रोकना नहीं कल्पता। पूर्व प्रतिलेखित स्थंडिल भूमि पर उसका उत्सर्ग करना कल्पता है। तदनंतर अपने उपाश्रय में आकर यथाविधि अवस्थित हो जाए।

सचित देह से गोचरी जाने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णो कप्पइ ससरक्खेणं काएणं

गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, अह पुण एवं जाणेज्जा ससरक्खे सेअत्ताए वा जल्लत्ताए वा मलत्ताए वा पंकत्ताए वा विद्धत्थे से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - ससरक्खेणं - रजसहित, पुण - पुनः, जाणेज्जा - जाने, सेअत्ताए-स्वेद से - पसीने से, जल्लत्ताए - शरीर का मैल, पंकत्ताए - पंक रूपता।

भावार्थ - मासिकी भिक्षुप्रतिमा समायुक्त अनगार को सचित्त रजयुक्त देह से भक्त-पान हेतु निकलना या गृहस्थ के घर में प्रविष्ट होना नहीं कल्पता। यदि वह जाने कि उसके शरीर पर लगा सचित्त रज पसीने, जमे हुए मल या पंक के रूप में परिणत हो गई हो, अचित्त हो गई हो तो वह गृहस्थ के यहाँ आहार-पानी हेतु जाए या प्रवेश करे।

हाथ आदि धोने का निषेध

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णो कप्पइ सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा हत्थाणि वा पायाणि वा दंताणि वा अच्छीणि वा मुहं वा उच्छोलित्तए वा पधोइत्तए वा, णण्णत्थ लेवालेवेण वा भत्तमासेण वा ॥ १७ ॥

कठिन शब्दार्थ - सीओदगवियडेण - अचित्त शीतल जल से, उसिणोदग - गर्म जल, अच्छीणि - नेत्र, उच्छोलित्तए - मुँह पर जल छिड़कना, पधोइत्तए - बार-बार धोना, णण्णत्थ - इसको छोड़कर, लेवालेवेण - लिप्त अन्नादि का हटाना, भत्तमासेण - भक्तास्येन - भोजन से लिप्त मुख को।

भावार्थ - मासिक प्रतिमाराधक अनगार को अचित्त ठण्डे जल से या अचित्त गर्म जल से हाथ, पैर, दाँत, नेत्र, मुँह को एक बार या बार-बार धोना नहीं कल्पता किन्तु अन्न आदि से लिप्त शरीरावयव या भोजन आदि से लिप्त मुख आदि का धोना कल्पता है।

दुष्ट प्राणियों का उपद्रव : निर्भीकता

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णो कप्पइ आसस्स वा हत्थिस्स वा गोणस्स वा महिसस्स वा कोलसुणगस्स वा सुणस्स वा वग्घस्स वा दुडुस्स वा आवयमाणस्स पयमंवि पच्चोसविकत्तए, अदुडुस्स आवयमाणस्स कप्पइ जुगमित्तं पच्चोसविकत्तए ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - आसस्स - अश्व का, गोणस्स - बैल का, कोलसुणगस्स - जंगली सूअर का, सुणस्स - कुत्ते का, वग्घस्स - व्याघ्र का, दुट्टस्स - दुष्ट - घातक प्राणी का, आवयमाणस्स - आते हुए, पच्चोसविकत्तए - आगे-पीछे कदम हटाना, जुगमित्तं - युग्यमात्र - चार हाथ आगे या पीछे हटना।

भावार्थ - मासिकी भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार के सामने घोड़ा, हाथी, बैल, भैंसा, जंगली सूअर, कुत्ता या व्याघ्र (बाघ) आदि दुष्ट प्राणी सामने आते हों तो उसे एक कदम भी अपने स्थान से आगे या पीछे हटना नहीं कल्पता। यदि कोई अदुष्ट-अहानिकर प्राणी सामने आते हों (सहज भाव से आ रहे हों) तो उन्हें मार्ग देने की दृष्टि से युग्यमात्र - चार हाथ आगे या पीछे हटना कल्पता है।

शीतोष्ण परीषह सहिष्णुता

मासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णो कप्पइ छायाओ सीयंति उण्हं एत्तए, उण्हाओ उण्हंति छायं एत्तए। जं जत्थ जया सिया तं तत्थ तथा अहियासए ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - छायाओ - छाया से, सीयं - शीत, उण्हं - धूप में, एत्तए - आना, अहियासए - सहन करे।

भावार्थ - मासिकी भिक्षुप्रतिमा के आराधक अनगार के लिए "यहाँ ठण्डक है" यों सोचकर छाया में जाना और गर्म स्थान से "यहाँ गर्मी है" - यों सोचकर छाया में आना नहीं कल्पता। जहाँ जिस स्थान पर शीत या उष्ण, जैसा हो, उसे समभाव से सहन करना विहित है।

मासिकी भिक्षु प्रतिमा की सम्यक् सम्पन्नता

एवं खलु मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं काएणं फासित्ता पालित्ता सोहित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आराहइत्ता आणाए अणुपा(ले)लित्ता भवइ ॥ १ ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - अहासुत्तं - सूत्रानुरूप - सूत्र में हुए प्रतिपादन के अनुरूप, अहाकप्पं - यथाकल्प - स्थिरीरदि कल्पनानुसार, अहामग्गं - यथामार्ग - ज्ञान, दर्शन, चारित्रात्मक

मोक्षमार्गानुरूप, अहातर्चं - यथातत्त्व - अर्हत् प्रतिपादित तत्त्व के अनुसार, अहासम्भं - यथासमय - समभाव पूर्वक फासित्ता - स्पर्श कर, पालित्ता - पालन कर, सोहित्ता - अतिचार पंक प्रक्षालन द्वारा शोधित कर, तीरित्ता - परिपूर्ण कर, किट्टित्ता - आत्मिक आह्लाद अनुभूत कर, आणाए - अर्हत् आज्ञा के अनुसार, आराहइत्ता - आराधना करने वाला।

भावार्थ - इस प्रकार (पूर्वोक्त विधि पूर्वक) एक मासिकी भिक्षु प्रतिमा का सूत्र, कल्प, मार्ग, तत्त्व एवं समभाव पूर्वक देह से स्पर्श कर - भलीभांति आत्मसात् करता हुआ, उसका परिपालन, शोधन, परिपूर्ण करता हुआ, जिनाज्ञा का अनुपालक होता है - आराधक होता है।

द्वितीय यावत् द्वादश भिक्षु प्रतिमाएँ

दोमासियं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णिच्चं वोसट्टुकाए जाव दो दत्तीओ ॥ २ ॥ २१ ॥

तिमासियं तिण्णिण दत्तीओ ॥ ३ ॥ २२ ॥

चाउमासियं चत्तारि दत्तीओ ॥ ४ ॥ २३ ॥

पंचमासियं पंच दत्तीओ ॥ ५ ॥ २४ ॥

छमासियं छ दत्तीओ ॥ ६ ॥ २५ ॥

सत्तमासियं सत्त दत्तीओ ॥ ७ ॥ जेत्तिया मासिया तेत्तिया दत्तीओ ॥ २६ ॥

भावार्थ - द्वैमासिकी भिक्षु प्रतिमा की आराधना में संलग्न अनगार नित्य परीषह, उपसर्ग के उपस्थित होने पर भी काय-ममत्व का त्यागी होता है यावत् उसे द्विदत्तिक आहार-पानी ग्रहण करना कल्पता है।

त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा में तीन दत्ति, चतुर्मासिकी में चार दत्ति, पंचमासिकी में पांच दत्ति, षट्मासिकी में छह दत्ति, सप्तमासिकी में सात दत्ति, इस प्रकार जितने-जितने मासिक की प्रतिमाएं हों, उन-उन में उतने-उतने दत्ति आहार-पानी का विधान है।

यहाँ 'द्वैमासिकी' शब्द से - 'दूसरी एक मासिकी' अर्थ समझना चाहिए। इसी प्रकार सप्तमासिकी तक सभी प्रतिमाएं एक-एक मास की समझनी चाहिए।

प्रथम सप्तअहोरात्रिक भिक्षुप्रतिमा

पढमं सत्तराड्दियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णिच्चं वोसट्टुकाए जाव

अहियासेइ, कप्पइ से चउत्थेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा उत्ताणगस्स वा पासिल्लागस्स वा पोसज्जियस्स वा ठाणं ठाइत्तए, तत्थ दिव्वा वा माणुसा वा तिरिक्खजोणिया वा उवसग्गा समुप्पज्जेज्जा तेणं उवसग्गा पयलिज्ज वा पवडेज्ज वा णो से कप्पइ पयलित्तए वा पवडित्तए वा, तत्थ णं उच्चारपासवणं उब्बाहिज्जा णो से कप्पइ उच्चारपासवणं उगिण्हित्तए, कप्पइ से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिदुवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए, एवं खलु एसा पढमा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं जाव आणाए अणुपालित्ता भवइ ॥ ८ ॥ २७ ॥

कठिन शब्दार्थ - रायहाणीए - राजधानी में, उत्ताण - पीठ के बल सोना, पासिल्लागस्स - एक पार्श्वस्थ - एक पसवाड़े सोना, पोसज्जियस्स - जमीन पर पुत टिकाकर - बैठक लगाकर स्थित होना, पयलिज्ज - प्रचालित करे, पवडेज्ज - प्रपातित करे, पयलित्तए - प्रचलित - विचलित होना, पवडित्तए - पतित होना, उब्बाहिज्जा - बाधा उत्पन्न हो।

भावार्थ - प्रथम सप्तरात्रिदिवसीय - सात रात-दिन की (अष्टम) भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार परीषह, उपसर्ग आदि के उपस्थित होने पर देह के ममत्व से सर्वथा रहित होता है यावत् आत्म बल पूर्वक सहन करना है। वह चौविहार रखता हुआ ग्राम या राजधानी के बाहर उत्तान, पार्श्वस्थ अथवा नैषधिक आसन में स्थित रहे। वहाँ देव, मनुष्य या तिर्यच के उपसर्ग उत्पन्न हों, प्रचालित हों, प्रपातित हों, तो उनसे प्रचलित या प्रपलित होना-ध्यान साधना से च्युत होना नहीं कल्पता है। उस समय उसके मल-मूत्र की शंका उत्पन्न हो जाय तो उन्हें रोकना नहीं कल्पता अपितु पूर्व-प्रतिलेखित स्थंडिल भूमि पर उच्चार-प्रस्रवण को यथाविधि परिष्ठापित कर - उनसे निवृत्त होकर, यथाविधि अपने स्थान पर अवस्थित हो जाए।

इस प्रकार अनगार इस प्रथम सप्तअहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा का यथासूत्र यावत् जिनाज्ञा के अनुसार परिपालक होता है।

द्वितीय सप्तअहोरात्रिक प्रतिमा

एवं दोच्चा सत्तराइंदिया [या]वि णवरं दंडा[य]इयस्स वा लग्ग[डसाइ]डाइयस्स वा उक्कुडुयस्स वा ठाणं ठाइत्तए, सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ ॥ ९ ॥ २८ ॥

कठिन शब्दार्थ - दंडाइयस्स - दण्डासन - दण्ड के समान लंबा होकर सोना, लगडाइयस्स - लगण्डशायी - मस्तक एवं पैर की ऐड़ी को जमीन पर लगाकर, मध्य भाग

को ऊँचा रखते हुए वक्रकाष्ठ की तरह स्थित रहना, उक्कुडुयस्स - उक्कुडु बैठना - भूमि पर पुत टिकाए बिना बैठना।

भावार्थ - इसी प्रकार दूसरी सप्तरात्रिदिवसीय (नवमी) भिक्षु प्रतिमा का भी निरूपण है। विशेषता यह है कि उसमें दण्डासन, लकुटासन या उत्कुटुकासन में स्थित रहे। अवशिष्ट वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए यावत् वह जिनाज्ञा के अनुसार प्रतिमा का अनुपालयिता होता है।

तृतीय सप्तअहोरात्रिकी प्रतिमा

एवं तच्चा सत्तराइंदियावि, णवरं गोदोहियासणियस्स वा वीरासणियस्स वा अंबखुज्जासणियस्स वा ठाणं ठाइत्तए सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ ॥ १० ॥ २९ ॥

कठिन शब्दार्थ - गोदोहियासणियस्स - गोदोहिकासन - गाय दुहने की स्थिति में अवस्थित होना, वीरासणियस्स - वीरासन में - कोई व्यक्ति सिंहासनासीन हो और अन्य पुरुष उसके नीचे से आसन निकाल ले तब भी आसनस्थ व्यक्ति उसी स्थिति में, अविचल बैठा रहे, वैसा आसन, अंबखुज्जासणियस्स - आम्रकुब्जासन - आम्रफल की तरह वक्राकार स्थित होना।

भावार्थ - इसी प्रकार तीसरी सप्तरात्रिदिवा (दशमी) भिक्षु प्रतिमा का वर्णन भी ज्ञातव्य है। विशेषता यह है - इस प्रतिमा की आराधना में साधक गोदोहिकासन, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन में स्थित रहे। अवशिष्ट वर्णन पूर्ववत् है यावत् वह अरहंत की आज्ञा के अनुसार प्रतिमा का परिपालयिता होता है।

अहोरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एवं अहोराइंदियावि, णवरं छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा ईसिं दोवि पाए साहडु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए, सेसं तं चेव जाव अणुपालित्ता भवइ ॥ ११ ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - ईसिं - कुछ, साहडु - मिलाकर, वग्घारियपाणिस्स - लम्बे हाथ किए हुए।

भावार्थ - अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा भी इसी प्रकार है। अन्तर यह है कि इसमें आराधक दो दिवसीय उपवास - बेले के साथ ग्राम यावत् राजधानी के बाहर जाकर दोनों पैरों

को कुछ संकुचित कर, दोनों हाथों को जानुपर्यन्त लम्बाकर (कायोत्सर्ग में) स्थित रहे। शेष वर्णन पूर्ववत् है। इस प्रतिमा का पालन करने वाला साधक यावत् भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है।

एकारात्रिकी भिक्षुप्रतिमा

एगराइयं णं भिक्खुपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णिच्चं वोसट्टुकाए णं जाव अहियासेइ, कप्पइ से [णं] अट्टमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा ईसिं पब्भारगएणं काएणं एगपोग्गल[ठिती]गयाए दिट्ठीए अणिमिसणयणे अहापणिहिएहिं गाएहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं देवि पाए साहट्टु वग्घारियपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए, तत्थ से दिव्वा माणुस्सा तिरिक्खजोणिया जाव अहियासेइ, से णं तत्थ उच्चारपासवणं उब्बाहिजा णो से कप्पइ उच्चारपासवणं उगिण्हत्तए, कप्पइ से पुव्वपडिलेहियंसि थंडिलंसि उच्चारपासवणं परिट्टुवित्तए, अहाविहिमेव ठाणं ठाइत्तए ॥ ३१ ॥

एगराइयं णं भिक्खुपडिमं अणणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा अहियाए असुभाए अक्खमाए अणिस्सेसाए अणणुगामियत्ताए भवंति, तंजहा - उम्मायं वा लभेजा, दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणेजा, केवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेजा ॥ ३२ ॥

एगराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हियाए सुहाए खमाए णिस्सेसाए अणुगामियत्ताए भवंति, तंजहा - ओहिणाणे वा से समुप्पज्जेजा, मणपज्जवणाणे वा से समुप्पज्जेजा, केवलणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेजा, एवं खलु एसा एगराइया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं अहामगं अहातच्चं अहासम्मं काएण फासित्ता पालित्ता सोहित्ता तीरित्ता किट्टित्ता आराहित्ता आणाए अणुपालित्ता [यावि] भवइ ॥ ३३ ॥

एयाओ खलु ताओ थैरेहिं भगवंतेहिं बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ ॥ ३४ ॥
त्तिबेमि ॥

॥ इति भिक्खुपडिमा णामं सत्तमा दसा समत्ता ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - पल्भारगणं काणं - प्राग्भारनतेन शरीर के अग्रभाग को झुकाकर, **एगपोग्लगयाए दिट्ठीए** - एक पुद्गल पर स्थित की हुई दृष्टि से, **अणिभिसणयणे** - अपलक दृष्टि युक्त (निर्निमेष दृष्टियुक्त - नेत्र टिमटिमाए बिना), **अहापणिहिएहिं** - सर्वथा स्थिर, **अक्खमाए** - अक्षमा के लिए - क्षमा रहित, **अणिस्सेसाए** - अकल्याणकर, **अणाणुगामियत्ताए** - पुनरागमन रहित, **उम्मायं** - उन्माद, **लभेज्जा** - प्राप्ति हो जाये, **पाउणेज्जा** - प्राप्त हो जाय, **भंसेज्जा** - भ्रष्ट हो जाय।

भावाथ - एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमाधारी अनगार परीषह, उपसर्ग आदि के उपस्थित होने पर देह के ममत्व से सर्वथा रहित होता है, यावत् सहन करता है। द्विदिवसीय उपवास (बेले की तपस्या) स्वीकार कर वह ग्राम यावत् राजधानी से बाहर जा कर, शरीर को कुछ आगे झुकाकर, एक पुद्गल पर दृष्टि टिकाए रखता हुआ, नेत्रों को निर्निमेष, दैहिक अंगों को निश्चल तथा इन्द्रियों को वशगत रखता हुआ, दोनों पैरों को संकुचित कर, दोनों भुजाओं को लम्बी कर कायोत्सर्ग में स्थित रहे, ऐसा कल्पता है। वहाँ देव, मानव या तिर्यच विषयक उपसर्ग हो यावत् सहन करता है। यदि मलमूत्र की बाधा उत्पन्न होती है तो उसे रोकना नहीं कल्पता अपितु पूर्व प्रतिलेखित स्थंडिल भूमि पर उच्चार-प्रस्रवण का परिष्ठापन कर, यथाविधि पूर्ववत् कायोत्सर्ग में स्थित रहे।

एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा का सम्यक् अनुपालन न करने पर अनगार के लिए ये तीन स्थान अहितकर, अशुभ, क्षान्तिरहित एवं अकल्याणकारी होते हैं - १. उन्माद (पागलपन) की प्राप्ति हो जाए, २. दीर्घकालिक रोग का आतंक उत्पन्न हो जाए, ३. केवली प्ररूपित श्रुतचारित्रमय धर्म से पतित हो जाय।

एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा का भलीभाँति अनुपालन करने वाले अनगार के लिए ये तीन स्थान हितप्रद, शुभ, क्षांतिकर एवं कल्याणकर होते हैं, वे स्थान हैं -

१. अवधि ज्ञान की समुत्पत्ति हो जाय
२. मनःपर्यवज्ञान की उत्पत्ति हो जाए तथा
३. पूर्व में अनुत्पन्न केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाय।

इस प्रकार से इस एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा का सूत्रानुमोदित, स्थविरादिकल्पानुसार, मोक्षमार्गानुरूप, अर्हत् प्रतिपादित तत्त्वानुसार, समभाव पूर्वक देह से स्पर्श करता हुआ - आत्मसात करता है, पालन, शोशन, पूरण, कीर्तन और आराधन करता है, वह जिनाज्ञा का अनुपालयिता होता है।

इस प्रकार स्थविर भगवन्तों ने बारह भिक्षु प्रतिमाएँ प्रतिपादित की हैं।

इस प्रकार भिक्षु प्रतिमा संज्ञक सातवीं दशा संपन्न होती है।

विवेचन - मुमुक्षु व्यक्ति जब सांसारिक मोह, ममता और आसक्ति को त्याग कर आर्हती दीक्षा स्वीकार करता है, **“सर्वं सावज्जं जोगं पच्चवखामि”** - के अनुसार समस्त पाप कर्मों का (वह) मन, वचन, काय से तथा कृत, कारित, अनुमोदित पूर्वक त्याग कर देता है। इससे उन **‘आश्रव-द्वारों’** का निरोध हो जाता है, संवर साधित हो जाता है। यह मोक्षानुगामी साधना का सामान्य रूप है।

यों सर्व सावद्य त्यागी साधु का जीवन एक विशेष साधनात्मक गतिविधि अपना लेता है। संचित कर्मों की निर्जरा हेतु वह अनेक प्रकार के तपों की आराधना करता है। क्योंकि कर्मों के निरोध से ही साध्य फलित नहीं होता। कर्मों को सत्त्वर द्रुततर निर्जीण करने का एक उज्वल तपोमय क्रम प्रतिमाओं के रूप में व्याख्यात हुआ है।

सावद्य वर्जन की दिशा में उसकी जागरूकता अत्यधिक वृद्धिगत होती रहे, इस हेतु प्रतिमाओं में ईर्या समिति आदि के परिपालन की विशेष प्रेरणा दी गई है। अति जागरूकता के बिना स्वलन संभावित है। स्वलन से व्रताराधना निर्बल बनती है। अत एव कदापि स्वलनात्मक स्थिति न बने ऐसी वृत्ति साधक में उदग्र रहे। साधक के मन में यह चिंतन रहे कि वह देह नहीं है, आत्मा है। देह का सार्थक्य या उपयोगित्व इतना ही है कि वह साधना में सहायक बने। अत एव साधनामय जीवन में आने वाले परीषहों और उपसर्गों में उसे सदैव अविचल और सुस्थिर बने रहना चाहिए। प्रतिमाराधना में इस पक्ष को बहुत महत्त्व दिया गया है। अग्नि आदि के भयावह उपसर्गों में भी वह निर्भीक रहे। यह निर्भीकता जीवन में तभी पनप पाती है जब उसमें आत्मा और देह के भेदविज्ञान का अनुभव हो। सिंह आदि भीषण जन्तुओं के सम्मुख आने पर, आक्रमण करने पर भी उसके एक रोम में भी भय न व्यापे, वह सर्वथा व्युत्सृष्टकाय रहे, मानों वह देह से अतीत हो।

परमात्मभाव में, शुद्धात्मचिंतन में उसकी लो लगी रहे, यह भी उत्कृष्ट साधक के लिए परमावश्यक है क्योंकि ध्यान निर्जरा के बारह भेदों में आन्तरिक तप का यह उज्वलतम रूप है। **“एगपोग्गलगायाए दिट्ठीए अणिमिसणयणे”** - इत्यादि के रूप में जो एकाग्रता स्वायत्त करने का उल्लेख हुआ है, वह ध्यान की ऊँची भूमिका का द्योतक है। धर्मध्यान का

उत्कृष्ट रूप यहाँ साधित होता है, जो क्रमशः साधक को शुक्ल ध्यान की भूमिका में संप्रविष्ट होने की स्थिति प्रदान करता है।

ऐहिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के लिए देह चलाने हेतु भोजन आवश्यक है। साधु के लिए भिक्षाचर्या द्वारा जीवन-निर्वाह का विधान किया गया है। भिक्षाचर्या में भी इतनी आन्तरिक सावधानी रहे, जिससे उसमें जरा भी दोष न आ पाए तथा देने वाले के लिए किसी भी प्रकार की असुविधा, अन्तराय या बाधा उत्पन्न न हो। गर्भवती स्त्री से, अपने बच्चे को स्तन-पान कराती हुई स्त्री से भिक्षा न लेने का जो विधान हुआ है, वह भिक्षाचर्या के अतिसूक्ष्म, अति विशुद्ध, अन्यो के लिए सर्वथा अविघ्नकर रूप का परिचायक है। एक साधु का जीवन स्व-पर-कल्याणपरायण होता है। वह व्रत, संयम, तप, ध्यान आदि द्वारा अपना कल्याण करता है तथा इनकी ओर जन-जन को प्रेरित, उद्बोधित, उत्साहित करता हुआ पर-कल्याण करता है। ये दोनों उद्देश्य सिद्ध होत्रे रहें, दोनों की सिद्धि में, देह की सहयोगिता है, अत एव उसका निर्वाह अपेक्षित है। जहाँ निर्वाह मात्र लक्ष्य होता है, वहाँ एषणा मिट जाती है। एक मात्र आत्मोन्नति के लक्ष्य में तत्पर प्रतिमाधारी-साधक एषणाओं और इच्छाओं को क्षीण करता हुआ, बहिरात्मभाव से अन्तरात्मभाव में लीन होता हुआ, परमात्म भाव की दिशा में अग्रसर रहता है। ज्यों-ज्यों कार्मिक बंधन क्षीण होते जाते हैं, प्रभाव उच्छिन्न होता जाता है, त्यों-त्यों आवरण मिटते जाते हैं और अंततः जीव आवरणों से सर्वथा विमुक्त होकर, निरावरण एवं निर्मल बन जाता है, परिनिर्वृत हो जाता है।

यहाँ प्रासंगिक रूप में यह ज्ञातव्य है कि आठवीं से बारहवीं प्रतिमा तक दत्ति का कोई परिमाण प्रतिपादित नहीं हुआ है, अत एव उन प्रतिमाओं के पारणे के दिन आवश्यकतानुसार आहार-पानी की दत्तियाँ स्वीकरणीय हैं।

यह भी हाँ जानने योग्य है कि प्रत्येक भिक्षु प्रतिमा एक-एक मास में आराधित होती हैं। इसलिए भिक्षु प्रतिमाओं में द्वैमासिकी, त्रैमासिकी, चतुर्मासिकी, पंचमासिकी, षट्मासिकी, सप्तमासिकी - इनमें दो, तीन, चार आदि जो संख्यावाचक शब्द लगे हैं, वे द्वितीय - दूसरी, तृतीय - तीसरी, चतुर्थ - चौथी, पंचम - पांचवीं, षष्ठ - छठी, सप्तम - सातवीं, अष्टम - आठवीं, नवम - नवीं, दशम - दसवीं, एकादश - ग्यारहवीं तथा द्वादश - बारहवीं के द्योतक हैं।

भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना शीतकाल के चार मास तथा ग्रीष्मकाल के चार मास - इन आठ महिनों में की जाती है। चातुर्मास काल में इनकी आराधना का विधान नहीं है।

भिक्षु की इन बारह प्रतिमाओं के संबंध में टीकाकार तो पहली प्रतिमा एक महीने की तथा एक महीने की साधना। इसी तरह दूसरी से सातवीं प्रतिमा तक यावत् सात महीने की प्रतिमा तथा सात महीने की साधना। ८, ९, १० वीं प्रतिमा के ७-७ दिन। ११वीं में बेला - २ दिन। बारहवीं में तेला - ३ दिन। इस प्रकार दो प्रतिमा (१-२) प्रथम शेषकाल में। तीसरी प्रतिमा दूसरे शेषकाल में। चौथी प्रतिमा तीसरे शेषकाल में। पांचवीं की साधना चौथे शेषकाल में तथा पांचवें शेषकाल में। छट्टी की साधना छट्टे तथा छट्टी प्रतिमा सातवें शेषकाल में। सातवीं की साधना आठवें शेषकाल में तथा सातवीं प्रतिमा नौवें शेषकाल में पूरी होती है तथा शेष प्रतिमाएं दशवें शेषकाल में पूरी होती है। १० शेषकाल (अनेक वर्ष) से सब प्रतिमाएं पूरी होना मानते हैं। किन्तु शास्त्रों में इससे कम पर्याय वाले मुनियों के भी सब प्रतिमाओं का वर्णन आया है तथा धारणा में तो सात प्रतिमा के ७ महीने तथा ८, ९, १०वीं के ७-७ दिन ११वीं के ३ दिन। बारहवीं के ४ दिन, सब मिलाकर ७ महीने २८ दिन। एक ही शेषकाल में पूरी हो जाती है। १२वीं भिक्षुप्रतिमा में एक रात्रि बताई है, वह तेले के तप में ४ रात्रि होती है, उनमें से किसी भी एक रात्रि को समझना।

एक विशेष बात यह है कि भिक्षु प्रतिमा की आराधना में मुख्य लक्ष्य आत्मकल्याणमूलक होता है। वहाँ पर-कल्याण गौण है, इसीलिए प्रतिमाधारी भिक्षु को किसी ग्रामादि स्थान में एक या दो दिन से अधिक ठहरना कल्प्य नहीं है। वह निरन्तर आठ मास पर्यन्त विहरणशील रहता है। यह मर्यादा अनुलंघनीय है। इसका उल्लंघन होने पर तप या दीक्षा-छेद का प्रायश्चित्त आता है। इसी कारण इन प्रतिमाओं की आराधना चातुर्मास काल में नहीं होती।

प्रतिमाओं के आराधना काल में भिक्षु प्रायः मौन का ही अवलम्बन करता है। जब कभी बोलना आवश्यक हो तब बहुत ही सीमित बोलता है। चलते समय किसी कारणवश बोलने की अपेक्षा हो तो वह रुककर बोल सकता है। वह अपने विहरणकाल में धर्मोपदेश नहीं देता, मौन रहता हुआ आत्मचिन्तन, आत्मपर्यालोचन आदि में संलग्न रहता है।

प्रतिमाधारी भिक्षु ग्राम, नगर आदि के बाहर उद्यान में, खुले मकान में या पेड़ के नीचे एकान्त स्थान में ठहरता है, आत्माराधन में लीन रहता है। संयोगवश यदि कोई भी स्त्री-पुरुष

वहाँ आ जाएं या कुछ भी प्रवृत्ति करे तो वह उनकी ओर सर्वथा उदासीन एवं संकल्प-विकल्प रहित रहता हुआ, धर्मध्यान में तन्मय बना रहता है।

प्रतिमाधारी का क्षण-क्षण यह प्रयत्न रहता है कि उसकी मानसिकता सर्वथा आत्मोन्मुखी हो, देहोन्मुखता से वह पृथक् होता जाता है। इसीलिए यह विधान हुआ है कि चलते समय उसके पैर में कांटा आदि गड (चुभ) जाए, नेत्रों में सूक्ष्म कीटाणु, रजकण आदि गिर जाए तो वह उन्हें नहीं निकालता उस ओर से सर्वथा अप्रभावित रहता है, समभाव से वेदना को सहन करता है। देहातीतावस्था प्राप्त करने की दिशा में यह निःसंदेह एक बड़ा ही प्रशस्त उपक्रम है।

राजेन्द्र कोष के 'भिक्षुपडिमा' शब्द में (पृष्ठ १५७६) हरिभद्रसूरि के पंचाशक ग्रन्थ के आधार से भिक्षु प्रतिमा वालों का जघन्य श्रुतज्ञान नववें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु बताया है - 'णवमस्स तइयवत्थु, होइ जहण्णो सुयाहिगमो ॥ ५ ॥' गच्छ में तो परिकर्म करते हैं और गच्छ निर्गत होकर प्रतिमा वहन करते हैं। अतः प्रतिमाधारी एकलविहारी ही होते हैं। एकलविहारी - एकलविहारी के नियमों में प्रायः समानता समझी जाती है। यवमध्या, वज्रमध्याचन्द्रप्रतिमा भी गच्छ निर्गत होकर ही की जाती है। इन प्रतिमाओं के लिए राजेन्द्र कोष के 'पडिमा' शब्द में (पृ०३३४) व्यवहार भाष्य के आधार से तीन संहनन ही माने हैं - 'संघयण पटियाए, सुत्ते अत्थे य जो भवे वलिओ।

सो पडिमं पडिवज्जइ जवमज्झं वइरमज्झं च ॥६ ॥'

संहनने आदयत्रयान्यतमस्मिन् ठाणांग के आठवें ठाणे की टीका में भी एकलविहारी की योग्यता के 'बहुस्सुए' शब्द का अर्थ - 'जघन्य नववें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु' किया है। इस प्रकार अर्थों (ग्रन्थों) में उपर्युक्त प्रमाण मिलते हैं। आगम के मूलपाठ में देखने में नहीं आये हैं।

भिक्षु-प्रतिमा आराधन के लिए प्रारंभ के तीन संहनन, २० वर्ष की संयमपर्याय, २९ वर्ष की उम्र तथा जघन्य ९वें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है। अनेक प्रकार की साधनाएँ व अभ्यास भी प्रतिमा धारण के पूर्व किये जाते हैं। उनमें उत्तीर्ण होने पर प्रतिमा धारण के लिए आज्ञा मिलती है। अतः वर्तमान में इन भिक्षु प्रतिमाओं का आराधन नहीं किया जा सकता है अर्थात् इनका विच्छेद माना गया है।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की सातवीं दशा समाप्त ॥

अट्टमा दसा - अष्टम दशा

पर्युषणा कल्प

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पंचहत्थुत्तरे यावि होत्था, तंजहा-
हत्थुत्तराहिं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते १ हत्थुत्तराहिं गब्भाओ गब्भं साहरिए २ हत्थुत्तराहिं
जाए ३ हत्थुत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ४ हत्थुत्तराहिं अणंते
अणुत्तरे णिव्वाघाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पण्णे ५
साइणा परिणिव्वुए भगवं जाव भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ ॥ १ ॥ त्तिबेमि ॥

॥ इति पज्जोस(णं)णा णामं अट्टमा दसा समत्ता ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - पंचहत्थुत्तरे - पाँच हस्तोत्तर - उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, चुए - च्यवन
किया, चइत्ता - च्यव कर, गब्भं - गर्भ, वक्कंते - व्यवक्रान्त हुए - प्रविष्ट हुए, गब्भाओ-
गर्भ से, साहरिए - संहृत हुए - आनीत हुए या लाए गए, जाए - जन्मे, मुंडे - मुण्डित
हुए, भवित्ता - होकर, अगाराओ - घर से - गृही जीवन से, अणगारियं - अन्गारिता -
गृह त्याग - मुनि जीवन, पव्वइए - प्रव्रजित हुए - दीक्षित हुए, अणंते - अन्त रहित,
अणुत्तरे - अनुत्तर - सर्वश्रेष्ठ, णिव्वाघाए - निर्व्याघात - विनाश रहित, णिरावरणे -
आवरण शून्य, कसिणे - कृत्स्न - समस्त, पडिपुण्णे - प्रतिपूर्ण - सम्पूर्ण,
केवलवरणाणदंसणे - उत्तम या प्रधान केवल ज्ञान और केवल दर्शन, समुप्पण्णे - उत्पन्न
हुए, साइणा - स्वाति नक्षत्र में, परिणिव्वुए - निर्वाण प्राप्त किया, भुज्जो - पुनः, उवदंसेइ-
उपदर्शित करता है - कथन करता है, बेमि - बोलता हूँ - कहता हूँ, पज्जोसण - पर्युषणा।

भावार्थ - उस काल, उस समय, श्रमण भगवान् महावीर के पाँच कल्याणक उत्तराफाल्गुनी
नक्षत्र में हुए। भगवान् उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में देवलोक से च्यव कर माता के गर्भ में
व्यवक्रान्त हुए - आए। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् का एक गर्भ से दूसरे गर्भ में
संहरण - आनयन हुआ - एक गर्भ से दूसरे गर्भ में वे लाए गए, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में
भगवान् का जन्म हुआ, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् मुण्डित होकर गृही धर्म से मुनि धर्म
में प्रव्रजित - दीक्षित हुए, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् को अनंत, सर्वोत्कृष्ट, नाशरहित,

आवरण रहित, समग्र, परिपूर्ण उत्तम केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन उत्पन्न हुआ। स्वाति नक्षत्र में भगवान् ने निर्वाण प्राप्त किया यावत् भगवान् ने पुनः-पुनः स्पष्ट रूप में उपदर्शित किया। मैं (सुधर्मा), जैसा मैंने भगवान् से सुना कहता हूँ।

इस प्रकार पर्युषणा नामक आठवीं दशा संपन्न होती है।

विवेचन - दशाश्रुतस्कन्ध मूलतः आचार प्रधान आगम है। ठाणांग आदि आगमों में भी इसका नाम आचारदशा प्राप्त होता है।

संक्षिप्त रूप में वर्णित इस आठवीं दशा में श्रमण भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों का संकेतात्मक वर्णन प्राप्त होने से यह आगमिक अंश चरणकरणानुयोग के स्थान पर धर्मकथानुयोग की प्रतीति कराता है।

इस दशा में प्रभु महावीर के पंचकल्याणकों का जो वर्णन प्राप्त होता है वह उचित ही है क्योंकि तीर्थंकरों का जीवन विशुद्ध, निर्मल एवं आचारमय होता है। जिसके विवेचन से आचार के प्रति श्रद्धा एवं रुचि परिपुष्ट होती है इसके अतिरिक्त यहाँ विस्तृत वर्णन का 'जाव' पद के अन्दर समावेश करते हुए पंचकल्याणकों का संकेतमात्र से ही उल्लेख हुआ है।

इस आठवीं दशा का नाम अन्य आगमों में (ठाणांग आदि) 'पञ्जुसणाकप्प' प्राप्त होता है। इस पाठ के अन्त में आए 'पञ्जोरणा' शब्द से इसकी पुष्टि होती है। पर्युषणाकल्प का तात्पर्य वर्षा ऋतु में चार महीने एक स्थान पर प्रवास करने से है। यहाँ चातुर्मासिक समाचारी का वर्णन होने तथा चातुर्मास्य में पर्युषण पर्व का अत्यधिक महत्त्व होने से ही एतद्विषयक वर्णन को पर्युषणाकल्प से अभिहित किया गया है।

वस्तुतः कल्पसूत्र भी इसी दशा का अंश है।

आचार्य भद्रबाहु विरचित निर्युक्ति की सातवीं गाथा में 'पञ्जुसणाकप्प' शब्द का उल्लेख हुआ है। यहाँ उल्लिखित 'कप्प' शब्द से कल्प सूत्र के साथ इसका संबंध घटित होना संभावित है। अतः निर्युक्तिकार के समक्ष भी शायद कल्प सूत्र का सम्पूर्ण वर्णन रहा हो?

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की आठवीं दशा समाप्त ॥

णवमा दसा - नवम दशा

महामोहनीय कर्म-बन्ध के स्थान

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, वण्णओ। पुण्णभद्दे णामं चेइए, वण्णओ। कोणियराया, धारिणी देवी, सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया ॥ १ ॥

भावार्थ - उस काल, उस समय चम्पा नामक नगरी थी। औपपातिक आदि से उसका वर्णन संग्राह्य है। पूर्णभद्र नामक चैत्य था। एतद्विषयक वर्णन पूर्ववत् योजनीय है। कोणिक नामक राजा था, धारिणी नामक उसकी पटरानी थी। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का वहाँ पदार्पण हुआ। दर्शन एवं धर्मदेशना श्रवण हेतु परिषद् - लोग अपने-अपने स्थानों से निकलकर वहाँ पहुँचे। भगवान् ने धर्मदेशना दी। लोग श्रवण कर वापस लौट गए।

अज्जो ! त्ति समणे भगवं महावीरे बहवे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी-“एवं खलु अज्जो ! तीसं मोहणिज्जठाणाइं जाइं इमाइं इत्थी वा पुरिसो वा अभिक्खणं अभिक्खणं आ[यारे]यरमाणे वा समायरमाणे वा मोहणिज्जत्ताए कम्मं पकरेइ, तंजहा-

जे (यावि) केइ तसे पाणे, वारिमज्झे विगाहिया ।

उदएणक्कम्म मारे(ई)इ, महामोहं पकुव्वइ ॥ २ ॥

पाणिणा संपिहित्ताणं, सोयमावरिय पाणिणं ।

अंतोणदंतं मारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥३ ॥

जायतेयं समारब्भ, बहुं ओरुंभिया जणं ।

अंतो धूमेण मारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥४ ॥

सीसम्मि जो (जे) पहणइ, उत्तमंगम्मि चेयसा ।

विभज्ज मत्थयं फाले, महामोहं पकुव्वइ ॥ ५ ॥

सीसं वेढेण जे केइ, आवेढेइ अभिक्खणं ।

तिव्वासुभसमायारे, महामोहं पकुव्वइ ॥६ ॥

पुणो पुणो पणिहिए हणित्ता उवहसे जणं ।
 फलेणं अदुव दंडेणं, महामोहं पकुव्वइ ॥१७ ॥
 गूढायारी णिगूहिज्जा, मायं मायाए छायाए ।
 असच्चवाई णिणहाइ, महामोहं पकुव्वइ ॥१८ ॥
 धंसेइ जो अभूएणं, अकम्मं अत्तकम्मुणा ।
 अदुवा तुमकासित्ति, महामोहं पकुव्वइ ॥१९ ॥
 जाणमाणो परिसाए, सच्चामोसाणि भासइ ।
 अक्खीणझंझे पुरिसे, महामोहं पकुव्वइ ॥ १० ॥
 अणायगस्स णयवं, दारे तस्सेव धंसिया ।
 विउलं विक्खोभइत्ताणं, किच्चा णं पडिबाहिरं ॥ ११ ॥
 उवगसंतंपि झंपित्ता, पडिलोमाहिं वग्गुहिं ।
 भोगभोगे वियारेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥१२ ॥
 अकुमारभूए जे केइ, कुमारभूएत्ति हं वए ।
 इत्थीविसयगेहीए, महामोहं पकुव्वइ ॥१३ ॥
 अबंभयारी जे केइ, बंभयारित्ति हं वए ।
 गहहेव्व गवां मज्जे, विस्सरं णयई णदं ॥१४ ॥
 अप्पणो अहिए बाले, मायामोसं बहुं भसे ।
 इत्थीविसयगेहीए, महामोहं पकुव्वइ ॥१५ ॥
 जं णिस्सिए उव्वहइ, जससाहिगमेण वा ।
 तस्स लुब्भइ वित्तंमि महामोहं पकुव्वइ ॥१६ ॥
 ईसरेण अदुवा गामेणं अणिस्सरे ईसरीकए ।
 तस्स संपयहीणस्स, सिरी अतुलमागया ॥१७ ॥
 ईसादोसेण आविट्ठे, कलुसाविलचेयसे ।
 जे अंतरायं चेएइ, महामोहं पकुव्वइ ॥१८ ॥

सप्यी जहा अंडउडं, भत्तारं जो विहिंसइ ।
 सेणावइं पसत्थारं, महामोहं पकुव्वइ ॥१९ ॥
 जे णायगं च रट्टुस्स, णेयारं णिगमस्स वा ।
 सेट्ठिं बहुरवं हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥ २० ॥
 बहुजणस्स णेयारं, दीवं ताणं च पाणिणं ।
 एयारिसं णरं हंता, महामोहं पकुव्वइ ॥२१ ॥
 उवट्ठियं पडिविरयं, संजयं सुतवस्सियं ।
 विउक्कम्म धम्माओ भंसेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ २२ ॥
 तहेवाणंतणाणीणं जिणाणं वरदंसिणं ।
 तेसिं अवण्णवं बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥२३ ॥
 णेया(इ)उयस्स मग्गस्स, दुट्ठे अवयरइं बहुं ।
 तं तिप्पयंतो भावेइ, महामोहं पकुव्वइ ॥२४ ॥
 आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहिए ।
 ते चेव खिंसइ बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥ २५ ॥
 आयरियउवज्झायाणं, सम्मं णो पडितप्पइ ।
 अप्पडिपूयए थद्धे, महामोहं पकुव्वइ ॥२६ ॥
 अबहुस्सुए य जे केइ, सुएण पविकत्थइ ।
 सज्झायवायं वयइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ २७ ॥
 अत्तवस्सी[ए] य जे केइ, तवेण पविकत्थइ ।
 सव्वलोएपरे तेणे, महामोहं पकुव्वइ ॥२८ ॥
 साहारणद्धा जे केइ, गिलाणम्मि उवट्ठिए ।
 पभू ण कुणइ किच्चं, मज्झंपि से ण कुव्वइ ॥ २९ ॥
 सत्ते णियडीपण्णाणे, कलुसाउलचेयसे ।
 अप्पणौ य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ ॥३० ॥

जे कहाहिगरणाइं, संपउंजे पुणो पुणो ।
 सव्वतित्थाण भेयाणं, महामोहं पकुव्वइ ॥३१ ॥
 जे य आहम्मिए जोए, संपउंजे पुणो पुणो ।
 सहाहेउं सहीहेउं, महामोहं पकुव्वइ ॥३२ ॥
 जे य माणुस्सए भोए, अदुवा पारलोइए ।
 तेऽतिप्पयंतो आसयइ, महामोहं पकुव्वइ ॥ ३३ ॥
 इद्धी जुई जसो वण्णो, देवाणं बलवीरियं ।
 तेसिं अवण्णवं बाले, महामोहं पकुव्वइ ॥३४ ॥
 अपस्समाणो पस्सामि देवजक्खे य गुज्झगे ।
 अण्णाणी जिणपूयट्ठी महामोहं पकुव्वइ ॥३५ ॥
 एए मोहगुणा वुत्ता, कम्मंता चित्तवद्धणा ।
 जे उ भिक्खु विवज्जेजा, चरिज्जत्तगवेसए ॥ ३६ ॥
 जंघि जाणे इओ पुव्वं, किच्चाकिच्चं बहु जढं ।
 तं वंता ताणि सेविज्जा, जेहिं आयारवं सिया ॥ ३७ ॥
 आयारगुत्तो सुद्धप्पा, धम्मे ठिच्चा अणुत्तरे ।
 तओ वमे सए दोसे, विसमासीविसो जहा ॥ ३८ ॥
 सुचत्तदोसे सुद्धप्पा, धम्मट्ठी विदितापरे ।
 इहेव लभए कित्तिं, पेच्चा य सुगइं वरं ॥ ३९ ॥
 एवं अभिसमागम्म, सूरा दढपरक्कमा ।
 सव्व-मोहविणिम्मुक्का, जाइमरणमइच्छिया ॥ ४० ॥ त्ति-वेमि ॥
 मोहणिज्जठाणणामं णवमा दसा समत्ता ॥ ९ ॥

शब्दार्थ - मोहणिज्जठाणाइं - मोहनीय कर्म बंध के स्थान, जाइं - जिनको, इमाइं - इनको, आयारमाणे - आचरित करता हुआ, समायरमाणे - समाचरित - तीव्र परिणामपूर्वक आचरित करता हुआ, मोहणिज्जत्ताए - मोहनीयतया - मोहनीयता पूर्वक, पकरेइ - करता है, वारिमज्जे - जल के बीच, विगाहिया - डुबोकर, उदएणकम्म - जल

के आक्रमण से, पकुव्वइ - विशेष रूप से बांधता है, पाणिणा - हाथ से, संपिहित्ताणं - संपिहित कर - बद कर, सोयं - श्वास लेने के मुँह, नाक आदि स्रोत, आवरिय - ढककर, अंतोणदंतं - भीतर ही भीतर अन्तर्वेदनामय शब्द करते हुए, जायतेयं - अग्नि, समारब्ध - प्रज्वलित कर, ओरुंभिया - अवरुद्ध कर - घेर कर, धूमेण - धूँए से - दम घोट कर, सीसम्मि - मस्तक पर, पहणइ - प्रहार करता है, उत्तमंगम्मि - उत्तमांग पर - शीर्ष पर, चेषसा - दुश्चिंतन करता हुआ, विभज्ज - भेदन कर, फाले - टुकड़े-टुकड़े कर डाले, वेढेण - गीले चमड़े से, आवेढेइ - आवेष्टित करता है - लपेटता है, तिच्चासुभसमायारे - तीव्र अशुभ परिणामों से युक्त, पणिहिए - मनोयोगपूर्वक, हणित्ता - मारकर, उवहसे - हंसकर, अदुव - अथवा, फलेणं - तीक्ष्ण नोकयुक्त हथियार, गूढायारी - महाकपटी, णिगूहिज्जा - छिपाता है, छाये - आच्छादित करता है, असच्चवाई - असत्यवादी - असत्य बोलता है, णिणहाइ - सूत्रों के सही अर्थ को छिपाता है, धंसेइ - धर्षित करता है - आक्षेप करता है, अभूएणं - जो नहीं हुआ है, वैसे आरोप द्वारा, अत्तकम्मुणा - अपने दुष्कर्म द्वारा, तुमकासित्ति - तुमने ही किया है, जाणमाणो - जानता-बूझता, सच्चामोसाणि - सच-झूठ मिश्रित भाषा, अवखीणइंजे - धर्मसंघ में भेदोत्पादक, दुर्विचारयुक्त, अणायगस्स - नायकोचित - राजोचित गुणरहित, णयवं - संचालक, दारे - स्त्रियों का, विउलं - विपुल, विक्खोभइत्ताणं - विरोध करने वालों को, पडिबाहिरं - अधिकार च्युत करे, उवगसंतंपि इंपिता - स्वयं शासन हथियाता हुआ, पडिलोमाहिं वग्गुहिं - प्रतिकूल वाणी द्वारा तिरस्कृत करता हुआ, वियारेइ - विघातयति - नाश करता है, अकुमारभूए - बाल ब्रह्मचारी नहीं है, कुमारभूएत्ति - बाल ब्रह्मचारी कहता है, इत्थीविसयगेहीए - स्त्री भोग में लोलुप, गहहेव्व - गधे की तरह, विस्सरं - विस्वर - कर्ण कठोर, णयई - रेंकता है, अप्पणो - अपना, मायामोसं - कपटपूर्ण मिथ्या वचन, भसे - बोलता है, णिस्सिए - आश्रित होकर, उव्वहइ - जीवन निर्वाह करता है, जससाहिगमेण - स्वामी के यश एवं उसकी परिचर्या से, लुब्भइ - लोभ करता है, ईसरेण - स्वामी द्वारा, अणिस्सरे - अनधिकारी को, ईसरीकए - अधिकारी बना दिया, संपयहीणस्स - संपत्ति हीन को, सिरी - श्री - लक्ष्मी, ईसादोसेण - ईष्यारूप दोष से, आविडे - आविष्ट, कलुसाविलचेयसे - पाप से आवृत्त चित्त युक्त, चेएइ - उत्पन्न करता है, सप्पी - सर्पिणी, अंडउडं - अण्डों को, भत्तारं - भर्तार - स्वामी, पसत्थारं - प्रशास्तारं - शासनकर्त्ता, कलाचार्य या धर्माचार्य.

णायगं - नायक, रट्टस्स - राष्ट्र का, णेयारं - स्वामी, णिगमस्स - निगमस्य - गाँव के, सेट्टि - सेठ को, बहुरवं - परोपकार के कारण यशस्वी, दीवं - द्वीप की ज्यों आश्रयभूत, ताणं - रक्षक, एयारिसं - ऐसे, उवट्टियं - उत्थित - धर्मारोपना हेतु उद्यत, पडिविरयं - सावध योगों से निरत - मुनि धर्म में दीक्षित, संजयं - जितेन्द्रिय, सुतवस्सियं - उत्तम तपस्वी अथवा श्रुत-चारित्र्य धर्म पालक, विउक्कम्म - व्युत्क्राम्य - विचलित कर, अणंतणाणीणं - अनन्त ज्ञानियों का, वरदंसिणं - केवल दर्शन युक्त, अवण्णवं - अवर्णवान्-अवर्णवादी, बाले - अज्ञानी, णेयाउयस्स - न्यायोपेत - तर्क युक्तियुक्त, मग्गस्स - सम्यग्-दर्शन ज्ञान चारित्र्य रूप मोक्षमार्ग को, दुट्ठे - दुष्ट, अवयरई - अपकार करता है - हानि पहुँचाता है, तिप्पयंतो - निंदा करता हुआ, खिंसइ - निंदा करता है, पडितप्पइ - परितृप्त-संतुष्ट करता है, अप्पडिपूयए - सम्मान-सत्कार न करने वाला, थद्धे - स्तब्ध - ढीठ, पविकत्थइ - अपनी प्रशंसा करता है, सज्झायवायं - प्रवचन निपुणता, अतवस्सीए - तपस्याविहीन, तेणे - चोर (स्तेन), साहारणट्ठा - आत्मकल्याण हेतु, गिलाणम्मि - ग्लान, पभू - प्रभु - वैयावृत्य में समर्थ, कुणइ - करता है, किच्चं - वैयावृत्य रूप कार्य, मज्झंमि - मेरे लिए प्रत्युपकार, सढे - निर्दयी, णियडीपण्णाणे - माया में निपुण, कलुसाउल्लवेयसे - कालुष्य से आकुल चित्त युक्त, अबोहीए - बोधि रहित, कहाहिगरणाइं-कलहोत्पादक वार्ता, संपउंजे - संप्रयुक्त करता है, सव्वतित्थाण - सर्वतीर्थ - साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्मतीर्थ रूप, आहम्मिए - अधार्मिक, जोए - योग - वशीकरणादि मंत्र-तंत्रात्मक प्रयोग, सहाहेउं - आत्मप्रशंसा हेतु, सहीहेउं - प्रियजनों को प्रसन्न करने हेतु, भोए - भोगों को, पारलोइए - पारलौकिक - देवलोक संबंधी, आसयइ - अभिलाषा करता है, इड्डी - ऋद्धि - देव वैभव, जुई - द्युति - कान्ति, जसो - यश, वण्णो - वर्ण - सौंदर्य, अवण्णवं - अवर्णवाद - निंदा करता है, अपस्समाणो - न देखता हुआ, पस्सामि - देखता हूँ, जक्खे - यक्ष, गुज्जगे - गुह्यक - देव जाति विशेष, जिणपूयट्ठी - जिनेन्द्र देव की तरह अपनी पूजा का इच्छुक, एए - ये, वुत्ता - कहे गए हैं, चित्तवद्धणा - अशुभ भाव विवर्धक, विवज्जेज्जा - छोड़े, चरिज्जत्तगवेसए - आत्मगवेषणापूर्वक आचरण करे - संयम मार्ग का पालन करे, जं - जो, जाणे - जाने, इओ - इससे, किच्च - कृत्य - न करने योग्य को करने योग्य मानना, अकिच्चं - न करने योग्य (अकृत्य), जढं - अज्ञानी, वंता - वमन कर, सेविज्जा - सेवन करे, आयारवं -

आचारवान्, सिया - स्यात् - हो, आचारगुत्तो - पंचाचार पालक, सुद्धया - शुद्धात्मा, ठिच्चा - स्थित होकर, अणुत्तरे - जिससे श्रेष्ठ कोई न हो, सए - अपने, आसीविसो - सर्प विशेष, सुचत्तदोसे - दोषों का सर्वथा त्यागी, धम्मट्ठी - धर्मार्थी - श्रुत-चारित्ररूपधर्मानुष्ठाता, विदितापरे - मोक्षस्वरूपज्ञ, पेच्चा - भवान्तर में, सुगइं - उत्तम गति, अभिसमागम्म - जानकर, सूसा - परीषह और उपसर्ग सहने में समर्थ, दढपरक्कमा - दृढ आत्मपराक्रम युक्त, सव्वमोहविणिम्मक्का - समग्र मोहनीय कर्म से छूटे हुए, जाइमरणमइच्छिया - जन्म-मरण को अतिक्रान्त किए हुए।

भावार्थ - श्रमण भगवान् महावीर ने समग्र साधु-साध्वियों को संबोधित कर, इस प्रकार कहा - "आर्यों! जो स्त्री या पुरुष (निम्नांकित) तीस मोहनीय स्थानों को बार-बार सेवित करता है, तीव्र परिणामपूर्वक सेवित करता है, वह मोहनीय कर्म का बंध करता है।

वे इस प्रकार (निम्न गाथाओं में वर्णित) हैं -

जो कोई त्रस प्राणियों को जल में डुबोकर या जल में आक्रान्त कर मारता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥१॥

जो प्राणियों के मुख, नासिका आदि श्वासोच्छ्वास लेने के द्वारों. (स्त्रोतों) को हाथ आदि से अवरुद्ध कर उन्हें अन्तर्वेदनामय कराहट के साथ मरने को विवश करता है, वह महामोहनीय बंध का उपार्जन करता है ॥२॥

जो बहुत से प्राणियों को एक स्थान पर रोक कर घेर कर, वहाँ आग लगा कर उसके धुएँ से (दम घुटवा कर) मारता है, वह महामोहकर्म का बंध करता है ॥३॥

"मस्तक के मर्म स्थान पर चोट करने से यह प्राणी मर जायेगा" - मन में ऐसा दुश्चिंतन कर जो उसके मस्तक का भेदन कर फोड़ डालता है, वह महामोहनीय बंध संचिर्ण करता है ॥४॥

जो गीले चर्म से - चमड़े की बाध से किसी के सिर को आवेष्टित कर देता है - लपेट देता है, वह ऐसे अशुभ परिणामों के फलस्वरूप महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥५॥

जो किसी प्राणी को मनोयोगपूर्वक - बुरे इरादे के साथ तीखी नोक वाले शस्त्र को

● गीला चमड़ा जब सूखता है तो अत्यधिक खिंचाव उत्पन्न करता है। इससे प्राणी का सिर आदि अंग संकुचित (Compress) होता है, जिससे अत्यंत पीड़ा होती है।

बार-बार चुभोता हुआ अथवा दण्ड का प्रहार करता हुआ मारता है, वैसा करते हुए हंसता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥६॥

जो अपने दोषों को छिपाता है, माया - छल को माया से (ही) ढकता है, असत्य भाषण करता है और कपट पूर्वक सूत्रार्थ का गोपन करता है- मिथ्या अर्थ प्रयुक्त करता है, वह महामोह का उपार्जन करता है ॥७॥

जो किसी निर्दोष व्यक्ति पर झूठा आपेक्ष करता है, अपने द्वारा किए गए दूषित कर्मों का "तूने ही ऐसा किया है" ऐसा कहता हुआ आरोप करता है, वह महामोहनीय कर्म का संचय करता है ॥८॥

जो पुरुष जानता - बूझता हुआ भी परिषद् में सत्य-मिथ्यायुक्त-मिश्रित वचन बोलता है, चतुर्विध धर्म संघ और गण में भेद उत्पन्न करने की दुर्बुद्धि लिए रहता है, वह महामोहनीय कर्म का उपार्जन करता है ॥९॥

शासक के गुणों से रहित राजा का मंत्री उसकी रानियों के साथ दुष्कर्म करता है, राजा का तिरस्कार करता हुआ उसे पदच्युत कर देता है, स्वयं शासन हथियाता हुआ प्रतिकूल वाणी द्वारा उसका तिरस्कार करता है, उसके लिए सारे सुखों और राज्याधिकारों का नाश करता हुआ समस्त अधिकार स्वाधीन - अपने अधीन करता है, वह महामोहनीय बंध उपार्जित करता है ॥१०॥

जो वस्तुतः बालब्रह्मचारी नहीं होता हुआ भी अपने आपको बालब्रह्मचारी घोषित करता है तथा स्त्रीविषयक भोगों में लोलुप बना रहता है, वह महामोह कर्म का संचय करता है ॥११॥

ब्रह्मचारी नहीं होता हुआ भी जो "मैं ब्रह्मचारी हूँ" ऐसा कथन करता है, वह गायों के मध्य बेसुरा आलाप करते - रेंकते हुए गर्दभ के सदृश है। वह मूर्ख अपनी आत्मा का अहित करता है, छलपूर्ण असत्य भाषण करता है एवं स्त्रीविषयक कामभोगों में लुब्ध रहता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥१२॥

जो जिसके आश्रय में रहता है, जिसके सहारे जीवन निर्वाह करता है, जिसकी प्रभुता और कीर्ति के बल पर जो आगे बढ़ा है, वह यदि उस आश्रयदाता का धन हड़पने का मन में लोभ लिए रहता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥१३॥

जो स्वामी अथवा ग्रामवासियों द्वारा अनधिकारी - अयोग्य होते हुए भी अधिकारी (अधिकार संपन्न) बनाया गया हो तथा पूर्व में संपत्ति हीन हो, वह (उस स्थान पर आकर) अतुल संपत्ति का मालिक हो गया हो, वह ईर्ष्यादोष युक्त और कलुषित - पापपूर्ण चित्त से अपने उपकर्ताओं के लाभ में अन्तराय करता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥१४॥

जिस प्रकार सर्पिणी अण्डे खा जाती है, उसी प्रकार जो अपने पालक, सेनापति तथा कलाचार्य या धर्माचार्य का हनन करता है, वह महामोहनीय कर्म संचोर्ण करता है ॥१५॥

जो राष्ट्र के नायक - शासक, गाँव के अधिपति तथा राज्यसम्मानित, परोपकार परायणता के कारण यशस्वी श्रेष्ठी की हत्या करता है, वह महामोह बंध का उपार्जन करता है ॥१६॥

जो विपुल जनसमुदाय के नायक को तथा समुद्रगत (दीव)द्वीप की तरह आश्रय दाता अथवा अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाले को तथा प्राणियों के त्राता रक्षक का वध करता है, वह महामोहनीय कर्माबद्ध होता है ॥१७॥

धर्म साधना हेतु उत्साहित, सर्वसावद्ययोग विरतिमूलक प्रव्रज्या युक्त संयमाराधक, उत्कृष्ट तपश्चरणशील को श्रुतचारित्र रूप धर्म से जो च्युत - पतित करता है, वह महामोहनीय कर्म का बंधन करता है ॥१८॥

जो अज्ञानी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन समुपेत जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद - निन्दा करता है, उन्हें असर्वज्ञ के रूप में दुर्भाषित करता है, वह महामोहनीय कर्म को उपार्जित करता है ॥१९॥

जो दुरात्मा न्याय युक्ति सम्मत सम्यग् दर्शन ज्ञान, चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की निन्दा करता हुआ बहुत से लोगों को उनसे विपरिणमित करता है - पथभ्रष्ट करता है, वह महामोह कर्म का बंध करता है ॥२०॥

आचार्य एवं उपाध्याय से जो श्रुत एवं आचार ग्रहण करता है तथा उनकी निन्दा (गर्हा) करता है, वह अज्ञानी महामोहनीय कर्म से आबद्ध होता है ॥२१॥

जो आचार्य तथा उपाध्याय को अपनी सेवा द्वारा परितृप्त - संतुष्ट नहीं कर पाता, उनका सत्कार-सम्मान नहीं करता हुआ अभिमान में धुत्त रहता है (अहमन्यवादी), वह महामोहनीय कर्म का संचोर्ण करता है ॥२२॥

जो बहुश्रुत - विशिष्ट ज्ञानाध्येता न होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत स्वाध्यायपरायण एवं शास्त्रज्ञ कहता है, वह महामोहनीय कर्म का संचय करता है ॥२३॥

जो वस्तुतः तपस्वी नहीं है किन्तु अपने आपको तपस्वी के रूप में प्रस्तुत करता है, वह सभी लोगों में सबसे बड़ा चोर है, महामोहनीय कर्म का उपार्जनकर्ता है ॥२४॥

जो साधु सक्षम, समर्थ होते हुए भी ग्लान मुनि की यह सोचते हुए कि भविष्य में मेरा यह प्रत्युपकार नहीं कर पायेगा (यह सोचता हुआ) सेवा नहीं करता, वह शठ-निर्दयी, कपटनिपुण, कालुष्याकुलचित्त, आत्म-अहितकारी होता है, महामोह कर्म को संचीर्ण करता है ॥२५॥

जो सर्वतीर्थ - साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म तीर्थ में भेद उत्पन्न करने हेतु बार-बार कलहोत्पादक, प्रवादपूर्ण बातें करता है, वह महामोहनीय कर्म का अधिकारी होता है ॥२६॥

जो आत्मश्लाघा एवं कीर्ति हेतु तथा मित्र जन के प्रिय हेतु बार-बार अधार्मिक योग - तंत्र-मंत्र-उच्चारण - वशीकरणात्मक प्रयोग करता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥२७॥

जो व्यक्ति देव या मनुष्य संबंधी कामभोगों की अतृप्ति से तीव्र अभिलाषा करता है, वह महामोह कर्म का बंध करता है ॥२८॥

जो व्यक्ति देवों की ऋद्धि, कान्ति, कीर्ति, सुन्दरता, शारीरिक-मानसिक शक्ति की निन्दा करता है, वह महामोहनीय कर्म संचित्त करता है ॥२९॥

जो अज्ञानी जिनेन्द्र देव की पूजा-अर्चा-सम्मान-सत्कार की तरह स्वयं आदर-सत्कार चाहता हुआ, देव, यक्ष और गुह्यक आदि को न देखता हुआ भी देखने का (मिथ्या) आलाप करता है, वह महामोहनीय कर्म का बंध करता है ॥३०॥

ये मोह से उत्पन्न होने वाले, अशुभ कर्म फलप्रद, चित्त को विभ्रान्त करने वाले प्रतिपादित हुए हैं। आत्मगवेषणा - आत्मपर्यालोचना करता हुआ भिक्षु इनका परित्याग कर संयममय जीवन में विहरणशील रहे ॥१॥

प्रव्रज्याकाल से पूर्व अपने द्वारा किए हुए कृत्य -अविहित का विधान तथा अकृत्य-सावद्य आचरण को जानता हुआ, उनको वमित करता हुआ हृदय से सर्वथा अपगत करता हुआ, उन्हीं (संयममूलक कृत्यों) का सेवन करे, जिनसे शुद्धाचारयुक्त बना रहे ॥ २ ॥

जो भिक्षु पंचाचार के पालन द्वारा संयम की रक्षा करता है, सर्वोत्कृष्ट-श्रुत-चारित्ररूप धर्म में अपने को स्थिर बनाए रखता है, वह उसी प्रकार अपने दोषों का वमन कर देता है, जिस प्रकार आशीविष सर्प अपने जहर को उगल देता है ॥३॥

विवेक पूर्वक दोषों का त्यागी, शुद्धात्मा, श्रुत-चारित्ररूप अनुत्तर धर्म का अनुष्ठाता, मोक्ष तत्त्व वेत्ता भिक्षु इस लोक में यश तथा परलोक में सुगति - मुक्ति प्राप्त करता है ॥४॥

इस प्रकार महामोहनीय बंध के हेतु को जानकर, सुदृढ़ आत्मपराक्रमी, परीषहों और उपसर्गों को सहने में समर्थ भिक्षु इस प्रकार महामोहनीय बंध के हेतुओं को जानकर, उनसे सर्वथा विमुक्त होकर जन्म-मरण-भवचक्र को अतिक्रान्त कर जाता है - अचल, अक्षय, अरूज शिवपद - निःश्रेयस प्राप्त करता है ॥५॥

इस प्रकार मोहनीयस्थान नामक नवमी दशा समाप्त होती है।

विवेचन - धर्म एवं अध्यात्म की आराधना में परिणामों का अत्यधिक महत्त्व है। जहाँ परिणामों की धारा अत्यन्त निर्मल, उज्वल होती है, वहाँ वर्षों में सफल होने वाला साध्य अल्पतम समय में सिद्ध हो जाता है। शुभ से शुभतर होती, अन्ततः सर्वथा विशुद्धि प्राप्त करती परिणामों की तीव्रतम समुज्वल धारा के परिणामस्वरूप मरुदेवी माता ने क्षणों में अनुत्तर, अनन्त ज्ञान प्राप्त कर लिया, जो सामान्यतः जन्म-जन्मान्तरों में भी सुलभ नहीं होता। उसी प्रकार परिणामों की कलुषता, मलिनता, दूषितता यदि अत्यन्त तीव्र होती है तो उससे बड़े ही वज्रलेपोपम चिकने कर्म बंधते हैं, जिन्हें सिद्धान्त की भाषा में महामोहनीय कहा जाता है। इनका क्षय होना अत्यन्त दुष्कर है। इनके दुष्परिणामों से अनन्त-पुद्गल परावर्त पर्यन्त जीव भवचक्र में भ्रमण करता है क्योंकि इनके कारण सम्यग् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र स्वायत्त होना दुर्लभ है।

मोक्ष जिसका परम लक्ष्य है, जिसके लिए वह समस्त सांसारिक भोगों का परित्याग कर चुका है, वैसे अत्यन्त दूषित परिणामों से अपने को सर्वदा, सर्वथा बचाए रख सके, भूल कर भी उनमें दुर्ग्रस्त न हो, एतदर्थ स्थविर भगवंतों ने महामोहनीय कर्म के प्रमुख तीस स्थानों, हेतुओं का दिग्दर्शन कराया है।

हिंसा, निर्दयता, क्रूरता, कठोरता, पाशविकता का जब अन्तःकरण में उभार होता है तब व्यक्ति दूषित से दूषित, हीन से हीन कर्म करता हुआ भी नहीं सकुचाता। उस समय उसके

परिणामों की धारा, लेश्याएं अशुभ से अशुभतर हो जाती हैं, साथ ही साथ जिन प्राणियों को तड़फा-तड़फा कर वह मारता है, उन मरणोन्मुख जीवों के परिणाम भी प्रायः अत्यन्त कालुष्यपूर्ण पाप पंक से मलिन हो जाते हैं। यों वह स्वयं के साथ-साथ दूसरे के लिए भी घोर पापपूर्ण परिणामों को उत्पन्न कराने में हेतु बनता है।

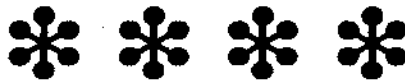
आत्मप्रशंसा, यशस्विता, कीर्तिकांक्षा जब सीमा पार करने लगती है तब व्यक्ति विविध प्रकार के माया एवं प्रवंचनापूर्ण व्यवहारों द्वारा अपने आप को, जैसा कि वह नहीं है, दिखलाने का जघन्य पाप करता है।

अभिमान या दंभ भी एक ऐसा भयानक रोग है, जो आत्मसाधना में घोर विघ्न उपस्थित करता है। अपने अभिमान को पालित-पोषित कराने हेतु व्यक्ति कितने प्रपंच रचता है, मिथ्यालाप, माया एवं छद्म का सहारा लेता है।

इस प्रकार घोर हिंसाघ्रवण, क्रूर, नितांत स्वार्थपूरित, अहंमन्यता और दंभयुक्त परिणामों से मलिनचेता पुरुष नीच से नीच कर्म करता हुआ भी नहीं संकुचाता। वह जिनेन्द्र देव का अवर्णवाद तथा आचार्य, उपाध्याय, कलाचार्य, धर्मगुरु आदि पूज्यजनों को सेवा से संतुष्ट नहीं कर पाता। इतना ही नहीं अपने तुच्छ स्वार्थों के लिए इनका वध तक कर डालता है।

सूत्र में जो तीस हेतु बतलाए गए हैं, वे इसी कोटि के तीव्रतम कालुष्यमय दूषित, निन्दित, गर्हित कर्म हैं, महामोहनीय बंध के हेतु हैं। अन्तिम पांच गाथाओं में सूत्रकार ने साधक को दृढता, आत्म-पराक्रम, उद्यम एवं उत्साह के साथ शुद्धात्म भावपूर्वक अपने मोक्ष रूप लक्ष्य को उपाप्त करने की प्रेरणा प्रदान की है।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की नववीं दशा समाप्त ॥



दसमा दसा - दशम दशा

आयति-स्थान

अलंकार विभूषित राजा का उपस्थानशाला में आगमन

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था, वण्णओ। गुणसिलए चेइए, रायगिहे णयरे सेणिए राया होत्था, रायवण्णओ एवं जहा उवघाइए जाव चेएणिए सद्धिं जाव विहरइ। तए णं से सेणिए राया अण्णया कयाइ ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते सिरसा कंठे मालकडे आविद्धमणिसुवण्णे कप्पिय-हारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तयसुकयसोभे पिणद्धगेवेज्ज-अंगुलेज्जग जाव कप्परुक्खए चेव अलंकियविभूसिए णरिदे सकोरंट-मल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं जाव ससिच्च पियदंसणे णरवई जेणेव बाहिरिया उवट्टाणसाला जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छिता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे णिसीयइ णिसीइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावित्ता एवं वयासी-

कठिन शब्दार्थ - अण्णया कयाइ - किसी दिन, कयबलिकम्मे - कृत बलिकर्म - नित्य - नैमित्तिक मांगलिक कृत्य, कयकोउय-मंगल-पायच्छित्ते - दुःस्वप्न एवं दोष निवारण हेतु मपी बिन्दु (काला टीका) एवं दधि-दूर्वा आदि का प्रयोग, मालकडे - माला धारण की, आविद्ध - धारण किया, कप्पिय - कल्पित - रचित, हार - अठारह लड़ों का हार, अद्धहार - नौ लड़ों का हार, तिसरय - तीन लड़ों का हार, पालंब - झूमका, पलंबमाण-लटकता हुआ, कडिसुत्तय - कटिसूत्र - कमर में धारण करने की करधनी, सुकयसोभे - सुंदर शोभा निष्पादित की, पिणद्धगेवेज्ज - कंठहार पहनना, अंगुलेज्जग - अंगूठियाँ, कप्परुक्खए - कल्पवृक्ष, अलंकियविभूसिए - अलंकृत-विभूषित, णरिदे - राजा के, सकोरंट-मल्लदामेणं - कोरंट के पुष्पों से बनी हुई मालाओं से युक्त, छत्तेणं - छत्र को, धरिज्जमाणेणं - धारण किए हुए, ससिच्च - चन्द्रमा के समान, पियदंसणे - देखने में आनंदप्रद, णरवई - नरपति - राजा, जेणेव - जहाँ पर, बाहिरिया - बाहरी, उवट्टाणसाला-उपस्थानशाला - सभा भवन, सीहासणवरंसि - उत्तम सिंहासन पर, पुरत्थाभिमुहे - पूर्वाभिमुख होकर, णिसीयइ - बैठा है, कोडुंबियपुरिसे - कौटुम्बिक पुरुष - राजपरिवार के व्यक्तिगत सेवक, सद्दावेइ - बुलाता है।

भावार्थ - उस काल, उस समय राजगृह नामक नगर था। नगर विषयक वर्णन औपपातिक सूत्र से योजनीय है। वहाँ (उस नगर के बहिर्भाग में) गुणशील नामक चैत्य था। उस राजगृह नगर में श्रेणिक नामक राजा था। राजा का वर्णन औपपातिक की तरह ग्राह्य है यावत् वह चेलणा महारानी के साथ सांसारिक भोग भोगता हुआ यावत् सुखपूर्वक रहता था।

किसी एक दिन का प्रसंग है - राजा श्रेणिक ने स्नान किया। नित्य-नैमित्तिक मंगलाचार तथा दोषनिवारण प्रायश्चित्तादि कृत्य संपादित कर गले में माला धारण की। अनेकविध मणिरत्न निर्मित हार, अर्द्धहार, तीन लड़ों के हार, लटकते हुए झूमके युक्त कटिसूत्र आदि धारण कर शोभित हुआ। कंठहार, अंगूठियाँ आदि धारण कर यावत् कल्पवृक्ष की तरह शोभायमान हुआ। कोरंट पुष्पों की मालाओं से युक्त छत्र धारण किए हुए राजा यावत् चन्द्रमा की तरह देखने में आनंदप्रद नृपति जहाँ बाह्य उपस्थानशाला (सभा भवन) थी, जहाँ सिंहासन था, वहाँ आया और (उस) उत्तम सिंहासन पर पूर्वाभिमुख होकर बैठा एवं कौटुंबिक पुरुषों को बुलाया तथा इस प्रकार कहा।

विवेचन - ऊपर के पाठ में आये हुए “कयबलिकम्मे” शब्द का अर्थ “स्नान संबंधी विधि पूर्ण की” ऐसा समझना चाहिए।

राजा श्रेणिक द्वारा अधिकारीवृन्द को आदेश

गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! जाइं इमाइं रायगिहस्स णयरस्स बहिया तंजहा-
आरामाणि य उज्जाणाणि य आएसणाणि य आययणाणि य देवकुलाणि य सभाओ य
पवाओ य पणियगिहाणि य पणियसालाओ य छुहाकम्मंताणि य वाणियकम्मंताणि
कट्टुकम्मंताणि य इंगालकम्मंताणि य वणकम्मंताणि य दब्भकम्मंताणि य जे
त(त्थेव)त्थ महत्तरगा अण्णया चिट्ठंति ते एवं वयह-

कठिन शब्दार्थ - गच्छह - जाओ, आरामाणि - भ्रमण योग्य उपवन, उज्जाणाणि-
विश्रामगृह (धर्मशाला), देवकुलाणि - देवायतन, पवाओ - प्रपा - जल प्रतिष्ठान,
पणियगिहाणि - हट्टशाला, पणियसालाओ - क्रय-विक्रय केन्द्र, छुहाकम्मंताणि -
भोजनशाला या चूने का कारखाना, कट्टुकम्मंताणि - काष्ठशाला, वाणियकम्मंताणि -
वाणिज्यकर्मशाला - व्यापार केन्द्र, इंगालकम्मंताणि - कोयला घर, वणकम्मंताणि -

जंगली काष्ठ के विक्रय केन्द्र, दम्भकम्पंताणि - दर्भ के आसनादि के विक्रय स्थान, महत्तरगा - प्रमुखजन, अण्णया - अन्य कोई, चिट्टंति - स्थित होते हैं।

भावार्थ - देवानुप्रियो! तुम जाओ और राजगृह नगर के बाहर आराम, उद्यान, कलादीर्घाएँ, विश्रामगृह, देवायतन, जलप्रतिष्ठान, हट्टशालाएँ, क्रय-विक्रय केन्द्र, भोजनशालाएँ या चूने के कारखाने, व्यापारकेन्द्र, काष्ठशालाएँ, कोयलागृहों, जंगली काष्ठ (इमारती लकड़ी) के कारखानों एवं दर्भ के आसनादि विक्रय स्थानों में जो अधिकारीगण - इनके स्वामी रहते हैं, उनसे इस प्रकार कहो।

एवं खलु देवाणुप्पिया ! सेणिए राया भंभसारे आणवेइ - जया णं समणे भगवं महावीर आइगरे तित्थयेरे जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरिं इह आगच्छेज्जा इह समोसरे)ज्जा तथा णं तुम्हे भगवओ महावीरस्स अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणह अहापडिरूवं उग्गहं अणुजाणेत्ता सेणियस्स रण्णे भंभसारस्स एयमट्ठं पियं णिवेएह ॥१॥

कठिन शब्दार्थ - आणवेइ - आदेश देता है, आइगरे - आदिकर, तित्थयेरे - तीर्थकर, संपाविउकामे - मुमुक्षु भावयुक्त, पुव्वाणुपुव्विं - अनुक्रम से, चरमाणे - विहार करते हुए, गामाणुगामं - एक गाँव से दूसरे गाँव, दूइज्जमाणे - घूमते हुए, सुहंसुहेणं - सुखपूर्वक, संजमेणं - संयम से, अप्पाणं - आत्मा को, भावेमाणे - अनुभावित करते हुए, विहरिज्जा - आएँ, अहापडिरूवं - यथायोग्य - उनके साधनामय जीवन के अनुकूल, उग्गहं - स्थान, अणुजाणेत्ता - बतलाओ, पियं - प्रिय, णिवेएह - निवेदित करो।

भावार्थ - (कौटुम्बिक पुरुषों ने लोगों को राजाज्ञा के अनुसार सूचित किया।)

देवानुप्रियो! राजा श्रेणिक बिम्बसार ने यह आदेश दिया है - जब आदिकर - अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक तीर्थकर - साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध धर्म संघ - धर्मतीर्थ के प्रतिष्ठापक यावत् मोक्षाभिलाषी, यथाक्रम पादविहार करते हुए ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए, सुखपूर्वक विहार करते हुए, संयम एवं तप से आत्मानुभावित होते हुए यहाँ पधारें तब तुम लोग भगवान् महावीर के संयमीजीवन के अनुरूप आवास आदि हेतु प्रार्थना करें एवं यह प्रीतिकर समाचार राजा श्रेणिक बिम्बसार की सेवा में निवेदित करें।

तए णं ते कोडुंबियपुरिसा सेणिएणं रण्णा भंभसारेणं एवं वुत्ता समाणा हडुत्तु
जाव हियया जाव एवं सामि(तह)त्ति आणाए विणएणं पडिसुणेत्ति पडिसुणित्ता
[एवं-ते] सेणियस्स रण्णो अंतियाओ पडिणिक्खमंति पडिणिक्खमित्ता रायगिहं णयरं
मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छंति णिग्गच्छित्ता जाइं इमाइं रायगिहस्स बहिया आरामाणि वा
जाव जे तत्थ महत्तरगा अण्णया चिदुंति ते एवं वयंति जाव सेणियस्स रण्णो एयमदुं
पियं णिवेएज्जा पियं भे भवउ दोच्चंपि तच्चं पि एवं वयंति वइत्ता जामेव दि(सं)सिं
पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - हडुत्तु - हर्षित - संतुष्ट, हियया - हृदय में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, सामित्ति - स्वामी - राजा, पडिसुणेत्ति - सुनते हैं - स्वीकार करते हैं, मज्झंमज्झेणं- बीचोंबीच, णिग्गच्छंति - निकलते हैं, पाउब्भूया - आए, तामेव - उसी, दिसिं - दिशा में, पडिगया - चले गए।

भावार्थ - राजा श्रेणिक बिंबसार द्वारा यों कहे जाने पर वे राजसेवक हर्षित एवं परितुष्ट हुए यावत् उनके हृदय आनंद से खिल उठे यावत् "स्वामिन्! जैसी आपकी आज्ञा" यों कहकर राजा का आदेश शिरोधार्य किया। श्रेणिक राजा के अन्तःपुर से निकलकर राजगृह के बीचोंबीच होते हुए बहिर्वर्ती आराम - उपवन यावत् पूर्व वर्णित स्थानों के अधिकारी जहाँ थे, वहाँ उन्हें राजाज्ञा से अवगत कराया यावत् आज्ञानुरूप संपादित कर राजा की सेवा में (उसके लिए) प्रिय संवाद निवेदित करो। इस प्रकार दो-तीन बार कहा। वैसा कर (यावत्) जिस ओर से आए थे, उसी दिशा में वापस लौट गए।

श्रमण भगवान् महावीर का समवसरण

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव गामाणुगामं
दुडुज्जमाणे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडगतिय-
चउक्कचच्चर एवं जाव परिसा णिग्गया जाव पज्जुवा(से)सइ ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - सिंघाडग - तीन मार्ग युक्त, तिय - तिराहा, चउक्क - चतुष्क - चार मार्ग युक्त, चच्चर - चत्वर - छह या अनेक मार्ग युक्त, पज्जुवासइ - पर्युपासनारत हुई।

भावार्थ - उस काल, उस समय आदिकर, तीर्थकर श्रमण भगवान् महावीर यावत् ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यावत् अपनी आत्मा को संयम एवं तप से भावित करते हुए

पधारे। तब राजगृह नगर के त्रिपथ, तिराहे, चतुष्क चत्वर आदि संगम स्थानों पर लोगों में चर्चा होने लगी यावत् परिषद् धर्म श्रवण-हेतु निकली यावत् लोग भगवान् की पर्युपासना में रत हुए।

तए णं ते महत्तरगा जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता णामगोयं पुच्छंति णामगोयं पुच्छित्ता णामगोयं पधारेति० पधारित्ता एगओ मिलंति एगओ मिलित्ता एगंतमवक्कमंति एगंतमवक्कमित्ता एवं वयासी-जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया भंभसारे दंसणं कंखइ जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया दंसणं पीहेइ जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया दंसणं पत्थेइ.....अभिलसइ जस्स णं देवाणुप्पिया! सेणिए राया णामगोत्तस्सवि सवणयाए हट्टुत्तु जाव भवइ से णं समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव सव्वण्णू सव्वदंसी पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइजमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे इह आगए इह समोसठे इह संपत्ते जाव अप्पाणं भावेमाणे सम्मं विहरइ, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! सेणियस्स रण्णो एयमट्ठं णिवेएमो पियं भे भवउत्तिकट्टु अण्णमण्णस्स वयणं पडिसुणंति पडिसुणित्ता रायगिहं णगरं मज्झंमज्झेणं जेणेव सेणियस्स रण्णो गिहे जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति उवागच्छित्ता सेणियं रायं करयलपरिग्गहियं जाव जएणं विजएणं वद्धावेति वद्धावित्ता एवं वयासी-“जस्स णं सामी! दंसणं कंखइ जाव से णं समणे भगवं महावीरे गुणसि(ले)लए चेइए जाव विहरइ, एयं(तस्स)णं देवाणुप्पियाणं पियं णिवेएमो पियं भे भवउ” ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - तिक्खुत्तो - तीन बार, णमंसित्ता - नमस्कार कर, णामगोयं - नाम तथा गोत्र, पुच्छंति - पूछते हैं, पधारेति - संप्रधारित किया - आत्मसात किया, एगओ - परस्पर, मिलंति - मिलते हैं, एगंतमवक्कमंति - एकांत स्थान में जाते हैं, कंखइ - इच्छा करता है, पीहेइ - चाहता है, पत्थेइ - प्रार्थना करता है, अभिलसइ - अभिलाषा करता है, सवणयाए - सुनने से, सव्वण्णू - सर्वज्ञ, वद्धावेति - वर्धापित करते हैं।

भावार्थ - तब राजा श्रेणिक के वे मुख्य अधिकारीगण जहाँ श्रमण भगवान् महावीर विराजित थे, वहाँ आए। उन्होंने प्रभु महावीर को सविधि तीन बार वंदन नमन किया। नाम-गोत्र पूछा, आत्मसात किया तथा वे परस्पर एकत्र होकर एकांत में गए।

वहाँ आपस में इस प्रकार वार्तालाप किया - देवानुप्रियो! राजा श्रेणिक जिनके दर्शन की आकांक्षा रखता है, जिनके दर्शन उसे प्रिय है, जिनके दर्शनों की वह अभ्यर्थना, अभिलाषा करता है, जिनके नाम, गोत्र श्रवण कर ही उसका हृदय यावत् परितुष्ट है, वे आदिकर, तीर्थंकर यावत् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी अनुक्रम से ग्रामानुग्राम सुखपूर्वक विचरण करते हुए यहाँ आए हैं, समवसृत हुए हैं, पधारे हैं यावत् संयम एवं तप से आत्मानुभावित होते हुए यहाँ सम्यक् विराजमान हैं।

इसलिए देवानुप्रियो! हम चलें, श्रेणिक राजा को यह समाचार सुनायें तथा उन्हें कहें कि आपके लिए हम प्रीतिकर संवाद लाए हैं, इस प्रकार एक दूसरे के वचन सुने तथा वहाँ राजगृह नगर के बीचोंबीच होते हुए, जहाँ राजा का प्रासाद था, राजा श्रेणिक था, वहाँ आए। हाथ जोड़कर यावत् जय-विजयपूर्वक राजा श्रेणिक को वर्द्धापित करते हुए बोले - स्वामिन्! जिनके दर्शनों की आपको उत्कंठा है यावत् वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गुणशील चैत्य में यावत् विराजित हैं।

हे देवानुप्रिय! आपकी सेवामें यह प्रिय संवाद हम निवेदित कर रहे हैं, आपके लिए यह आनंदप्रद हो।

दर्शन, वंदन हेतु श्रेणिक का गमन

तए णं से सेणिए राया तेसिं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्टुट्ठु जाव हियए सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ अब्भुट्ठित्ता जहा कोणिओ जाव वंदइ णमंसइ वंदित्ता णमंसित्ता ते पुरिसे सक्कारेइ सम्माणेइ सक्कारित्ता सम्माणित्ता विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलयइ दलइत्ता पडिविसज्जेइ पडिविसज्जित्ता णगरगुत्तियं सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! रायगिहं णगरं सत्थिभतरबाहिरयं आसियसंमज्जिओवलित्तं जाव करित्ता पच्चप्पिणंति ॥ ५ ॥

तए णं से सेणिए राया बलघाउयं सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी - खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! हयगयरहजोहकलियं चाउरंगिणिं सेणं सण्णाहेह जाव से वि पच्चप्पिणइ ॥ ६ ॥

तए णं से सेणिए राया जाणसालियं सद्दावेइ सद्दावेत्ता एवं वयासी-“ भो देवाणुप्पिया! खिप्पामेव धम्मियं जाणप्पवरं जुत्तामेव उवट्टवेह उवट्टवित्ता मम एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह।” तए णं से जाणसालिए सेणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ट तुट्ट जाव हियए जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता जाणसालं अणुप्पविसइ अणुप्पविसित्ता जाणगं पच्चुवेक्खइ पच्चुवेक्खित्ता जाणं पच्चोरुभइ पच्चोरुभित्ता दूसं पवी(पीह)णेइ पवीणित्ता जाणगं संपमज्जइ संपमज्जित्ता जाणगं णीणेइ णीणित्ता जाणाइं समलंकरेइ समलंकरित्ता जाणाइं वरभंडगमंडियाइं करेइ करित्ता जाणाइं संवेढेइ संवेढित्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता वाहणसालं अणुप्पविसइ अणुप्पविसित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खइ पच्चुवेक्खित्ता वाहणाइं संपमज्जइ संपमज्जित्ता वाहणाइं अप्फालेइ अप्फालित्ता वाहणाइं णीणेइ णीणित्ता दूसं पवीणेइ पवीणित्ता वाहणाइं समलंकरेइ समलंकरित्ता वरभंडगमंडियाइं करेइ करित्ता वाहणाइं जाणगं जोएइ जोएत्ता वट्टमग्गं गाहेइ गाहित्ता पओयलट्ठिं पओयधरे य समं आरोहइ आरोहित्ता अंतरासमपयंसि जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्तां करयल जाव एवं वयासी-जुत्ते ते सामी ! धम्मिए जाणप्पवरे आइट्ठे भदंतु वग्गूहिं गाहित्ता ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - अब्भुट्ठेइ - उठता है, पीइदाणं - प्रीतिदान - प्रसन्न होकर दिया जाने वाला अनुदान, पड्डिविसज्जेइ - प्रतिविसर्जित करता है - विदा करता है, णगरगुत्तियं - नगररक्षक - कोतवाल, आसिय - जल से प्रक्षालित करो, संमज्जि - सम्मार्जित करो, ओवलित्तं - गोबर, मृत्तिका आदि का लेप करो, पच्चप्पिणंति - पुनः सूचित करते हैं, बलवाउयं - सेनापति, जोहकलियं - योद्धाओं से सुसज्जित, सण्णाहेह - सज्जित करो, जाणसालियं - यानशाला के अधिकारी, धम्मियं - धार्मिक कार्यों में प्रयोजनीय, जाणप्पवरं- उत्तम रथ, जुत्तामेव - तैयार करो, पच्चुवेक्खइ - भलीभाँति अवलोकित किया, पच्चोरुभइ- (यान रत्न के ऊँचे चौक से) नीचे उतारता है (प्रत्यवरोहयति - अधोऽवतारयति), दूसं - आच्छादान वस्त्र, पवीणेइ - हटाता है, णीणेइ - बाहर लाता है, वरभंडगमंडियाइं - उत्तम उपकरणों से सुशोभित किया, संवेढेइ - स्थापित किया - एक ओर खड़ा किया, अप्फालेइ - स्नेह से हाथ फिराता है, वट्टमग्गं - यानशाला से यान के बाहर निकलने का रास्ता, पओयलट्ठिं - प्रतोदयष्टिः-चाबुक, पओयधरे - सारथि, अंतरासमपयंसि - अन्तःपुर

की ओर जाने वाले मार्ग पर, आइड्रे - आदिष्ट - आप द्वारा जैसा आदेश दिया गया, भइंतु-
आपका कल्याण हो।

भावार्थ - राजा श्रेणिक ने उन पुरुषों से यह संवाद सुना, हृदय में धारण किया, हर्षित, परितुष्ट हुआ यावत् प्रसन्न होते हुए सिंहासन से उठा। इस प्रकार एतद्विषयक समस्त वर्णन राजा कोणिक (कूणिक) की तरह ज्ञातव्य है यावत् भगवान् को वंदन, नमन किया। उन पुरुषों को सत्कृत सम्मानित किया तथा जीवननिर्वाह (आजीवन) योग्य विपुल प्रीतिदान दिया और उन्हें विदा किया।

तदनंतर कोतवाल को बुलाया और इस प्रकार कहा - देवानुप्रिय! शीघ्र ही राजगृह नगर को भीतर और बाहर से सफ-सुथरा कर जल आदि का छिड़काव करवाओ, गोबर-मृत्तिका आदि का लेप करवाओ यावत् उसने वैसा कर राजा की सेवा में निवेदित किया।

तत्पश्चात् राजा श्रेणिक ने सेनापति को बुलाया और उसे इस प्रकार कहा - देवानुप्रिय! शीघ्र ही हस्ती, अश्व, रथ एवं पदाति युक्त चतुरंगिणी सेना को सुसज्ज करो यावत् उसने वैसा संपादित कर सेवा में निवेदन किया।

इसके बाद राजा श्रेणिक ने यानशाला के अधिकारी को आहूत किया (बुलाया) और उसे कहा - देवानुप्रिय! धार्मिक कार्यों में प्रयोक्तव्य उत्तम रथ को अविलम्ब तैयार कर यहाँ उपस्थित करो। मेरे आदेशानुरूप कार्य सम्पन्न हो जाने पर मुझे सूचित करो।

राजा श्रेणिक द्वारा यों आदिष्ट किए जाने पर यानशाला का प्रबंधक हर्षित, परितुष्ट यावत् प्रसन्नता पूर्वक जहाँ यानशाला थी उधर चला, यानशाला में प्रवेश किया, यान का अवलोकन किया, यान को (चौक से) नीचे उतारा, उस पर (रज आदि से बचाने हेतु) डाले गए वस्त्र को हटाया। रथ को स्वच्छ किया। रथ को बाहर निकाल कर उत्तम उपकरणों द्वारा सज्जित, सुशोभित किया। यान को उपयुक्त स्थान पर खड़ा किया।

फिर वह वाहनशाला में प्रविष्ट हुआ। वाहनों (रथ को खींचने में प्रयुक्त होने वाले अश्व आदि) को देखा, उनको स्वच्छ किया, सस्नेह हाथ से सहलाया, उन्हें बाहर निकाला तथा आवरक वस्त्र को हटाया। वाहनों (अश्वों) को उत्तम पात्र आदि से मंडित, सुशोभित किया। उन्हें यान में जोड़ा तथा उसे यानशाला से बाहर निकालने के मार्ग पर खड़ा किया। तदनंतर चाबुक तथा चाबुक धारण करने वाले - सारथी को उस पर बिठलाया एवं अन्तःपुर की ओर आने वाले मार्ग से होता हुआ, जहाँ राजा श्रेणिक था, वहाँ आया, अंजलि बांधे यावत्

विनयपूर्वक इस प्रकार बोला - स्वामिन्! आपके आदेशनुसार उत्तम धार्मिक यान तैयार है। आपका कल्याण हो, यान आपके लिए श्रेयस्कर हो, (कृपया) आप इस पर आरोहरण करें।

तए णं सेणिए राया भंभसारे जाणसालियस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्टुत्तु जाव मज्जणघरं अणुप्पविसइ अणुप्पविसित्ता जाव कप्परुक्खे चेव अलंकियविभूसिए णरिदे जाव मज्झणघराओ पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमित्ता जेणेव चे(चि)ल्लणादेवी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता चेल्ल(णं)णादेविं एवं वयासी- एवं खलु देवाणुप्पिए ! समणे भगवं महावीरे आइगरे तित्थयरे जाव पुब्बाणुप्पिं चरमाणे जाव संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं म(हा)हप्फलं देवाणुप्पिए! तहारूवाणं अरहंताणं जाव तं गच्छामो णं देवाणुप्पिए ! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो, एयं णे इहभवे य परभवे य हियाए सुहाए खमाए णिस्सेय साए जाव अणुगामियत्ताए भविस्सइ। तए णं सा चेल्लणादेवी सेणियस्स रण्णो अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्टुत्तु जाव पडिसुणेइ पडिसुणित्ता जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता णहाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता किं ते वरपायपत्तणेउरा मणिमेहलाहाररइयउवचिया कडगखडुगएगावलिकंठसुत्त-मरगवतिसरयवरवलय- हेमसुत्तयकुं डलउज्जोवियाणणा रयणविभूसियंगी चीणंसुयवत्थ-परिहिया दुगुल्लसुकुमालकंतरमणिज्जउत्तरिज्जा सब्बोठबसुरभिकुसुम-सुंदररइयपलंब- सोहणकं तविकसंतचित्तमाला वरचंदणचच्चिया वराभरणविभूसियंगी कालागुरुधूवधूविया सिरिसमाणवेसा बहूहिं खुज्जाहिं चिलाइयाहिं जाव महत्तरगविंदपरिक्खित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्टाणसाला जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ। तए णं से सेणिए राया चेल्लणादेवीए सद्धिं धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहइ दुरुहित्ता सक्कोरिटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिजमाणेणं उववाइयगमेणं णेयव्वं जाव पज्जुवासइ एवं चेल्लणादेवी जाव महत्तरगविंदपरिक्खित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ सेणियं रायं पुरओ कांडं ठिइया चेव जाव पज्जुवासइ ॥ ८ ॥

तए णं समणे भगवं महावीरे सेणियस्स रण्णो भंभसारस्स चेल्लणादेवीए तीसे य महइमहालियाए परिसाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए मणु(य)स्सपरिसाए देवपरिसाए अणेगसयाए जाव धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया, सेणि(य)ओ राया पडिगओ ॥९ ॥

कठिन शब्दार्थ - मज्जणघरं - स्नानगृह, वरपायपत्तणेउरा - पैरों में सुन्दर नूपुर पहने, कडग - कंगन, खड्डुग - अंगुलीयक (अंगूठी) विशेष, एगावलि - एक लड़ा हार, मरगवतिसरय - रत्नजटित तीन लड़ा हार, वरवल्लय - सुन्दर हस्ताभरण, हेमसुत्तय - स्वर्णसूत्र - सोने का एक लड़ा हार (स्वर्ण दोरक - सोने का डोरा), चीणंसुयवत्थपरिहिया- चीन में निर्मित भव्य रेशमी वस्त्र धारण किए, दुगुल्ल - दुकूल वृक्ष की छाल से निर्मित, सुकुमाल - अत्यन्त कोमल, कंत - कांत - मनोहर, रमणिज्ज - रमणीय, उत्तरिज्जा - उत्तरीय, उय - ऋतु, चच्चिया - चर्चित - प्रलिप्त किया, वराभरणविभूसियंगी - उत्तम आभूषणों से सुशोभित देह युक्त, सिरिसमाणवेसा - लक्ष्मी के समान वेश वाली, खुज्जाहिं- कान्यकुब्ज में उत्पन्न दासियाँ, चिलाइयाहिं - आदिवासी जाति विशेष में उत्पन्न दासियाँ, महत्तरगविंद - महत्तरकवृन्द - अन्तःपुर के विशिष्ट परिरक्षक गण, दुरूहइ - आरूढ होता है, काउं - कृत्वा - करके, महइमहालियाए - अति महनीय तथा विशाल, अणेगसयाए - अनेक शत-सैकड़ों - सैकड़ों।

भावार्थ - तदनंतर राजा श्रेणिक यानशालिक के मुख से यह सब सुन कर अत्यन्त हर्षित एवं परितुष्ट हुआ यावत् स्नानघर में प्रविष्ट हुआ यावत् कल्पवृक्ष की भाँति अलंकारों से विभूषित हुआ यावत् स्नानगृह से (चन्द्रमा जिस प्रकार बादलों से निकलता है, उस प्रकार प्रियदर्शन राजा श्रेणिक) बाहर निकला। तदनंतर जहाँ उसकी रानी, चेलणा थी, वहाँ आया और आकर उससे इस प्रकार बोला - देवानुप्रिये! आदिकर तीर्थकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी यावत् अनुक्रम से विचरण करते हुए यावत् आत्मानुभावित होते हुए गुणशील चैत्य में पधारे हैं।

देवानुप्रिय! उन तथारूप - तप-संयम युक्त अरहंत भगवान् का नाम-गोत्र श्रवण ही (निर्जरा रूप) महाफलदायक है यावत् श्रमण भगवान् महावीर का वंदन, नमन, सत्कार, सम्मान मोक्षदायक होने से कल्याण स्वरूप है, सर्वहित का प्राप्तिकारक होने से मंगलरूप है, भव्यों का आराधन रूप होने से देवस्वरूप है तथा सम्यक् बोधरूप होने से ज्ञान स्वरूप है।

इसलिए हम इनकी पर्युपासना करें। यह इस लोक और परलोक में हितप्रद, सुखकर श्रेयस्कर (क्षेमंकर) और मोक्षदायी यावत् भव-भव में अनुकरणीय होगा।

तत्पश्चात् महारानी चेलणा राजा श्रेणिक से (भगवान् का आगमन विषयक) यह सब सुनकर हर्षित, परितुष्ट हुई यावत् उन्हें (विनय पूर्वक) स्वीकार कर जहाँ स्नानघर था वहाँ आई। स्नान किया, मंगलोपचार किए, दुःस्वप्न निवारणार्थ प्रायश्चित्तादि कृत्य संपादित किए। पैरों में सुन्दर नूपुर पहने। मणिजटित कटिसूत्र, हार धारण कर रानी अतीव शोभित उपशोभित हुई। कंगन, अंगुलीयक (अंगूठियाँ) एकावली हार, कंठसूत्र, रत्नजटित तीन लड़ा हार, बाजूबंद, डोरा (दोरक), कुंडल धारण करने से उसका मुख देदीप्यमान होने लगा। समस्त अंगों को रत्नों से विभूषित किया। चीन देश में निर्मित उत्तम रेशमी वस्त्र को धारण किया। दूकूल वृक्ष की कोमल त्वचा (छाल) से बने हुए मनोहर, रमणीय उत्तरीय को पहना। समस्त ऋतुओं में होने वाले सुगंधित कांत, अनेक वर्णों की लटकती हुई शोभायमान मालाएं धारण कीं। उत्तम चंदन से शरीर को चर्चित - लेपित किया। अपने अंग प्रत्यंगों को अन्य सुंदर आभूषणों से अलंकृत किया। काले अगर के धुँए से अपने केशादि वासित किये। ऐसी लक्ष्मी सदृश वेशवाली चेलणादेवी अनेक कान्यकुब्ज.....चिलात आदि विभिन्न देशों-प्रदेशों में उत्पन्न दासियों से यावत् अन्तःपुर के विशिष्ट रक्षकों से घिरी हुई, जहाँ बाह्य उपस्थानशाला थी, जहाँ श्रेणिक राजा था, वहाँ आई।

तदनंतर राजा श्रेणिक चेलणादेवी के साथ उत्तम धर्मकार्यप्रयोज्य रथ पर आरूढ हुआ। कोरंट पुष्पों की मालाओं से युक्त छत्र को धारण किए हुए राजा भगवान् के दर्शन, वंदन हेतु चला यावत् पर्युपासनारत हुआ। एतद्विषयक समस्त वर्णन औपपातिक सूत्र से लेना चाहिए।

इसी प्रकार महारानी चेलणा भी यावत् विशिष्ट अन्तःपुर अंगरक्षकों से घिरी हुई जहाँ भगवान् महावीर स्वामी विराजमान थे, वहाँ आई, प्रभु महावीर को सविधि वंदन, नमन किया तथा राजा श्रेणिक को आगे कर यावत् पर्युपासनारत हुई।

तदनंतर श्रमण भगवान् महावीर ने श्रेणिक राजा बिंबसार एवं महारानी चेलणा के समीप आने पर अति महत्त्वपूर्ण एवं महनीय चार प्रकार की परिषद् - ऋषि परिषद्, मुनि परिषद्, मनुष्य परिषद् एवं देव परिषद् के मध्य, जिसमें सैंकड़ों-सैंकड़ों लोग (श्रोतृवृन्द) उपस्थित थे यावत् (श्रुत चारित्र रूप) धर्म का उपदेश दिया। उपदेश श्रवण कर परिषद् लौट गई, राजा श्रेणिक भी लौट गए।

साधु-साध्वियों का निदान-संकल्प

तत्थेगइयाणं णिगंथाणं णिगंथीण य सेणियं रायं चेल्लणं च देविं पासित्ताणं इमे एयारूवे अञ्जत्थिए जाव संकप्पे समुप्पज्जित्था - अहो णं सेणिए राया महिड्डिए जाव महासुक्खे जे णं णहाए कयबलिकम्मे-कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सव्वालंकारविभूसिए चेल्लणादेवीए सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, ण मे दिट्ठा देवा देवलोगंसि सक्खं खलु अयं देवे, जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियमबंभचेरगुत्तिफलवित्तिविसेसे अत्थि तथा वयमवि आगमेस्साणं इमाइं ताइं उरालाइं एयारूवाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरामो, से तं साहु ॥ १० ॥

अहो णं चेल्लणादेवी महिड्डिया जाव महासुक्खा जा णं णहाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता जाव सव्वालंकारविभूसिया सेणिएणं रण्णा सद्धिं उरालाइं माणुस्सगाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ, ण मे दिट्ठाओ देवीओ देवलोगंसि सक्खं खलु अयं देवी, जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियम-संजमबंभचेरगुत्तिवासस्स कल्लाणे फलवित्तिविसेसे अत्थि तथा वयमवि आगमिस्साणं इमाइं एयारूवाइं उरालाइं जाव विहरामो, से तं साहु(णी) ॥ ११ ॥

अज्जो ! त्ति समणे भगवं महावीरे ते बहवे णिगंथा य णिगंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी-“सेणियं रायं चेल्लणादेविं पासित्ता तुम्हाणं मणंसि इमेयारूवे अञ्जत्थिए जाव समुप्पज्जित्था - अहो णं सेणिए राया महिड्डिए जाव सेत्तं साहु, अहो णं चेल्लणादेवी महिड्डिया सुंदरा जाव सेत्तं साहु, से णूणं अज्जो! अट्टे समट्टे ?” हंता ! अत्थि ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - तत्थेगइयाणं - वहाँ उपस्थित कुछेक साधु-साध्वियों में, पासित्ताणं- देखकर, एयारूवे - इस प्रकार का, अञ्जत्थिए - अध्यवसाय - मानसिक उद्वेलन, संकप्पे-संकल्प, समुप्पज्जित्था - समुत्पन्न हुआ, महिड्डिए - महान् ऋद्धि - ऐश्वर्य युक्त, महासुक्खे- महान् सुख - सुखोपभोगमय जीवन जीने वाला, उरालाइं - उत्तम (उदार), दिट्ठा - देखा, सक्खं - साक्षात्, जइ - यदि, इमस्स - इस; सुचरियस्स - सुंदर रूप में आचरित, आगमेस्साणं - भविष्यत् काल में, णूणं - निश्चय ही, हंता - हाँ, अत्थि - अस्ति - है।

भावार्थ - (श्रेणिक राजा और महारानी चेलणा को देखकर) वहाँ उपस्थित कुछ साधु-साध्वियों के मन में इस प्रकार का मानसिक उद्वेलन यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ - अहो! कितने आश्चर्य की बात है, राजा श्रेणिक महान् ऋद्धिशाली यावत् अत्यन्त सुखसंपन्न हैं, जो स्नान, मंगलोपचार, दुःस्वप्न निरोधनार्थ प्रायश्चित्तादि कर सभी अलंकारों से विभूषित होकर महारानी चेलणादेवी के साथ मनुष्य जीवन के उत्तमोत्तम भोग भोगता हुआ रह रहा है। हमने देवलोक में देवों को देखा नहीं है। यह साक्षात् देवस्वरूप है। यदि हमारे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित, तप, नियम, ब्रह्मचर्य एवं त्रिगुप्तिमय चर्या का फल विशेष हो तो हम भी भविष्य में इसी प्रकार के मनुष्य जीवन संबंधी उत्तम भोगों को भोगें। वह हमारे लिए समीचीन - उत्तम होगा।

अहो! यह महारानी चेलणा महनीया ऋद्धिशालिनी यावत् विपुल सुख सम्पन्ना है। यह स्नान, मंगलोपचार, प्रायश्चित्तादि कर यावत् सभी अलंकारों से विभूषित होती हुई राजा श्रेणिक के साथ मानुषिक जीवन संबंधी श्रेष्ठ भोग भोगती है। यह साक्षात् देवी स्वरूपा है।

हमारे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित तप, विनय, ब्रह्मचर्य एवं त्रिगुप्तिमय चर्या का यदि कोई फलविशेष हो तो हम भी आगामी (भविष्यवर्ती) जीवन में इसी प्रकार के मनुष्य जीवन संबंधी उत्तम भोगों को भोगें। यह हमारे लिए समीचीन - श्रेष्ठ होगा।

श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने उन बहुत से निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को संबोधित कर इस प्रकार कहा - आर्यों! राजा श्रेणिक और महारानी चेलणा को देखकर तुम्हारे मन में इस प्रकार का विचारोद्वेलन यावत् संकल्प उत्पन्न हुआ - अहो! राजा श्रेणिक महान् ऋद्धिशाली है यावत् हमको (साधुओं को) भी भवान्तर में वैसा भोग प्राप्त हो, तो हमारे लिए बहुत अच्छा हो।

इसी प्रकार अरे! महारानी चेलणा अत्यन्त ऋद्धिशालिनी, सुखसम्पन्ना तथा सुन्दर है यावत् हमको (साध्वियों को) भी आगामी भव में वैसा उत्तम भोग प्राप्त हो, तो हमारे लिए बहुत अच्छा (समीचीन) हो।

आर्यों! जो मैंने कहा, वैसा ही है?

भगवन्! हाँ, ऐसा ही है।

साधु द्वारा उत्तम मानुषिक भोगों का निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे पडिपुण्णे केवले संसुद्धे णेयाउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिज्जाणमग्गे णिव्वाणमग्गे अवितहमविसंदिद्धे सब्बदुक्खप्पहीणमग्गे इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सब्बदुक्खाणमंतं क(रं)रेंति ॥ १३ ॥

जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्टिए विहरमाणे पुरा-दिगिंछाए पुरा-पिवासाए पुरा-वायाऽयवेहिं पुरापुट्टे विरूवरूवेहिं परिसहोवसग्गेहिं उदिण्ण-कामजाए विहरिजा, से य परक्कमेज्जा, से य परक्कममाणे पासेज्जा - जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया, तेसिं अण्णयरस्स अइजायमाणस्स णिज्जायमाणस्स उभओ तेसिं पुरओ महं दासीदासकिंकरकम्मकरपुरिसाणं अं(तो)ते परिक्खत्तं छत्तं भिंंगारं गहाय णिग्गच्छंति ॥ १४ ॥

तयाणंतरं च णं पुरओ महाआसा आसवरा उभओ तेसिं णागा णागवरा पिट्ठओ रहा रहवरा संगेल्लि से तं उद्धरिय-सेयछत्ते अब्भुग्गयभिंंगारे पग्गहियतालियंटे प(वीडिय)वियण्ण सेयचामरा बालवीयणीए अभिक्खणं अभिक्खणं अइजाइ य णिजाइ य, सप्पभा सपुव्वावरं च णं णहाए कयबलिकम्मे जाव सब्बालंकारविभूसिए● महइमहालियाए कूडागारसालाए महइमहालयंसि सीहासणंसि जाव सब्बराइएणं जोइणा झियायमणेणं इत्थिग्गुम्मपरिवुडे महारवे हयणट्टगीयवाइयतंती-तलतालतुडिय-घणमुइंगमइलपडुप्पवाइयरवेणं उरालाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणे विहरइ ॥१५ ॥

तस्स णं एगमवि आणवेमाणस्स जाव चत्तारि पंच अवुत्ता चेव अब्भुट्ठेंति - भण देवाणुप्पिया ! किं करेमो ? किं आहरेमो ? किं उवणेमो ? किं आविद्धामो ? किं मे हियइच्छियं ? किं ते आसगस्स सयइ ? जं पासित्ता णिग्गंथे णियाणं करेइ-जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियमसंजमबंभचेरवासस्स तं चेव जाव साहु । एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथे णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते कालमासे कालं

● विसेसट्टा देक्खह सूयगडदोच्चसुयक्खंधदुइयज्झयणं

किच्चा अण्णयरे देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ महिड्डिएसु जाव चिरड्डिएसु, से णं तत्थ देवे भवइ महिड्डिए जाव चिरड्डिए, तओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिडक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया एएसि णं अण्णयरंसि कुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाइ ॥ १६ ॥

से णं तत्थ दारए भवइ सुकुमालपाणिपाए जाव सुरूवे, तए णं से दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयं मि]मेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पेइयं पडिवज्जइ, तस्स णं अइजायमाणस्स वा णिज्जायमाणस्स वा पुरओ जाव महं दासीदास जाव किं ते आसगस्स सयइ ? ॥ १७ ॥

तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा उभओ कालं केवलिपण्णत्तं धम्ममाइक्खेज्जा ? हंता ! आइक्खेज्जा, से णं पडिसुणेज्जा ? णो इणट्ठे समट्ठे, अभविए णं से तस्स धम्मस्स सर्वा णा]णयाए, से य भवइ महिच्छे महारंभे महापरिग्गहे अहम्मिए जाव दाहिणगामी णेरइए आग(मे)मिस्साणं दुल्लहबोहिए यावि भवइ, तं एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - णिगंथे पावयणे - निर्ग्रन्थ प्रवचन, सच्चे - सत्य, अणुत्तरे - श्रेष्ठ, संसुद्धे - सर्वदोष रहित, णेयाउए - तर्क - युक्तिपूर्ण, सल्लकत्तणे - माया, निदान एवं मिथ्यादर्शन रूप तीनों आध्यात्मिक शल्यों (कंटकों) का कर्त्तक - काटने वाला, णिज्जाणमग्गे - निर्याणमार्ग - मोक्ष मार्ग, अवितहं - यथार्थ, सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे - समस्त दुःखों को नष्ट करने का पथ, सिज्झंति - सिद्धत्व प्राप्त करते हैं, बुज्झंति - निर्मल केवलज्ञान के आलोक से समस्त लोकालोक को जानते हैं, मुच्चंति - कर्म बंध से छूटते हैं, सिक्खाए - शिक्षा हेतु, उवट्टिए - उपस्थित, दिगिंछाए - बुभुक्षा, वायाऽयवेहिं - शीत-उष्ण से, पुरापुट्ठे - पूर्व में सहता हुआ, विरूवरूवेहिं - नाना प्रकार के, उदिण्ण - उदय प्राप्त, उग्गपुत्ता - उग्रपुत्र - भगवान् ऋषभदेव द्वारा आरक्षी दल के रूप में नियुक्त, महामाउया-शुद्ध मातृवंशीय, भोगपुत्ता - सुखेश्वर्य सम्पन्न विशिष्ट कुलोत्पन्न पुरुष, अइजायमाणस्स -

❀ सावए ति अट्ठे

आते हुए, **णिज्जायमाणस्स** - निकलते हुए, **भिंजारं** - झारी, **संगेल्लि** - रथसमुदाय, **उद्धरिय-सेयछत्ते** - मस्तक पर तना हुआ श्वेत छत्र, **पग्गहियतालियंटे** - हाथ में ताड़ के पत्तों के पंखे लिए हुए, **पवियण्ण** - चलाते हुए - हिलाते हुए, **चामराबालवीयणीए** - चमरी गाय की पूँछ के बालों का समूह, **कूडागारसालाए** - कूटागारशाला - पर्वतशिखरोपम ऊँचा एवं विशाल भवन, **झियायमाणेणं** - प्रकाशित होते हुए, **इत्थिगुम्पपरिवुडे** - स्त्री समूह से घिरे हुए, **आणवेमाणस्स** - बुलाए जाने पर, **अवुत्ता** - अनाहूत - नहीं बुलाए हुए, **आविद्धामो** - चयनित करें, **आसगस्स** - भोजन के लिए, **चिरट्टिइएसु** - चिरस्थितिकों में - चिरकालीन स्थिति वालों में, **आउक्खाएणं** - आयु क्षय, **पुत्तत्ताए** - पुत्रत्व के रूप में, **पच्चायाइ** - उत्पन्न होते हैं, **सुकुमालपाणिपाए** - सुन्दर हाथ-पैर युक्त, **उम्मुक्कबालभावे** - बचपन व्यतीत हो जाने पर, **विण्णायपरिणयमेत्ते** - कलाकुशल, **जोव्वणगमणुप्पत्ते** - क्रमशः युवा होने पर, **पेइयं** - पैतृक सम्पत्ति का, **पडिवज्जइ** - प्राप्त होता है, **संचाएइ** - समर्थ होता है।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन-मूलक धर्म ही सत्य, सर्वोत्तम, प्रतिपूर्ण, एकमात्र, शुद्ध एवं न्याय-युक्तिपूर्ण है। वह माया-मृषादि शल्यों का संहरण करने वाला है। सिद्धि, मुक्ति, निर्याण एवं निर्वाण का मार्ग है। वह अवितथ - यथार्थ, शाश्वत, सर्वदुःख रहित है - परमानंदमय है।

इस सर्वज्ञ भाषित धर्म में जो जीव स्थित रहते हैं, इसका परिपालन करते हैं, वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं, समस्त दुःखों से छूट जाते हैं।

इस धर्म की ग्रहण-आसेवन रूप साधना में समुद्यत निर्ग्रन्थ जब क्षुधा, तृषा, सर्दी, गर्मी आदि विविध प्रकार के परीषहों को सहन करता है तब यदि उसके चित्त में मोहनीय कर्म के उदय से कामविकार उत्पन्न हो जाय तो भी वह साधु संयममार्ग में पराक्रमपूर्वक गतिशील रहे। उस प्रकार पराक्रमशील रहता हुआ, साधना में संलग्न रहता हुआ, शुद्ध मातृ-पितृ-पक्षोत्पन्न उग्रवंशीय - भोगवंशीय राजपुरुषों को देखता है। उनमें से किसी एक के भी अपने भवन में प्रवेश करते समय या बाहर निकलते समय छत्र, झारी आदि लिए हुए अनेक दास-दासी, किंकर, कर्मकर आदि उनके आगे-पीछे चलते हैं। उसी क्रम में आगे उत्तम अश्व, दोनों प्रधान हाथी तथा पीछे-पीछे श्रेष्ठ, सुसज्ज रथसमूह चलता है। और वे श्वेत छत्र, झारी, ताड़पत्र के पंखे, श्वेत चामर डुलाते हुए सेवकों से घिरे हुए चलते हैं। इस प्रकार के विपुल

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र - दशम दशा

वैभव के बीच उनका गमनागमन होता है। फिर वे पुरुष प्रातःकालीन पूर्व-पश्चात् करणीय कर्तव्य कर, स्नान कर, नित्य-नैमित्तिक मंगलोपचार आदि संपादित कर यावत् समस्त अलंकारों से सुशोभित होकर ऊँचे और विशाल प्रासाद (कूटागारशाला) में, विशाल सिंहासन पर आसीन होते हैं यावत् समस्त रात्रिपर्यन्त दीपज्योति से जगमगाते हुए भवन में, स्त्रीसमूह से घिरे हुए नर्तकों द्वारा प्रदर्शित नृत्य को देखते हुए संगीतकारों द्वारा गाये जाने वाले गीत तथा वादकों द्वारा बजाये जाते हुए वीणा आदि तन्तुवाद्य, तल-ताल, त्रुटित, घन, मृदंग, मादल आदि तालवाद्यों की मधुर ध्वनि को सुनता हुआ मानवजीवन संबंधी उत्तम काम-भोग भोगता हुआ सुखविलासमय जीवन बिताता है।

उसके द्वारा किसी एक को आहूत किए जाने पर यावत् चार-पाँच सेवक (बिना बुलाए ही) उपस्थित हो जाते हैं। वे पूछते हैं - देवानुप्रिय! हम क्या करें? क्या लाएँ? क्या उपनीत - अर्पित करें? क्या कार्य करें? आपकी हार्दिक इच्छा क्या है? आपके मुख के लिए कौन-कौन से स्वादिष्ट पदार्थ वांछित है?

उनको देखकर निर्ग्रन्थ निदान करता है - यदि सम्यक् रूप में परिपालित तप, नियम, ब्रह्मचर्य का उत्तम फल हो तो यावत् आगामी भव में मुझे भी इसी प्रकार के कामभोगमय सुख प्राप्त हों।

आयुष्मान् श्रमणो! साधु इस प्रकार निदान करता हुआ, यदि उसकी आलोचना किए बिना ही मृत्यु प्राप्त कर ले तो वह किसी एक देवलोक में विपुल ऋद्धिशाली यावत् चिरस्थितिक-लम्बे आयुष्य वाले देव के रूप में उत्पन्न होता है। (आयुष्य पर्यन्त देवलोक के सुखों को भोगकर) आयुक्षय, भवक्षय एवं स्थितिक्षय होने पर देवलोक से च्यवन कर शुद्धमातृवंशीय भोग कुलों में से किसी एक कुल में पुत्र के रूप में उत्पन्न होता है।

वह सुकोमल हाथ-पैर, शरीरयुक्त यावत् सर्वांगसुंदर बालक के रूप में जन्म लेता है। फिर वह बालक अपना बचपन पूर्ण कर युवा होता है, कलाकुशल होता है। क्रमशः युवा होते हुए पैतृक सम्पत्ति का अधिपति होता है। उसको आते-जाते देखकर (छत्र आदि धारण किए हुए) इत्यादि समस्त वर्णन यहाँ योजनीय है यावत् उसके आगे-पीछे बहुत से दास-दासी चलते हैं यावत् किंकर, कर्मकर उससे पूछते हैं - स्वामिन्! आपके मुख को क्या खाना रुचता है?

(इस प्रकार का निदान करने वाले) उस ऋद्धिशाली पुरुष को क्या समण या माहण को तपः संयममूलक, केवलिप्ररूपित धर्म का दोनों समय - प्रातः-सायं उपदेश देना चाहिए ?

हाँ, देना चाहिए।

क्या वह सुनता है ?

नहीं ऐसा संभव नहीं है क्योंकि वह धर्मश्रवण के अयोग्य होता है। वह महातृष्णा, महारंभ, महापरिग्रह एवं अधर्म में आसक्त होता है यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक में नैरयिक होता है। आगामी भव में दुर्लभबोधि होता है - उसे सम्यक्त्व प्राप्ति दुर्लभ होती है।

आयुष्मान् श्रमणो ! उस निदान रूप शल्य का यह पापकारी फल विपाक है, जिससे वह केवलिप्ररूपित धर्म को भी सुन नहीं सकता।

साध्वी द्वारा श्रेष्ठ मानुषिक भोगों का निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मए पण्णत्ते, इणमेव णिग्गंथे पावयणे जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेति, जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथी सिक्खाए उवट्ठिया, विहरमाणी पुरा दिग्गिंछाए जाव उदिण्णकामजाया विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कममाणी पासेज्जा - से जा इमा इत्थिया भवइ एगा एगजाया एगाभरणपिहिणा तेल्लपेला इव सुसंगोविया चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिया रयणकरंडगसमाणा, तीसे णं अइजायमाणीए वा णिज्जायमाणीए वा पुरओ महं दासीदास तं चेव जाव किं भे आसगस्स सयइ ? जं पासित्ता णिग्गंथी णियाणं करेइ - जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियमसंजमबंभचेर जाव भुंजमाणी विहरामि, से(त्तं)तं साहु। एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथी णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ महिद्धिएसु जाव सा णं तत्थ देवे भवइ जाव भुंजमाणी विहरइ, सा णं ताओ देवलोगाओ आउक्खाएणं भवक्खाएणं ठिइक्खाएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया एएसि णं अण्णयरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाइ, सा णं तत्थ दारिया भवइ सुकुमाला जाव सुरूवा ॥१९ ॥

तए णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं विण्णायपरिणायमेत्तं जोक्खणगमणुप्पत्तं पडिरूवेण सुक्केण पडिरूवस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलयंति, सा

णं तस्स भारिया भवइ एगा एगजाया इट्ठा कंता जाव रयणकरंडगसमाणा, तीसे णं अइजायमाणीए वा णिज्जायमाणीए वा पुरओ महं दासीदास जाव किं ते आसगस्स सयइ? ॥ २० ॥

तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा माहणे वा उभयकालं केवलिपण्णत्तं धम्मं आइक्खेज्जा? हंता ! आइक्खेज्जा, सा णं भंते ! पडिसुणेज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे, अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा य भवइ महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमिस्साए दुल्लभबोहिया यवि भवइ, एवं खलु समणाउसो! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावकम्मफलविवागे जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए ॥ २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगजाया - सौत रहित (पति की एक ही पत्नी), तेल्लपेला - तेल से भरी काच की कुप्पी के समान, सुसंगोविया - सुरक्षित, चेलपेला - वस्त्र की पेटिका के समान, रयणकरंडग - रत्नों की डिबिया जैसी, अइजायमाणीए - आते हुए, उववत्तारो-उत्पन्न होना, भत्तारस्स - पति को, भारियत्ताए - पत्नी के रूप में, दलयंति - देते हैं।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, वही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है यावत् जीव इसमें स्थित रहकर सभी दुःखों का अंत करते हैं।

इस धर्म की ग्रहण-आसेवन रूप साधना में समुद्यत निर्ग्रन्थिनी (साध्वी) जब भूख, प्यास आदि सहन करती है यावत् उसके चित्त में जब मोहनीय कर्म के उदय से कामविकार उत्पन्न हो जाता है तब भी वह साध्वी संयममार्ग में पराक्रमपूर्वक गतिशील रहे। आत्मबलपूर्वक साधना करती हुई साध्वी किसी एक नारी को देखती है, जो अपने पति की एकमात्र प्राणप्रिया है। जिसने एक सदृश आभरण और वस्त्र धारण कर रखे हैं। तेल की कुप्पिका, वस्त्र पेटिका तथा रत्नकरंडिका की तरह सुरक्षणीया है, उसको आते-जाते - घर में प्रवेश करते एवं बाहर निकलते समय बहुत से दास-दासियों से घिरे हुए देखती है इत्यादि समस्त वर्णन पूर्वानुसार है यावत् सेवक-सेविकाएँ उससे पूछते हैं - आपको क्या पदार्थ रुचिकर लगता है?

यह सब देखकर साध्वी निदान करती है - यदि मेरे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित इस तप, नियम, संयम, ब्रह्मचर्य रूप धर्म का फल हो यावत् मैं भी आगामी भव में इसी प्रकार के भोग भोगती हुई जीवन व्यतीत करूँ (यही मेरे लिए श्रेष्ठ होगा)।

आयुष्मान् श्रमणो (निर्ग्रन्थो-निर्ग्रन्थिनियो)! साध्वी यदि इस प्रकार का निदान कर, इसकी आलोचना किए बिना मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो अन्य किसी देवलोक में महान् ऋद्धिशाली देवता के रूप में उत्पन्न होती है - पुरुष भव को प्राप्त करती है यावत् विपुल भोग भोगती हुई विहरणशील रहती है यावत् तदनंतर आयुक्षय, भवक्षय एवं स्थितिक्षय के पश्चात् च्यवन कर शुद्ध मातृवंशीय, भोगवंशीय किसी एक कुल में बालिका के रूप में उत्पन्न होती है। वह बालिका सुन्दर हाथ-पैर वाली होती है यावत् सर्वांगसुन्दर होती है।

बचपन व्यतीत हो जाने पर, युवावस्था प्राप्त कर कलानिष्णात हो जाने पर उसके माता-पिता उसे समुचित दहेज के साथ सुन्दर, योग्य पति को भार्या के रूप में देते हैं। वह अपने पति की सपत्नी (सौत) रहित, एकमात्र, इष्ट, कांत, प्रिय यावत् रत्नकरंडिका - रत्नपेटिका के समान संरक्षणीय होती है।

उसको अपने घर में आते समय एवं बाहर जाते हुए बहुत से दास-दासियों से घिरी हुई देखते हैं यावत् वे उससे पूछते हैं कि आपके मुख को क्या भोजन प्रिय लगता है?

(इस प्रकार निदान करने वाली) उस ऋद्धिशालिनी स्त्री को क्या समण या माहण द्वारा दोनों समय - प्रातः-सायं केवलिप्ररूपित धर्म का उपदेश देना चाहिए?

हाँ, देना चाहिए।

क्या वह इस धर्म को सुनने में समर्थ होती है?

नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। वह धर्म श्रवण के योग्य नहीं होती क्योंकि वह महातृष्णा, महारंभ एवं महापरिग्रह से युक्त होती हुई अधर्म में आसक्त रहती है यावत् दक्षिणदिशावर्ती नरक में नारकीय योनि में उत्पन्न होती है एवं आगामी भव में दुर्लभ बोधि होती है - सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकती।

आयुष्मान् श्रमणो! उस निदानरूप शल्य का यह पापकर्मरूपी फलविपाक है, जिससे वह केवलिप्ररूपित धर्म को भी नहीं सुन सकती।

साधु द्वारा स्त्रीत्व प्राप्ति हेतु निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव णिग्गंथे पावयणे जाव अंतं करंति, जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे सिक्खाए उवट्ठिए विहरमाणे पुरा दिग्गिंछाए जाव से

य परक्कममाणे पासिज्जा-...इमा इत्थिया भवइ एगा एगजाया जाव किं ते आसगस्स सयइ? जं पासित्ता णिग्गंथे णियाणं करेइ - दुक्खं खलु पुमत्तणए, जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया एएसि णं अण्णयरेसु उच्चावएसु महासमरसंगामेसु उच्चावयाइं सत्थाइं उ(रं)रसि चेव पडिसंवेदेति, तं दुक्खं खलु पुमत्तणए इत्थि(त्तणयं)त्तं साहु, जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियमसंजमबंभचेरवासस्स फलवित्तिविसेसे अत्थि वयमवि आगमेस्साणं इमेयारूवाइं उरालाइं इत्थिभोगाइं भुंजिस्सामो, से तं साहु। एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथे णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते जाव अपडिविज्जित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ....., से णं तत्थ देवे भवइ महिड्डिए जाव विहरइ, से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं जाव अणंतरं चयं चइत्ता अण्णयरंसि कुलंसि दारियत्ताए पच्चायाइ जाव तेणं तं दारियं जाव भारियत्ताए दलयंति, सा णं तस्स भारिया भवइ एगा एगजाया जाव तहेव सक्वं भाणियक्वं, तीसे णं अइजायमाणीए वा णिज्जायमाणीए वा जाव किं ते आसगस्स सयइ? ॥ २२ ॥

तीसे णं तहप्पगाराए इत्थियाए तहारूवे समणे वा माहणे वा० धम्मं आइक्खेज्जा? हंता! आइक्खेज्जा, सा णं पडिसुणेज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे, अभविया णं सा तस्स धम्मस्स सवणयाए, सा य भवइ महिच्छा जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमेस्साणं दुक्खभबोहिया यावि भवइ, एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएइ केवलिपण्णत्तं धम्मं पडिसुणित्तए ॥ २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुमत्तणए - पुरुषत्व, उच्चावएसु - छोटे बड़े, महासमरसंगामेसु-महासंग्रामों एवं युद्धों में, सत्थाइं - शस्त्र, उरंसि - छाती पर, पडिसंवेदेति - पीड़ित होते हैं।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, वही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है यावत् सभी जीव इसमें स्थित रहते हुए सभी दुःखों का अंत करते हैं।

इस धर्म की ग्रहण - आसेवन रूप साधना में समुद्यत साधु जब भूख, प्यास सहन करता है यावत् पराक्रमपूर्वक संयम मार्ग में स्थित रहते हुए यावत् जब वह किसी स्त्री को देखता है, जो अपने पति की एकमात्र प्राणप्रिया है यावत् नौकर-चाकर उससे पूछते रहते हैं

कि आपके लिए क्या रुचिकर भोजन बनायें? ऐसी स्त्री को देखकर यदि कोई निर्ग्रन्थ निदान करता है कि - पुरुष का जीवन दुःखमय है। क्योंकि जो ये उग्रवंशी या भोगवंशी शुद्ध मातृ-पितृ पक्षीय पुरुष हैं, वे जब किसी छोटे-बड़े महायुद्ध या संग्राम में जाते हैं तो उन्हें छाती पर छोटे-बड़े शस्त्रों के प्रहार झेलने पड़ते हैं, जिससे वेदना से व्यथित होते हैं। अतः पुरुष का जीवन दुःखमय है किन्तु स्त्री का जीवन सुखमय है।

यदि मेरे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित तप, नियम एवं ब्रह्मचर्य का विशिष्ट फल हो तो मैं भी आगामी भव में इन स्त्रीविषयक उत्तम भोगों को भोगना चाहूँगा। यह मेरे लिए श्रेष्ठ होगा।

आयुष्मान् श्रमणो! वह निर्ग्रन्थ इस प्रकार निदान कर उसकी आलोचना, प्रतिक्रमण किए बिना कालधर्म धर्म को प्राप्त कर किसी देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न होता है। (वह) वहाँ महान् ऋद्धिशाली होता है यावत् (वहाँ) सभी सुखों का भोग करता है।

तदनंतर आयुक्षय, भद्रक्षय एवं स्थितिक्षय होने पर यावत् देवलोक से च्यवन कर किसी कुल (उग्र या भोगवंशीय)में बालिका के रूप में उत्पन्न होता है यावत् उसके माता-पिता योग्य वर को उसे सौंप देते हैं।

वह उस पुरुष की इकलौती, एकाकिनी पत्नी होती है यावत् एतद्विषयक समस्त वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। वह अपने घर से निकलते एवं उसमें प्रवेश करते समय छत्र आदि धारण किए हुए एवं दास-दासियों से घिरी रहती है यावत् वे नौकर-चाकर उससे पूछते रहते हैं कि आपके लिए कौनसे पकवान बनाएं जो आपको रुचिकर - स्वादिष्ट लगते हों?

इस प्रकार की स्त्री को तथारूप - शुद्ध आचारवान् श्रमण या माहण द्वारा केवलि-प्ररूपित धर्म का उपदेश देना चाहिए?

हाँ, देना चाहिए।

क्या वह धर्म को सुन सकती है?

नहीं, यह संभव नहीं है, वह धर्म सुनने के योग्य नहीं होती क्योंकि वह महातृष्णा युक्त होती है यावत् दक्षिणवर्ती नरक में नैरयिक के रूप में जन्म लेती है एवं आगामी भव में दुर्लभबोधि होती है।

आयुष्मान् श्रमणो! इस प्रकार के निदान कर्म का यह पापरूप फलविपाक है, जिसके परिणामस्वरूप वह केवलिप्रज्ञप्त धर्म को भी नहीं सुन सकती है।

साध्वी द्वारा पुरुषत्व प्राप्ति हेतु निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मं पण्णत्ते, इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्च्वे सेसं तं चेव जाव अंतं करेति, जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथी सिक्खाए उवट्टिया विहरमाणी पुरा-दिग्गिंछाए पुरा जाव उदिण्णकामजाया विहरेज्जा, सा य परक्कमेज्जा, सा य परक्कममाणी पासेज्जा - जे इमे उग्गपुत्ता महामाउया भोगपुत्ता महामाउया, तेसि णं अण्णयरेस्स अइजायमाणस्स वा जाव किं ते आसगस्स सयइ? जं पासित्ता णिग्गंथी णियाणं करेइ - दुक्खं खलु इत्थि(त्तणए)त्तं दुस्संचराइं गामंतराइं जाव सण्णिवेसंतराइं, से जहाणामए - मंसपेसियाइ वा अंबपेसियाइ वा माउलुंगपेसियाइ वा अंबाडगपेसियाइ वा उच्छुखंडियाइ वा संबलिफलियाइ वा बहुजणस्स आसायणिज्जा पत्थणिज्जा पीहणिज्जा अभिलसणिज्जा एवामेव इत्थियावि बहुजणस्स आसायणिज्जा जाव अभिलसणिज्जा, तं दुक्खं खलु इत्थित्तं, पुमत्तणए साहु, जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियम जाव अत्थि वयमवि आगमेस्साणं इमेयारूवाइं ओरालाइं पुरिसभोगाइं भुंजमाणा विहरिस्सामो, से तं साहु। एवं खलु समणाउसो! णिग्गंथी णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंता जाव अपडिवज्जित्ता कालभासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ, सा णं तत्थ देवे भवइ महिड्डिए जाव महासुक्खे, सा णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता जे इमे भवंति उग्गपुत्ता तहेव दारए जाव किं ते आसगस्स सयइ? ॥ २४ ॥

तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स जाव अभविए णं से तस्स धम्मस्स सवणयाए, से य भवइ महिच्छे जाव दाहिणगामिए जाव दुल्लभबोहिए यावि भवइ, एवं खलु जाव पडिसुणित्तए ॥ २५ ॥

कठिन शब्दार्थ - इत्थित्तं (इत्थित्तणए) - स्त्रीत्व, दुस्संचराइं - दुर्गम्य - कठिनाई से जाने योग्य, गामंतराइं - दूसरे ग्राम, सण्णिवेसंतराइं - नगर के बहिर्वर्ती भाग, मंसपेसियाइ-मांस का टुकड़ा (मांसपेशिका), अंबपेसियाइ - आम की फांक, माउलुंगपेसियाइ - बिजौरा की फांक, अंबाडग - आम्रातक (अंबाड़ा, बहुत बीज वाले वृक्ष की एक जाति) की फांक, उच्छु - इक्षु - गन्ना, संबलिफलियाइ - शाल्मली - सेमल की फली, आसायणिज्जा -

आस्वादन योग्य, पत्थणिज्जा - प्रार्थनीय - चाहने योग्य, पीहणिज्जा - स्पृहणीया - स्पृहा करने योग्य, अभिलसणिज्जा - अभिलाषा करने योग्य।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, वही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है यावत् सभी जीव इसमें स्थित रहते हुए सर्व दुःख नाश करते हैं।

इस धर्म की ग्रहण-आसेवन रूप साधना में समुद्यत साध्वी जब भूख, प्यास सहन करती है यावत् उत्थित काम आदि परीषह को पराक्रमपूर्वक सहन करते हुए जब किसी विशुद्ध मातृ-पितृ पक्षीय उग्रवंशीय या भोगवंशीय पुरुष को (विविध सुख - विलासपूर्वक) आते-जाते देखती है यावत् उनसे दास-दासी पूछते हैं कि आपको कैसा भोजन रुचिकर लगता है? तो ऐसा देखकर वह निर्ग्रन्थिनी (साध्वी) निदान करती है -

स्त्री का जीवन - स्त्रीत्व दुःखमय है। उसके लिए किसी अन्य गाँव यावत् सन्निवेश (गाँव का निकटवर्ती स्थान)-में जाना कितना दुर्गम - कठिन है।

जिस प्रकार मांसपेशिका (मांस का टुकड़ा), आम की फांक, बिजौरा फल की फांक, आम्रातक की फांक, गन्ने का टुकड़ा या सेमल की फली अनेक लोगों के लिए आस्वादनीय, प्रार्थनीय, स्पृहणीय और अभिलषणीय होती है, उसी प्रकार स्त्री भी अनेक लोगों द्वारा आस्वादनीय यावत् अभिलषणीय - चाहने योग्य होती है। इसलिए स्त्रीत्व (स्त्री का जीवन) दुःखरूप है। पुरुष का जीवन श्रेष्ठ होता है, सुखमय होता है।

यदि मेरे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित इस तप, नियम आदि का फल हो यावत् आगामी भव में पुरुष संबंधी उत्तम काम-भोगों का सेवन करते हुए स्थित रहूँ तो मेरे लिए श्रेष्ठ होगा।

आयुष्मान् श्रमणो! यदि साध्वी इस प्रकार का निदान कर आलोचना, प्रतिक्रमण नहीं करती यावत् कालधर्म को प्राप्त होकर किसी एक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होती है। वहाँ वह अत्यंत ऋद्धिशाली यावत् विपुल सुखभोग प्राप्त करती है। उस देवलोक से आयुक्षय, भवक्षय एवं स्थितिक्षय होने पर च्यवन कर इन उग्रपुत्रों के वंश में पूर्वानुसार बालक के रूप में उत्पन्न होता है यावत् दास-दासियों से घिरा रहता है, वे उसे पूछते रहते हैं कि आपके लिए क्या रुचिपूर्ण भोजन बनाएं?

इस प्रकार का (पूर्व निदान कृत) पुरुष यावत् अभवी होता है - धर्म श्रवण के योग्य

नहीं होता क्योंकि वह महातृष्णा युक्त यावत् दक्षिणवर्ती नरकगामी होता है यावत् दुर्लभबोधि होता है - सम्यक्त्व रूपी धर्म को सुनने का अवसर भी उसे नहीं मिलता।

अतः इस प्रकार के निदान रूप फल का ऐसा ही पापकारी फल होता है, जिससे वह केवलिप्ररूपित धर्म को भी नहीं सुन सकता।

विवेचन - उपर्युक्त चार निदानों में मनुष्य संबंधी उत्कृष्ट रस के भोगों का निदान समझना चाहिए। उनके फलस्वरूप सम्यक्त्व की भी प्राप्ति नहीं होती है। मंद रस का निदान होने पर उस निदान के फलने के बाद सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हो सकती है। जैसे - ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को हुई। मंदतर रस का निदान होने पर उसके फलने के बाद सम्यक्त्व एवं संयम की प्राप्ति भी हो सकती है। जैसे - द्रौपदी को संयम की प्राप्ति हुई।

देवलोक में स्व-पर देवी भोगैषणा निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मए षण्णत्ते, इणमेव णिग्गंथे पावयणे तहेव, जस्स णं धम्मस्स णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा सिक्खाए उवट्टिए विहरमाणे पुरा-दिगिंछाए जाव उदिण्णकामभोगे विहरेज्जा, से य परक्कमेज्जा, से य परक्कममाणे माणुस्सेहिं कामभोगेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा अणितिया असासया सडणपडण-विद्धंसणधम्मा उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणगवंतपित्त - सुक्कसोणियसमुब्भवा दुरूवउस्सासणिस्सासा दुरंतमुत्तपुरीसपुण्णा वंतासवा पित्तासवा खेलासवा (जल्ल०) पच्छा पुरं च णं अवस्सं विप्पज्जहणिज्जा, संति उहुं देवा देवलोगंसि ते णं तत्थ अण्णेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्विय विउव्वित्ता परियारेंति, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, [संति] जइ इमस्स तवणियम जाव तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव वयमवि आगमेस्साणं इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरामो, से तं साहु। एवं खलु समणाउसो । णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते कालमासे कालं किच्चा अण्णयेरसु देवलौएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ, तंजहा-महिंएसु महज्जुइएसु जाव पभासमाणे अण्णेसिं देवाणं अण्णं देविं तं चेव जाव

परियारेइ से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खाएणं ३ तं चेव जाव पुमत्ताए पच्चायाइ जाव किं ते आसगस्स सयइ ? ॥ २६ ॥

तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स तहारूवे समणे वा माहणे वा जाव पडिसुणिज्जा ? हंता ! पडिसुणिज्जा, से णं सहहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ? णो इणट्ठे समट्ठे अभविए णं से तस्स धम्मस्स सहहणयाए ३ से य भवइ महिच्छे जाव दाहिणगामिए णेरइए आगमेस्साणं दुल्लभबोहिए यावि भवइ, एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएइ केवलियण्णत्तं धम्मं सहहित्तए वा पत्तिं य इत्तए वा रोइत्तए वा ॥ २७ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणितिया - अनित्य, असासया - अशाश्वत, सडणपडणविद्धंसणधम्मा - स्वभावतः सड़ने-गलने और ध्वस्त होने वाले, दुरूवउस्सासणिस्सासा - दुर्गन्धित श्वासोच्छ्वास युक्त, दुरंत - नित्य देहस्थितता के कारण कष्टदायक, मुत्तपुरीसपुण्णा - मल-मूत्र पूर्ण, वंतासवा - वमन द्वार, पच्छा - पश्चात् (मृत्यु के अनंतर), अवस्सं - अवश्य, विप्पजहणिज्जा - परित्याज्य हैं, अभिजुंजिय - अभियुज्य - स्वायत्त कर, परियारंति - काम भोगों का सेवन करते हैं, अप्पणो - अपनी, विउब्बिय - विकुर्वित कर (विकुर्वणा द्वारा उत्पन्न कर), अप्पणिज्जियाओ - अपनी (स्वयं की), सहहेज्जा - श्रद्धा कर सकते हैं, पत्तिएज्जा - प्रतीति कर सकते हैं, रोएज्जा - रुचि कर सकते हैं।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, वही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, इत्यादि वर्णन पूर्वानुसार है।

इस धर्म की ग्रहण-आसेवन रूप साधना में समुद्यत साधु या साध्वी जब भूख, प्यास सहन करते हैं यावत् उत्पन्न कामभोगों का (संयम बल से) पराक्रमपूर्वक सामना करते हुए मनुष्य संबंधी काम-भोगों में निर्वेद - वैराग्य को प्राप्त करते हैं और चिन्तन करते हैं -

ये मनुष्य जीवन संबंधी काम-भोग निश्चय ही अधुव, अनित्य, अशाश्वत, सड़न-गलन एवं विनश्वर स्वभाव वाले हैं। मल-मूत्र-कफ-शिंघाणक-वमन-पित्त-शुक्र एवं शोणित से उद्भूत हैं। दुर्गन्धित श्वास-निःश्वास एवं मल-मूत्र आपूरित हैं। वात, पित्त एवं कफ के द्वार हैं। इस प्रकार पश्चात् या पहले अवश्य त्याज्य है।

(अतः वह चिन्तन करता है -)

ऊपर देवलोक में जो देव रहते हैं - वे वहाँ अन्य देवों की देवियों को अधिगत कर काम-भोगों का सेवन करते हैं, स्वयं द्वारा विकुर्वित देवियों के साथ विषय-भोग सेवन करते हैं।

यदि मेरे द्वारा आचरित तप, नियम का कोई फल हो यावत् एतद्विषयक वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए यावत् मैं भी आगामी भव में इन दिव्य भोगों का भोग करता हुआ स्थित रहूँ, यह मेरे लिए श्रेष्ठ होगा।

आयुष्मान् श्रमणो! यदि साधु-साध्वी इस प्रकार का निदान कर उसका आलोचन, प्रतिक्रमण किए बिना कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं तो किसी एक देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। वह अत्यंत ऋद्धिशाली, द्युतिशाली यावत् अत्यधिक दीप्तिशाली होता है। वहाँ अन्य देवों की देवियों, स्वविकुर्वित देवियों के साथ यावत् काम भोगों का सेवन करता है इत्यादि वर्णन पूर्ववत् (उपरोक्तानुसार) है। उस देवलोक से आयुक्षय, भवक्षय एवं स्थितिक्षय होने पर च्यवन कर यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है यावत् दास-दासी उससे पूछते हैं कि आपके मुख को कौनसे पदार्थ अच्छे लगते हैं?

इस प्रकार के (ऋद्धिशाली, सुखवैभव सम्पन्न) पुरुष को तथारूप समण-माहण द्वारा यावत् धर्म कहना चाहिए?

हाँ, कहना चाहिए।

क्या वह (समण-माहण प्रतिपादित) धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति या रुचि रखता है?

नहीं, यह संभव नहीं है क्योंकि वह अभी - धर्म सुनने के अयोग्य होता है, अतः श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं रख सकता। वह महातृष्णावान् यावत् दक्षिणवर्ती नरकगामी होता है और आगामी भव में दुर्लभबोधि होता है।

आयुष्मान् श्रमणो! उस निदान का इस प्रकार का पापरूप फल होता है कि वह केवलिप्रवर्तित (प्रतिपादित) धर्म में न श्रद्धा कर सकता है, न प्रतीति कर सकता है और न रुचि ही रख पाता है।

देवलोक में स्वदेवी भोगैषणा निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते तं चेव, से य परक्कमेज्जा,...परक्कममाणे माणुस्सएसु कामभोगेसु णिव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा अणितिया

तहेव जाव संति उड्डुं देवा देवलोगंसि ते णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं अण्णं देविं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्वित्ता परियारेंति, अप्पणिज्जियाओवि देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, जइ इमस्स तवणियम तं चेव सव्वं जाव वयमवि आगमेस्साणं इमाइं एयारूवाइं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरामो से तं साहु। एवं खलु समणाउसो ! णिगंथे णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिवकंते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ तंजहा - महिड्डिएसु महज्जुइएसु जाव पभासमाणे णो अण्णेसिं देवाणं अण्णं देविं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणो चेव अप्पाणं विउव्वित्ता परियारेइ अप्पणिज्जियाओ देविओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ से णं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं तं जेव जाव पुमत्ताए पच्चायाइ जाव किं ते आसगस्स सयइ? तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसा जायस्स समणे वा माहणे वा जाव पडिस्सुणेज्जा? हंता पडिस्सुणेज्जा जाव से णं सहहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा? णो इणट्ठे समट्ठे ॥ २८ ॥

अण्णत्थरुई रुइमादाए से य भवइ, से जे इमे ॐ आरणिणया आवसहिया गामंतिया कणहुइ रहस्सिया णो बहुसंजया णो बहुविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु अप्पणो सच्चामोसाइं एवं विपडिवदंति - अहं ण हंतव्वो अण्णे हंतव्वा अहं ण अज्जावेयव्वो अण्णे अज्जावेयव्वा अहं ण परियावेयव्वो अण्णे परियावेयव्वा अहं ण परिघेत्तव्वो अण्णे परिवेत्तव्वा अहं ण उह्वेयव्वो अण्णे उह्वेयव्वा, एवामेव इत्थिकामेहिं मुच्छिया गढिया गिद्धा अज्जोववण्णा जाव कालमासे कालं किच्चा अण्णयराइं असुराइं किब्बिसियाइं ठाणाइं उववत्तारो भवंति, तओ वि(प्प)मुच्चमाणा भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए पच्चायंति, एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स जाव णो संचाएइ केवलपण्णत्तं धम्मं सहहित्तए वा पत्तिइत्तए वा रोइत्तए वा ॥ २९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अण्णत्थरुई - अन्यत्र रुचि - अन्य धर्म में रुचि, रुइमादाए -

ॐ विसेसाय सूयगडे २ सु० अ० २ बारसमं किरियट्ठणं दट्ठव्वं।

रुचि को स्वीकार कर, आरणिण्या - अरण्यवासी तापस, आवसहिया - पर्णकुटीर आदि में रहने वाले तापस, गामंतिया - ग्राम के समीप रहने वाले तापस, कणहुड - कुछ, रहसिया-रहस्यमय तापस - तांत्रिक, सच्चापोसाइं - सत्य-असत्य मिश्रित, विपडिवदंति - प्रयोग करते हैं, अहं - मैं, हंतव्वो - मारो, अज्जावेयव्वो - आदेश दें, परिवावेयव्वो - पीड़ित करो, परिघेत्तव्वो - पकड़ो, उइवेयव्वो - परेशान या भयभीत करो, किच्चिसियाइं - किल्विषिक, एलमूयत्ताए - भेड़ की भाँति मूक।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, इत्यादि वर्णन पूर्व की भाँति है। उस धर्म की ग्रहण-आसेवन रूप साधना में पराक्रमपूर्वक समुद्यत साधु या साध्वी मनुष्य संबंधी काम-भोगों में निर्वेद या वैराग्य प्राप्त करता है (और चिन्तन करता है) -

ये मनुष्य जीवन संबंधी काम-भोग निश्चय ही अध्रुव, अनित्य हैं इत्यादि वर्णन पूर्व सूत्र में आए वर्णन के समान यहाँ भी योजनीय है यावत् ऊर्ध्ववर्ती देवलोकों में जो देव रहते हैं, वे अन्य देवों की देवियों के साथ विषय सेवन नहीं करते किन्तु अपनी एवं अपने द्वारा विकुर्वित देवियों के साथ विषय-भोगों का सेवन करते हैं।

यदि मेरे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित तप-नियम का कोई फल हो आदि वर्णन यहाँ पूर्ववत् ग्राह्य है यावत् मैं भी अगले भव में इसी प्रकार के दिव्य भोगों का सेवन करता हुआ जीवन व्यतीत करूँ, यही मेरे लिए श्रेष्ठ होगा।

आयुष्मान् श्रमणो! यदि साधु या साध्वी इस प्रकार का निदान कर, उसका (आचार्य के समक्ष) आलोचन, प्रतिक्रमण किए बिना, कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं तो वे किसी देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं। वह देव अति ऋद्धिशाली एवं द्युतिशाली यावत् परम दीप्तिशाली होता है।

वहाँ वह अन्य देवों की देवियों के साथ काम भोगों का सेवन नहीं करता परन्तु स्वयं की एवं अपने द्वारा विकुर्वित देवियों के साथ विषय-भोगों का सेवन करता है।

उस देवलोक से आयुक्षय, भवक्षय एवं स्थितिक्षय होने पर च्यवित होता है इत्यादि वर्णन पूर्व वर्णन की भाँति योजनीय है यावत् पुरुष रूप में उत्पन्न होता है यावत् दास-दासी पूछते रहते हैं कि आपके मुख को क्या स्वादु पदार्थ चाहिए?

इस प्रकार के पुरुष को तथारूप - त्याग-चारित्र्य संपन्न समण या माहण द्वारा यावत् धर्म कहना चाहिए ?

हाँ, कहना चाहिए यावत् वह (उस धर्म पर) श्रद्धा, प्रतीति या रुचि रखता है ?
नहीं, यह संभव नहीं है।

वह (वीतराग धर्म से) अन्य धर्म में रुचि रखता है। उस धर्म की रुचि को स्वीकार कर वह निम्नांकित आचरण वाला हो जाता है -

जैसे अरण्यवासी, पर्णकुटियों में रहने वाले तापस एवं ग्राम के समीप की वाटिकाओं में रहने वाले तापस तथा चमत्कार को गुप्त रखने वाले या रहस्यमय तापस - तांत्रिक जो बहु संयत नहीं हैं (असंयत हैं), सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों की हिंसा से बहुविरत नहीं हैं (अविरत हैं), सत्य-असत्य मिश्रित भाषा का इस प्रकार प्रलाप - प्रयोग करते हैं -

“मुझे मत मारो, अन्यो को मारो,
मुझे आदिष्ट मत करो, दूसरो को आदेश दो,
मुझे पीड़ित (क्लेशित, परितप्त) न करो, दूसरो को पीड़ा दो,
मुझे परिगृहीत मत करो - मत पकड़ो, अन्यो को पकड़ो,
मुझे उद्वेजित - भयभीत न करो, दूसरो को भयभीत करो।”

(इसके अलावा) वे स्त्री संबंधी काम-भोगों में मूर्च्छित, आसक्त और लौलुप हो जाते हैं, उनमें आकंठ निमग्न (अध्युपपन्न) हो जाते हैं यावत् काल समय आने पर काल धर्म को प्राप्त होकर किसी असुरलोक में कित्त्वषिक देवस्थान में उत्पन्न होते हैं।

वहाँ से विप्रमुक्त - च्यवित होकर भेड़ के समान वाणी रहित होकर मनुष्य लोक में उत्पन्न होते हैं।

आयुष्मान् श्रमणो! उस निदान के दुष्परिणामस्वरूप यावत् वह केवलप्ररूपित धर्म में न श्रद्धा कर सकता है, न प्रतीति कर सकता है और न रुचि ही रख पाता है।

स्वकीय देवियों के साथ दिव्यभोग निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पणत्ते जाव माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा तहेव, संति उड्डं देवा देवलोगंसि० णो अण्णेसिं देवाणं (अण्णे देवे) अण्णं देविं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, णो अप्पणो चेव अप्पाणं विउच्चिय परियारेंति,

अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेंति, जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियम...तं चेव सव्वं जाव एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते तं चेव जाव विहरइ, से णं तत्थ णो अण्णेसिं देवाणं अण्णं देविं अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणा चेव अप्पाणं विडव्विय परियारेइ, अप्पणिज्जियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, से णं तओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं तहेव वत्तव्वं, णवरं हंता ! सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा, से णं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाण - पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ? णो इणट्ठे समट्ठे, से णं दंसणासावए भवइ - अभिगयजीवाजीवे जाव अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ते अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे एस (अयं) परमट्ठे सेसे अणट्ठे, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं समणोवासपरियागं पाउणइ पाउणित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णयेरसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ, एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावए फलविवागे जं णो संचाएइ सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाण-पोसहोववासाइं पडिवज्जित्तए ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - अट्ठिमिंजपेम्माणुरागरत्ते - अस्थि एवं मज्जा में धर्म की प्रीति से अनुरक्त - हाड-हाड एवं रग-रग में धर्म की प्रीतियुक्त, परमट्ठे - परमार्थ, परियागं - पर्याय, पाउणइ - पालन करता है।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है यावत् संयममूलक साधन में निरत साधु-साध्वी चिन्तन करते हैं कि ये मनुष्य जीवन संबंधी कामभोग अध्रुव हैं, इत्यादि वर्णन पूर्व की भाँति यहाँ ज्ञातव्य है।

ऊपर देवलोक में जो देव हैं, वे अन्य देवों की देवियों के साथ भोग सेवन नहीं करते परन्तु अपनी देवियों (सहज रूप में प्राप्त) के साथ काम-भोगों का सेवन करते हैं।

यदि मेरे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित तप, नियम का श्रेष्ठ फल हो आदि वर्णन पूर्ववत् ग्राह्य है यावत् आयुष्मान् श्रमणो! साधु या साध्वी इस प्रकार का निदान कर उसका आलोचन, प्रतिक्रमण किए बिना कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं यावत् देवलोक में उत्पन्न होकर सुखपूर्वक स्थित रहते हैं।

वे वहाँ अन्य देवों की देवियों के साथ भोग सेवन नहीं करते, स्वयं द्वारा विकुर्वित

देवियों के साथ (भी) भोग सेवन नहीं करते परन्तु अपनी देवियों के साथ विषय सेवन (परिचारणा) में रत रहते हैं।

वे वहाँ से आयुक्षय, भवक्षय और स्थितिक्षय कर इत्यादि विषयक वर्णन यहाँ पूर्वानुसार योजनीय है - वह केवलप्ररूपित धर्म पर श्रद्धा, प्रतीति एवं रुचि रखते हैं।

क्या वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास को ग्रहण कर सकता है (करता है) ?

नहीं, ऐसा संभव नहीं है। वह मात्र दर्शन श्रावक होता है।

वह जीव-अजीव के यथार्थ स्वरूप का ज्ञाता होता है यावत् उसके अस्थि और मज्जा में सर्वज्ञ प्ररूपित धर्म के प्रति प्रेम होता है - उसके हाड-हाड एवं रग-रग में सर्वज्ञ प्रवचन के प्रति प्रीति होती है।

आयुष्मान् श्रमणो! यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थयुक्त - सारभूत है, परमार्थ - भव बंध हरण करने वाला है। शेष अनर्थ या निरर्थक हैं।

वह इस प्रकार चिन्तन करता हुआ अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक के रूप में - अगार धर्म का पालन करता हुआ, काल आने पर कालधर्म को प्राप्त कर अन्य किसी देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न होता है।

इस प्रकार आयुष्मान् श्रमणो! उस निदान का यह पाप रूप फल होता है कि वह शीलव्रत, गुणव्रत, विरमणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास नहीं कर सकता।

श्रमणोपासक होने का निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मो पण्णत्ते तं चेव सव्वं जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा जाव विप्पजहणिज्जा, दिव्वावि खलु कामभोगा अधुवा अणितिया असासया चलाचल(ण)धम्मा पुणरागमणिज्जा पच्छा पुव्वं च णं अवस्सं विप्पजहणिज्जा, जइ इमस्स तवणियम जाव आगमेस्साणं जे इमे भवंति उग्गपुत्ता महामाउया जाव पुमत्ताए पच्चायंति तत्थ णं समणोवासए भविस्सामि - अभिगयजीवाजीवे उवलद्धपुण्णपावे फासुयएसणिज्जं असणपाणखाइमसाइमं पडिलाभमाणे विहरिस्सामि, से तं साहु। एवं

खलु समणाउसो ! णिगंथो वा णिगंथी वा णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय जाव देवलोएसु देवत्ताए उववज्जइ जाव किं ते आसगस्स सयइ ? ॥ ३१ ॥

तस्स णं तहप्पगारस्स पुरिसजायस्स जाव पडिसुणिज्जा ? हंता ! पडिसुणिज्जा, से णं सहहेज्जा जाव रोएज्जा ? हंता ! सहहेज्जा०, से णं सीलव्वय जाव पोसहोववासाइं पडिवज्जेज्जा ? हंता ! पडिवज्जेज्जा, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ? णो इणट्ठे समट्ठे ॥ ३२ ॥

से णं समणोवासए भवइ-अभिगयजीवाजीवे जाव पडिलाभेमाणे विहरइ, से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे बहूणि वासाणि समणोवासगपरियागं पाउणइ पाउणिता बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइ ? हंता ! पच्चक्खाइ २ ता आबाहंसि उप्पणंसि वा अणुप्पणंसि वा बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेएइ २ ता आलोइयपडिवकंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अणयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ, एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावफलविवागे जेणं णो संचाएइ सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ॥ ३३ ॥

कठिन शब्दार्थ - चलाचलधम्मा - चलाचल धर्म वाले - अस्थिर, पुणरागमणिज्जा-पुनरावृत्ति युक्त - बार-बार जन्म-मरण के व्यूह में धकेलने वाले, विप्पजहणिज्जा - त्याज्य, अभिगयजीवाजीवे - जीव-अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञान, उवलद्धपुणपावे - पुण्य-पाप आदि तत्त्वों को जानता हुआ, फासुयएसणिज्जं - अचित्त-निर्दोष, पडिलाभेमाणे - प्रतिलाभ देता हुआ - सम्यक्त्वी को चतुर्विध आहार का दान करता हुआ, बहूइं भत्ताइं - अनेक दिनों तक आहार-पानी का, आबाहंसि - रोग आदि पीड़ा या बाधा, उप्पणंसि - उप्पन्न होने पर, अणुप्पणंसि - अनुत्पन्न होने पर, समाहिपत्ते - समाधि प्राप्त कर, पव्वइत्तए - प्रव्रजित होने में ।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है इत्यादि समस्त वर्णन पूर्व की भाँति यहाँ ग्राह्य है यावत् संयममूलक साधना में पराक्रमपूर्वक गतिशील निर्ग्रन्थ दिव्य और मानुषिक काम भोगों से विरक्त हो जाने पर यह चिन्तन करते हैं - मनुष्य जीवन संबंधी कामभोग निश्चय ही अध्रुव यावत् (पूर्व - पश्चात्) त्याज्य हैं। देव संबंधी कामभोग भी

अध्रुव, अनियत, अशाश्व, चलाचल स्वभाव वाले पुनः आगमन वाले तथा पूर्व - पश्चात् अवश्य ही नष्ट होने वाले हैं।

यदि मेरे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित तप नियम का विशिष्ट फल हो यावत् आगामी भव में शुद्ध मातृ-पितृ पक्षीय उग्रवंशी या भोगवंशी कुल हैं यावत् पुत्र रूप में उत्पन्न होकर श्रमणोपासक बन्।

जीव-अजीव एवं पुण्य-पाप के स्वरूप को, तत्त्व को स्वायत्त करूं एवं (श्रमणों को) प्रासुक, एषणीय अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य विषयक चतुर्विध आहार से प्रतिलाभित करता हुआ स्थित रहूँ, जीवनयापन करूँ। यही(चिन्तन) मेरे लिए श्रेष्ठ होगा।

आयुष्मान् श्रमणो! निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी इस प्रकार का निदान कर उसका आलोचन, प्रतिक्रमण किए बिना यावत् आगामी भव में देवलोक में उत्पन्न होते हैं यावत्(पुनः आयु आदि क्षय कर) मनुष्य लोक में उत्पन्न होते हैं से लेकर आपके मुख को क्या अच्छा लगता है तक का वर्णन यहाँ जानना चाहिए।

उस पुरुष को तथारूप - समण-माहण से यावत् धर्म श्रवण करता है(कर सकता है) ?

हाँ, सुन सकता है (सुनता है) यावत् क्या वह केवली प्ररूपित धर्म पर श्रद्धा यावत् रुचि करता है ?

हाँ, श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता है। क्या वह शीलव्रत यावत् पौषधोपवास को ग्रहण करता है ?

हाँ, वह करता है।

क्या वह मुंडित होकर अगार - श्रावक धर्म से अनगार - श्रमण धर्म में प्रव्रजित होता है ? नहीं, ऐसा संभव नहीं है।

वह श्रमणोपासक होता है, जीव-अजीव का बोध प्राप्त करता है यावत् (विविध आहार से) उनको (श्रमणों को) प्रतिलाभित करता हुआ(सुखपूर्वक) रहता है (जीवनयापन करता है)।

क्या वह इस प्रकार से अनेक वर्षों तक श्रमणोपासक पर्याय का पालन करता हुआ अनेक भक्तों का छेदन करता है - अनेक उपवासों का प्रत्याख्यान करता है ?

हाँ, वह रोग आदि उत्पन्न होने अथवा न होने पर भी अनशन द्वारा अनेक भक्तों का छेदन करता हुआ, आलोचन - प्रतिक्रमणपूर्वक समाधिस्थ रहता हुआ कालसमय आने पर काल धर्म को प्राप्त कर अन्य किसी देवलोक में देव के रूप में उत्पन्न होता है।

आयुष्मान् श्रमणो ! इस प्रकार के निदान का यह पाप रूप फल होता है कि वह सर्वथा गृह त्याग कर, मुंडित होकर अगार से अनगार धर्म में प्रव्रजित नहीं हो पाता।

श्रमण होने का निदान

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मए पणणत्ते जाव से य परक्कममाणे दिव्वमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं णिव्वेयं गच्छेज्जा, माणुस्सगा खलु कामभोगा अधुवा० असांसया जाव विप्पजहणिज्जा, दिव्वावि खलु कामभोगा अधुवा जाव पुणरागमणिज्जा, जइ इमस्स सुचरियस्स तवणियम जाव वयमवि आगमेस्साणं जाइं इमाइं (कुलाइं) भवन्ति (तंजहा)-अंतकुलाणि वा पंतकुलाणि वा तुच्छकुलाणि वा दरिइकुलाणि वा किवणकुलाणि वा भिक्खागकुलाणि वा, एएसि णं अण्णयरंसि कुलंसि पुमत्ताए पच्चाएस्सामि एस मे आया परियाए सुणीहडे भविस्सइ, से तं साहु। एवं खलु समणाउसो ! णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा णियाणं किच्चा तस्स ठाणस्स अणालोइय अप्पडिक्कंते सव्वं तं चेव, से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा? हंता! पव्वइज्जा, से णं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्जेज्जा जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा! णो इणट्ठे समट्ठे ॥ ३४ ॥

से णं भवइ से जे अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया जाव बंधयारी तेणं विहारेणं विहरमाणे बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ पाउणित्ता आबाहंसि उप्पणंसि वा जाव भत्ताइं पच्चक्खाएज्जा? हंता ! पच्चक्खाएज्जा, बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेइज्जा? हंता ! छेइज्जा, आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवइ, एवं खलु समणाउसो ! तस्स णियाणस्स इमेयारूवे पावफलविवागे जं णो संचाएइ तेणेव भवग्गहणेणं सिज्जित्तए जाव सव्वदुक्खाणमंतं करित्तए ॥ ३५ ॥

कठिन शब्दार्थ - अंतकुलाणि - आर्थिक दृष्टि से कमजोर कुल, पंतकुलाणि - आर्थिक एवं बौद्धिक दृष्टि से सामान्य कुल, तुच्छकुलाणि - स्वल्प कुटुम्ब युक्त - कम पारिवारिकजनों की संख्या वाला कुल, दरिइकुलाणि - जन्म से ही निर्धन कुल, किवणकुलाणि- धन होते हुए भी निर्धन जैसे व्यवहार वाला कुल, भिक्खागकुलाणि -

याचक कुल, सुणीहडे - सुनिर्हत:-सुखपूर्वक निकल सकेगी, आया - आत्मा, सिङ्गेज्जा - सिद्ध हो सकता है।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है यावत् संयम साधना में पराक्रमपूर्वक गतिशील निर्ग्रन्थ दिव्य एवं मानुषिक काम-भोगों से विरक्त हो यह चिन्तन करते हैं - मनुष्य जीवन संबंधी काम-भोग अध्रुव, अनियत, अशाश्वत यावत् त्याज्य हैं तथा देव विषयक (दिव्य) कामभोग भी अध्रुव यावत् गमनागमन देने वाले - त्याज्य हैं।

यदि मेरे द्वारा सम्यक् रूप में आचरित तप, नियम का विशिष्ट फल हो तो मैं आगामी भव में अंतकुल, प्रांतकुल, तुच्छकुल, दरिद्रकुल, कृपणकुल या याचककुल - इनमें से किसी एक कुल में पुरुष रूप में जन्म ग्रहण करूँ, जिससे मेरी यह आत्मा सुखपूर्वक (इन कुलों से दीक्षा हेतु) निकल सके। यही मेरे लिए श्रेष्ठ होगा।

आयुष्मान् श्रमणो! निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनी इस प्रकार का निदान कर, उसका आलोचन, प्रतिक्रमण किए बिना कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं इत्यादि देवलोक एवं मनुष्यलोक संबंधी समस्त वर्णन यहाँ पूर्व सूत्रों में आए वर्णन की तरह योजनीय है।

क्या वह (पूर्व वर्णित कुलोत्पन्न पुरुष) मुंडित होकर गृहस्थ से श्रमण धर्म में प्रव्रजित होता है?

हाँ, प्रव्रजित होता है।

क्या वह उसी भव में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर यावत् सभी दुःखों का अन्त कर सकता है? नहीं, यह सम्भव नहीं है।

वह अनगार भगवंत ईर्या-समिति, भाषा-समिति यावत् ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ बहुत वर्षों तक श्रामण्य पर्याय का पालन करता है।

रोग उत्पन्न होने अथवा न होने पर भी यावत् अनेक भक्तों का छेदन करता है?

हाँ, प्रत्याख्यान करता है।

अनेक भक्तों का अनशन पूर्वक छेद करता है?

हाँ, छेदन करता है।

(तत्पश्चात्) आलोचन, प्रतिक्रमणपूर्वक समाधिप्राप्त (वह श्रमण भगवंत) काल समय आने पर कालधर्म को प्राप्त होकर अन्य किसी देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न होता है।

आयुष्मान् श्रमणो! उसके इस प्रकार के निदान का यह पापरूप फल होता है कि वह

उसी भव (जन्म) में सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता यावत् सर्वदुःख नाश कर मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

निदानरहित की मुक्ति

एवं खलु समणाउसो ! मए धम्मे पण्णत्ते, इणमेव णिगंग्थे पावयणे जाव से य परक्कममाणे, सव्वकामविरत्ते सव्वरागविरत्ते सव्वसंगातीते सव्वहा सव्वसिणेहाइक्कंते सव्वचरित्तपरिवु (ङ्खे)डे ॥ ३६ ॥

तस्स णं भगवंतस्स अणुत्तरेणं णाणेणं अणुत्तरेणं दंसणेणं अणुत्तरेणं परिणिव्वाणमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाधाए णिरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जेज्जा ॥ ३७ ॥

तए णं से भगवं अरहा भवइ जिणे केवली सव्वण्णू सव्व(दरि)दंसी, सदेवमणुयासुराए जाव बहूइं वासाइं केवलिपरियागं पाउणइ पाउणित्ता अप्पणो आउसेसं आभोएइ आभोएत्ता भत्तं पच्चक्खाएइ पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेएइ छेएत्ता तओ पच्छा चरमेहिं ऊसासणीसासेहिं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ, एवं खलु समणाउसो ! तस्स अणियाणस्स इमेयारूवे कल्लणफलविवागे जं तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ३८ ॥

तए णं बहवे णिगंग्था य णिगंग्थीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति वंदित्ता णमंसित्ता तस्स ठाणस्स आलोयंति पडिक्कमंति जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जंति ॥ ३९ ॥

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे रायगिहे णयरे गुणसिलए चेइए बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं बहूणं देवाणं बहूणं देवीणं सदेवमणुयासुराए परिसाए मज्झगए एवमाइक्खइ एवं भासइ एवं पण्णवेइ एवं परूवेइ आयइठाणं णामं अज्जो ! अज्झयणं सअट्ठं सहेउं सकारणं सुत्तं च अत्थं च तदुभयं च भुज्जो भुज्जो उवदंसेइ ॥ ४० ॥ त्ति बेमि ॥

॥ आयइठाणं णामं दसमा दसा समत्ता ॥ १० ॥

॥ दसासुयक्खंधसुत्तं समत्तं ॥

कठिन शब्दार्थ - विरत्ते - विरक्त होता है, सव्वसंगातीते - धन्य-धान्य आदि सभी परिग्रहों से अतीत, सव्वहा - सब प्रकार से, सव्वसिणेहाइक्कंते - सभी प्रकार के स्नेह बंधनों से दूर, सव्वचरित्तपरिवुडे - सर्वचारित्र परिवृद्ध - संपूर्ण चारित्र - यथाख्यात चारित्रयुक्त, अणुत्तरे - सर्वोत्कृष्ट, णिव्वाघाए - निर्व्याघात - प्रतिरोध रहित, कसिणे - कृत्स्न - संपूर्ण, पडिपुण्णे - प्रतिपूर्ण - सर्वांग सम्पन्न, सव्वण्णू - सर्वज्ञ, सदेवमणुयासुराए- देव, मनुष्य और असुर सहित, आउसेसं - अवशिष्ट आयु, आभोएइ - केवलज्ञान से जानकर, चरमेहिं - अन्तिम, ऊसासणीस्ससेहिं - उच्छ्वास-निःश्वास, अणियाणस्स - निदान रहित साधनामय जीवन का, आयइठाणं - आयति स्थान - उत्तर काल (अगले भव) में जिस निदान का फल हो, ऐसा स्थान या निदानकर्म रूप अध्ययन।

भावार्थ - आयुष्मान् श्रमणो! मैंने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, वही निर्ग्रन्थ प्रबचन सत्य है यावत् इस धर्म का पराक्रमपूर्वक आराधन करने वाला संयमी सभी प्रकार की विषय-वासनाओं से रहित हो जाता है, समस्त राग विरहित हो जाता है, सभी आसंग - आसक्तियों से छूट जाता है, सभी प्रकार के स्नेह-बंधनों को अतिक्रान्त कर जाता है, सर्व परिग्रहों का त्याग कर देता है तथा संपूर्ण चारित्र - यथाख्यात चारित्र को प्राप्त करता है।

अनुत्तर - उत्तम ज्ञान, उत्तम दर्शन एवं सर्वोत्कृष्ट निर्वाण मार्ग से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उस अनगार भगवंत को अनंत, अनुत्तर (श्रेष्ठतम), निर्व्याघात - प्रतिरोध रहित, निरावरण, संपूर्ण एवं प्रतिपूर्ण - सर्वांशतः पूर्ण श्रेष्ठ केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है।

तदनंतर वे अनगार भगवंत जिन, केवली, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाते हैं। वे देव, मनुष्यों और असुरों की परिषद् में धर्मदेशना देते हैं यावत् अनेक वर्षों तक केवलिपर्याय का पालन कर (केवलज्ञान से) अपनी अवशिष्ट आयु को जानकर भक्तप्रत्याख्यान करते हैं - चौविहार संधारा करते हैं। अनशन द्वारा अनेक भक्तों का छेदन करते हुए अंतिम श्वासोच्छ्वास के साथ सिद्धत्व प्राप्त करते हैं यावत् सब दुःखों का अन्त करते हैं।

आयुष्मान् श्रमणो! उस निदान रहित क्रिया (साधनामय जीवन) का यह कल्याणरूप फल होता है कि वह उसी भव में सिद्ध होता है यावत् सभी दुःखों का अन्त कर मुक्ति प्राप्त करता है।

उस समय अनेक निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों ने श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से निदान कर्म विषयक वर्णन सुनकर, उसे हृदय में धारण कर उन्हें वंदन, नमस्कार किया तथा उस निदान रूप (पूर्वकृत) कर्म का वहीं आलोचन, प्रतिक्रमण किया यावत् यथायोग्य तपरूप प्रायश्चित्त को स्वीकार किया।

उस काल और उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में अनेक श्रमणों-श्रमणियों एवं अनेकानेक श्रावक-श्राविकाओं, देव-देवियों को उपदिष्ट करके, देव, मनुष्यों और असुरों की सभा में विराजमान होकर इस प्रकार आख्यात किया, ऐसा विशेष रूप से कहा, ऐसा प्ररूपित किया - हे आर्यों! आयतिस्थान● नामक यह अध्ययन अर्थ, हेतु, कारण, सूत्र, अर्थ और तदुभय - उन दोनों के सहित भगवान् ने पुनः-पुनः उपदिष्ट किया।

इस प्रकार आयतिस्थान नामक दशम दशा सम्पन्न होती है।

विवेचन - पंचमहाव्रतात्मक संयम, साधना और तपोमय श्रमणजीवन सदैव पवित्र बना रहे, शास्त्रानुमोदित सिद्धान्तों, नियमों एवं मर्यादाओं के साथ वह गतिशील रहे, यह परम आवश्यक है। उसके एतन्मूलक साधनामय जीवन में विघ्न करने वाले अथवा उसकी पवित्रता को धूमिल करने वाले हेतुओं में निदान मुख्य है। भूल कर भी साधु वैसा न करे, ऐसी प्रेरणा देने हेतु इस दशा में निदानों का, जो मानवीय दुर्बलतावश आशंकित है, वर्णन कर उनसे बचने पर बल दिया गया है। साधु-साध्वी कदापि, किसी भी प्रकार का निदान न करें, ऐसी प्रेरणा प्रदान की गई है।

'निदान' शब्द 'नि' उपसर्ग, 'दा' धातु और 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से बनता है। इसका एक अर्थ बंधन, रज्जू या रस्सी है। 'निदानमादि कारण' के अनुसार निदान का अर्थ 'आदि कारण' या मुख्य कारण है। इसका एक अन्य अर्थ काटना या छिन्न करना भी है।

इन अर्थों के अनुसार निदान कर्मबन्ध का हेतु है, आवागमन - जन्म-मरण का मुख्य कारण है, साधना के परम लक्ष्य-मोक्ष का बाधक है।

● आयतिस्थान - जिस निदान का फल अगले जन्म में प्राप्त उसे आयतिस्थान कहते हैं।

यद्यपि एक मोक्षार्थी पुरुष या मोक्षार्थिनी नारी सांसारिक भोग, काम-सुख आदि को निःसार एवं परिहेय मानकर सर्व सावद्यवर्जनमूलक भिक्षुजीवन स्वीकार करते हैं, किन्तु आखिर वे हैं तो मानव ही। चिरन्तन संस्कारवश कभी-कभी परिस्थितियों के कारण उनके मन में, वर्तमान जीवन में तो नहीं वरन् आगामी जन्म में भोग प्राप्ति की आन्तर्लालसा उभर आती है और वे मन में तदनु रूप निदान - संकल्प करते हैं कि उनकी संयत साधना का फल इन्द्रिय भोगों के रूप में उन्हें प्राप्त हो। इस दशा के प्रसंग में वर्णित राजा श्रेणिक और महारानी चेलणा का अपने राजसिक, विपुल, आकर्षक, मोहक वैभव के साथ भगवान् महावीर स्वामी के दर्शन-वंदन तथा धर्मोपदेश-श्रवण हेतु आने का जो प्रसंग बनता है, उससे कतिपय साधु-साध्वियों के मन में, भावी जन्म में उसी प्रकार के अत्यधिक, विविध भोगों को प्राप्त करने का मनःसंकल्प उत्पन्न होता है।

कतिपय साधु-साध्वियों के मन में देवलोक में प्राप्य विविध भोगों की तीव्र उत्कंठा, उत्सुकता उत्पन्न होती है, वे अनेक रूपों में, जैसा वर्णित हुआ है, एतदर्थ मन में निदान करते हैं। उनमें अब्रह्मचर्यात्मक सुखों के भिन्न रूप में प्राप्त करने की आकांक्षाओं का जो वर्णन हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय भोगों में यह मैथुन सेवनात्मक भोग सर्वाधिक आकर्षक हैं, अधःपतन का मुख्य हेतु हैं। मैथुन-त्याग के लिए ब्रह्मचर्य शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह बड़ा गहन अर्थ लिए हुए है। 'ब्रह्मणि - परमात्मनिचर्यं - चरणशीलत्वं-ब्रह्मचर्यम्' बहिरात्म भाव से अन्तरात्म भाव में आते हुए परमात्मभाव की आराधना में उद्यमशील होना ब्रह्मचर्य है। इसमें सबसे अधिक बाधक या विघ्नोत्पादक मैथुन सेवन है। इसीलिये ब्रह्मचर्य में - परमात्मोपासना में उसकी अनन्य बाधकता मानते हुए उसे अब्रह्मचर्य कहा गया है, क्योंकि काम-भोग लोलुप व्यक्ति विवेकान्ध बन जाता है। उसे विषय वासना के अतिरिक्त कुछ सूझता तक नहीं।

“भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्ताः” * - भोगों को हमने नहीं भोगा, भोगों ने हमको भोग डाला - नष्ट कर डाला, योगिवर्य भर्तृहरि का यह कथन बड़ा ही सार्थक है।

* वैराग्य शतक, श्लोक-७

जो संयम, शील, आत्मोपासना या अध्यात्मसाधना को तुच्छ भोगों की कीमत पर खो देना चाहता है, वह बहुत बड़ी भूल करता है। 'सिन्दूर प्रकरण' में कहा गया है -

“स्वर्णस्थाले क्षिपति स रजः पाद-शौचं विधत्ते,

पीयूषेण प्रवरकरिणं वाहयत्यैधभारम्।

चिन्तारत्नं विकिरति कराद् वायसोद्वायनार्थं,

यो दुष्प्रापं गमयति मुधा मर्त्य-जन्मं प्रमत्तः ॥”

जो अपने बहुमूल्य - धर्माराधना योग्य मानव-जीवन को तुच्छ भोग प्राप्ति में गंवा डालता है, वह मानव मूर्खतापूर्वक सोने के थाल का कूड़ा-करकट फेंकने में प्रयोग करता है, श्रेष्ठ हाथी पर मानो लकड़ियों का गड्ढर बांधकर लाता है, कौवे को उड़ाने के लिए मानो कंकड़ की तरह चिन्तामणि फेंकता है।

संयमाराधनामय जीवन के बदले में भोगों की चाह करना, ऐसा ही प्रमादपूर्ण, अज्ञतापूर्ण कार्य है।

इस दशा के अन्तर्गत भोगैषणामूलक निदान के अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है, जिसका आशय यह है कि एषणा चाहे किसी भी विषय की हो, स्वीकार्य नहीं है।

श्रमणोपासक या श्रमण जीवन यद्यपि ग्राह्य है, अंशतः आदेय तो है किन्तु साधक के लिए निदान रूप में वांछनीय या संकल्पनीय नहीं है। क्योंकि साधक का परम लक्ष्य मोक्ष है, जो संवर-निर्जरामूलक धर्म पर आश्रित है। सर्वसावद्यविरति आदि के रूप में साधु संवर का साधक तो है ही, वह स्वाध्याय, ध्यान आदि के रूप में विविध तपश्चरण द्वारा कर्मों की निर्जरा करता है। संवर के कारण नए कर्मों का निरोध तो हो ही जाता है, निर्जरा द्वारा संचित कर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः साधक मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक मात्र कर्मनिर्जरा का ही पथ अपनाए रहता है।

दशवैकालिक सूत्र का निम्नांकित उद्धरण इसका साक्ष्य है -

.... णो इहलोगट्टयाए तवमहिट्टिज्जा, णो परलोगट्टयाए तवमहिट्टिज्जा,
 णो क्खिवण्णसद्धसिलोगट्टयाए तवमहिट्टिज्जा, णण्णत्थ णिज्जट्टयाए
 सपमहिट्टिज्जा। - दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ९ उद्देशक ४, सूत्र ४

इस लोक के लिए - ऐहिक, भौतिक, सुखोपभोग के लिए पारलौकिक - स्वर्ग संबंधी दैवी भोगों के लिए, कीर्ति, यश, प्रशस्ति, प्रतिष्ठा आदि लौकैषणामूलक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु तपोमय साधना नहीं करनी चाहिए। अर्थात् इन उद्देश्यों को लेकर तपश्चरण करना सिद्धान्त विरुद्ध है। कर्मनिर्जरा के अतिरिक्त और किसी भी लक्ष्य की पूर्ति हेतु तपश्चरण नहीं करना चाहिए।

यह पाठ एक मात्र मोक्षात्मक लक्ष्य की परिपूर्ति के अनन्य हेतु - कर्म निर्जरण या कर्मक्षय के लिए ही साधक को मार्गदर्शन देता है। यहाँ जिन प्रयोजनों को त्याज्य कहा गया है, प्रस्तुत आगमगत दशम दशा में वे ही निदान सर्वथा परिहेय सिद्ध होते हैं। साधक के लिए वे सर्वथा अग्राह्य, अस्वीकार्य और अनंगीकरणीय हैं।

इस विवेचन का सारांश यह है कि वैराग्य, संयम, स्वाध्याय, ध्यान आदि सभी आध्यात्मिक उपक्रम सीधे आत्मा के परम लक्ष्य के साथ जुड़े रहने चाहिए, जो सर्वांशतः कर्मक्षय पर ही निर्भर हैं।

॥ दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की दशवीं दशा समाप्त ॥

॥ दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र समाप्त ॥



बृहत्कल्प सूत्र

पढमो उद्देशओ - प्रथम उद्देशक

साधु साधियों के लिए फल ग्रहण विषयक विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा आमे तालपलम्बे अभिण्णे पडिगाहित्तए ॥ १ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा आमे तालपलम्बे भिण्णे पडिगाहित्तए ॥ २ ॥

कप्पइ णिग्गंथाणं पक्के तालपलम्बे भिण्णे वा अभिण्णे वा पडिगाहित्तए ॥ ३ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीणं पक्के तालपलम्बे अभिण्णे पडिगाहित्तए ॥ ४ ॥

कप्पइ णिग्गंथीणं पक्के तालपलम्बे भिण्णे पडिगाहित्तए, से वि य विहिभिण्णे, णो चेव णं अविहिभिण्णे ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - आमे - कच्चा, अपरिपक्व, तालपलम्बे - ताल प्रलम्ब - ताड़ का फल, अभिण्णे - अछिन्न - शस्त्र अपरिणत, पडिगाहित्तए - ग्रहण करना, पक्के - परिपक्व, भिण्णे - छिन्न - शस्त्रपरिणत, विहिभिण्णे - विधिपूर्वक टुकड़े-टुकड़े किया हुआ, अविहिभिण्णे - विधिपूर्वक टुकड़े-टुकड़े नहीं किया हुआ।

भावार्थ - १. साधु-साधियों को कच्चा, खण्ड-खण्ड न किया हुआ, शस्त्र अपरिणत ताड़फल लेना नहीं कल्पता।

२. साधु-साधियों को कच्चा, खण्ड-खण्ड किया हुआ, शस्त्र परिणत ताड़फल लेना कल्पता है।

३. साधुओं को पका हुआ, ताल प्रलम्ब शस्त्रपरिणत या अशस्त्र परिणत रूप में ग्रहण करना कल्पता है।

४. साध्वियों को अखण्ड - शस्त्र अपरिणत पक्व ताल प्रलम्ब ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

५. साध्वियों को खण्ड-खण्ड किया हुआ, शस्त्र परिणत पक्व ताल प्रलम्ब ग्रहण करना कल्पता है। वह भी विधिपूर्वक अत्यंत छोटे-छोटे टुकड़ों में ग्रहण करना कल्पता है। अविधिभिन्न - विधिपूर्वक टुकड़े-टुकड़े नहीं किया हुआ ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

विवेचन - इस सूत्र में आया 'प्रलम्ब' शब्द "प्रकर्षेण लम्बते इति प्रलम्बम्" के अनुसार जो किसी वृक्ष, पौधे या लता से लटकता है, उसके लिए प्रयुक्त हुआ है।

यहाँ पर 'ताल' शब्द से ताड़ वृक्ष संबंधी फल का ग्रहण किया गया है। इसे 'अग्रप्रलम्ब' कहा जाता है। इसका आधारभूत वृक्ष 'तल' कहा जाता है तथा 'प्रलम्ब' शब्द से 'मूल' का ग्रहण किया गया है। इसे मूलप्रलम्ब कहा जाता है। एक वृक्ष का ग्रहण करने से तज्जातीय (वृक्ष जातीय) सभी वृक्षों - वनस्पतियों अर्थात् अग्रप्रलम्ब और मूलप्रलम्ब से वनस्पति के दसों भेदों (मूल से बीज तक) का ग्रहण कर लिया गया है। वृक्ष एवं टीका में भी ऐसा अर्थ किया है।

शंका - अनेक संत-सती बृहत्कल्प सूत्र के "तालप्रलम्ब" शब्द से केले को कल्पनीय बताते हैं, इसका क्या समाधान है?

समाधान - बृहत्कल्प सूत्र के ऊपर श्रीसंघदासगणी का भाष्य उपलब्ध होता है, जो लगभग विक्रम की १३वीं शताब्दी के आस-पास हुए हैं, उस भाष्य की गाथा नं. ८४७ से ८५७ तक और आचार्य मलयगिरि की टीका में 'तालप्रलम्ब' शब्द का और इस संबंधी पांचों सूत्रों का विस्तार से अर्थ किया है, जिसमें केले को कोई स्थान नहीं है। परन्तु झिझिरी आदि वृक्षों के मूल से लगाकर फल पर्यंत दस भेदों की 'तालप्रलम्ब' शब्द से ग्रहण किया है। तले भव ताल अर्थात् जो तल में होता उसे ताल कहते हैं और प्रकर्षेण लम्बते इति प्रलम्बम् अर्थात् वृक्ष के ऊपर विशेष प्रकार से जो लटकता है (डाली, फूल आदि की अपेक्षा फल अधिक लटकता है) उसे प्रलम्ब कहा है। प्रथम और अंत का ग्रहण करने से बीच के सभी भेदों का ग्रहण कर लिया गया है। वृक्ष का अंतिम उद्देश्य फल ही होता है और फल में ही बीज होता है, अन्यत्र नहीं। अतः १० भेदों में अंतिम भेद बीज का होने पर भी यहाँ फल पर्यंत कहने से मुख्यता फल की समझ कर और फल में बीज होता ही है ऐसा बताने के लिए ही यहाँ मूल से फल पर्यंत १० भेदों का ग्रहण 'तालप्रलम्ब' से किया है। जिसकी गाथा यह है -

मूले कंदे खंधे, तथा य साले पवाल पत्ते य।

पुष्के फले य बीए, प्रलंब सुत्तम्मि दस भेया ॥ - बृहत्कल्प उ० १, भाष्य गाथा ८५४

उपरोक्त प्राचीन और प्रामाणिक व्याख्या भाष्य टीका आदि में आज भी उपलब्ध है। इसके विपरीत बाद के कुछ अर्थकारों ने 'तालप्रलंब' का अर्थ मात्र केला ही कर दिया जो सर्वथा अनुचित है। वनस्पति के १० ही प्रकार के भेदों में अनेक वनस्पतियाँ विकृत आकृति वाली होती हैं जैसे मूल में मूला आदि, कंद में शक्करकंद, गाजर आदि और भी बैंगन, भिंडी, करेला, तरकाकड़ी, केला आदि फल के भेद तथा और भी जो-जो आकृति दोष से युक्त और आकृति दोष रहित वनस्पति होती हैं वे सभी इन १० भेदों में समाविष्ट हो जाती हैं। आगमकार साधु और साध्वियों को इन वनस्पतियों के कल्प अकल्प की विधि को 'तालप्रलंब' के नाम से पाँच सूत्रों के द्वारा बताते हैं यहाँ बृहत्कल्प सूत्र के सूत्र नं० १ का अर्थ व मूल -

णो कप्पड् णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा आमे तालपलम्बे अभिण्णे पडिगाहित्तए ॥१ ॥

अर्थ - नहीं कल्पता है साधु साध्वी को कच्चा 'तालप्रलंब' अभिन्न (अर्थात् जो अग्नि पर पका नहीं है ऐसा 'तालप्रलंब' अर्थात् मूल से फल पर्यंत कोई भी वनस्पति जो अभिन्न हो अर्थात् चटनी आदि के रूप में भेदन नहीं होने से, अग्निपक्व बिना नहीं लेना।

कप्पड् णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा आमे तालपलम्बे भिण्णे पडिगाहित्तए ॥२ ॥

अर्थ - साधु साध्वी को कच्चा 'तालप्रलंब' भिन्न (अर्थात् दसों भेद वाली वनस्पति जो अग्नि पर पकी हुई नहीं है परन्तु चटनी आदि के रूप में भिन्न हो चुकी है जैसे कच्ची मिर्ची, धनिया, पोदिना आदि को पीस कर चटनी बनाई वह भिन्न कच्चा 'तालप्रलंब' है) जो साधु साध्वी दोनों को लेना कल्पता है।

कप्पड् णिग्गंथाणं पक्के तालपलम्बे भिण्णे वा अभिण्णे वा पडिगाहित्तए ॥ ३ ॥

अर्थ - साधुओं को पक्का 'तालप्रलंब' भिन्न या अभिन्न (अर्थात् अग्नि आदि से शस्त्र परिणित हो जाने पर कोई भी वनस्पति टुकड़े रूप हो या आखी (साबुत) हो) अचित्त होने के कारण लेना कल्पता है। जैसे - उबाले हुए मक्की के भुट्टे, शक्करकंद, केर आदि साबुत हो तो भी अचित्त होने से ग्राह्य है। यहाँ 'अग्नि आदि' में आदि शब्द से अन्य शस्त्र

परिणित भी लिया जा सके। जैसे - नमक से पकाया हुआ नीम्बू, पीपल, अथाणा की मिर्च आदि जो भी शस्त्र परिणित है वे सब पक्व ही गिने जाते हैं, इस सूत्र के द्वारा कितनेक लोग केले को ग्राह्य बताते हैं पर मूल में पक्व शब्द दिया है तो बिना शस्त्र परिणित ही पूरा केला बीज युक्त ग्रहण करना कैसे सिद्ध होगा? उसके अचित्त होने का शस्त्र तो लगा ही नहीं। कोई डाली पर पका हुआ है, ऐसा कहे तो भी उचित नहीं, क्योंकि डाल पर तो अनेक फल पकते हैं। पर अखण्ड लेना नहीं कल्पे, भिन्न तो होना ही चाहिए क्योंकि बीज तो अंदर रहते हैं और फल के भिन्न हुए बिना बीज निकलता नहीं है तथा १० भेदों में बीज भी एक प्रकार का स्वतंत्र तालप्रलंब है वह भी अचित्त हुए बिना नहीं कल्पे। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष सचित्त केले का भक्षण करना त्यागी संतों को उचित नहीं।

णो कप्पड्ढ णिग्गंथीणं पक्के तालपलम्बे अभिण्णे पडिग्गाहित्तए ॥ ४ ॥

अर्थ - साध्वी को पक्व तालप्रलंब अभिन्न (जो-जो विकृति दोष युक्त आकृति वाली होने से आखी भिंडी, आखी मिर्ची, बैंगन, भुट्टे, शक्करकंद, करेला आदि के टुकड़े नहीं हो तो साध्वी को उसे) लेना नहीं कल्पे।

कप्पड्ढ णिग्गंथीणं पक्के तालपलम्बे भिण्णे पडिग्गाहित्तए, से वि य विहिभिण्णे, णो चैव णं अविहिभिण्णे ॥ ५ ॥

अर्थ - साध्वी को पक्का ताल प्रलंब विधि भिन्न हो (एक ही तरह के टुकड़े अविधि भिन्न कहलाते हैं या बड़े-बड़े टुकड़े अविधि भिन्न कहलाते हैं, विधि भिन्न छोटे-छोटे टुकड़े आदि हो) और शस्त्र परिणित हो तो लेना कल्पता है।

इस प्रकार मूल से लेकर फल पर्यन्त सभी वनस्पतियों का समावेश होने से तालप्रलंब का व्यापक अर्थ भाष्यकार ने किया है तथा वर्तमान में भी विद्वानों ने 'तालप्रलंब' का अर्थ केला करने वालों को अप्रामाणिक घोषित किया है।

तालप्रलंब का अर्थ केला प्रामाणिक नहीं है - श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी से प्रकाशित और पंडित श्री दलसुखमालवणिया तथा डॉ० श्री मोहनलाल मेहता द्वारा सम्पादित पुस्तक जैन साहित्य का इतिहास भाग २ पृष्ठ २३७ में बृहत्कल्प सूत्र का परिचय देते हुए पाद, टिप्पण २ में लिखा हुआ है कि - "हिन्दी व गुजराती अनुवादों में इस सूत्र का अर्थ लंबी आकृति वाला किया है प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि इसमें ताल का अर्थ केला व. प्रलंब का अर्थ लंबी आकृति वाला किया है, जिसको उपरोक्त दोनों पंक्तियों ने

प्रामाणिक ठहराया है। क्योंकि पुराने भाष्य चूर्ण में तो इसका अर्थ केला नहीं किया है। फिर बाद के किसी केले के पक्षधरों ने इसको केला अर्थ प्रदान कर दिया है और कुछ वर्षों से परंपरा चल पड़ी। परन्तु भारत भर के किसी भी जैन जैनेतर कोष और ग्रन्थ में 'तालप्रलंब' का अर्थ केला नहीं किया है।"

दूसरा प्रमाण स्वयं केले के पक्षधर आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. द्वारा सम्पादित बृहत्कल्प सूत्र टीका सहित, जो सतारा (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हुआ है। इसके पृष्ठ नं० २ में जो टीका दी है वह इस प्रकार है - "आमं - अपवर्चं - तालो - वृक्ष विशेषः तत्र भवं तालं - तालफलं, प्रकर्षेण लम्बते इति प्रलम्बम्....।

प्रलम्बं द्विधा - मूल प्रलम्बं ताल प्रलम्बं वा, मूल प्रलम्बं - डिड्डियादि, ताल प्रलम्बं - शल्लकी प्रभृतयः ॥१॥" में भी 'तालप्रलंब' का अर्थ केला नहीं करके डिड्डियादि और शल्लकी आदि वनस्पति विशेष किया है तथा इसी पुस्तक के पृष्ठ ८५ में जो शब्दार्थ दिये हैं। वहाँ भी (तालप्रलंबे - ताल वृक्ष का फल) 'तालप्रलंब' का अर्थ ताल वृक्ष का फल लिखा है। दोनों स्थान के अर्थ में विषमता होते हुए भी केला तो अग्राह्य ही रहा है।

तीसरा प्रमाण शतावधानी पं. र. मुनि श्री रत्नचन्द्र जी म. सा. ने अपने अर्धमागधी कोष भाग ३ पृष्ठ ४२ में 'तालप्रलंब' का अर्थ 'ताड नु फल' किया है। यहाँ भी केला अर्थ ग्राह्य नहीं है।

अभिधान राजेन्द्र कोष में भी इन पाँचों सूत्रों का विस्तार से पाँचवें भाग में अर्थ हैं वहाँ भी वनस्पति के दसों भेदों को ग्रहण किया है, इस प्रकार बृहत्कल्प सूत्र के आधार से केले को ग्राह्य बताना अपने आप में धोखा है।

इस प्रकार बृहत्कल्प सूत्र की प्राचीन नियुक्ति, भाष्य और टीका में भी तालप्रलम्ब शब्द का अर्थ 'केला (कदलीफल)' नहीं किया है। आगम में भी केले के लिए 'कयली' (कदली) शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु 'तालप्रलंब' शब्द का नहीं। तथा किसी भी आगम, व्याकरण, शब्दकोष और आयुर्वेदिक ग्रंथों में भी तालप्रलंब का अर्थ 'केला (कदलीफल)' देखने में नहीं आया है। अतः भगवती सूत्र के शतक २२ से केला सचित है। यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है।

भाष्य के अनुसार प्रलम्ब या फल से यहाँ मूल, कन्द, स्कंध, त्वक्, शाल, प्रवाल, पत्र,

पुष्प, फल और बीज भी उपलक्षित हैं। प्रलम्ब या फल के संबंध में ग्राह्यता-अग्राह्यता विषयक सिद्धान्त इन सब पर लागू होता है।

‘आम’ का अर्थ कच्चा होता है। जो अग्नि आदि से पक्व नहीं है उसे यहाँ पर आम कहा है। कच्चे होने पर भी भिन्न होने से अचित्त हो जाते हैं। चटनी आदि आम ‘ताल प्रलम्ब’ है किन्तु पीस जाने (भिन्न हो जाने) के कारण इस सूत्र से वे ही ग्रहण किये जाते हैं। नाम स्थापना आदि भेद से ‘आम’ के चार भेद एवं अनेक प्रभेद किये गये हैं। उनमें से इस सूत्र में कच्ची वनस्पति हो अर्थात् अग्नि पक्व नहीं हो उसको किस अवस्था में ली जा सकती है, उसकी विधि बताई गई है। कच्ची वनस्पति प्रायः असंख्य-जीवी या अनंत-जीवी होती है उसका भेदन हो जाने पर अर्थात् पीसकर चटनी आदि रूप में बन जाने पर कच्ची होते हुए भी जीव रहित हो जाने से साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते हैं किन्तु ‘भिण्णे’ में कटे हुये वृक्ष के पत्तों के टुकड़ों आदि अर्थ नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यदि कच्ची वनस्पति के ऐसे बड़े-बड़े टुकड़े भी ग्रहण करने कल्पते होते तो साध्वियों के लिए पक्व वनस्पति की तरह इस में भी विधि भिन्न, अविधि भिन्न आदि बताते। किन्तु यहां पर नहीं बताने का आशय यह है कि आम वनस्पति विधि-भिन्न हो जाने (छोटे छोटे टुकड़े हो जाने पर, पीस जाने) पर ही ग्रहण करना कल्पता है। बड़े-बड़े टुकड़े होने पर भिन्न होते हुए भी सचित्त होने से साधु-साध्वियों को ग्रहण करना नहीं कल्पता है। अतः हरे पत्ते भिन्न हो जाने पर, पीस जाने पर चटनी आदि रूप बन जाने पर कच्चे (अग्नि पक्व नहीं) होते हुए भी इस सूत्र के आधार से साधु-साध्वियों को ग्रहण करने कल्पते हैं। हरे पत्ते के बड़े-बड़े टुकड़े सचित्त होने से ग्रहण करना नहीं कल्पता है। यह आशय भी विधि भिन्न, अविधि भिन्न पद नहीं देने से इसी सूत्र से निकलता है।

यहाँ प्रयुक्त ‘आम’ शब्द अपरिपक्व या कच्चे शब्द का वाचक है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पक कर स्वयं गिरा हुआ फल ग्राह्य हो क्योंकि वह द्रव्यपक्व माना जाता है। बीज आदि की दृष्टि से सचित्त होने के कारण उसे भावपक्व नहीं कहा जाता। इसलिए वह ग्राह्य नहीं होता।

◆ मूले कंदे खंधे, तथा य साले पवाल पते य।

पुष्के फले य बीए, पलंब सुत्तम्मि दस भेया॥ - बृहत्कल्प उद्देशक १, भाष्य गाथा ८५४

प्रथम एवं द्वितीय सूत्र में कच्चे (जो वृक्षादि पर नहीं पके हैं) एवं अग्नि रूप शस्त्र से भी नहीं पके हैं उनका ग्रहण होना संभव है।

शस्त्र परिणत करने पर भी सब फल अचित्त हो जाएँ, ऐसा नहीं है। क्योंकि उनमें बीज आदि विद्यमान रहते हैं। अतः उबालना, पकाना आदि अपेक्षित होता है। वैसा होने पर वह भावपक्व कहा जाता है।

इस सूत्र में प्रयुक्त **भिन्न, अभिन्न, विधिभिन्न और अविधिभिन्न** - ये चार शब्द विशेष अर्थ के द्योतक हैं।

“भेदेनयुक्तं भिन्नम्” - जिसके खण्ड-खण्ड किए गए हों, उसे भिन्न कहा जाता है। चाकू आदि से वैसा किए जाने से वह शस्त्रपरिणत कहा जाता है। जो इस रूप में नहीं होता वह अभिन्न या शस्त्र अपरिणत है।

विधिभिन्न का अर्थ विधिवत् - विधिपूर्वक या छोटे-छोटे खण्डों के रूप में विभक्त किया हुआ है। जिन खण्डों को वापिस पूर्व जैसे आकार में नहीं किया जा सके उनको यहाँ पर विधिभिन्न कहा गया है। इस पद का प्रयोग विशेषतः साधुओं के संदर्भ में हुआ है। कदली, मूली, गाजर आदि फल या कंदमूल का साध्वियों के लिए केवल शस्त्रपरिणत या खण्ड रूप में या भिन्न होना ही पर्याप्त नहीं है वरन् विधिभिन्न होना - छोटे-छोटे टुकड़ों के रूप में खण्डित होना आवश्यक है। क्योंकि वैसा न होने पर आकार विशेष के कारण वे मन में विकारोत्पादक हो सकते हैं। काम-वासना वस्तुतः दुर्जेय है। अत एव ब्रह्मचर्य की अखण्ड साधना में निरत साधिका के समक्ष ऐसा थोड़ा भी सांकेतिक प्रसंग न बने, जो उसके मन में दुर्वासना जगा सके। मन का चांचल्य तब तक बना रहता है जब तक साधक चिन्तन, मनन, निदिध्यासन, तपश्चरण, ध्यान, व्युत्सर्ग इत्यादि द्वारा अपने आपको पूर्णतः संयत, नियंत्रित, आत्मगत नहीं बना लेता।

कितना सटीक कहा गया है -

मत्तेभकुंभदलने भुविसति शूराः,

केचिद् प्रवृत्त मृगराज वधेऽपि दक्षाः।

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसाह्य,

कंदर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

मदोन्मत्त हाथियों के मस्तक को विदीर्ण कर डालने में सक्षम शूरवीर हो सकते हैं। ऐसे

भी वीर पुरुष हैं, जो मृगराज - सिंह का वध करने में भी समर्थ हैं किन्तु अपने को प्रबल कहने वाले लोगों को चुनौती के साथ (मैं) कहता हूँ कि इस संसार में ऐसे विरले ही व्यक्ति हैं, जो काम के दर्प का दलन करने में, उसे जीतने में समर्थ हों।

जैन शास्त्रों में ब्रह्मचर्य की नव बाड़ और एक कोट (परकोटा) का जो उल्लेख हुआ है, वह बहुत सारगर्भित है। उससे स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य के परिरक्षण हेतु विकारोत्पादक हेतुओं को, चाहे वे कितने ही छोटे लगते हों, निवारण करना परमावश्यक है।

जैन धर्म द्वारा स्वीकृत परम विशुद्ध चारित्रिक चर्या को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए ऐसी सूक्ष्म चर्चाएँ की गई हैं, जो दीखने में महत्त्वपूर्ण नहीं लगती किन्तु विशुद्ध संयम-साधना में वे अवश्य ही उपकारक हैं।

साधु-साधियों के लिए गाँव आदि में प्रवास करने की कालमर्यादा

से गामंसि वा णगरंसि वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडम्बंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा णिगमंसि वा आसमंसि वा सणिवेसंसि वा संवाहंसि वा घोसंसि वा अंसियंसि वा पुडभेयणंसि वा रायहाणंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ णिगंथाणं हेमंतगिम्हासु एगं मासं वत्थए ॥ ६ ॥

से गामंसि वा जाव रायहाणंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ णिगंथाणं हेमंतगिम्हासु दो मासे वत्थए, अंतो एगं मासे बाहिं एगं मासं, अंतो वसमाणणं अंतो भिक्खायरिया बाहिं वसमाणणं बाहिं भिक्खायरिया ॥ ७ ॥

से गामंसि वा जाव रायहाणंसि वा सपरिक्खेवंसि अबाहिरियंसि कप्पइ णिगंथीणं हेमंतगिम्हासु दो मासे वत्थए ॥ ८ ॥

से गामंसि वा जाव रायहाणंसि वा सपरिक्खेवंसि सबाहिरियंसि कप्पइ णिगंथीणं हेमंतगिम्हासु चत्तारि मासे वत्थए, अंतो दो मासे, बाहिं दो मासे, अंतो वसमाणीणं अंतो भिक्खायरिया बाहिं वसमाणीणं बाहिं भिक्खायरिया ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - सपरिक्खेवंसि - प्राकार या परकोटे से युक्त, सबाहिरियंसि - प्राकार के बाहर बसे हुए, हेमंतगिम्हासु - हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में, वत्थए - वास करे, वसमाणणं - वास करते हुए, भिक्खायरिया - भिक्षाचर्या - गोचरी।

भावार्थ - साधुओं को प्राकार युक्त और प्राकार से बहिर्वर्ती - परकोटे के भीतर बसे हुए या उसके बाहर बसे हुए ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, आश्रम, सन्निवेश, संबाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन तथा राजधानी में हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में एक मास तक प्रवास करना कल्पता है।

साधुओं को परकोटे के भीतर तथा उसके बाहर बसे हुए ग्राम यावत् राजधानी में हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में दो मास तक अर्थात् परकोटे के अन्तर्वर्ती एक मास तथा बहिर्वर्ती ग्रामादि में एक मास - कुल दो मास रहना कल्पता है। भीतर रहते हुए साधु द्वारा भीतर भिक्षाचर्या करना तथा बाहर रहते हुए बाहर भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

साध्वियों को परकोटे के भीतर तथा बाहर अवस्थित ग्राम यावत् राजधानी में हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में दो मास प्रवास करना कल्पता है।

साध्वियों को परकोटे के भीतर तथा बाहर ग्राम यावत् राजधानी में हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में चार मास पर्यन्त रहना कल्पता है अर्थात् दो मास परकोटे के भीतर बसे हुए तथा दो मास बाहर बसे हुए ग्रामादि में। भीतर प्रवास करते हुए भीतर भिक्षा तथा बहिर्वर्ती ग्रामादि में प्रवास करते हुए बाहर भिक्षाचर्या करना कल्पता है।

विवेचन - दीक्षा का पर्यायवाची एक शब्द प्रव्रज्या है। 'प्र' उपसर्ग, 'व्रज्' धातु, 'क्यप्' एवं 'टाप्' प्रत्यय के योग से प्रव्रज्या शब्द बनता है। 'व्रज्' धातु गमन करने या चलने के अर्थ में है। निर्ग्रन्थ या साधु के लिए सतत विहरणशील या पर्यटनशील जीवन को लक्षित कर साधु-दीक्षा को प्रव्रज्या कहा गया है। प्रव्रज्या का दीक्षा अर्थ लक्षणा द्वारा निष्पन्न होता है। बहती नदी और विचरणशील संत निर्मल होते हैं। यह लोकोक्ति साधु जीवन की पावनता की द्योतक है। कहीं एक ही स्थायी निवास से अनेकविध रागात्मक, मोहात्मक स्थितियाँ बनना आशंकित हैं। अत एव जैन साधु-साध्वियों के किसी स्थान में प्रवास के संबंध में मर्यादाएँ निर्धारित की गई हैं। केवल श्रावण, भाद्रपद, आश्विन एवं कार्तिक - इन चार महीनों में, जो प्रावृत् प्रधान या वर्षा की मुख्यता युक्त माने जाते हैं, साधु-साध्वियों का (किसी एक स्थान या) चातुर्मासिक प्रवास विहित है। क्योंकि उस समय अप्काय, वनस्पतिकाय की बहुलता के कारण अधिक हिंसा की आशंका रहती है। अवशिष्ट काल में शास्त्रानुमोदित मर्यादापूर्वक विहरणशील रहते हैं।

भारत में ऋतुओं का विभाजन छह या तीन - यों दो प्रकार से किया गया है।

षट् ऋतु क्रम में - चैत्र-वैशाख - वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ - ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद - प्रावृद् (वर्षा), आश्विन-कार्तिक - शरद, मार्गशीर्ष-पौष - हेमन्त तथा माघ-फाल्गुन - शिशिर - ये छह ऋतुएँ हैं।

ऋतुत्रय क्रम में चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठ-आषाढ - ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद-आश्विन-कार्तिक-प्रावृद् और मार्गशीर्ष-पौष-माघ-फाल्गुन - हेमन्त - ये तीन ऋतुएँ हैं।

यहाँ ग्रीष्म और हेमन्त का उल्लेख तीन ऋतुओं के क्रमानुसार हुआ है।

इसका तात्पर्य यह है कि वर्षा ऋतु के चार मास के अतिरिक्त इन आठ महीनों में साधु या साध्वी का किसी एक ही स्थान पर स्थायी प्रवास करना नहीं कल्पता। किसी एक गाँव या नगर आदि बस्ती में साधु एक मास तक तथा साध्वी दो मास तक ठहर सकती है। यहाँ पर मास शब्द से चंद्रमास को समझना चाहिए। वह मास २९ ॥ दिनों का होता है।

इसमें इतना स्पष्टीकरण और किया गया है कि यदि कोई ग्राम परकोटे के भीतर बसा हो और परकोटे के बाहर भी बस्ती हो तो वहाँ दो स्थानों का कल्प स्वीकृत है। किन्तु यह विशेषता है कि भिक्षा अन्दर रहते हुए अन्तर्वर्ती स्थान से तथा (परकोटे के) बाहर रहते हुए बहिर्वर्ती स्थान से भिक्षा लेना शास्त्रानुमोदित होता है।

इसका आशय यह है - अन्तर्वर्ती स्थान में प्रवास करने वाले साधु-साध्वियों का बहिर्वर्ती स्थान के लोगों से संपर्क न रहे तथा बहिर्वर्ती स्थान में वास करने वाले साधु-साध्वियों का अन्तर्वर्ती स्थानवासी लोगों से रोजमर्रा का संपर्क न बने।

साधुओं की अपेक्षा साध्वियों को किसी एक स्थान पर दुगुने समय तक प्रवास करने का जो कल्प निर्धारित किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि दैहिक संहनन, शरीर बल, विविध काल की दैहिक स्थितियाँ - इत्यादि को दृष्टि में रखते हुए उनके संयम जीवितव्य की सुरक्षापूर्ण संवर्द्धना हेतु यह आवश्यक माना गया।

प्रस्तुत सूत्र में साधु-साध्वियों के प्रवास के संदर्भ में ग्राम आदि स्थानों का जो उल्लेख हुआ है, वह तत्कालीन आवास निर्माण व्यवस्था का सूचक है। बृहत्कल्प भाष्य^७ में इन स्थानों के संदर्भ में विस्तार से विवेचन किया गया है। उस समय की व्यवस्था के अनुसार

७ बृहत्कल्प भाष्य, गाथा-१०८९-१०९३

ग्रामों पर कई प्रकार के कर लागू थे। वह सर्वसामान्य स्थिति थी। इसलिए भाष्यकार ने नगर से प्रारंभ किया है।

१. **ग्राम** - अन्यत्र इस संबंध में उल्लेख प्राप्त होता है कि तब गाँवों पर जागीरदार, मुखिया, चतुर्धुरिण - चौधरी इत्यादि से संबद्ध अनेक प्रकार के कर गाँववासियों पर लागू होते थे। क्योंकि गाँववासी मुख्यतः कृषिजीवी थे, अतः भूमिविषयक करों का उन पर सीधा प्रभाव होता था।

२. **नगर** - "न करं यत्र तत्नगरम्" - इसकी यों व्युत्पत्ति की जाती है। जहाँ राजस्व आदि कर नहीं लगते उस बड़ी आबादी को नगर कहा जाता था।

३. **खेड** - जो आबादी मिट्टी के प्राकार या परकोटे से घिरी होती थी, उसे खेड कहा जाता था।

४. **कर्बट** - जो ग्राम से बड़ा हो तथा नगर से छोटा हो ऐसी बस्ती को कर्बट कहते हैं। अथवा कुनगर - शरारती, ठग और जालसाज लोगों की आबादी वाले कस्बे को कर्बट कहा जाता था।

५. **मंडब** - जिसके चारों ओर ढाई-ढाई कोस तक अन्य गाँव न हों, ऐसी एकान्त में आबाद बस्ती।

६. **पट्टण** - इसके लिए संस्कृत साहित्य में पत्तन शब्द का प्रयोग हुआ है। पत्तन का अर्थ व्यापार बहुल नगर है। जल पत्तन और स्थल पत्तन के रूप में उसके दो भेद हैं। जहाँ जल मार्ग से माल आता-जाता है, वह जलपत्तन तथा सड़क के रास्ते (थल मार्ग द्वारा) व्यापार होता है, उसे थलपत्तन कहा जाता है।

७. **आकर** - आकर का अर्थ खान या खदान है। वहाँ कार्य करने वाले श्रमिकों की तत्समीपवर्ती बस्ती आकर कही जाती है।

८. **द्वीणमुख** - उस व्यापारिक केन्द्र या नगर को कहा जाता रहा है, जहाँ जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों रास्तों से माल आता हो।

९. **निगम** - वह व्यापारिक केन्द्र जहाँ क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों का बहुलतया आवागमन रहता है। आज की भाषा में मण्डी से इसकी पहचान की जा सकती है।

१०. **आश्रम** - जहाँ तापस - तपस्वी रहते हों, तप आदि करते हों, उसे आश्रम कहा जाता था।

११. निवेश - व्यापारार्थ जाते हुए सार्थवाह - विशाल व्यापारिक समूह को साथ लिए जाने वाले बड़े व्यापारी जहाँ मार्ग में पड़ाव डालते, उसे निवेश कहा जाता था। वैसे स्थानों में आवास हेतु संभव है मकान, जल आदि की व्यवस्था हो।

१२. संबाध - अन्यत्र कृषि करने वाले कृषकों द्वारा पर्वत आदि स्थानों में अपने रहने के लिए बनाए गए अस्थायी आवास स्थान।

१३. घोष - जहाँ गोपालक (ग्वाले) अपनी गायों के साथ रहते, वैसी बस्तियों को घोष कहा जाता। वे प्रायः झोंपड़ी सदृश होतीं। 'घोष' शब्द संस्कृत में झोंपड़ी के लिए प्रयुक्त हुआ है। लोकभाषा में दुग्धव्यवसायी आज भी घोसी कहे जाते हैं। संस्कृत का मूर्धन्य षकार लोक भाषा में प्राकृत, अपभ्रंश की प्रवृत्ति के अनुरूप दन्त्य सकार में परिणत हो गया है।

१४. अंशिका - गाँव का आधा या कम-अधिक भाग अन्यत्र जाकर बस जाए, उसे अंशिका कहा जाता था।

१५. पुटभेदन - वह व्यावसायिक केन्द्र जहाँ पेटियों में आया हुआ थोक माल विभिन्न स्थानों में वितरित करने हेतु खोला जाता हो।

१६. राजधानी - जहाँ राज्य का स्वामी, शासक या राजा निवास करता, उसे राजधानी कहा जाता।

१७. संकर - संकर शब्द 'मेल' का द्योतक है। जहाँ उपर्युक्त विविध प्रकार की बस्तियों की मिलीं जुली आबादी हो, वह संकर के नाम से अभिहित था।

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगणिक्खमणपवेसाए णो कप्पइ णिग्गंथाण य णिग्गंथीण य एगयओ वत्थए ॥ १० ॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिणिक्खगडाए अभिणिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसाए कप्पइ णिग्गंथाण य णिग्गंथीण य एगयओ वत्थए ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगवगडाए - एक प्राकार या विभागयुक्त, एगदुवाराए - एक द्वारा युक्त, एगणिक्खमणपवेसाए - एक ही निष्क्रमण और प्रवेश के मार्ग से युक्त, एगयओ - एक समय, अभिणिक्खगडाए - अनेक प्राकार युक्त, अभिणिदुवाराए - अनेक द्वार युक्त, अभिणिक्खमणपवेसाए - अनेक निष्क्रमण - प्रवेश मार्ग युक्त।

भावार्थ - १०. किसी ऐसे ग्राम यावत् राजधानी में, जो एक प्राकार से घिरा हो या

विभाजित हो या जिसके एक ही द्वार हो या निर्गमन या आगमन का एक ही मार्ग हो, साधु-साध्वियों को एक समय में-एक साथ प्रवास करना नहीं कल्पता।

११. किसी ऐसे ग्राम यावत् राजधानी में, जो अनेक प्राकारों, अनेक द्वारों या अनेक निर्गमन-आगमन मार्गों से युक्त हो, साधु-साध्वियों को वहाँ एक समय में प्रवास करना कल्पता है।

विवेचन - चारित्रिक शुद्धि, संयम की परिरक्षा, ब्रह्मचर्य की अखण्ड आराधना इत्यादि की दृष्टि से साधुओं और साध्वियों का परस्पर अधिक भिन्न संपर्क, निकटता न रहे, प्रतिकूल जनप्रवाद या लोकापवाद भी न फैले, इस दृष्टि से इस सूत्र में वैसे गाँव आदि में एक समय में आवास करने को अकल्प्य बतलाया गया है।

जहाँ एक प्राकार, एक द्वार एवं एक आगमन-निर्गमन के मार्ग के रूप में स्थानविषयक संकुचितता हो, वहाँ परस्पर मिलने आदि के प्रसंग अपेक्षाकृत अधिक संभावित रहते हैं। यद्यपि साधु-साध्वी यतनाशील और जागरूक होते हैं किन्तु फिर वे हैं तो मानव हीं, गृही वर्ग से ही श्रमण जीवन में गए हैं। अतः बार-बार मिलने से किन्हीं में रागात्मक, मोहात्मक, पारस्परिक आकर्षण रूप स्थितियाँ कदाचन आशंकित हैं। अत एव इस सूत्र में वर्णित आवास विषयक कल्प वास्तव में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट होता है कि जैन परंपरा में चारित्रिक विशुद्धि को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से कितना जोर दिया गया है क्योंकि धर्म तो चारित्रमूल ही है।

भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में इन विषयों से संबद्ध विभिन्न पक्षों की, पारस्परिक सन्निकटता से आशंकित दोषों की विस्तार से चर्चा की है, जो जिज्ञासुओं के लिए अध्येतव्य है।

क्रय-विक्रयकेन्द्रवर्ती स्थान में ठहरने का कल्प-अकल्प

णो कप्पइ णिगंथीणं आवणगिहंसि वा रथामुहंसि वा सिंघाडगंसि वा तियंसि वा चउक्कंसि वा चच्चरंसि वा अंतरावणंसि वा वत्थए ॥ १२ ॥

कप्पइ णिगंथाणं आवणगिहंसि वा जाव अंतरावणंसि वा वत्थए ॥ १३ ॥

भावार्थ - १२. साध्वियों को आपणगृह, रथामुख, शृंगाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर अथवा अंतरापण में प्रवास करना नहीं कल्पता।

१३. साधुओं को आपणगृह यावत् अंतरापण में प्रवास करना कल्पता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'आपण' शब्द "आ - समन्तात् क्रियन्ते विक्रीयन्ते च वस्तूनि यत्र तद् आपणम्" - जहाँ वस्तुओं का व्यापक रूप में क्रय और विक्रय होता है, उसे आपण कहा जाता है। इसके मध्य स्थित गृह या उपाश्रय आदि को आपणगृह कहा जाता है।

रथ्यामुख - 'रथ्या' शब्द रथ से बना है। रथ यहाँ सामान्यतः शकट आदि सभी यान-वाहनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। "रथानां शकटादियान-वाहनानां गमनागमनयोग्या वीथिः रथ्या" अर्थात् वह मार्ग जिससे यान-वाहनों का आना-जाना सुगम हो, उसे रथ्या कहा जाता है।

"रथ्यामुख" का आशय उस भवन से है, जिसका द्वार ऊपर वर्णित मार्ग पर खुले।

शृंगाटक - जिस प्रकार सिंघाड़े के तीन किनारे होते हैं, उसी प्रकार वह स्थान जहाँ से तीन रास्ते निकलते हों।

त्रिक - तीन रास्तों के मिलने का स्थान।

चतुष्क - चार रास्तों के मिलने का स्थान-चौक।

घातर - जहाँ से छह या अनेक रास्ते निकलते हों।

अनारापण - अन्तरापण का तात्पर्य हाट या बाजार के रास्ते से है।

इन-इन स्थानों पर बने हुए उपाश्रयों या भवनों में साध्वियों का रहना नहीं कल्पता। इस अकल्प्यता का कारण मुख्यतः स्त्री जीवन का निरापद न होना, संयमजीवितव्य की सुरक्षा में विशेष जागरूकता या सावधानी है, जहाँ अनेक प्रकार के लोगों का निर्बाध आवागमन होता रहता है। अतः दूषित विचारधारा के लोगों की कुदृष्टि की आशंका बनी रहती है। वैसी अवाञ्छित स्थितियाँ न बन पाएँ, इस हेतु यह कल्प मर्यादा है।

पुरुष होने के नाते साध्वियों की अपेक्षा साधुओं के लिए वैसे स्थान में रुकने में संयम विषयक विशेष बाधा आशंकित नहीं है। कोलाहल, हलचल आदि के कारण यदि साधुओं को भी अपने स्वाध्याय आदि करने में विघ्न प्रतीत हो तो उन्हें भी वैसे स्थानों में नहीं रहना चाहिए।

कपाटरहित स्थान में साधु-साध्वियों की प्रवास मर्यादा

णो कप्पइ णिग्गंथीणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए, एगं पत्थारं अंतो

किच्चा एगं पत्थारं बाहिं किच्चा ओहाडिय (चेल) चिलिमिलियागंसि एवं णं व पइ वत्थए ॥ १४ ॥

कप्पइ णिगगंथाणं अवंगुयदुवारिए उवस्सए वत्थए ॥ १५ ॥

कठिन शब्दार्थ - अवंगुयदुवारिए - अपावृत - खुले द्वार, उवस्सए - उपाश्रय में, पत्थारं - प्रस्तार - पर्दा, ओहाडिय - लगाकर - बांधकर, चिलिमिलियागंसि - मध्यवर्ती मार्ग युक्त (चिलिमिलिका)।

भावार्थ - १४. साध्वियों को खुले द्वारा वाले - कपाट रहित स्थान में रहना नहीं कल्पता।

साध्वियों को खुले कपाट वाले उपाश्रय में एक पर्दा (प्रस्तार) भीतर तथा एक पर्दा बाहर बाँध कर - मध्यवर्ती मार्ग रखते हुए चिलिमिलिकावत् - महीन छिद्रयुक्त दो पर्दों को व्यवस्थित कर रहना कल्पता है।

१५. साधुओं को खुले द्वार - कपाट वाले स्थान में रहना कल्पता है।

विवेचन - जैन आगमों और शास्त्रों की यह विशेषता है कि प्रत्येक विषय पर उनमें बड़ी सूक्ष्मता और गहराई से चिन्तन किया गया है। "आचाटः प्रथमो धर्मः" आचार, चारित्र सबसे पहला धर्म है। विद्या, ज्ञान और शास्त्रज्ञता ये सब उसके विभूषक हैं।

अत एव शुद्ध रूप में चारित्र का पालन होता रहे, यह सर्वथा वांछित है। साधु-साध्वी इस दिशा में जागरूक और यत्नशील रहते ही हैं किन्तु कोई भी ऐसी स्थिति उनके सामने न आए जिससे उनके आचार में जरा भी व्याघात हो।

साध्वियों के संबंध में जो विशेष बात कही गई है, जैसा पहले सूचित किया गया है, वह उनके शरीर संस्थान, शक्ति आदि के कारण अपेक्षित है। इसीलिए साध्वियों को कपाटरहित स्थानों में रहना नहीं कल्पता। इसी कारण साध्वियों के लिए ऐसा विधान है कि वे रात्रि में कपाट बंद कर सकती हैं।

कपाट रहित द्वार होने की स्थिति में चिलिमिलिका बांधने का विधान किया गया है। जिसका तात्पर्य यह है - एक पर्दा भीतर ताना जाय तथा एक पर्दा बाहर ताना जाय। वह पर्दा ऐसा हो कि बाहर आने-जाने वालों की उन पर दृष्टि न पड़े।

यहाँ के लिए 'प्रस्तार' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह 'प्र' उपसर्ग और 'स्तृ' धातु से

बना है। “प्रकर्षेण स्तारः, विस्तारः - विस्तरणं व यस्य स प्रस्तारः” - जिसको विशेष रूप से फैलाकर ताना जाय वह प्रस्तार संज्ञक है। यह पर्दे का सूचक है।

शील, रक्षा आदि की दृष्टि से यह विधान आवश्यक माना गया है।

साधुओं के लिए कपाट रहित स्थान में भी रहना कल्पता है परन्तु रात्रि में यदि आवश्यक हो तो तिर्यञ्च प्राणियों आदि की बाधा की आशंका से पर्दा लगाया जा सकता है।

ऐसे स्थानों पर साध्वियों के रात्रिकालीन प्रवास के संदर्भ में अन्य जागरूकताओं के संदर्भ में भाष्यकार ने जो विवेचन किया है, वह पठनीय है।

साधु-साध्वी को घटीमात्रक रखने का विधि-निषेध

कप्पइ णिगंग्थीणं अंतोलित्तयं घडिमत्तयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १६ ॥

णो कप्पइ णिगंग्थाणं अंतोलित्तयं घडिमत्तयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १७ ॥

कठिन शब्दार्थ - अंतोलित्तयं - भीतर से लेप किया हुआ - चिकना, घडिमत्तयं - घटीमात्रक - लघु आकार का घट रूप पात्र, परिहरित्तए - गृहीत करना।

भावार्थ - १६. साध्वियों को भीतर से लिपा हुआ - चिकना किया हुआ, छोटे घड़े के आकार का पात्र धारण करना, रखना कल्पता है।

१७. साधुओं को अन्दर से लिप्त किया हुआ घटीमात्रक (उपर्युक्त पात्र) रखना और उपयोग करना नहीं कल्पता है।

विवेचन - इस सूत्र में 'मात्रक' शब्द का प्रयोग छोटे मुख वाले पात्र के लिए हुआ है। विशेषतः मात्रक उच्चार-प्रस्रवण एवं कफ आदि के लिए प्रयुक्त होता है। औदारिक शरीर के लिए ये आवश्यक हो सकते हैं। अहिंसा प्रधान चर्या के कारण स्वच्छंद रूप में उच्चार-प्रस्रवण आदि का विधान नहीं है, अतः वहाँ ऐसे पात्रों की प्रयोजनीयता है।

साध्वियों के उनके वासनाविरहित, ब्रह्मचर्यमूलक, जीवन में ऐसे पात्र विकारोत्पादक नहीं होते। अतः वे अविहित नहीं है। पात्र के अन्तर्लेप का जो उल्लेख किया गया है, वह इसलिए कि वैसा पात्र प्रस्रवण आदि को तत्काल सोख नहीं पाता इसलिए उसके भीतर आर्द्रता नहीं आती, जीवोत्पत्ति का हेतु भी नहीं बनता।

साधुओं के लिए छोटे मुँह वाले घटीमात्रक रखने का जो निषेध किया गया है, उसका आशय यह है कि पात्र के छोटे मुँह के कारण कदाचन कायात्मक कुत्सित भावना न आ जाए।

जिस प्रकार ब्रह्मचर्य भावना की सुदृढता हेतु साध्वियों के लिए अविच्छिन्न प्रलम्ब, मूल से बीज पर्यन्त दस भेदों वाली वनस्पतियाँ ग्रहण करने का निषेध है उसी प्रकार विपरीत लिंगाकृति सूचक (मुख युक्त) लघु घटक साधुओं के लिए निषिद्ध है।

काम विकार का जब उद्दाम उभार हो जाए तो वह कुत्सित कल्पना, विचारणा तो उत्पन्न कर ही सकता है।

मशकादिनिरोधिनी आवरणवस्त्रिका का विधान

कप्पड़ णिगंथाण वा णिगंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १८ ॥

भावार्थ - १८. साधु-साध्वियों को वस्त्रमयी चिलमिलिका (मच्छरदानी) धारण करना-रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन - विभिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न जलवायु के कारण प्रावृट् आदि में मच्छर, डांस इत्यादि छोटे जन्तु बढ़ जाते हैं। वे रात्रि में शयनकाल में बहुत ही कष्टप्रद होते हैं। उनसे बचने के लिए महीन छिद्रों से युक्त आवरण वस्त्रिका, जिसे आज की भाषा में मच्छरदानी कहा जाता है, का प्रयोग करना विहित है।

ये ऐसे परीषह हैं, जिसे सब कोई सहन नहीं कर पाते। भाष्य आदि में मशक आदि अवरोधिनी वस्त्रिका के अनेक रूप बताए गए हैं। मुख्यतः उनके पाँच प्रकार हैं -

१. सूत्रमयी - कपास आदि के धागों से निर्मित।
२. रज्जुमयी - ऊन या मोटे धागों से बनी हुई।
३. तल्कलमयी - सन, पटसन आदि की छाल से निर्मित।
४. दण्डकमयी - बांस-बेंत आदि से बनी हुई।
५. कटमयी - चटाई आदि से निर्मित।

इनमें से वस्त्रनिर्मित (प्रथम) आवरणिका ही ग्राह्य मानी जाती है क्योंकि साधु-साध्वियों को अपना सारा सामान स्वयं लेकर चलना होता है। यह हल्की होने से सुविधा युक्त होती है। आवरणिका (चिलमिलिका) का प्रमाण चौड़ाई तथा ऊँचाई में तीन-तीन हाथ एवं लम्बाई पाँच हाथ बतलाई गई है। यह एक साधु या साध्वी के लिए पर्याप्त होती है।

इस संबंध में यह ज्ञातव्य है - निशीथ सूत्र में भी यह प्रसंग (उद्देशक-१) आया है,

जिसमें आवरणवस्त्रिका के बनाने का प्रायश्चित्त बतलाया गया है। निशीथ सूत्र एवं यहाँ आए वर्णन की संगति यों घटित होती है - यदि साधु-साध्वी को किसी गृहस्थ से अपने लिए बनाई गई आवरणिका प्राप्त हो तो वह ग्रहण करना कल्पता है अथवा तदुपयोगी वस्त्र प्राप्त होने पर उसे भी ले सकते हैं तथा यथायोग्य तरीके से उसका उपयोग भी किया जा सकता है।

जलतीर के निकट अवस्थित होने आदि का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा दगतीरंसि चिट्ठित्तए वा णिसीइत्तए वा तुयट्ठित्तए वा णिहाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारमाहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिडुवित्तए, सज्झायं वा करेत्तए, धम्मजागरियं वा जागरित्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - दगतीरंसि - जल के तट पर, तुयट्ठित्तए - सोना, णिहाइत्तए - नींद लेना, पयलाइत्तए - ऊंघना (प्रचला संज्ञक अल्पनिद्रा), धम्मजागरियं - धर्म जागरिका-धर्मचिन्तन करना, झाणं - ध्यान।

भावार्थ - १९. साधु-साध्वियों को जल के तट पर खड़े होना, बैठना, सोना, नींद लेना, ऊंघना, अशन, पान, खाद्य आदि आहार ग्रहण करना, उच्चार-प्रस्रवण - मल-मूत्र, श्लेष्म, नासामल आदि का परित्याग करना, स्वाध्याय करना, धर्मचिन्तन करना, ध्यान की आराधना-अभ्यास करना तथा कायोत्सर्ग में स्थित होना - कायोत्सर्ग करना नहीं कल्पता।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त 'दक' (दग) शब्द के मूल में 'उद' शब्द है। 'उद' के आगे स्वार्थिक 'क' प्रत्यय के जुड़ने से उदक बनता है। "भाषाविज्ञान" की मुख-सुख - उच्चारण सौविध्यमूलक प्रवृत्ति के कारण अधिकांशतः उदक का ही प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। भाषाविज्ञान में शब्दों के संक्षिप्तीकरण की भी एक विशेष विद्या है। जिससे शब्द का अर्थ नहीं बदलता, बहुलांश नहीं बदलता, कुछ भाग बदल जाता है।

यहाँ जलतीर का आशय नदी, सरोवर, वापि, तड़ाग आदि के किनारे से है। आज तो विज्ञान के कारण घर-घर में जल प्राप्त है। किन्तु प्राचीन काल में इन्हीं स्थानों से जल की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। इन स्थानों पर उपर्युक्त कार्यों के निषिद्ध होने के कारण देते हुए भाष्य, चूर्णि एवं निर्युक्ति में विस्तृत चर्चा आई है, जिसका सारांश यह है -

१. जल भरने के लिए आने वाली पनहारियों के मन में साधुओं के चारित्र पर शंका होती है।

२. जल पीने हेतु आने वाले अनेक पशु, साधुओं को देखकर भयभीत हो सकते हैं तथा प्यासे ही लौट सकते हैं। वों साधु एक प्रकार से अन्तराय हेतु बन जाते हैं।

३. भयभीत होकर तेज चलते हुए - दौड़ते हुए प्राणियों द्वारा सूक्ष्मजीवों का आघात भी आशंकित है।

४. जलगत मत्स्य, कच्छप, कर्कट आदि जीव भी भयसंज्ञावश साधुओं से डर कर जल में इधर-उधर दौड़ने लगते हैं, जिससे अप्काय के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म जीवों की हानि हो सकती है।

५. हिंसक, दुष्ट जानवरों से साधु-साध्वियों को हानि भी हो सकती है।

६. आद्रता के कारण तटीय भूमि सचित भी होती है, जिससे हिंसा का दोष लगता है।

७. सचित जल ग्रहण करने की मिथ्या आशंका भी यहाँ संभावित है।

चित्रांकित उपाश्रय में ठहरने का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥ २० ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अचित्तकम्मे उवस्सए वत्थए ॥ २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - सचित्तकम्मे - चित्रकर्म - चित्रकारी युक्त स्थान, अचित्तकम्मे - चित्रकारी से रहित स्थान।

भावार्थ - २०. निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनियों को चित्रकारी से युक्त उपाश्रय में रहना नहीं कल्पता है।

२१. निर्ग्रन्थ या निर्ग्रन्थिनियों को चित्रकारी से रहित उपाश्रय में रहना कल्पता है।

विवेचन - साधु-साध्वियों के लिए यह परमावश्यक माना गया है, वे सदा ध्यान रखते रहें कि उनके नेत्रों के समक्ष ऐसे दृश्य न रहें, जो उनके मन में कदाचन विकारोत्पत्ति के हेतु बन सकें। इस सूत्र में चित्रांकित उपाश्रय में रहने का जो निषेध किया गया है, वहाँ तत्त्वतः यह ग्राह्य है कि ऐसे स्थान में, जहाँ मोह, वासना, काम, तृष्णा आदि भावों के द्योतक चित्र हों। यद्यपि चित्रकला का ललित कलाओं में महत्त्वपूर्ण स्थान है किन्तु चित्रकार, चित्रकारिता एवं दर्शक अधिकांशतः लोकवृत्ति या सांसारिक भावना से संबद्ध होते हैं। यही कारण है कि चित्रों

में पुरुष-स्त्री युगल, पशु-पक्षी युगल, काम-क्रीडारत दृश्य, नारी-सौन्दर्य के आकर्षक रूप इत्यादि का परिदर्शन दृष्टिगोचर होता है। आश्चर्य तो यह है कि देवस्थानों में भी इस प्रकार के चित्र पाए जाते हैं, जो परिहेय हैं। किसी भी कलाकार में यदि वासनात्मक भाव नियमित, संयमित या नियंत्रित न हो तो वह अपनी कलाकृति में उसका प्रस्तुतीकरण किए बिना रह नहीं सकता क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से वैसा करने में उसे तृप्ति का अनुभव होता है।

अत एव सूत्र में चित्रांकित भवन में रहने को अकल्प्य, प्रतिषेध्य कहा गया है।

सागारिक की निश्रा में प्रवास करने का विधान

णो कप्पइ णिग्गंथीणं सागारिय-अणिस्साए वत्थए ॥ २२ ॥

कप्पइ णिग्गंथीणं सागारियणिस्साए वत्थए ॥ २३ ॥

कप्पइ णिग्गंथाणं सागारियणिस्साए वा अणिस्साए वा वत्थए ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - सागारिय - सागारिक - श्रमणोपासक या सदगृहस्थ, अणिस्साए-अनिश्रा - बिना आश्रय के, णिस्साए - आश्रय में।

भावार्थ - २२. निर्ग्रन्थिनियों को सागारिक की अनिश्रा - बिना आश्रय के रहना नहीं कल्पता है।

२३. निर्ग्रन्थिनियों को सागारिक की निश्रा - आश्रय में रहना कल्पता है।

२४. साधुओं को सागारिक - श्रमणोपासक की निश्रा या अनिश्रा में रहना नहीं कल्पता है।

विवेचन - व्रताराधना की दृष्टि से जैन धर्म में अनगार और सागार के रूप में दो क्रम हैं। “नास्ति अगारं यस्य स अनगारः” - जिसके अगार-घर न हो, जो गृहस्थ जीवन में न हो, प्रव्रजित, दीक्षित हो, उसे अनगार कहा जाता है। यह पंचमहाव्रतधारी साधु का सूचक है। “आगारेण सहितः सागारः” - जो गृहस्थ में रहते हुए अंशतः धार्मिक आराधना करता है, ‘सागार’ कहा जाता है। ‘सागार’ शब्द में इक प्रत्यय लगाने से सागारिक बनता है। सागार और सागारिक - दोनों एक ही भाव के ज्ञापक हैं।

‘सागार’ शब्द की एक व्युत्पत्ति और बनती है। “अगारेण सहितः सागारः” - जो अगार सहित होता है उसे ‘सागार’ कहा जाता है। ‘अगार’ शब्द घर एवं ‘आगार’ शब्द विकल्प या अपवाद के अर्थ में है। जो अपनी शक्ति को तोलता हुआ विविध आगारों या

अपवादों के साथ व्रतों को स्वीकार करता है, वह सागार या सागारिक कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ श्रमणोपासक है।

यहाँ पर सागारिक शब्द से शय्यातर या अन्य कोई भी गृहस्थ समझना चाहिए। उसकी निश्रा से जैसे - 'यहाँ हम रुके हुये हैं, अतः कोई भी परिस्थिति में आप ध्यान रखना' ऐसा उनको कह कर रखना। चाहे भय का स्थान हो या नहीं भी हो, स्वयं सशक्त (निडर) भी हो तो भी साध्वी को तो निश्रा लेनी ही चाहिए। शय्यातर का घर दूर भी हो सकता है। अतः पास वाले किसी भी सद्गृहस्थ की निश्रा लेना जरूरी है। अतः निश्रा लेना प्राचीन आगम विधि है। वर्तमान में कहीं न भी हो तो उसे चालू करना चाहिए। अन्यथा भाष्य में प्रायश्चित्त बताया है। ऐसा बहुश्रुत भगवन् फरमाते थे।

पाणिनीय व्याकरण निरूपित "अकः सवर्णे दीर्घः" सूत्र के अनुसार अ + अ, अ + आ, आ + अ, आ + आ - इन सभी की संधि में 'आ' बनता है। इसलिए स + अगार एवं स + आगार - दोनों स्थितियों में 'सागार' ही बनेगा।

साध्वियों के सागारिक की निश्रा में रहने का जो विधान किया गया है, उसका आशय इनकी शील सुरक्षा से है। श्रावक या सद्गृहस्थ के यहाँ प्रवास करते समय दुराशय व्यक्तियों से आशंकित दुश्चेष्टाओं का खतरा नहीं रहता।

साधुओं के प्रवास में सागारिक की निश्रा - प्रश्रय अपरिहार्य नहीं है। यदि हो तो उत्तम है।

सागारिक युक्त स्थान में आवास का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सागारिए उवस्सए वत्थए ॥ २५ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाणं इत्थिसागारिए उवस्सए वत्थए ॥ २६ ॥

कप्पइ णिग्गंथाणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए ॥ २७ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीणं पुरिससागारिए उवस्सए वत्थए ॥ २८ ॥

कप्पइ णिग्गंथीणं इत्थिसागारिए उवस्सए वत्थए ॥ २९ ॥

भावार्थ - २५. साधु-साध्वियों को सागारिक - गृहस्थ के आवास युक्त उपाश्रय (स्थान) में प्रवास करना नहीं कल्प्यम् है।

२६. केवल स्त्री निवास युक्त (स्त्री सागारिक) उपाश्रय में साधुओं को रहना विहित नहीं है।

२७. केवल पुरुषों के आवास युक्त (पुरुष सागारिक) उपाश्रय में साधुओं का रहना शास्त्रानुमोदित है।

२८. निर्ग्रन्थिनियों को पुरुष सागारिक उपाश्रय में रहना कल्पनीय नहीं होता।

२९. केवल स्त्री सागारिक उपाश्रय में साध्वियों का रहना कल्प्य कहा गया है।

विवेचन - इस सूत्र में साधु-साध्वियों के उस उपाश्रय - स्थान में रहने के कल्प-अकल्प की चर्चा है, जिसमें सागारिक - गृहस्थ का आवास हो अथवा गृहस्थ के आभूषण, वस्त्र आदि साज सामान हो या मनोविनोद हेतु नृत्य, गीतादि के उपक्रम हों।

चूर्ण एवं भाष्य में इस संबंध में विशद विवेचन प्राप्त होता है। वहाँ सागारिक के रूपों-द्रव्य सागारिक एवं भाव सागारिक की चर्चा आई है।

जहाँ गृहस्थ एवं उनके साज समान हों, वह उनके अस्तित्व के कारण द्रव्यसागारिक है। आवास हेतु आने वालों के लिए वे भाव सागारिक हैं। क्योंकि उनके कारण उनमें तदनु रूप लौकिक, सांसारिक भावों का उद्गम हो सकता है। उनके भावों में सागारिकता - अनगारेतर-साधुत्व विपरीत भाव का उद्गम होना आशंकित है। उसके विस्तार में व्याख्याकारों ने इतना और कहा है कि जिस उपाश्रय में स्त्रियों का या स्त्रीजनोचित साधन सामग्री रखी हो तो वह अपने आप में द्रव्य सागारिक एवं साधुओं के लिए भाव सागारिक है।

इसी प्रकार जिसमें पुरुषों का आवास हो या पुरुषोचित साधन सामग्री हो, वह अपने आप में द्रव्य सागारिक एवं साध्वियों के लिए भाव सागारिक है क्योंकि वहाँ मनोभावना में वासनात्मक विकृति आशंकित है।

इन दोनों ही प्रकार के उपाश्रयों में साधु-साध्वियों का ठहरना वर्जित है। यह उत्सर्ग मार्ग है। यदि अन्य स्थान प्राप्य न हो तो, पुरुषावास युक्त या पुरुषोचित साधन-सामग्री युक्त उपाश्रय में साधुओं का रूकना अनिषिद्ध है - विहित है। इसी प्रकार केवल स्त्री आवास युक्त या स्त्रीजनोचित साधन-सामग्री युक्त स्थान में साध्वियों का प्रवास अप्रतिषिद्ध - कल्पनीय है।

यह अपवाद मार्ग है। अपरिहार्य स्थिति में ही इसका सेवन किया जा सकता है। जिसका कारण यह है कि - समलिंगसंबद्ध सामग्री या व्यक्ति से विकारोत्पत्ति की आशंका कम रहती है।

प्रतिबद्धशय्या (उपाश्रय) में प्रवास का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाणं पडिबद्धाए सेज्जाए वत्थाए ॥ ३० ॥

कप्पइ णिग्गंथीणं पडिबद्धाए सेज्जाए वत्थाए ॥ ३१ ॥

भावार्थ - ३०. प्रतिबद्धशय्या (आवास स्थान) में साधुओं का प्रवास कल्पनीय नहीं है।

३१. साध्वियों के लिए प्रतिबद्धशय्या में प्रवास करना कल्पता है।

विवेचन - सूत्र में प्रयुक्त 'शय्या' शब्द आवास का द्योतक है। आवास के स्थान में आवासी का अधिक समय अन्य कार्यों की अपेक्षा सोने या आराम करने में व्यतीत होता है। इस अपेक्षा से इसे आवास स्थान, शय्या शब्द से संज्ञित हुआ है। इसी आशय के कारण जिस स्थान में साधु-साध्वी रुकते हैं, उस स्थान के मालिक को 'शय्यातर' कहा जाता है।

आवास स्थान की अवस्थिति का भी परिणामों पर बड़ा असर होता है। इसीलिए यहाँ प्रतिबद्ध आवास स्थान व्याख्यात हुआ है। **“प्रतिबंधेन युक्तः प्रतिबद्धः”** - के अनुसार मध्यवर्ती दीवाल तथा काष्ठफलक आदि के साथ गृहस्थ के घर से जुड़ा हुआ उपाश्रय प्रतिबद्ध शय्या कहा जाता है।

चूर्णिकार ने “द्रव्य प्रतिबद्ध” और “भाव प्रतिबद्ध” के रूप में इसके लिए दो भेद किए हैं।

भित्तिका आदि के व्यवधान से युक्त आवास द्रव्य प्रतिबद्ध कहा गया है।

भाव प्रतिबद्ध का आशय उस आवास से है, जिससे भावों में विकृति आना आशंकित हो। चूर्णिकार ने उसके चार भेद किए हैं -

१. जहाँ गृहवासी स्त्री-पुरुषों का एवं साधु का प्रस्रवण (मूत्रोत्सर्ग) स्थान एक हो।
२. जहाँ घर के लोगों एवं साधुओं के बैठने का एक ही स्थान हो।
३. जहाँ स्त्रियों का रूप-सौन्दर्य आदि दृष्टिगोचर होता हो।
४. जहाँ स्त्रियों की भाषा, आभरणों की झंकार तथा काम-विलासान्वित गोप्य शब्दादि सुनाई पड़ते हो।

इन चारों भेदों में सूचित प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे मानसिक विचलन आशंकित है।

यद्यपि साध्वियों के लिए ऐसा स्थान कल्प्य कहा गया है किन्तु वह अपवाद रूप में ही है। चूर्णिकार ने इस संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी हैं - वैसे सागारिकजन, जो उनके

संसारपक्षीय माता-पिता, भाई-बंधु इत्यादि निकटतम संबंधी हों, वहीं वे ठहर सकती हैं क्योंकि वे साध्वियों के चारित्र संरक्षण का सहज रूप में दायित्व लिए होते हैं।

पूर्व वर्णित चारों भाव प्रतिबद्ध साध्वियों के लिए भी प्रतिबद्ध या वर्जित हैं।

यद्यपि अनिवार्य स्थिति में, अपवाद रूप में वैसे प्रतिबद्ध स्थान में रहना पड़े तो वहाँ वैराग्य संवलित, उज्वल, सुदृढ परिणामों के साथ आत्मनियमनपूर्वक रहना वांछित है।

प्रतिबद्ध मार्ग युक्त उपाश्रय में ठहरने का कल्प-अकल्प

णो कप्पइ णिगंगाणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए ॥ ३२ ॥

कप्पइ णिगंगांथीणं गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं वत्थए ॥ ३३ ॥

कठिन शब्दार्थ - मज्झंमज्झेणं - बीचोबीच, गंतुं - जाना।

भावार्थ - ३२. जिस उपाश्रय में जाने का रास्ता गाथापति कुल - गृहस्थवृन्द के घर के बीचों-बीच होकर हो, उसमें साधुओं का रहना नहीं कल्पता।

३३. जिस उपाश्रय का मार्ग गाथापति घर के बीचोंबीच होकर जाता हो, उसमें साध्वियों को प्रवास करना कल्पता है।

विवेचन - इस प्रसंग में गाहावइ (गाथापति) शब्द विशेष रूप से विचारणीय है। यह विशेषतः जैन साहित्य में ही प्रयुक्त है। गाहा + वइ इन दो शब्दों के मेल से यह बना है। प्राकृत में 'गाहा' आर्या छन्द के लिए भी आता है और घर के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसका एक अर्थ प्रशस्ति भी है। धन, धान्य, समृद्धि, वैभव आदि के कारण बड़ी प्रशस्ति का अधिकारी होने से भी एक संपन्न, समृद्ध गृहस्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग टीकाकारों ने माना है। पर, गाहा का अधिक संगत अर्थ घर ही प्रतीत होता है।

पूर्वोक्त सूत्रों में प्रतिबद्ध स्थान विषयक विधि-निषेध की चर्चा हुई है। इस सूत्र में मार्ग विषयक चर्चा है। उपाश्रय को जाने वाला मार्ग गृहस्थ के घर के बीच से होकर हो तो वह प्रतिबद्ध मार्ग कहा गया है। साधुओं को वैसे उपाश्रय में जाना अविहित है क्योंकि उधर से निकलने में गृहस्थों के कार्यकलाप दृष्टिगोचर होते हैं। स्त्रियाँ भी नजर में आती हैं। वैसे सब देखकर मन का विचलित होना आशंकित है। अत एव शील सुरक्षा की दृष्टि से साधुओं के लिए इसे निषिद्ध कहा गया है।

साधियों द्वारा अपवाद रूप में वैसे मार्ग से जाना कल्प्य बतलाया गया है क्योंकि अन्य उपाश्रय न मिलने की स्थिति में यह व्यवस्था दी गई है। साधुओं के लिए जैसा आशंकित है, वैसा साधियों के लिए सामान्यतः नहीं हैं। सद्गृहस्थों के घर में से होकर जाना शील रक्षा की दृष्टि से निर्बाधित है। किन्तु साधियों को गृहस्थ के घर में से जाते समय आत्मनियंत्रित एवं शीलरक्षा में जागरूक रहना आवश्यक है।

स्वयं को उपशान्त करने का विधान

भिक्खू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं विओसवित्ता विओसवियपाहुडे - इच्छाए परो आढाएज्जा, इच्छाए परो णो आढाएज्जा, इच्छाए परो अब्भुट्टेज्जा, इच्छाए परो णो अब्भुट्टेज्जा, इच्छाए परो वंदेज्जा, इच्छाए परो णो वंदेज्जा, इच्छाए परो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो णो संभुंजेज्जा, इच्छाए परो संवसेज्जा, इच्छाए परो णो संवसेज्जा, इच्छाए परो उवसमेज्जा, इच्छाए परो णो उवसमेज्जा, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो ण उवसमइ तस्स णत्थि आराहणा, तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं, से किमाहु भंते (!)? उवसमसारं सामण्णं ॥ ३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहिगरणं - अधिकरण - कलह, कट्टु - करके, विओसवित्ता - उपशान्त कर, विओसवियपाहुडे - दुर्गति के मेहमान रूप कलह को शान्त किया हुआ, आढाएज्जा - आदर करे, अब्भुट्टेज्जा - अभ्युत्थित होवे - उठे, संभुंजेज्जा - भोजन करे (आहार करे), संवसेज्जा - साथ रहे, उवसमेज्जा - उपशान्त हो, उवसमइ - उपशान्त होता है, अत्थि - होती है, आराहणा - आराधना - संयम की आराधना, अप्पणा - अपने आपको, सामण्णं - श्रामण्य - श्रमण जीवन का सार।

भावार्थ - ३४. भिक्षु किसी के साथ अधिकरण - कलह हो जाने पर कलह को उपशान्त करे - स्वयं उपशांत एवं कलहरहित हो जाए। जिसके साथ कलह हुआ है (वह अन्य भिक्षु) -

इच्छा हो तो आदर करे, इच्छा न हो तो आदर न करे।

इच्छा हो तो (उसके सम्मान में) उठे, इच्छा न हो तो न उठे।

इच्छा हो तो वंदना करे, इच्छा न हो तो वंदना न करे।

इच्छा हो तो साथ में आहार करे, इच्छा न हो तो न करे।

इच्छा हो तो उसके साथ रहे, इच्छा न हो तो उसके साथ न रहे।

इच्छा हो तो (स्वयं को) उपशान्त करे, इच्छा न हो तो उपशान्त न करे।

(वस्तुतः) जो उपशान्त होता है उसकी संयम आराधना होती है तथा अपने आपको उपशान्त नहीं करता है उसके (संयम की) आराधना नहीं होती है।

इसलिए स्वयं को (अवश्य ही) उपशान्त कर ही लेना चाहिए।

हे भगवन्! ऐसा क्यों कहा गया है?

उपशम ही श्रामण्य - श्रमण जीवन का सार (आधार) है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अधिकरण शब्द का प्रयोग हुआ है। “**अधिकरोति - नरकगति प्रापयति यत् तत् अधिकरणम्**” - इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह भाव या कर्म जो नरकगति को प्राप्त कराता है, अधिकरण कहा गया है। यहाँ नरकगति प्रापक कारणों में मुख्य होने से ‘अधिकरण’ शब्द - कलह, कदाग्रह के लिए प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि अहिंसा आदि महाव्रतों के परिपालक साधु सामान्यतः कलह, संघर्ष, विवाद आदि से दूर रहते ही हैं। किन्तु आखिर हैं तो मानव ही। अतः कदाचन आवेशात्मक स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिससे परस्पर कलह, कहासुनी हो जाती है। वैसी स्थिति में साधु का कर्तव्य है कि वह अपने आपको उपशान्त करे, कलहात्मक मानसिकता से ऊँचा उठे। जिसके साथ ऐसा घटित हुआ हो, चाहिए तो उसे भी वैसा करना परन्तु प्रकृतिवश यदि सम्मुखीन (सामने वाला) साधु वैसा न कर सके तो उसके साथ वह ऐसा व्यवहार करे, जिससे उसका आवेश न बढ़े।

यद्यपि पारस्परिक आदर, सम्मान, सहभोजन, सहवास इत्यादि होते ही हैं किन्तु आवेश वश सामने वाला वैसा करने में अपनी इच्छा या रुचि न दिखाए तो उसके साथ वैसा करने का आग्रह न रखे क्योंकि उससे उसका आवेश बढ़ता है।

आवेश तो क्षणिक होता है। अतः कुछ समय के अनन्तर अनुपशान्त साधु शान्त हो सकता है।

विहार सम्बन्धी विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा वासावासासु चारए ॥ ३५ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु चारए ॥ ३६ ॥

कठिन शब्दार्थ - वासावासासु - वर्षावास - चातुर्मास में, चारण - चरणशील होना - विहार करना।

भावार्थ - ३५. साधु-साध्वियों को प्रावृत्काल में - चातुर्मास में विहार करना नहीं कल्पता।

३६. उन्हें हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में विहार करना कल्पनीय होता है।

विवेचन - हरियाली की बहुलता, नदी-नाले आदि की प्रचुरता, वानस्पतिक जीवों की अधिकता तथा अनिश्चित जलवर्षण, विद्युत्पात, प्रतिकूल मौसम इत्यादि हिंसा बहुल तथा संयम साधना में बाधक दुर्गम, दुस्सह हेतुओं के कारण प्रावृत् के चार मास विहार के लिए निषिद्ध हैं।

इस समय का सदुपयोग स्वाध्याय, तपश्चरण तथा साधना के अभ्यास में हो, यह वांछित है।

वैराज्य एवं विरुद्धराज्य में पुनः-पुनः गमनागमन निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करित्तए, जो खलु णिग्गंथो वा णिग्गंथी वा वेरज्जविरुद्धरज्जंसि सज्जं गमणं सज्जं आगमणं सज्जं गमणागमणं करेइ करेत्तं वा साइज्जइ, से दुहओ वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ३७ ॥

कठिन शब्दार्थ - वेरज्ज - वैराज्य-राजा रहित (अराजकतापूर्ण), विरुद्धरज्जंसि - पारस्परिक शत्रुता युक्त राज्य में, सज्जं - सद्यः - तत्काल या शीघ्र, साइज्जइ - अनुमोदन करता है (स्वदत्ते-स्वाद लेता है), अइक्कममाणे - अतिक्रमण करता है, आवज्जइ - भागी होता है - प्राप्त करता है।

भावार्थ - ३७. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को वैराज्य और विरुद्ध राज्य में पुनः-पुनः जाना, आना तथा गमनागमन - जाना-आना नहीं कल्पता है।

वैराज्य और विरुद्ध राज्य में जो साधु-साध्वी बार-बार (शीघ्र-शीघ्र) जाते हैं, आते हैं अथवा आना-जाना करते हैं तथा ऐसा करने वाले का अनुमोदन करते हैं, वे दोनों - तीर्थंकर और राजा की आज्ञा की अतिक्रमण करते हुए अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त स्थान के भागी होते हैं।

विवेचन - इस सूत्र में वैराज्य और विरुद्धराज्य - इन दो शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है, जहाँ साधु-साध्वियों को सद्यः - बार-बार आना-जाना नहीं चाहिए।

“विगतः-पदच्युतिकृतः, मृतो वा राजा यस्मिन् राज्ये तद्विराजं, तस्य भावः वैराज्यम्” - इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ का राजा पदच्युत कर दिया गया हो अथवा मर गया हो, उसे विराज कहा गया है। विराज का भाववाचक वैराज्य है, जो अराजकतापूर्ण स्थिति का द्योतक है।

वैराज्य शब्द की व्युत्पत्ति निर्युक्तिकार ने और प्रकार से भी की है, जैसे -

१. जिस राज्य में लोगों में, विभिन्न दलों में पूर्व परम्परागत वैमनस्य हो।
२. जिन दो पड़ौसी राज्यों में शत्रुता उत्पन्न हो गई हो।

विरुद्धराज्य का तात्पर्य उन राज्यों से हैं, जिनमें पड़ौसी राज्यों में आपस में गमनागमन निषिद्ध हो।

सार यह है कि जहाँ की राज्य व्यवस्था अराजकतायुक्त हो, रक्षा आदि की सुव्यवस्था न हो अर्थात् धर्ममर्यादाओं के परिपालन में अथवा चारित्र रक्षा में खतरा हो, वहाँ साधु-साध्वियों के लिए गमनागमन निरापद नहीं होता।

निर्युक्तिकार ने और भी स्पष्ट किया है कि जाना आवश्यक हो तो कारण बतलाते हुए आरक्षीजनों या राज्याधिकारियों से पूछ कर उनकी अनुमतिपूर्वक जाना कल्प्य है। वैसा होने में राज्याधिकारियों पर सुरक्षा का उत्तरदायित्व रहता है।

ऐसे राज्यों में साधु के गमनागमन के क्या-क्या कारण हो सकते हैं, उनमें रुग्ण साधुओं के वैयावृत्य, माता-पिता आदि संबद्ध जनों के दीक्षा प्रसंग, भक्तप्रत्याख्यान आदि हेतु, प्रतिवादियों के आह्वान पर शास्त्रार्थ एवं तत्त्वचर्चा आदि का निर्युक्तिकार ने उल्लेख किया है, जो पठनीय है।

वैराज्य और विरुद्धराज्य में जाने-आने का प्रसंग अपवाद मार्ग के अन्तर्गत स्वीकृत है।

भिक्षार्थ अनुप्रविष्ट साधु द्वारा वस्त्रादि लेने का विधिक्रम

णिग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठु केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवणिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ३८ ॥

णिग्गंथं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खंतं समाणं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवणिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय आयरियपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ३९ ॥

णिग्गंथिं च णं गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवणिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४० ॥

णिग्गंथिं च णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खंतं समाणिं केइ वत्थेण वा पडिग्गहेण वा कंबलेण वा पायपुंछणेण वा उवणिमंतेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय पवत्तिणीपायमूले ठवेत्ता दोच्चं पि उग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ ४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - पिण्डवायपडियाए - आहार के लिए गए हुए, अणुप्पविट्ठं - प्रवेश किए हुए, वत्थेण - वस्त्र, पडिग्गहेण - पात्र, पायपुंछणेण - रजोहरण अथवा पैर साफ करने का कपड़ा, उवणिमंतेज्जा - उपनिमंत्रित करे - समीप आकर अनुरोध करे, सागारकडं - सागरकृत - आगारपूर्वक गृहीत, उग्गहं - अवग्रह - साधु जीवनोचित उपकरण (वस्तु), परिहारं- पास रखना, परिहरित्तए - उपयोग करना, पवत्तिणीपायमूले - प्रवर्तिनी के चरणों में।

भावार्थ - ३८. गाथापति कुल - गृहस्थ के घर में आहार के लिए अनुप्रविष्ट साधु को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन हेतु उपनिमंत्रित करे - अनुरोध करे तो इन्हें (साधु द्वारा) 'सागारकृत' लेकर, आचार्य के चरणों में रखकर दुबारा उनकी आज्ञा से अपने पास रखना और उनका उपयोग करना कल्पता है।

३९. विचारभूमि (मल-मूत्र-विसर्जन स्थान) या विहारभूमि (स्वाध्यायभूमि) के लिए (उपाश्रय से) बाहर निकले हुए निर्ग्रन्थ से यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन हेतु अनुरोध करे तो इन्हें "सागारकृत" ग्रहण कर (पहले) आचार्य के चरणों में रखना तथा दुबारा उनकी आज्ञा से इन्हें अपने पास रखना और उपयोग करना कल्पता है।

४०. गाथापतिकुल - गृहस्थ के घर में आहार के लिए अनुप्रविष्ट साधु को यदि कोई

वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोँछन हेतु उपनिमंत्रित करे तो इन्हें 'सागारकृत' ग्रहण कर, प्रवर्तिनी के चरणों में रखकर पुनः उनकी आज्ञा से रखना और उपयोग करना कल्पता है।

४१. विचारभूमि या विहारभूमि के लिए (उपाश्रय से) बाहर जाती हुई साध्वी को यदि कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोँछन हेतु अनुरोध करे तो इन्हें 'सागारकृत' ग्रहण कर, (पहले) प्रवर्तिनी के चरणों में रखकर पुनः उनकी आज्ञा से रखना और उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन - भिक्षाचर्या साधु जीवन का दैनंदिन क्रम है। इसीलिए भिक्षु शब्द साधु का पर्यायवाची है, जो "भिक्षतेति भिक्षुः" के अनुसार भिक्षा शब्द से ही निष्पन्न होता है। साधु भिक्षा हेतु भी आचार्य की या सिंघाटकपति की आज्ञा से ही जाता है। यदि भिक्षार्थ गए हुए साधु को गृही वस्त्र, पात्र आदि स्वीकार करने का अनुरोध करे तो साधु उन्हें प्रातिहारिक या 'सागारकृत' रूप में, उस संबंध में विशेष रूप से जाँच-पड़ताल कर स्वीकार कर सकता है।

'सागारकृत' रूप में लेने का जो उल्लेख हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि साधु तो अपने आचार्य अथवा सिंघाटक प्रमुख की आज्ञा से आहारार्थ ही गया हुआ होता है, वस्त्र, पात्र आदि की अनुज्ञा प्राप्त नहीं होता।

इसलिए आचार्य आदि की आज्ञा, तदनुरूप आवश्यकता इत्यादि के अनुसार जितना वांछित हो, उतना लेकर वापस लौटाने के आगार के साथ स्वीकार करना वांछित है।

भिक्षा के अतिरिक्त विचारभूमि या विहारभूमि में जाने के अवसर पर भी वस्त्रादि "सागारकृत" रूप में गृहीत किए जा सकते हैं।

साधु अपनी इच्छाओं को नियंत्रित, शास्त्रमर्यादानुरूप संयमित रखे। अत एव यथेच्छा रूप में वस्त्रादि का ग्रहण नहीं करता। इसके पीछे भौतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति तथा अपरिग्रह भावना की विशेष अनुशंसा है।

साध्वी आचार्य या अपनी प्रवर्तिनी से आदेश लेकर वैसा करे।

भाष्यकार ने साध्वियों के लिए यह विशेष निर्देश किया है कि वे सीधे वस्त्रादि ग्रहण न करे। आचार्य एवं साधुओं के माध्यम से ही ग्रहण करे। एतत्संबंधी विधिक्रम भाष्य में विस्तार से वर्णित है, तत्र द्रष्टव्य है।

रात्रि में भक्तपान निषेध एवं इतर अपवाद विधान

णो कप्पड़ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा असणं वा पावं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहित्तए णण्णत्थ एणेणं पुव्वपडिलेहिएणं सेज्जासंथारएणं ॥ ४२ ॥

णो कप्पड़ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पडिगाहित्तए, णण्णत्थ एगाए हरियाहडियाए, सा वि य परिभुत्ता वा धोया वा रत्ता वा घट्टा वा मट्टा वा संपधूमिया वा ॥ ४३ ॥

कठिन शब्दार्थ - वियाले - विकाल - संध्या समय में, हरियाहडियाए - हताहतिका।

भावार्थ - ४२. साधु-साध्वियों को रात्रि में या विकाल (संध्या समय) में अशन, पान, खादिम और स्वादिम ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

केवल एक पूर्व प्रतिलेखित शय्या-संस्तारक को छोड़कर।

४३. साधु एवं साध्वियों को रात्रि में या संध्याकाल में वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोँछन लेना नहीं कल्पता है।

केवल एक हताहतिका को छोड़कर।

वह (हताहतिका) परियुक्त, धौत, रक्त, घृष्ट, मृष्ट या सम्प्रधूमित हो तो भी रात्रि में ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन - दशवैकालिक सूत्र में निर्देशित “**टाडुओयणवेरमण**” के अनुसार रात्रिभोजन तो साधु-साध्वियों के लिए सर्वथा निषिद्ध है ही, इसे पाँच महाव्रतों के साथ-साथ छठे व्रत के रूप में मान्यता दी गई है।

सूत्र क्रमांक ४२ में जो पूर्व प्रतिलेखित शय्या संस्तारक को ग्रहण करना बताया है। उसका आशय यह है कि सूर्यास्त पूर्व मकान मिल जाने पर भी कभी आवश्यकता से पाट आदि गृहस्थ की दुकान आदि से रात्रि में एक दो घंटे बाद भी मिलना संभव हो और सूर्यास्त पूर्व यदि उनकी प्रतिलेखना कर ली गई हो तो उसे रात्रि में भी ग्रहण किया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियों की अपेक्षा से ही यह विधान समझना चाहिए।

भोज्य, पेय आदि पदार्थों के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी रात्रि में ग्राह्य नहीं मानी गई है। केवल ‘हताहतिका’ के रूप में एक अपवादिक स्थिति यहाँ वर्णित है।

“हृत-स्तेनादिना चौरादिरूपेण स्वायत्तीकृतं, पुनश्च, आनीय आहृतं - त्तं यस्यां क्रियायां, सा हताहता” - चोर आदि द्वारा चोरी आदि के रूप में पहले ली गई किन्तु बाद में शुभपरिणाम या भय आदि के कारण साधु को वापस लौटाई गई वस्तु हताहता कही जाती है।

निर्युक्तिकार ने ‘हरिताहता’ के रूप में इसकी और व्युत्पत्ति की है। जिसके अनुसार पहले हरण की गई वस्तु को बाद में यदि कोई हरित - किसी झाड़ी आदि या पादप विशेष पर डालकर चला जाए (संकोचवश स्वयं वापस न आकर) तो वह भी यदि साधु को चंद्रमा की रोशनी आदि में दिख जाए तो ग्राह्य है।

प्राकृत के ‘हरिय’ शब्द के हत और हरित दोनों रूप बनते हैं।

वस्त्र आदि निम्नांकित रूप में पुनः प्राप्त हो तो भी स्वीकार्य होते हैं, यथा -

परियुक्ता - गृहीता द्वारा ओढने आदि के उपयोग में ले लिया जाए।

धीत - जल से धो लिया जाए।

रक्त - किसी रंग विशेष से रंग लिया जाए।

घृष्ट - वस्त्र के चिह्नों को घिसकर मिटा दिया जाय।

मृष्ट - मोटे कपड़े को मसलकर कोमल बना देवे।

सम्प्रधूमित - सुगंधित धूप आदि से सुवासित कर देवे।

रात्रि में गमनागमन निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा अब्बाणगमणं एत्तए ॥ ४४ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा राओ वा वियाले वा संखडिं वा संखडिपडियाए एत्तए ॥ ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - अब्बाण - मार्ग, एत्तए - गमन करना (प्राप्त करना), संखडिं - सामूहिक भोज।

भावार्थ - ४४. रात्रि में या विकाल - संध्याकाल में साधु-साध्वियों को मार्गगमन करना नहीं कल्पता।

४५. रात्रि में या विकाल में संखडि - सामूहिक भोज के लिए या संखडी स्थल पर जाना (भी) साधु-साध्वियों का नहीं कल्पता।

विवेचन - रात्रि में सूर्य के प्रकाश के अभाव में लघुकायिक जीवों की हिंसा की अधिक आशंका रहती है। कण्टकादि, सर्पादि, विषैले जीवों आदि की भी हिंसा की अधिक आशंका रहती है परन्तु मुख्य हेतु षट्कायिक जीवों की हिंसा से अपने आपको बचाना है, जिससे महाव्रताराधना अविराधित रूप में चलती रहे।

द्वितीय सूत्र में भिक्षार्थ संखडी में जाने एवं वहाँ से भिक्षा लेने का निषेध किया गया है।

‘संखडि’ का संस्कृत रूप **‘संखण्डी’** या **‘संखण्डिका’** है। **“संखण्डयन्ते, खण्डीक्रियन्ते त्रोटयन्ते वा षट्कायजीवानामायूषि यत्र सा संखण्डी संखण्डिका वा, अग्न्यात्मन्ने षट्कायानामुपमर्दनसदभावात्”** - अर्थात् जहाँ छह काय के जीवों के आयुष्य को खण्डित, विच्छिन्न या त्रोटित किया जाता है, वह संखण्डी (संखडी) या संखण्डिका है।

यह शब्द वृहद्भोज के लिए प्रयुक्त होता रहा है, जिसमें किसी ग्राम या नगर के अथवा आस-पास के समीपवर्ती स्थानों के लोग आमंत्रित होते हैं। उनके भोजन के लिए बड़ी-बड़ी भट्टियाँ जलती हैं, अग्निकाय का महारंभ होता है, जिसमें षट्काय जीव उपमर्दित या विनष्ट होते हैं। ऐसे हिंसा बहुल आयोजन में साधु के लिए भिक्षार्थ जाना तथा ऐसे स्थान पर जाना निषिद्ध है।

ऐसी स्थिति में साधु के लिए आहार प्राप्त करने की समस्या हो जाती है। इस संदर्भ में बतलाया गया है कि उस वृहद्भोज के क्षेत्र में दो कोस तक साधु गृहस्थों के संखडि में जाने से पूर्व उनके यहाँ भिक्षार्थ जा सकता है किन्तु सूर्योदय से पूर्व (रात्रि व विकाल) में नहीं जा सकता।

सूत्र क्रमांक ४५ में जो **‘रात्रौ वा वियाले वा’** पाठ आया है उसका आशय यह है कि आचारांग सूत्र के श्रु. २, अ. १, उ. ४ में आकीर्ण अवम संखडी न हो तो दिन में जाने की विधि बताई है। उस कारण से इस सूत्र में रात्रि व विकाल शब्द दिया गया है। अर्थात् रात्रि व विकाल में तो किसी भी संखडी में जाना कल्पनीय नहीं है।

विचारभूमि एवं विहार में रात्रि में अकेले गमनागमन का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथस्स एगाणियस्स राओ वा वियाले वा बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, कप्पइ से अप्पबिइयस्स वा अप्पतइयस्स वा राओ वा वियाले वा बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ ४६ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए एगाणियाए राओ वा वियाले वा बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, कप्पइ से अप्पबिइयाए वा अप्पतइयाए वा अप्पचउत्थीए वा राओ वा वियाले वा बहिया विचारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ ४७ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगाणियस्स - अकेले का, णिक्खमित्तए - निकलना, पविसित्तए - प्रविष्ट होना, अप्पबिइयस्स - अपने अतिरिक्त एक और, अप्पतइयस्स - अपने सिवाय दो और, एगाणियाए - एकाकिनी - अकेली, अप्पचउत्थीए - अपने अतिरिक्त तीन और के साथ - कुल चार।

भावार्थ - ४६. साधु को रात्रि या संध्याकाल में अपने स्थान के बाहर विचारभूमि या विहारभूमि में अकेले जाना-आना कल्प्य नहीं है। उसे एक या दो साधुओं के साथ रात में या संध्याकाल में अपने स्थान की सीमा से बाहर विचारभूमि या विहारभूमि में जाना-आना कल्पता है।

४७. एकाकिनी साध्वी को रात के समय या संध्या समय अपने स्थान से बाहर विचारभूमि या विहारभूमि में जाना-आना नहीं कल्पता। उसे एक, दो या तीन साध्वियों के साथ रात में या संध्याकाल में अपने स्थान से बहिर्भूत विचारभूमि या विहारभूमि में जाना-आना शास्त्रानुमोदित है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में जो साधु-साध्वी के स्थान में उपाश्रय से बाहर के लिए "बहिया" शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका पारंपरिक दृष्टि से विशेष अर्थ है। उपाश्रय से सौ हाथ की दूरी तक का स्थान "बहिया" या बाह्य भूमि के अन्तर्गत नहीं माना जाता। वह उपाश्रय से संबद्ध ही माना जाता है।

साधु के लिए अकेले ना जाने का प्रावधान है, उसका तात्पर्य मुख्यतः ब्रह्मचर्य रक्षा से है। कहीं कोई स्त्री उपसर्ग उपस्थित हो जाय तो उसका विचलित होना आशंकित हो सकता है। इसके अलावा हिंसक जन्तु, दस्यु आदि की भी आशंका रहती है। यदि आयुष्य समाप्तवश देहपात हो जाय तो देह की मर्यादानुरूप वांछित सार-संभाल न होने का भय रहता है

इसीलिए एक या दो साथी साधुओं को साथ लेकर जाना कल्प्य कहा है। अपवाद रूप में ऐसा भी स्वीकार्य है - यदि साधु अवस्था में परिपक्व हो, दृढ़ परिणामों का धनी हो तो वह अन्य साधुओं को सूचित कर एकाकी भी बाहर जा सकता है।

साध्वी के लिए भी एकाकिनी जाने का निषेध कर दो या तीन को साथ लेकर जाने का विधान किया गया है, जो उनकी अल्प दैहिक शक्ति के कारण है।

परिस्थितिवश ऐसा भी स्वीकार किया गया है कि साधु द्वारा श्रावकों को एवं साध्वी द्वारा श्राविकाओं को भी साथ लिया जा सकता है।

आर्य क्षेत्रवर्ती देशों में विहरण का विधान

कप्पड़ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पुरत्थिमेणं जाव अंगमगहाओ एत्तए, दक्खिणेणं जाव कोसम्बीओ एत्तए, पच्चत्थिमेणं जाव थूणाविसयाओ एत्तए, उत्तरेणं जाव कुणाला-विसयाओ एत्तए, एतावताव कप्पड़, एतावताव आरिए खेत्ते, णो से कप्पड़ एत्तो बार्हिं, तेण परं जत्थ णाणदंसणचरित्ताइं उस्सप्पंति ॥ ४८ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ बिहक्कप्पे पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुरत्थिमेणं - पूर्व दिशा में, अंगमगहाओ - अंग एवं मगध देश तक, एत्तए - जा सकते हैं, थूणाविसयाओ - स्थूणदेश पर्यन्त, एतावताव - इतना ही, आरिए खेत्ते - आर्य क्षेत्र, उस्सप्पंति - जाते हैं।

भावार्थ - ४८. साधुओं और साध्वियों को पूर्व दिशा में यावत् अंग एवं मगध देश तक, दक्षिण दिशा में यावत् कोशाम्बी पर्यन्त, पश्चिम में यावत् स्थूणदेश तक ता उत्तर में यावत् कुणाल देश पर्यन्त जाना कल्पता है। इतना ही कल्प्य है, इतना ही आर्य क्षेत्र है। इससे बाहर जाना कल्पनीय नहीं है।

उस आर्य क्षेत्र में भी जहाँ ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वृद्धि हो वहाँ ही जा सकते हैं।
ऐसा कहा गया है।

प्रथम उद्देशक परिसमाप्त होता है।

**विवेचन - "आर्य" शब्द 'ऋ' धातु और 'ण्यत' प्रत्यय के योग से बनता है।
"अत्यति स्वोत्तमगुणैः सम्मान्यते इति आर्यः" - अपने उत्तम गुणों के कारण जो सम्मान करने योग्य होता है, वह आर्य है। यह इसका व्याकरण की दृष्टि से विवेचन है।**

उस प्रकार के लोग ही धर्म, शील, करुणा, उदारता आदि से युक्त होते हैं। एतद्गुणोपेत जनों के बहुलतया निवास के कारण संभवतः क्षेत्रों का सीमाकरण हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसे प्रदेशों में उत्तरोत्तर संस्कारवश अच्छे लोग होते रहते हैं।

साधु-साध्वियों के त्यागमय जीवन, धर्म देशना, आचारविद्या इत्यादि से अवगत होते हैं, जिससे साधुओं को स्व-पर कल्याण का विशेष अवसर प्राप्त होता है।

वर्तमान में तो समस्त भारतवर्ष को एक देश कहा जाता है। उसके विभागों को प्रान्त या प्रदेश कहा जाता है क्योंकि इस समय सारे देश में एक ही केन्द्रीय सत्ता है। प्राचीनकाल में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का शासन भिन्न-भिन्न राजाओं द्वारा होता था। वे सभी स्वतंत्र थे। इसलिए उन द्वारा शासित क्षेत्र देश के रूप में अभिहित हुए।

प्रज्ञापना सूत्र में भरतक्षेत्र के अन्तवर्ती साढे पच्चीस देश होने का उल्लेख हुआ है -

१. मगध २. अंग ३. बंग ४. कलिंग ५. काशी ६. कौशल ७. कुरू ८. सौर्य ९. पांचाल
१०. जांगल ११. सौराष्ट्र १२. विदेह १३. वत्स १४. शांडिल्य १५. मलय १६. वच्छ
१७. अच्छ १८. दशार्ण १९. चेदि २०. सिन्धुसौवीर २१. शूरसेन २२. भृंग २३. कुणाल
२४. कोटिवर्ष २५. लाट और केकयाद्ध (आधा केकय)।

इस सूत्र में आये देशों के नामों में थूणा (स्थूण) देश का जो उल्लेख हुआ है, वह उपर्युक्त नामों में नहीं आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालक्रम से पच्चीस देशों में से किसी देश का यह परिवर्तित नाम हो।

यहाँ कोशाम्बी का जो नाम आया है, वह वत्सदेश की राजधानी का नाम है। कहीं कहीं पर इसे कच्छ देश की राजधानी के नाम से भी कहा गया है।

॥ बृहत्कल्प का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बिड़ओ उद्वेसओ - द्वितीय उद्वेशक

धान्ययुक्त उपाश्रय में प्रवास विषयक कल्प-अकल्प

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सालीणि वा वीहीणि वा मुग्गाणि वा मासाणि वा तिलाणि वा कुलत्थाणि वा गोहूमाणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा उक्खित्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विड़गिण्णाणि वा विप्पइण्णाणि वा, णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥ १ ॥

अह पुण एवं जाणेज्जा-णो उक्खित्ताइं णो विक्खित्ताइं णो विड़गिण्णाइं णो विप्पइण्णाइं, रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा हेमंतगिम्हासु वत्थए ॥ २ ॥

अह पुण एवं जाणेज्जा-णो रासिकडाइं णो पुंजकडाइं णो भित्तिकडाइं णो कुलियकडाइं, कोट्टाउत्ताणि वा पल्लउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलित्ताणि वा पिहियाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अंतो वगडाए - प्रांगण में, वीहीणि - चावल, मास - उड़द, कुलत्थ - निम्नकोटिक धान्य विशेष, गोहूम - गेहूँ, जवाणि - जौ, जवजवा - ज्वार, उक्खित्ताणि - अव्यवस्थित रखे हुए, विक्खित्ताणि - विशेष रूप से प्रसृत - बिखेरे हुए, विड़गिण्णाणि - बिखेरे हुए, विप्पइण्णाणि - इधर-उधर सर्वत्र बिखेरे हुए, अहालंदमवि-क्षण मात्र भी (देशी शब्द), जाणेज्जा - जानना चाहिए, रासिकडाणि - राशिकृत - ढेर किए हुए, पुंजकडाणि - पुंजीभूत - दीर्घ गोलाकार रूप में स्थापित, भित्तिकडाणि - भित्ति की आकृति के पात्र में स्थापित किए हुए, कुलियकडाणि - कुडयकृत - मृत्तिका निर्मित गोल या चौकोर पात्र में रखे हुए, लंछियाणि - लांछित - राख आदि से चिह्न युक्त, मुद्दियाणि - गोबर या रेत से मुद्रित - आवृत्त किए हुए, पिहियाणि - पिहित - ढके हुए, कोट्टाउत्ताणि - कोठे में रखे हुए, पल्लाउत्ताणि - पल्ल में भरे हुए, मंचाउत्ताणि - मचानों पर रखे हुए,

मालाउत्तण्णि - ऊपरी मंजिल पर रखे हुए, ओलित्ताणि - गोमय मृत्तिका आदि का लेप किए हुए, विलित्ताणि - छोटे-छोटे खण्डों से युक्त कर फिर लिपे हुए।

भावार्थ = १. उपाश्रय के भीतर प्रांगण में उत्तम कोटि के चावल (शालि धान्य), व्रीहि (चावल की जाति विशेष), मूँग, उड़द (उर्द), तिल, कुलत्थ, गेहूँ, जौ, ज्वार अव्यवस्थित रखे हों, विशेष रूप से बिखरे हों, बिखरे हुए हों या इधर-उधर सर्वत्र बिखरे हुए हों तो साधुओं और साध्वियों को क्षण भर भी वहाँ प्रवास करना नहीं कल्पता।

२. यदि वह जाने कि (शालि यावत् ज्वार आदि) उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण एवं व्याकीर्ण नहीं हैं किन्तु वे राशिकृत, पुंजीकृत, भित्तिकृत, कुड्यकृत, लांछित, मुद्रित या पिहित हैं तो साधु-साध्वियों को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में वहाँ रहना कल्पता है।

३. यदि वह जाने कि (उपाश्रय के भीतर शालिधान्य यावत् ज्वार) राशिकृत, पुंजीकृत, भित्तिकृत, कुड्यकृत नहीं हैं किन्तु कोठे में या पत्य में भरे हुए हैं, मिट्टी या गोमय से लिप्त, उपलिप्त हैं, पिहित (ढके हुए), लांछित या मुद्रित हैं तो वहाँ साधु-साध्वियों को वर्षावास में रहना कल्पता है।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त "यथालन्द" शब्द क्षण भर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बृहत्कल्पभाष्य में इसके विश्लेषण में निम्नांकित गाथा का उल्लेख हुआ है -

तिविहं च अहालन्द, जहण्णयं मज्झिमं च उक्कोसं।

उदउल्लं च जहण्णं, पण्णं पुण्णं होइ उक्कोसं॥ - बृह. भाष्य ३३०३

यथालन्द शब्द काल का द्योतक है, जो तीन प्रकार का कहा गया है। उसका जघन्य रूप आर्द्र (गीले) हाथ की रेखा के सूखने जितना माना गया है। इसका पाँच दिन-रात का कालमान उत्कृष्ट तथा इन दोनों के मध्यवर्ती मध्यम यथालन्दकाल कहा जाता है।

बृहत्कल्पसूत्र के तृतीय उद्देशक में तथा उववाइय सूत्र में उत्कृष्ट कालमान २९ दिन का भी माना गया है।

अव्यवस्थित एवं विकीर्ण आदि धान्य कणों से युक्त प्रांगण वाले उपाश्रय में आवास के निषेध का अभिप्राय यह है कि वहाँ एकेन्द्रिय वनस्पतिकाय के जीवों की हिंसा की अत्यधिक आशंका बनी रहती है। इसी कारण वहाँ जरा भी प्रवास न करने का निषेध किया गया है।

विविध रूप में लिप्त, उपलिप्त, लांछित, मुद्रित, पिहित, कोष्ठागार, पत्य, मंच आदि में सुरक्षित धान्ययुक्त स्थान में वर्षाकाल में चातुर्मास करना विहित किया गया है क्योंकि धान्य कणों के बाहर निकलने या बिखरने की आशंका नहीं रहती।

भाष्यकार ने उपर्युक्त सुरक्षित धान्य युक्त स्थान के संदर्भ में एक और विशेष तथ्य का उल्लेख किया है - गीतार्थ - गंभीर तत्त्ववेत्ता साधुओं का ही ऐसे स्थानों पर रहना विहित है। अन्य अगीतार्थ साधु जैसे गीतार्थ श्रमणों के निर्देशन में रह सकते हैं।

क्योंकि वृष्टि के आधिक्य एवं लम्बे तपश्चरण के पारणे आदि की असुविधा में अगीतार्थ साधुओं द्वारा ऐसे स्थानों पर संयम की विराधना संभव है।

मद्ययुक्त स्थान में प्रवास करने का विधि-निषेध, प्रायश्चित्त

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सुरावियडकुम्भे वा सोवीरयवियडकुम्भे वा उवणिकिखत्ते सिया, णो कप्पड़ णिगंथाण वा णिगंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे णो लभेज्जा, एवं से कप्पड़ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पड़ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसड़, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - सुरावियडकुम्भे - पिसे हुए शालि आदि उत्तम धान्य से निर्मित सुरा से परिपूर्ण कुंभ, सोवीर - गुड़ आदि से निर्मित सुरा, हुरत्था - बाहर, संतरा छेए - दीक्षा-छेद, परिहार - तप विशेष का प्रायश्चित्त।

भावार्थ - ४. जहाँ उपाश्रय के भीतर (प्रांगण में) सुरा और सौवीर से युक्त घड़े रखे हों वहाँ साधु-साध्वियों को क्षण मात्र भी रहना नहीं कल्पता।

उपाश्रय के बाहर खोज करने पर भी यदि कोई स्थान प्राप्त न हो तो एक रात या दो रात वहाँ रहना कल्पता है। एक रात या दो रात से अधिक रहना नहीं कल्पता।

यदि वे वहाँ एक रात या दो रात से अधिक उहरते हैं तो उन्हें दीक्षा छेद या तपरूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - आयुर्वेद शास्त्र में मदिरा के अनेक भेद वर्णित हैं। भाव प्रकाश में वर्णित भेदों में सुरा^० का भी उल्लेख है। तदनुसार शालि और षाष्टिक धान्य की पिष्टि से वह निर्मित होती है।

० शालिषष्टिकपिष्टादिकृतं मद्यं सुरा स्मृतम्।

(भावप्रकाश पूर्व खण्ड, प्रथम भाग, संधानवर्ग - २३)

सौवीर उस मदिरा को कहा गया है, जो गुड़, रांगजड़ (झाड़ी की जड़) आदि से तैयार होती है।

मदिरायुक्त स्थान में रहने से कदाचन मन में तद्विषयक कुत्सित भाव जाग्रत हो सकता है। अत एव वहाँ रहना संयम की सुरक्षा की दृष्टि से प्रतिषिद्ध है। साथ ही साथ परंपरया यह भी स्वीकृत है - यदि गीतार्थ मुनि हों तो उनकी सन्निधि में इतर साधु रह सकते हैं। किन्तु वह प्रवास भी एक या दो दिन का ही हो सकता है। क्योंकि यह भी आपवादिक स्थिति है।

जलयुक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सीओदगवियडकुम्भे वा उसिणोदगवियडकुम्भे वा उवणिकिखत्ते सिया, णो कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुरत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे णो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - सिया - स्यात्-हो, उवणिकिखत्ते - रखा हुआ हो।

भावार्थ - ५. उपाश्रय के प्रांगण में शीतल जल से भरा हुआ या उष्ण जल से भरा हुआ घट रखा हो तो साधुओं और साध्वियों को वहाँ क्षण भर भी रहना नहीं कल्पता।

बाहर गवेषणा करने पर भी (उचित) उपाश्रय न मिले तो उन्हें वहाँ (उपर्युक्त उपाश्रय में) एक या दो रात्रिक प्रवास करना कल्पता है। किन्तु एक रात या दो रात से अधिक रहना नहीं कल्पता। यदि वे एक रात या दो रात से अधिक वहाँ प्रवास करते हों तो उन्हें दीक्षा छेद या तपरूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - “शीतोदकविकृतकुम्भ” और “उष्णोदकविकृतकुम्भ” इन दोनों पदों में प्रयुक्त ‘वियड’ शब्द ‘विकृत’ के अर्थ में है।

“विकारेण युवतं विकृतम्” - विकार या परिवर्तन विकारयुक्त या परिवर्तन सहित के अर्थ में है। यहाँ परिवर्तन का आशय जल को उबालकर या किसी क्षार आदि पदार्थ को डालकर अचित्त किए जाने से है।

इसका तात्पर्य यह है कि उपाश्रय में ठण्डे या गर्म अचित्त जल से युक्त घड़े रखे हों तो यह आशंकित है कि रात्रि आदि में तीव्र तृषा आदि के कारण साधु की मानसिकता उसे पीने की बन सकती है। जिससे रात्रि में भक्तपानविरमण व्रत खण्डित हो जाता है।

जिस मकान में पहले से ही सचित्त अथवा अचित्त पानी के घड़े रखे हुए हों, दिन रात वहाँ पर रहते हों अर्थात् उद्गशाला (प्याऊ, परिण्डा आदि) रूप होने के कारण वहाँ पर निरन्तर पानी रहता हो, तो वहाँ पर दूसरा मकान मिलते हुए उतरने का निषेध किया है, किन्तु जहाँ पर साधु-साध्वियों के उतरने के बाद कोई गृहस्थ अपने पीने के लिये अचित्त पानी ले आवे और मकान के किसी अलग हिस्से में (जिधर साधु-साध्वियों के भण्डोपकरण न हों) मात्र दिन में कुछ समय के लिये रखे तो उसकी रोक नहीं की जाती है। तथा सूत्र में 'उवणित्खत्ते सिया' इस प्रकार का पद होने से उपर्युक्त प्रकार से रखने पर बाधा भी ध्यान में नहीं आती है।

अग्नि या दीपक युक्त उपाश्रय में रहने का विधि-निषेध, प्रायश्चित्त

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराइए जोई झियाएज्जा, णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे णो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ६ ॥

उवस्सयस्स अंतो वगडाए सव्वराइए पईवे दिप्पेज्जा, णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अहालंदमवि वत्थए, हुत्था य उवस्सयं पडिलेहमाणे णो लभेज्जा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जे तत्थ एगरायाओ वा दुरायाओ वा परं वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - जोई - ज्योति - अग्नि, झियाएज्जा - जले, पईवे - प्रदीप, दिप्पेज्जा - प्रदीप्त हो - जले।

भावार्थ - ६. उपाश्रय के भीतर संपूर्ण रात्रि पर्यन्त अग्नि जले तो साधु-साध्वियों को वहाँ क्षण भर भी रहना नहीं कल्पता है।

बाहर गवेषणा करने पर अन्य स्थान न मिले तो ऐसे स्थान में एक या दो रात्रि तक रहना कल्पता है। एक रात या दो रात से अधिक रहना नहीं कल्पता है।

यदि कोई वहाँ एक या दो रात्रि से अधिक प्रवास करता है तो वह दीक्षा छेद या तपरूप प्रायश्चित्त का भागी होता है।

७. उपाश्रय के भीतर संपूर्ण रात्रि पर्यन्त दीपक जले तो साधु-साध्वियों को वहाँ रहना कल्प्य नहीं होता।

बाहर खोजने पर भी यदि उपयुक्त स्थान न मिले तो ऐसे उपाश्रय - स्थान में एक या द्विरात्रिक प्रवास कल्पनीय है परन्तु एक या दो रात से अधिक अकल्प्य है।

यदि कोई (साधु-साध्वी) वहाँ एक या दो रात से अधिक का प्रवास करता है तो दीक्षा छेद या तपरूप प्रायश्चित्त का भागी बनता है।

विवेचन - इस सूत्र में अग्निकाय की हिंसा तथा अग्नि के सम्पर्क से होने वाली अन्य जीवों की हिंसा के निवारण की दृष्टि से साधु को अग्नियुक्त या दीपकयुक्त स्थान में आवास करने का निषेध किया गया है।

उदाहरणार्थ - कुंभकारशाला तथा लौहकारशाला आदि ऐसे स्थान हैं, जहाँ रातभर अग्नि प्रज्वलित रहने का प्रसंग होता है। दीपक भी अग्निकायिक है। कहीं-कहीं रात्रि पर्यन्त घरों में दीपक प्रज्वलित रहते हैं। वैसे स्थानों में तथा और भी किन्हीं स्थानों में जहाँ अग्नि और दीपक का रातभर जलने का योग है, साधु-साध्वियों को प्रवास करना वर्जित है।

भाष्य एवं चूर्ण में इस संबंध में विशेष चर्चा हुई है। वहाँ ठहरने से निम्नांकित दोष आशंकित हैं -

१. अग्नि या दीपक के आस-पास जाने-आने में तेजस् काय के जीवों की हिंसा या विराधना होती है।

२. साधु का वस्त्र-पात्रादि उपकरण वायु के झोंके से उनमें पड़कर जल सकते हैं, जिससे आग भी लग सकती है।

३. दीपक के कारण शलभ - पतिंगे आदि त्रस जीवों की विराधना होती है।

४. साधु के मन में शीताधिक्य के प्रसंग में उसके निवारणार्थ ताप लेने का संकल्प उत्पन्न हो सकता है।

यहाँ यह विशेष रूप से जानने योग्य है कि “सव्वराड्डए” शब्द इस भाव का द्योतक है कि अग्नि या दीपक जहाँ सारी रात जले, उस स्थान का निषेध है। यदि कुछ देर के लिए जले तो वहाँ रहना प्रतिबाधित नहीं है।

पूर्व सूत्रों में जैसा उल्लेख हुआ है, साधु-साध्वी जैसे स्थानों में भी मर्यादानुरूप ठहर सकते हैं, जिसके एक भाग में गृहस्थों का निवास होता है, उनके यहाँ रसोईघर आदि में तथा रात्रि में घर आदि में अग्नि एवं दीपक अल्पकाल के लिए जलाए जाते हैं। अतः वहाँ मर्यादाकाल तक प्रवास करना अकल्प्य नहीं है।

अग्नि के दो रूपों को बताने के लिये आगमकारों ने उपर्युक्त दो सूत्र दिये हैं - 'अग्नि से तापना, दीपक से पढ़ना आदि। अतः दो रूपों के सिवाय शेष अग्नि के रूपों का निषेध नहीं किया है।' ऐसा पूज्य गुरुदेव बहुश्रुत श्रमणश्रेष्ठ फरमाया करते थे। इन सूत्रों से बिजली की घड़ी स्थानक में होने पर भी उसका निषेध नहीं होता है। स्थानक में पंखा होने पर - - - - - मेन स्वीच बन्द किया हो, तो बाधा का कारण नहीं समझा जाता है। यदि हवा आदि से ज्यादा हिलता हो तो - नहीं हिले - इस तरह का विवेक करवाया जा सकता है। शून्य वॉट का छोटा सा बल्ब (मीटर आदि में रहा हुआ) होने पर भी वह प्रदीप होने से आगम के शब्द 'पत्नीते' के अर्थ में तो आता ही है। अतः मीटर स्थिर होने से उस पर खोखा आदि लगा देने से बाधा का कारण नहीं है।

सूत्र में 'सव्वराड्ढ' शब्द देने से मंदिर आदि में कुछ समय के लिये दीपक आदि होने पर बाधा नहीं है। सम्पूर्ण रात्रि होने पर ही निषेध समझना चाहिये।

खाद्य सामग्रीयुक्त गृह में प्रवास का विधि-निषेध, प्रायश्चित्त

उवस्सयस्स अंतो वगडाए पिण्डाए वा लोयए वा खीरे वा दहिं वा णवणीए वा सप्पिं वा तेल्ले वा फाणिए वा पूवे वा सवकुली वा सिहरिणी वा उक्खित्ताणि वा विक्खित्ताणि वा विइगिण्णाणि वा विप्पइण्णाणि वा, णो कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा अहालंदमवि वत्थए ॥ ८ ॥

अह पुण एवं जाणेज्जा-णो उक्खित्ताइं ४, रासिकडाणि वा पुंजकडाणि वा भित्तिकडाणि वा कुलियकडाणि वा लंछियाणि वा मुद्दियाणि वा पिहियाणि वा कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा हेमंतगिन्हासु वत्थए ॥ ९ ॥

अह पुण एवं जाणेज्जा-णो रासिकडाइं ४, कोट्टाउत्ताणि वा पल्लउत्ताणि वा मंचाउत्ताणि वा मालाउत्ताणि वा ओलित्ताणि वा विलित्ताणि वा कुम्भित्ताणि वा

करभिउत्ताणि वा पिहियाणि वा लंछियाणि वा मुहियाणि वा कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा वासावासं वत्थए ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - पिण्डए - पिण्ड रूप खाद्य पदार्थ (मोदक आदि), लोयए - दूध निष्पन्न मावा, पनीर आदि, णवणीए - नवनीत - मक्खन, सप्पिं - घी, फाणिए - गुड़ आदि का तरलीकृत रूप, पूवे - मालपुआ, सक्कुली - शक्कुली - पूड़ी, सिंहरीणी - श्रीखण्ड।

भावार्थ - ८. उपाश्रय के भीतर - प्रांगण में यदि मोदक आदि पिण्ड रूप पदार्थ, मावा, दूध, दही, नवनीत, घी, तेल, गुड़ का तरलीकृत रूप, मालपुआ, पूड़ी या श्रीखण्ड आदि रखे हुए हों, इधर-उधर रखे हों, बिखरे हुए हों, इधर-उधर (अत्यंत अव्यवस्थापूर्वक) बिखरे हुए हों तो वहाँ साधु-साध्वियों को क्षणमात्र भी रहना नहीं कल्पता है।

९. (पुनश्च) यदि (वे) यह जानें कि (पूर्वोक्त खाद्य पदार्थ) उत्क्षिप्त, विक्षिप्त, व्यतिकीर्ण और विप्रकीर्ण नहीं है वरन् राशिकृत, पुंजीकृत, भित्तिकृत, कुड्यकृत, लांछित, मुद्रित या ढके हुए हैं तो साधु-साध्वियों को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में वहाँ रहना कल्पता है।

१०. यदि (वे) यह जानें कि (पूर्वोक्त पदार्थ) ये राशिकृत, पुंजीकृत, भित्तिकृत, कुड्यकृत आदि नहीं है वरन् कोठे या पल्य में भरे हुए हैं, मचान पर या माले पर सुरक्षित हैं या मृत्तिका, गोबर आदि से लिप्त, प्रलिप्त हैं, कुम्भी या बोधि में रखे हुए हैं, ढके हुए या लांछित, मुद्रित हैं तो साधु या साध्वियों को वहाँ वर्षावास में रहना कल्पता है।

विवेचन - जीवन में जननेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय संबंधी भोग इस प्रकार के हैं, जिन्हें जीत पाना बहुत कठिन है।

यदि उपाश्रय में उपर्युक्त खाद्य पदार्थ हों तो कदाचन रसंलोलुपता के कारण उन्हें खाने की मनोवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। यद्यपि साधु आत्मसंयत होते हैं। सामान्यतः खाद्यादि पदार्थों के समीप रहते हुए भी उनका मन नहीं ललचाता किन्तु कुछेक, जिनकी मनः शक्ति दृढ़ नहीं होती, उन्हें वहाँ खतरा अवश्य है।

व्याख्याकारों ने खाद्य पदार्थयुक्त उपाश्रय में ठहरने में निम्नांकित दो हेतु आशंकित माने हैं -

१. खाद्य पदार्थ जिस मकान में हों, उसमें चींटियों का विस्तार हो सकता है।

२. चूहे, बिल्ली आदि प्राणी भी उस ओर अधिक आकृष्ट होते हैं।

३. अन्य प्राणी आकर उन्हें खा सकते हैं, जिन्हें रोकने से साधुओं को अन्तराय लगता

है तथा न रोकने से गृहस्वामी रुष्ट होता है तथा यह भी उसके मन में आशंका उत्पन्न हो सकती है कि साधुओं ने उन पदार्थों का भोग कर लिया हो।

४. यदि साधु स्वयं उन्हें खा लेता है तो उसे अदत्त-चौर्य का दोष लगता है।

५. मात्र इतना ही नहीं, खाद्य पदार्थों का सेवन न करने पर भी उनकी प्रशस्त-अप्रशस्त गंध से मानसिक उद्वेलन भी संभावित है, जो कर्मबंध के हेतु हैं।

ऐसे स्थान में भी यदि अपवाद स्वरूप प्रवास करना पड़े तो पूर्व सूत्रानुसार, शस्त्र मर्यादानुरूप ठहराव वांछनीय है।

विश्रामगृह आदि में ठहराव का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिगंग्थीणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा रुक्खमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥ ११ ॥

पइ णिगंग्थाणं अहे आगमणगिहंसि वा वियडगिहंसि वा वंसीमूलंसि वा वंसीमूलंसि वा अब्भावगासियंसि वा वत्थए ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहे - अधः - मध्य (अन्दर), आगमणगिहंसि - आगमनगृह - विश्रामगृह, वियडगिहंसि - चारों ओर से खुला मकान, वंसीमूलंसि - बरगद आदि पेड़ के नीचे, अब्भावगासियंसि - ऊपर से अधिक खुले घर में या खुले आकाश के नीचे।

भावार्थ - ११. साधुओं को आगमनगृह - धर्मशाला आदि में, चारों ओर से खुले घर में, बांस आदि से निर्मित जालीदार घर में, वृक्ष आदि के नीचे या खुले आकाश या केवल चारदीवारीयुक्त गृह में ठहरना नहीं कल्पता है।

१२. साधुओं को आगमनगृह, चारों ओर से खुले मकान, बांस आदि से निर्मित भवन, पेड़ के नीचे या ऊपर से ढके और चौ तरफ से खुले आकाश के नीचे रहना कल्पता है।

विवेचन - सूत्र में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के आवासगृहों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है -

१. आगमनगृह - जहाँ पर पथिकों का आना-जाना हो, ऐसा देवालय, धर्मस्थान या सार्वजनिक विश्राम स्थल।

२. विपुतगृह - खंभों आदि पर खड़ा किया हुआ भवन अर्थात् दो, तीन या चारों दिशाओं से खुला तथा केवल ऊपर से ढका हुआ गृह।

३. **गंशीमूल** - छपरा, आरामगृह आदि बांस की खपच्चियों से बने होते हैं। ये जालीदार होते हैं, जिनमें से भीतर आवास करने वाला स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

४. **वृक्षमूल** - वृक्ष का भूमि स्पर्शी भाग या वृक्षकोटर।

५. **अभ्रातकाश** - केवल चारदीवारी युक्त भवन या प्रायः ऊपर से ढका हुआ एवं चौ तरफ से खुला हुआ स्थान।

ऐसे स्थानों में साध्वियों का ठहरना सर्वथा वर्जित है क्योंकि ये आवास स्थल उनके लिए अत्यंत असुरक्षित हैं। अतः शीलरक्षार्थं निर्ग्रन्थिनियों को किसी अन्य उपयुक्त आश्रय की तलाश करनी चाहिए।

यदि उपयुक्त स्थान न मिले तो साध्वी को सूर्यास्त के पश्चात् भी शास्त्रानुमोदित, ब्रह्मचर्यरक्षार्थं अनुकूल स्थान की तलाश में उद्यत होना चाहिए।

साधुओं के लिए ये स्थान अपवाद रूप में वर्जित तो नहीं है परन्तु फिर भी यथासंभव उपयुक्त स्थान की तलाश कर प्रवास करना ही कल्पता है।

अनेक स्वामी युक्त गृह में शय्यातरकल्प

एग्रे सागारिए पारिहारिए, दो तिण्णि चत्तारि पंच सागारिया पारिहारिया, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसे णिव्विसेज्जा ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - सागारिए - सागारिक - गृहस्वामी, पारिहारिए - पारिहारिक, कप्पागं - कल्पाक - सामष्टिक रूप में शय्यातर, ठवइत्ता - स्वीकार कर, अवसेसे - बाकी के स्वामियों को, णिव्विसेज्जा - स्वामित्व से पृथक् माने।

भावार्थ - १३. (किसी) गृह का एक स्वामी पारिहारिक होता है।

जहाँ दो, तीन चार या पाँच स्वामी पारिहारिक हों, उनमें से किसी एक को शय्यातर स्वीकार किया जाए।

विवेचन - साधु-साध्वियों को जो गृहस्थ आवास हेतु स्थान प्रदान करता है, उसके लिए जैन परंपरा में शय्यातर का प्रयोग हुआ है तथा प्राकृत में 'सेआयट' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्राकृत व्याकरण की दृष्टि से व्यंजन का लोप करने से 'सेआअट' निष्पन्न होता है। फिर 'य' श्रुति द्वारा उसका 'सेआयट' बन जाता है। इसके संस्कृत में तथा उसके शब्दकोष द्वारा विकसित भाषाओं में शय्यातर, शय्याकट, शय्याधट इत्यादि अनेक रूप

बनते हैं। उनकी अर्थ संगति भी घटित होती है। “शय्यां करोतीति शय्याकरः” - जो भवन का निर्माता होता है। “शय्यां धरतीति शय्याधरः, स्वामित्वेन परिरक्षति वा” अर्थात् जो शय्या का धारण या परिरक्षण करता है तथा अपनी आत्मा को नरक में जाने से बचाता है, वह शय्याधर कहलाता है।

“शय्याया - शय्याप्रदानेन तरति, संसार सागरं पारयति” - साधु-साध्वियों को जो मकान देकर संसार सागर को पार करता है, उसे शय्यातर कहते हैं।

इसी प्रकार ‘शय्यादाता’ शब्द भी यहाँ प्रयोजनीय है, जो शय्या देने के अर्थ को प्रकट करता है।

यहाँ प्रयुक्त ‘पारिहारिक’ शब्द ‘परिहार’ से बना है। यह ‘परि’ उपसर्गपूर्वक ‘ह’ धातु एवं ‘घञ्’ प्रत्यय के योग से बना है। उसका अर्थ छोड़ना, अर्पित करना, देना आदि है।

साधु शय्यातर के यहाँ से ‘भक्त-पान’ स्वीकार नहीं करते। अत एव वह गृही पारिहारिक कहा जाता है। अथवा वह साधु-साध्वियों को देता है, अर्पित करता है, वह पारिहारिक कहा जाता है।

एकाधिक स्वामियों द्वारा अधिकृत घर में एक को शय्यातर मानने का आशय यह है कि शेष स्वामी -चारित्रात्माओं को भक्त-पान आदि प्रदान करने से वंचित न रहें।

यहाँ यह भी ज्ञापनीय है कि समय-समय पर उनमें से किसी अन्य को भी शय्यातर माना जा सकता है, जिससे सभी को सत्पात्र दान का अवसर प्राप्त हो।

सूत्र में जो ‘णित्विसेजा’ क्रिया प्रयुक्त हुई है, उसके टीकाकार ने दो अर्थ किए हैं।

निर्विशेत् - विसर्जयेत् - शय्यातरत्वेन न गणयेत् - अन्यो को शय्यातर न मानना।

दूसरा - प्रविशेत् आहारार्थं तेषां गृहेषु अनुविशेत् - से शय्यातर कल्प से भिन्न के घरों में भिक्षा हेतु प्रवेश करना विहित है।

शय्यातर पिण्ड-ग्रहण विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया अणीहडं असंसडुं वा संसडुं वा पडिगाहित्तए ॥ १४ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सागारियपिण्डं बहिया णीहडं असंसडुं

पडिगाहित्तए। कप्पइ णिगंग्थाण वा णिगंग्थीण वा सागारियपिण्डं बहिया णीहडं संसट्टं पडिगाहित्तए ॥ १५ ॥

जो खलु णिगंग्थो वा णिगंग्थी वा सागारियपिण्डं बहिया णीहडं असंसट्टं संसट्टं करेइ करेतं वा साइज्जइ, से दुहओ वीइक्कममाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुघाइयं ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणीहडं - अनिर्हतः - नहीं ले जाया गया हो, असंसट्टं - असंश्लिष्ट - नहीं मिलाया गया हो, संसट्टं - मिलाया गया हो, णीहडं - ले जाया गया।

भावार्थ - १४. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को सागारिक का आहार जो बाहर नहीं ले जाया गया हो, अन्य के आहार के साथ संश्लिष्ट - मिश्रित न हो अथवा मिश्रित हो तो भी ग्रहण करना नहीं कल्पता।

१५. वह सागारिक पिण्ड, जो बाहर ले जाया गया हो, अन्य के आहार के साथ मिला हुआ हो, वह लेना कल्पता है।

१६. जो निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनी बाहर ले जाए गए अमिश्रित आहार को अन्य आहार से मिश्रित करता है, वह लौकिक एवं लोकोत्तर - दोनों प्रकार की मर्यादाओं का अतिक्रमण (व्यतिक्रम) करता हुआ गुरु चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन - शय्यातर का आहार किस स्थिति में लेना कल्प्य है, इसकी विभिन्न स्थितियों का विवेचन करते हुए निरूपण किया गया है। यदि शय्यातर का आहार अन्य प्रयोजनवश घर की सीमा से बाहर किसी स्थान में लाया गया हो, वहाँ अन्य लोग भी आहार लाए हों, वे सब मिला दिए गए हों तो उस आहार पर उन भिन्न-भिन्न लोगों का पृथक् स्वामित्व लुप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में सागारिक पिण्ड का अपना अलग अस्तित्व नहीं रहता।

यहाँ दो स्थितियाँ बनती हैं - सागारिक का घर भी नहीं है और सागारिक का पिण्ड विषयक स्वामित्व पृथक् व्यक्त भी नहीं है। वहाँ आहार लेने में दोष नहीं है क्योंकि सागारिक का आहार के साथ सीधा संबंध वहाँ अविद्यमान है।

सूत्र में यह और स्पष्ट किया गया है कि वैसी स्थिति उत्पन्न करने में यदि साधु का अपना कर्तृत्व हो या औरों के तद्विषयक कर्तृत्व में उसका अनुमोदन हो तो ऐसा करता हुआ साधु प्रायश्चित्त का भागी होता है।

४९ सागारिक के घर आगत तथा अन्यत्र प्रेषित आहार-ग्रहण विषयक विधि निषेध

सागारिक के घर आगत तथा अन्यत्र प्रेषित आहार-ग्रहण विषयक विधि निषेध

सागारियस्स आहडिया सागारिएण पडिग्गहिया तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ १७ ॥

सागारियस्स आहडिया सागारिएण अपडिग्गहिया, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ १८ ॥

सागारियस्स णीहडिया परेण अपडिग्गहिया, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहित्तए । सागारियस्स णीहडिया परेण पडिग्गहिया, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - आहडिया - आए हुए, तम्हा - उसके यहाँ से, दावए - दिया गया ।

भावार्थ - १७. सागारिक के घर पर दूसरे के घर से आया हुआ आहार तथा दूसरे के यहाँ भेजा गया आहार लेना नहीं कल्पता ।

१८. अन्य के घर से सागारिक के यहाँ आया हुआ, किन्तु सागारिक द्वारा स्वीकार नहीं किया गया है, वहाँ दूसरा व्यक्ति साधु को दे तो वह लेना कल्पता है ।

१९. सागारिक द्वारा प्रेषित, दूसरे द्वारा स्वीकार नहीं किया गया आहार यदि वह दे तो (साधु-साध्वियों को) लेना नहीं कल्पता ।

यदि (सागारिक द्वारा प्रेषित यह) आहार अन्य द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो लेना कल्पता है ।

विवेचन - गृहस्थों में पारिवारिक मैत्री आदि संबंधों के कारण खाद्य पदार्थों का उपहार आदि के रूप में लेन देन प्रेषण-आप्रेषण होता है । यदि किसी संबंधी या मित्र आदि ने सागारिक के यहाँ भोज्य पदार्थ भेजे हों, सागारिक ने उन्हें स्वीकार कर लिया हो, संयोगवश साधु वहाँ भिक्षार्थ चला जाए तो वह पदार्थ साधु के लिए इसलिए ग्राह्य नहीं है कि अब उस पर सागारिक का स्वामित्व हो जाता है । यदि लाने वाला भी देना चाहे तो वह भी दे नहीं सकता क्योंकि उसका उस पर स्वामित्व नहीं होता ।

सागारिक द्वारा अन्य के यहाँ प्रेषित आहार में इसी प्रकार की मर्यादा है । जिसके यहाँ प्रेषित किया गया है, उसने स्वीकार नहीं किया है तथा देना चाहता है तो स्वामित्व के अभाव में फलित नहीं होता तथा स्वीकार करने के पश्चात् देने का अधिकारी हो जाता है ।

सारांश यह है, आहार के साथ सागारिक की सीधी संबद्धता अकल्प्य है।

शय्यातर के आहारांश से युक्त भक्त-पान - ग्रहण का विधि-निषेध

सागारियस्स अंसियाओ अविभत्ताओ अब्बोच्छिण्णाओ अब्बोगडाओ अणिज्जूढाओ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहित्तए। सागारियस्स अंसियाओ विभत्ताओ वोच्छिण्णाओ वोगडाओ णिज्जूढाओ, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - अंसियाओ - बहुतों के मिलित अंश, अविभत्ताओ - बिना बंटे हुए, अब्बोगडाओ - अपृथक्कृत - पृथक् न किया हुआ, अब्बोच्छिण्णाओ - व्यवच्छेद रहित - सम्बद्ध, अणिज्जूढाओ - अनिष्कासित - अलग-अलग नहीं निकाले हुए, दावए - देता है।

भावार्थ - २०. सागारिक के तथा अन्यो के मिले हुए (सामूहिक) आहार सम्मिलित रूप में हो, वह विभाग, व्यवच्छेद तथा पार्थक्य रहित हो, उसका किसी भी प्रकार से विभाजन न किया गया हो तो ऐसे आहार को यदि कोई दे तो (साधु-साध्वियों को) भिक्षा लेना नहीं कल्पता।

सागारिक का और अन्यो के मिले हुए आहार विभक्त, व्यवच्छिन्न, पृथक् तथा पार्थक्ययुक्त हो - सागारिक का आहार अलग कर दिया हो तो अन्य आहार साधु के लिए ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन - सागारिक शय्यातर का आहार पूर्णतः अंशतः आदि किसी भी रूप में साधु द्वारा स्वीकार्य नहीं है। इस बात का सूक्ष्मता से स्पष्टीकरण करने हेतु उन स्थितियों की परिकल्पनाएँ की गई हैं, जिनमें किसी भी तरह से सागारिक के आहार का मिश्रण हो। जहाँ वैसा हो, साधु भिक्षा लेते समय जागरूक रहे कि उसे वह ग्रहण न करे।

इस संबंध में अनेक व्यक्तियों के सम्मिलित आहार का जो प्रसंग उपस्थित किया गया है, उसके आधार पर यह निरूपित हुआ है कि यद्यपि वह आहार अकेले सागारिक का नहीं है, औरों का भी उसमें मिला हुआ है किन्तु अंशिका के रूप में मिलित हो, अलग-अलग बंटवारा नहीं किया गया हो और यह अज्ञात रहे कि शय्यातर का कौनसा भाग हो तो ऐसी संशयापन्न स्थिति में आहार ग्रहण कदापि कल्पनीय नहीं है।

किन्तु जहाँ अंशिकागत आहार में से शय्यातर का आहार पृथक् कर दिया जाय तदुपरान्त सामूहिक या पृथक्-पृथक् अवशिष्ट आहार में से ग्रहण कल्प्य है।

पूज्यजनों को समर्पित आहार को ग्रहण करने का विधि-निषेध

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए णिड्डिए णिसिद्धे पडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २१ ॥

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए णिड्डिए णिसिद्धे पडिहारिए, तं णो सागारिओ देइ, णो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २२ ॥

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए णिड्डिए णिसिद्धे अपडिहारिए, तं सागारिओ देइ, सागारियस्स परिजणो देइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २३ ॥

सागारियस्स पूयाभत्ते उद्देसिए चेइए पाहुडियाए, सागारियस्स उवगरणजाए णिड्डिए णिसिद्धे अपडिहारिए, तं णो सागारिओ देइ, णो सागारियस्स परिजणो देइ, सागारियस्स पूया देइ, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहित्तए ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पूयाभत्ते - पूज्यजनों के सम्मान में दिया जाने वाला भोज, चेइए - समर्पित, पाहुडियाए - भेंट (प्राभृत), उवगरणजाए - उपकरणों - पात्र आदि में बनाया गया, णिड्डिए - स्थित, णिसिद्धे - निकाला गया, पूया - पूज्या - पूजनीय पुरुष, देज्जा - (दघात्) देवें।

भावार्थ - २१. सागारिक द्वारा अपने पूज्यजनों के सम्मान में प्रस्तुत, समर्पित भोजन, जो उसके थाली आदि उपकरणों में रखा हुआ है, जो प्रातिहारिक है, यदि उस पात्र में से लेकर सागारिक या उसके परिजन दें तो साधु को लेना नहीं कल्पता।

२२. सागारिक द्वारा अपने पूज्यजनों के सम्मान में प्रस्तुत, समर्पित भोजन, जो उसके थाली आदि उपकरणों में रखा हुआ हो, प्रातिहारिक हो, उसमें से न सागारिक दे और न सागारिक के परिजन दें किन्तु उनके पूज्य पुरुष दें तो (भी) साधु को लेना नहीं कल्पता है।

२३. सागारिक द्वारा अपने पूज्यजनों के सम्मान में प्रस्तुत, समर्पित भोजन, जो उसके थाली आदि उपकरणों में रखा हो, अप्रातिहारिक हो, उसमें से सागारिक या उसके परिजन दें तो साधु को लेना कल्प्य नहीं है।

२४. सागारिक द्वारा अपने पूज्यजनों के सम्मान में प्रस्तुत, समर्पित भोजन, जो उसके थाली आदि उपकरणों में रखा हुआ हो, अप्रातिहारिक हो, उसमें से न सागारिक दे और न उसके परिजन ही दें वरन् स्वयं पूज्यजन देवें तो (साधु को) लेना कल्पता है।

विवेचन - इस सूत्र में शय्यातर द्वारा अपने सम्माननीय जन - लौकिक शिक्षक, कलाचार्य, प्रौढ पारिवारिकजन इत्यादि के सम्मान में दिया गया, उनके लिए प्रेषित किया गया भोजन पूज्यभक्त कहा गया है। उस भोजन को भेजने के दो प्रकार हैं। प्रथम - ऐसा संकल्पित रहता है कि पूज्यजनों के भोजन ग्रहण के पश्चात् शेष शय्यातर के यहाँ पुनः लाया जाता है। द्वितीय - भोजन पूज्यजनों को सर्वथा समर्पित होता है। भोजन के पश्चात् अवशिष्ट अंश लौटाया नहीं जाता। प्रथम प्रातिहारिक तथा द्वितीय अप्रातिहारिक कहा जाता है।

‘प्रति’ उपसर्ग पूर्वक ‘हृ’ धातु से प्रतिहार तथा तद्धित प्रक्रिया से प्रातिहारिक बनता है जो आहार रूप विशेष्य का विशेषण है।

जो वस्तु देकर वापस लौटायी जाती है, उसे ‘प्रातिहारिक’ तथा पुनः नहीं लौटायी जाती, वह ‘अप्रातिहारिक’ कहलाती है। साधुचर्या के लिए ऐसा स्वीकृत है कि दिन में उपयोग हेतु साधु-साध्वी-सूई, कैंची आदि लेते हैं, शाम को वापस लौटा देते हैं। गृहस्थों के यहाँ से दिया जाने वाला भोजन अप्रातिहारिक होता है।

साधु द्वारा लिए जाने वाले आहार में शय्यातर का किसी भी प्रकार का संबंध, जुड़ाव न हो, यह शास्त्रानुमोदित है। अत एव इस सूत्र में उसके संबंध या जुड़ाव से रहित स्थिति में भिक्षा लेने का विधान किया गया है, जो विशुद्ध आहारचर्या का समीचीन रूप है।

यहाँ विशेष रूप से ज्ञातव्य है, शय्यातर स्वयं एवं उसके परिजनवृन्द द्वारा दिए जाने वाले आहार का जो निषेध किया गया है, वहाँ उसकी विवाहित पुत्रियों का समावेश नहीं होता क्योंकि विवाह के पश्चात् लड़कियों का संबंध पितृगृह के स्थान पर श्वसुरगृह से हो जाता है। अतः साधु द्वारा उनके हाथ से अप्रातिहारिक आहार लेने में दोष नहीं है।

तत्रकल्प

कप्यइ णिगंगंथाण वा णिगंगंथीण वा इमाइं पंच वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा, तंजहा-जंगिए भंगिए साणए पोत्तए तिरीडपट्टे णामं पंचमे ॥ २५ ॥

कठिन शब्दार्थ - इमाइं - ये, वत्थाइं - वस्त्र, धारेत्तए - अपने पास रखना, परिहरित्तए - उपभोग करना - पहनना।

भावार्थ - २५. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को ये पाँच प्रकार के वस्त्र अपनी नेत्राय में रखना और धारण करना कल्पता है - १. जांगिक २. भांगिक ३. सानक ४. पोतक तथा ५. तिरीटपट्टक।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्र में साधु-साध्वियों के लिए जिन पाँच प्रकार के वस्त्रों को धारण करने का विधान किया गया है, उनका वर्णन निम्नांकित रूप में ज्ञातव्य है -

१. जांगिक - भेड़ आदि के बालों से बने वस्त्र।
२. भांगिक - अलसी आदि की छाल से निर्मित।
३. सानक - सन (जूट) आदि से बने हुए वस्त्र।
४. पोतक - कपास से बने वस्त्र।
५. तिरीटपट्टक - तिरीट (तिमिर) वृक्ष की छाल से बने वस्त्र।

प्रथम प्रकार के वस्त्रों में प्रयुक्त जंगम शब्द का तात्पर्य त्रस जीवों से है। ये दो प्रकार के होते हैं - विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

कोशा, रेशा, मखमल आदि वस्त्र विकलेन्द्रिय प्राणियों के घात से बनाए जाते हैं। अतः ये साधु-साध्वियों के लिए अकल्पनीय होते हैं। कुछ रेशम के कीड़े परिपक्व हो जाने के बाद अपने ऊपर के रेशे को तोड़ कर बाहर निकल जाते हैं। उन टूटे हुए रेशे से जो वस्त्र बनाया जाता है। क्षेत्र काल में अन्य वस्त्र उपलब्ध नहीं होने पर उस वस्त्र को लेना कल्पनीय माना गया है। परन्तु पंचेन्द्रियों के बालों से निर्मित वस्त्र साधु-साध्वी धारण कर सकते हैं। क्योंकि बाल काटने से भेड़ आदि पीड़ा का अनुभव नहीं करते वरन् हल्कापन ही महसूस करते हैं।

जो भिक्षु तरुण एवं स्वस्थ हो, उसे उपरोक्त में से एक ही जाति के वस्त्र रखने चाहिए। साधारणतः दो सूती और एक ऊनी वस्त्र का साधु-साध्वियों के लिए विधान किया गया है।

पञ्चविध रजोहरण की कल्पनीयता

कप्पइंणिगंथाणवाणिगंथीणावाइमाइं पंचरयहरणाइं धरेत्तएवापरिहरित्तएवा,
तंजहा - उण्णिणए उट्टिए साणए वच्चाचिप्पए मुंजचिप्पए णामं पंचमे ॥ २६ ॥ त्ति बेमि ॥

बिहक्कप्ये बिइओ उहेसओ समत्तो ॥ २ ॥

। कठिन शब्दार्थ - रयहरणाइं - रजोहरण।

भावार्थ - २६. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को इन (निम्नांकित) पाँच प्रकार के वस्त्रों को रखना (धारण करना) और उपयोग करना कल्पनीय है, यथा - १. और्णिक २. औष्टिक ३. सानक ४. वच्चाचिप्पक ५. मुंजचिप्पक।

विवेचन - साधु-साध्वियों द्वारा धारण किया जाने वाला रजोहरण उनके प्राणिमात्र के प्रति अहिंसक भाव का द्योतक है। साधु-साध्वी इसके उपयोग द्वारा न केवल अपने को एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय प्राणियों की हिंसा से ही बचाते हैं वरन् इसके दैनंदिन प्रयोग से मन में अहिंसा का भाव भी सुदृढ होता है, जो कर्म कालुष्य को मिटाता है।

अर्थात् “येन मृत्तिका - धूलिकादि द्रव्यरजः कर्मास्रवादिभावरजश्च हियते, नाशयते तद् रजोहरणम्” - जिसके द्वारा मृत्तिका, धूलिकादि द्रव्य रज तथा कर्मास्र आदि भाव रज का अपगम होता है, वह रजोहरण है।

गमनागमन के समय पैरों आदि में लगी धूल अथवा चलने वाले सूक्ष्म जीवों को पीड़ा पहुँचाए बिना इससे दूर किया जा सकता है। इस दृष्टि से यह द्रव्य रजोहरण है।

शय्या-संस्तारक, वस्त्र-पात्रादि पर चढे हुए कीड़े-मकोड़ों को भी इस द्वारा कोमलता से दूर किया जा सकता है। इस दृष्टि से यह भाव रजोहरण है।

ऊपर बतलाए गए पंचविध रजोहरणों की व्याख्या इस प्रकार है -

१. **और्णिक** - भेड़ आदि की ऊन से बनाया गया।

२. **औष्टिक** - ऊँट के केशों (बलों) से निर्मित।

३. **सानक** - सन (जूट) आदि की वल्कल (छाल) से बनाया गया हो।

४. **वच्चाचिप्पक** - वच्चा का तात्पर्य डाभ से है। डाभ को कूटने से जो इसका कोमल भाग पृथक् होता है, उससे निर्मित रजोहरण।

५. **मुंजचिप्पक** - मुँज (नारियल की जोटी) को कूटकर, उससे प्राप्त कोमल भाग से बनाया गया रजोहरण।

ऊपर वर्णित क्रम कोमलता से कठोरता की ओर भी इंगित करता है। अतः सर्वाधिक मुलायम होने से साधु-साध्वियों को और्णिक रजोहरण ही उपयोग में लेना कल्पता है। यदि यह प्राप्त न हो तो उसके पश्चात् क्रम से जो भी प्राप्त हो, देश, काल एवं स्थिति की मर्यादा के अनुसार वह कल्पनीय होता है।

॥ बृहत्कल्प का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ - तृतीय उद्देशक

निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को एक-दूसरे के उपाश्रय में अकरणीय क्रियाएँ

णो कप्पड़ णिग्गंथाणं णिग्गंथीणं उवस्सयंसि चिद्धित्तए वा णिसीइत्तए वा तुयद्धित्तए वा णिहाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारमाहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिद्धवित्तए, सम्झायं वा करेत्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए ॥ १ ॥

णो कप्पड़ णिग्गंथीणं णिग्गंथउवस्सयंसि चिद्धित्तए वा जाव ठाइत्तए ॥ २ ॥

भावार्थ - १. निर्ग्रन्थों को निर्ग्रन्थिनियों के उपाश्रय में - खड़े रहना, बैठना, लेटना या पार्श्व परिवर्तन करना (त्वग्वर्त्तयित्तुं), निद्रा लेना, प्रचला संज्ञक निद्रा लेना - ऊंघना, अशन, पान, खादिम, स्वादिम आहार ग्रहण करना, मल, मूत्र, कफ और सिंघानक - नासा मैल परठना (परिस्थापित करना), स्वाध्याय करना, ध्यान करना या कायोत्सर्ग कर स्थित रहना नहीं कल्पता है।

२. (इसी प्रकार) निर्ग्रन्थिनियों को निर्ग्रन्थों के उपाश्रय में खड़े रहना यावत् (कायोत्सर्ग कर) स्थित रहना नहीं कल्पता है।

विवेचन - यहाँ साधुओं को साध्वियों के तथा साध्वियों को साधुओं के उपाश्रय में जाने का या उपरोक्त क्रियाएँ न करने का जो निषेध किया गया है, उसका हार्द एक दूसरे के संयम जीवितव्य की रक्षा करना है। इसके अलावा यदि एक दूसरे के उपाश्रय में साधु-साध्वी अधिक समय रुकते हैं तो निकटवर्ती लोगों में भिन्न-भिन्न प्रकार की शंकाएँ उपस्थित होना आशंकित है, जो साधना के उज्वल, धवल, निर्मल चरित्र पर दाग के समान होती है।

अत्यावश्यक कार्य हो तो साधुओं को साध्वियों के उपाश्रय में अल्प समय के लिए ही जाना कल्पता है। वहाँ भी खड़े-खड़े ही आवश्यक वार्तालाप कर पुनः लौटना शास्त्रानुमोदित है।

परस्पर वाचना सुनने, साधुओं को स्वाध्याय सुनाने तथा सेवा आदि कार्यों हेतु एक दूसरे के उपाश्रय में जाने का व्यवहार सूत्र में तथा ठाणांग सूत्र में उल्लेख आया है।

चर्मग्रहणविषयक विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्टित्तए ॥ ३ ॥

कप्पइ णिग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्टित्तए से वि य परिभुत्ते णो चेव णं अपरिभुत्ते, से वि य पडिहारिए णो चेव णं अप्पडिहारिए, से वि य एगराइए णो चेव णं अणेगराइए ॥ ४ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ५ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - सलोमाइं - रोम सहित, चम्माइं - चर्म - चमड़ा, अहिट्टित्तए - उपयोग में लेना, परिभुत्ते - उपयोग में लिया हुआ, कसिणाइं - कृत्स्न - समग्र, अकसिणाइं - असंपूर्ण - खण्ड (टुकड़ा)।

भावार्थ - ३. निर्ग्रन्थिनियों को रोमसहित चर्म का उपयोग करना नहीं कल्पता है।

४. निर्ग्रन्थों को रोमसहित चर्म का उपयोग करना कल्प्य होता है। (लेकिन) वह काम में (उपयोग में) लिया हुआ हो, अप्रयुक्त - नया न हो।

वह प्रातिहारिक - पुनः लौटाने को कहकर लाया हुआ हो, अप्रातिहारिक न हो।

वह एक रात्रि में उपयोग करने हेतु लाया जाय, अनेक रात्रियों में उपयोग करने हेतु न लाया जाय।

५. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को अखण्ड चर्म रखना एवं उसका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

६. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को असंपूर्ण चर्मखण्ड - आवश्यकतानुरूप खण्डित चर्म रखना कल्पता है।

विवेचन - जैन आचार मर्यादा के अनुसार साधु-साध्वियों के लिए सूत, ऊन आदि के वस्त्र, जिनका पहले वर्णन हुआ है, उपयोग में लेने का विधान है।

इस सूत्र में विशेष आवश्यकता और प्रयोजनवश चर्मखण्ड लेने का विधान हुआ है किन्तु रोम सहित, रोम रहित, संपूर्ण या खण्ड इत्यादि के रूप में जो विशेष मर्यादाएँ निर्धारित की गई हैं, उनका संबंध अहिंसा प्रधान साधु जीवन की गरिमा की दृष्टि से है।

संपूर्ण चर्म में मृग आदि पशु का आकार दृश्यमान रहता है, जो हिंसामूलकता का सूचक है। अत एव खण्ड के रूप में लेने का विधान किया गया है।

यदि रोम रहित चर्म प्राप्त न हो सके तो साधु को रोम सहित लेना पड़े तो वह ऐसा हो, जो लुहार, सुनार इत्यादि के नित्य काम में आता हो क्योंकि वैसे चर्मखण्ड में जीवोत्पत्ति की आशंका नहीं रहती। अन्यथा बालों वाले चर्मखण्ड में जीव उत्पन्न हो सकते हैं।

साध्वियों के लिए रोम सहित चर्मखण्ड लेने का निषेध इसलिए है क्योंकि इसके संस्पर्श से ब्रह्मचर्य भावना का व्याहृत होना आशंकित है क्योंकि उसमें पुरुष के दैहिक संस्पर्श की अनुभूति की संभावना रहती है।

भाष्यकार ने इस संदर्भ में विस्तृत चर्चा की है। रोम रहित चर्मखण्ड लेने का विधान इसलिए हुआ है कि रोग आदि में रक्त, श्लेष्म, प्रस्रवण आदि का संश्लेष होने पर वस्त्र की अपेक्षा सफाई आदि की सुविधा रहती है।

भाष्यकार ने इसकी स्वीकार्यता के संदर्भ में संधिवात, अर्श, चर्मरोग, अतिशीतकाल, अत्यंत उष्णता, पैरों में छाले पड़ने से नंगे पाँव चलने में कठिनता इत्यादि हेतु निरूपित किए हैं, जो दैहिक आवश्यकताओं की दृष्टि से वांछित है।

वस्त्र-ग्रहण संबंधी विधि-निषेध

णो कप्पड़ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा कसिणाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा । कप्पड़ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अकसिणाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ७ ॥

णो कप्पड़ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अभिण्णाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ८ ॥

कप्पड़ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा भिण्णाइं वत्थाइं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ९ ॥

भावार्थ - ७. साधु-साध्वियों को कृत्स्न (संपूर्ण) वस्त्रों को रखना अथवा उपयोग करना नहीं कल्पता है।

साधु-साध्वियों को अकृत्स्न वस्त्र रखना या उनका उपयोग करना कल्पता है।

८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को अभिन्न - अखण्ड वस्त्रों को रखना और उनका उपयोग करना नहीं कल्पता है।

९. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को भिन्न - खण्डित (असंपूर्ण) वस्त्रों को धारण करना और उपयोग में लेना कल्पता है।

विवेचन - 'कृत्स्न' शब्द जैसा कि पहले विवेचन हुआ है, संपूर्ण के अर्थ का द्योतक है। अतः कृत्स्न वस्त्र का तात्पर्य संपूर्ण वस्त्र से - जैसा मील आदि से प्राप्त हुआ, उस पूरे थान से है।

गृहस्थ आदि द्वारा उपयोग में लेने के पश्चात् या किसी पूरे थान में से कुछ भाग काम में ले लिया जाय तो वह अकृत्स्न हो जाता है।

यहाँ सूत्रकार ने 'कृत्स्न', 'अकृत्स्न' के अलावा 'भिन्न' और 'अभिन्न' - ये दो शब्द और दिए हैं। ये भी क्रमशः असंपूर्ण और संपूर्ण (कृत्स्न) अर्थ के द्योतक ही हैं।

भाष्यकार ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है -

'कृत्स्न' शब्द में वस्त्रों के वर्ण एवं मूल्य का समावेश होता है अर्थात् यह संपूर्णता या कृत्स्नता भाव रूप है, अतः इसे 'भावकृत्स्न' कहा गया है तथा अभिन्न का तात्पर्य 'द्रव्य कृत्स्न' से है। अर्थात् जैसा वस्त्र मूल रूप में प्राप्त हुआ, वैसा संपूर्ण थान, जो उपयोग में नहीं लिया गया है, अभिन्न (अच्छिन्न) कहा जाता है।

द्रव्यकृत्स्न, सकल द्रव्यकृत्स्न और प्रमाण द्रव्यकृत्स्न के रूप में दो प्रकार का होता है।

आदि एवं अन्त भाग युक्त, कोमल स्पर्श युक्त, धब्बे आदि से रहित वस्त्र सकल द्रव्य कृत्स्न कहा जाता है।

इसके तीन भेद हैं यथा - जघन्य (मुखवस्त्रिका), मध्यम (चोलपट्ट) तथा उत्कृष्ट (चादर)।

जो वस्त्र मर्यादित लम्बाई - चौड़ाई से अधिक प्रमाणयुक्त हों, उन्हें द्रव्यप्रमाण कृत्स्न कहा जाता है।

किसी देश विशेष में उपलब्ध वस्त्र क्षेत्र कृत्स्न तथा काल विशेष (जैसे गर्मी में सूती वस्त्र) में प्राप्त वस्त्र काल कृत्स्न कहे जाते हैं।

भावकृत्स्न दो प्रकार का कहा गया है - वर्णयुत और मूल्ययुत।

‘युत’ का तात्पर्य-सहित से है। वर्णयुत वस्त्र के कृष्ण, नील, लाल आदि पंचविध रंगों से संबंधित है।

मूल्ययुत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है।

अर्थात् यह स्थान विशेष पर वस्त्र के कम-अधिक मूल्य से संबंधित है।

इसके अलावा राग भाव उत्पन्न करने वाले, रमणीय या चमक दमक वाले वस्त्र भी साधु-साध्वियों के लिए हेय होते हैं।

अतः साधु-साध्वियों को वे ही वस्त्र कल्पनीय होते हैं, जो सर्वत्र सुलभ हों, सस्ते हों, चोरे जाने आदि का भय न हो, राग-आसक्ति बढ़ाने वाले न हों तथा श्रावकों के मन में अश्रद्धा उत्पन्न न करें तथा प्रमाणोपेत हों, जिससे विहार आदि में असुविधा न हो।

अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक धारण का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाणं उग्गहणंतं वा उग्गहपट्टं वा धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ १० ॥

कप्पइ णिग्गंथीणं उग्गहणंतं वा उग्गहपट्टं वा धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ११ ॥

भावार्थ - १०. साधुओं के अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक धारण करना - अपने पास रखना और उपयोग में लेना नहीं कल्पता है।

११. साध्वियों को अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन - यहाँ प्रयुक्त अवग्रहानन्तक और अवग्रहपट्टक शब्द गुप्त अंगों को ढकने के लिए प्रयुक्त होने वाले वस्त्रों के लिए आए हैं।

अवग्रहानन्तक लंगोट या कौपीन के लिए तथा अवग्रहपट्टक कौपीन के ऊपर के आच्छादक के लिए प्रयुक्त हुआ है।

सामान्यतः ये वस्त्र या आच्छादक साध्वियों के लिए प्रयुक्त होते हैं क्योंकि मासिक ऋतुस्राव आदि के समय अन्य ऊपरी वस्त्र रक्तंजित न हों, तदर्थ यह व्यवस्था दी गई है किन्तु विशेष परिस्थितियों में साधु भी इन्हें उपयोग में ले सकते हैं।

भाष्यकार ने इस संदर्भ में उल्लेख किया है कि साधु को अर्श, भगन्दर आदि रोग हो जाए तो अन्य वस्त्रों को अस्वच्छ होने से बचाने के लिए इनका प्रयोग विहित है।

इस प्रकार भाष्यकार ने इस सूत्र के भाष्य में साध्वियों के लिए २५ प्रकार की उपधि रखने तथा अन्य ध्यातव्य तथ्यों का विस्तार से विवेचन किया है, जो जिज्ञासु एवं अनुसंधित्सुजनों के लिए बृहत्कल्प भाष्य से ज्ञातव्य है।

साध्वी को बिना आज्ञा वस्त्र-ग्रहण-निषेध

णिगगंथीए य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए चेलट्टे समुप्पज्जेज्जा, णो से कप्पइ अप्पणो णीसाए चेलं पडिगाहित्तए; कप्पइ से पवत्तिणीणीसाए चेलं पडिगाहित्तए णो से तत्थ पवत्तिणी सामाणा सिया, जे तत्थ सामाणे आयरिए वा उवज्झाए वा पवित्ती वा थैरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेइए वा जं चण्णं पुरओ कट्टु विहरइ, कप्पइ से तण्णीसाए चेलं पडिगाहित्तए ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - पिण्डवायपडियाए - पिण्डवातप्रतिज्ञया - आहार प्राप्त करने की इच्छा से, अणुप्पविट्ठाए - अनुप्रविष्ट हुई, चेलट्टे - वस्त्र ग्रहण का प्रयोजन, समुप्पज्जेज्जा-समुत्पन्न हो, तण्णीसाए - उनकी निश्रा से।

भावार्थ - १२. गाथापति कुल - गृहस्थ के घर में आहार की इच्छा से प्रविष्ट हुई साध्वी के समक्ष यदि वस्त्रग्रहण का प्रसंग उपस्थित हो (कोई वस्त्र ग्रहण की याचना करे) तो (साध्वी को) अपनी निश्रा से - स्वायत्ततापूर्वक वस्त्र ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

(वरन्) प्रवर्त्तिनी की निश्रा से उसे वस्त्र ग्रहण करना कल्पता है।

यदि वहाँ प्रवर्त्तिनी नहीं हो तो जो आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी, गणधर अथवा गणावच्छेदक हो अथवा अन्य जिस किसी के सान्निध्य (प्रमुखता) में विचरण कर रही हो, उनकी निश्रा से वस्त्रग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन - प्रथम उद्देशक के सूत्र ४०, ४१ में इस विषय में पूर्व में विस्तार से चर्चा आई है। वहाँ भी साध्वियों को 'साकारकृत' वस्त्र लेना कल्पनीय कहा है। यह उसी सूत्र का और स्पष्टीकरण मात्र है।

सूत्र में प्रयुक्त आचार्य, उपाध्याय, गणी आदि शब्द नेतृत्व प्रधान हैं तथा अपने आप में विशिष्ट अर्थों के द्योतक हैं, यथा -

१. आचार्य -

आचिनोति च शास्त्रार्थम्, आचारे स्थापयत्यपि।

स्वयमाचरते यस्मात्, आचार्यस्तेन कथ्यते ॥

अर्थात् - जो शास्त्रों के अर्थ का आचयन - संचयन - संग्रहण करते हैं, स्वयं आचार्य का पालन करते हैं, दूसरों - शिष्यों को आचार में स्थापित करते हैं, उन्हें आचार्य कहा जाता है।

आचार्य आठ संपदाओं से युक्त होते हैं, साधु-संघ के स्वामी होते हैं तथा संघ के अनुग्रह-निग्रह, सारण-वारण और धारण में कुशल होते हैं। आचार्य शिष्यों को अर्थ की वाचना देते हैं।

२. उपाध्याय - ये श्रमणों को सूत्र वाचना देते हैं। भगवती सूत्र में कहा गया है -

वारसंगो जिणक्खाओ, सज्झाओ कहिओ बुहे।

ते उवइसीति जम्हा, उवज्झाया तेण वुच्चंति ॥

अर्थात् - जिन प्रतिपादित द्वादशांग रूप स्वाध्याय - सूत्र वाङ्मय, जो ज्ञानियों द्वारा कथित, वर्णित एवं संग्रहित किया गया है, का जो उपदेश करते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।

इस प्रकार पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाए रखने में उपाध्याय की महती भूमिका होती है।

३. प्रवर्तक - ये साधुओं की योग्यता एवं रुचि देखकर तदनुसार उन्हें सेवा-सुश्रूषा, अध्ययन-अध्यापन, तप, साधना इत्यादि कार्यों में आचार्य की आज्ञा से नियुक्त करते हैं। बड़े संघ की व्यवस्था में ये स्तंभ का कार्य करते हैं।

४. स्थगिर - यह मुख्यतः वृद्ध साधु या साध्वी के लिए प्रयुक्त होने वाला विशेषण है। दीर्घकालीन तप, संयम और साधना के परिणामस्वरूप ये अत्यंत अनुभवी होते हैं। नवदीक्षित साधु-साध्वियों या अन्य विचलित होने वाले त्यागियों को ये संयम पथ पर आरूढ करते हैं। उन्हें विचलित देखकर अपने अनुभव से वस्तुतत्त्व एवं सत्य का साक्षात्कार करवाते हैं।

५. गणी - साधुओं के कुछ सिंघाड़ों (सिंघाटकों) का स्वामी गणी कहा जाता है। एक आचार्य की आज्ञा में अनेक गणी होते हैं। वृहद् संघ के साधु-साध्वी जब दूरवर्ती क्षेत्रों में विचारण करते हैं तब गणी ही आचार्य की आज्ञा एवं शास्त्रमर्यादानुसार आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वियों की व्यवस्था एवं देखरेख करते हैं।

६. गणधर - कुछ साधुओं के मुखिया या प्रमुख को गणधर कहा जाता है।

II. गणावच्छेदक - ये अनुभवी साधक या वृद्ध साधु होते हैं। इनका कार्य साधु-साध्वियों के भक्तपान, औषधोपचार, प्रायश्चित्त आदि की व्यवस्था करना है।

इस प्रकार उपरोक्त सभी पद अधिकारों की अपेक्षा से अवरोही क्रम में हैं। साध्वी को इनमें से जो भी उपलब्ध हो, उनकी निश्रा से वस्त्र आदि लेना कल्पता है।

दीक्षा के समय ग्रहण करने योग्य उपधि

णिगंथस्स तप्पढमयाए संपव्वयमाणस्स कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए तिहिं कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, से य पुव्वोवट्टुविए सिया, एवं से णो कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए तिहिं य कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए; कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ॥ १३ ॥

णिगंथीए णं तप्पढमयाए संपव्वयमाणीए कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए चउहिं य कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए, सा य पुव्वोवट्टुविया सिया, एवं से णो कप्पइ रयहरणगोच्छगपडिग्गहमायाए चउहिं य कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए संपव्वइत्तए; कप्पइ से अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं गहाय आयाए संपव्वइत्तए ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - तप्पढमयाए - तत्प्रथमतया - साधु धर्म में प्रथमतः, संपव्वयमाणस्स-संप्रव्रजित होने पर, गोच्छग - प्रमार्जनीका, पुव्वोवट्टुविए - पूर्व उपस्थित - पूर्व में दीक्षित, अहापरिग्गहिएहिं - यथापरिगृहीत - पूर्व में स्वीकार।

भावार्थ - १३. (गृहस्थाश्रम से) सर्वप्रथम दीक्षित होने वाले निर्ग्रन्थ (दीक्षार्थी) को रजोहरण, गोच्छक - प्रमार्जनी, पात्र तथा तीन संपूर्ण (अखण्ड) वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पूर्व में दीक्षित हो चुका है तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा तीन अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं कल्पता है।

(अपितु) पूर्व गृहीत वस्त्रों (पात्र, रजोहरण आदि) को लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

१४. गृह त्याग कर सर्वप्रथम दीक्षित होने वाली निर्ग्रन्थिनी को रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा चार संपूर्ण (अखण्ड) वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

यदि वह पूर्व में दीक्षित हो चुकी है तो उसे रजोहरण, गोच्छक, पात्र तथा चार अखण्ड वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना नहीं कल्पता है।

(अपितु) पूर्व गृहीत वस्त्रों (पात्र, रजोहरण आदि) को लेकर प्रव्रजित होना कल्पता है।

विवेचन - एक हाथ चौड़े और चौबीस हाथ लम्बे थान को कृत्स्न वस्त्र माना जाता है। रजोहरण आदि उपकरणों में प्रयुक्त वस्त्र को मिलाकर कुल बहत्तर हाथ लम्बा हो जाता है। मच्छरदानी के एवं पुस्तकों को बांधने आदि के वस्त्र बहत्तर हाथ में नहीं गिने जाते हैं।

इस प्रकार नवदीक्षित साधुओं के लिए तीन थान तथा नवदीक्षित साध्वियों के लिए उपर्युक्त माप के चार थान गृहीत करने का विधान है।

यदि किसी कारण से दीक्षा छेद आदि का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो पूर्व गृहीत वस्त्र, पात्र, रजोहरण आदि ही पुनः प्रयुक्त किए जा सकते हैं। क्योंकि इन भौतिक पदार्थों के परिवर्तन या नवीनीकरण का कोई महत्त्व नहीं है।

सर्वप्रथम दीक्षित होने वाले साधु-साध्वी को ये उपकरण उनके सगे-संबंधियों एवं माता-पिता द्वारा प्रदान किए जाते हैं।

प्रथम समवसरण में वस्त्र ग्रहण निषेध एवं द्वितीय में विधान

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पढमसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहित्तए, कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा दोच्चसमोसरणुद्देसपत्ताइं चेलाइं पडिगाहित्तए ॥ १५ ॥

कठिन शब्दार्थ - उद्देसपत्ताइं - उद्देशप्राप्तानि - क्षेत्र, काल विभाग के अनुसार प्राप्त करना, चेलाइं - वस्त्रों को।

भावार्थ - १५. साधु-साध्वियों को प्रथम समवसरण के क्षेत्र (जहाँ चातुर्मास हो) एवं काल (चार महीने) में वस्त्र ग्रहण करना नहीं कल्पता है।

(वरन्) साधु-साध्वियों को द्वितीय समवसरण (के क्षेत्र एवं काल) में वस्त्र ग्रहण कल्पता है।

विवेचन - 'सम' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'सृ' धातु से समवसरण शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ-भलीभाँति आगमन, पदार्पण या अवस्थान है।

साधु-साध्वा चातुर्मास हेतु किसी योग्य स्थान पर आकर भलीभाँति अवस्थित होते हैं, उसे प्रथम समवसरण कहते हैं। मार्गशीर्ष कृष्ण प्रतिपदा से लेकर आषाढ शुक्ल पूर्णिमा पर्यन्त आठ मास तक का समय द्वितीय समवसरण (ऋत बद्धकाल) कहा जाता है।

जिस स्थान विशेष पर साधु-साध्वी चातुर्मास करते हैं, उस स्थान पर आने के पश्चात् संपूर्ण चातुर्मास काल में गृहस्थों से वस्त्र लेना नहीं कल्पता। वस्त्र के उपलक्षण से धागा, फीता, रूई, वस्त्र की पट्टी (बेन्डेज) आदि भी लेना कल्पनीय नहीं गिना जाता है। डायरी या पुस्तक को सीने में प्रयुक्त धागा तथा पुट्टे आदि पर चिपकाया हुआ वस्त्र का अंश हो तो उसे अकल्पनीय नहीं समझा जाता है।

परन्तु द्वितीय समवसरण में आवश्यकतानुसार वस्त्र लेना शास्त्रानुमोदित है।

दीक्षा पर्याय के ज्येष्ठत्व के अनुक्रम से वस्त्र लेने का विधान

कप्यइ णिगंगंथाण वा णिगंगंथीण वा अहाराइणियाए चेलाइं पडिगाहित्तए ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहाराइणियाए - यथारत्नाधिक - दीक्षाज्येष्ठ क्रम।

भावार्थ - १६. साधु-साध्वियों को दीक्षापर्याय के ज्येष्ठत्व के अनुसार वस्त्र ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन - यहाँ प्रयुक्त रत्नाधिक शब्द अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। संयम वह रत्न है, जिसकी उज्वलता एवं चमक बढ़ाने हेतु साधु-साध्वी यावज्जीवन प्रतिबद्ध एवं उद्यत रहते हैं।

जो दीक्षा में ज्येष्ठ हो उसे दीक्षाज्येष्ठ या रत्नाधिक कहते हैं। अतः उपस्थित साधु-साध्वियों में जिन-जिनका दीक्षा पर्याय अधिक हो, उन्हें क्रमशः अवरोही क्रम से वस्त्र, पात्र आदि देना कल्पता है। इस प्रकार अधिक से न्यून की ओर उपधि स्वीकार करना कल्पता है।

क्रम-व्यवच्छेद या व्युत्क्रम करने वाले साधु-साध्वियों के लिए भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का विधान किया है। क्योंकि जिनका संयम पर्याय अधिक है, वे कम संयम पर्याय वाले साधु-साध्वियों के लिए निश्चय ही वंदनीय एवं सत्करणीय हैं। अतः यह उनके प्रति एक प्रकार से सम्मान का सूचक है। अतः उनका अविनय, आशातना न हो, तदर्थ यह व्यवस्था दी गई है।

शय्या-संस्तारक-ग्रहण का विधान

कप्यइ णिगंगंथाण वा णिगंगंथीण वा अहाराइणियाए सेज्जासंथारयं पडिगाहित्तए ॥ १७ ॥

भावार्थ - १७. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को दीक्षापर्याय ज्येष्ठत्व के अनुक्रम से शय्या संस्तारक ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन - 'शय्या' शब्द आश्रय के लिए प्रयुक्त होता है। अर्थात् साधु-साध्वियों के लिए अनुकूल उपाश्रय 'शय्या' कहलाता है। बैठने योग्य पाट आदि तथा सोने के लिए घास, डाभ आदि का संस्तरण संस्तारक कहलाता है।

शय्या-संस्तारक-ग्रहण का क्रम भी पूर्व सूत्रानुसार यहाँ भी जानना चाहिए।

निर्युक्तिकार और भाष्यकार ने निम्नांकित (अवरोही) क्रम से शय्या-संस्तारक ग्रहण करने का विधान किया है -

सर्वप्रथम आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक तदनंतर ज्ञानादि प्राप्ति हेतु अन्य गण से आए हुए अतिथि साधु, ग्लान साधु, अल्प उपधि (वस्त्र) रखने वाले साधु, कर्मक्षयार्थ उद्यत साधु, रातभर वस्त्र न ओढने के अभिग्रह से युक्त साधु, स्थविर, गणी, गणधर, गणावच्छेदक तथा इनके पश्चात् अन्य साधुओं को दीक्षापर्याय क्रम से शय्या-संस्तारक-ग्रहण करना कल्पता है।

यहाँ विशेष रूप से बतलाया गया है कि नवदीक्षित साधु को रत्नाधिक के पास सुलाना चाहिए जिससे वह उसकी समुचित सार-संभाल कर सके।

इसी प्रकार ग्लान (रोगी) साधु के पास उसके अनुकूल वैयावृत्य करने वाले साधु को स्थान देना चाहिए, जिससे उसकी यथायोग्य सेवा, परिचर्या हो सके।

इसी प्रकार शैक्ष (शास्त्राभ्यासी साधु) को उपाध्याय के समीप स्थान देना चाहिए, जिससे वह जागरणकाल में स्वाध्याय आदि सुना सके, विस्मृत होने पर परिवर्तन-सुधार कर सके।

कृतिकर्म का विधान

कण्डि णिगंधाण वा णिगंधीण वा अहाराइणियाए किइकम्मं करेत्ताए ॥ १८ ॥

भावार्थ - १८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को दीक्षापर्याय ज्येष्ठत्व के क्रम से कृतिकर्म - वंदन करना कल्पता है।

विवेचन - "कृतिकर्म" का तात्पर्य वंदन व्यवहार से है। आचार्य, उपाध्याय एवं अन्यान्य रत्नाधिकों के प्रति दीक्षापर्याय के क्रम से प्रातः, सायंकाल प्रतिक्रमण आदि प्रारंभ करने से पूर्व साधु-साध्वियों को वंदन करना आवश्यक होता है।

‘कृतिकर्म’ अभ्युत्थान और वन्दनक के रूप में दो प्रकार का होता है।

आचार्य, उपाध्याय एवं रत्नाधिकों के गमनागमन के समय उनके सम्मान में उठना - अभ्युत्थित होना “अभ्युत्थान कृतिकर्म” है।

प्रातः, सायं प्रतिक्रमण आदि के समय तथा शंका समाधान आदि के प्रसंग में दोनों हाथ जोड़कर, उन्हें अंजलिबद्ध करते हुए, मस्तक के चारों ओर घुमाते हुए चरणों में सिर झुकाकर विधिवत् प्रणाम करना, “वन्दनक कृतिकर्म” है।

हाथों को घुमाने का तात्पर्य यह है कि जहाँ-जहाँ भी, जिस-जिस दिशा में जो पंचपरमेष्ठी हैं, उन्हें मैं वन्दन करता हूँ।

इस प्रकार भाष्यकार ने इस संदर्भ में विशद व्याख्या करते हुए कृतिकर्म के ३२ दोषों का उल्लेख किया है। कृतिकर्म करते समय इनका ध्यान रखना अत्यावश्यक है अन्यथा वह (दोषी) प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

गृहस्थ के घर में ठहरने का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए वा णिसीइत्तए वा तुयट्ठित्तए वा णिद्वाइत्तए वा पयलाइत्तए वा, असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारमाहारित्तए, उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए, सज्झायं वा करेत्तए, झाणं वा झाइत्तए, काउस्सगं वा ठाणं वा ठाइत्तए, अह पुण एवं जाणेज्जा-वाहिए जराजुणो तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छेज्ज वा पवडेज्ज वा, एवं से कप्पइ अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव ठाणं वा ठाइत्तए ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - वाहिए - व्याधिग्रस्त, जराजुणो - जरा जर्जरित - वृद्ध, किलंते-क्लान्त - थका-मांदा, पवडेज्ज - प्रपतेत् - गिर पड़े, अंतरगिहंसि - गृहस्थ के घर में।

भावार्थ - १९. साधु-साध्वियों को गृहस्थ के घर में खड़े होना (ठहरना), बैठना, लेटना या पार्श्व परिवर्तन करना, निद्रा लेना, ऊंघना, अशन-पान आदि चतुर्विध आहार स्वीकार करना, मल-मूत्र-श्लेष्मादि परिष्ठापित करना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना तथा कायोत्सर्ग कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

यहाँ पुनश्च ज्ञातव्य है - व्याधिग्रस्त, वृद्ध, तपस्वी, दुर्बल, क्लान्त तथा मूर्च्छा आदि में गिर पड़ने की स्थिति में साधु को गृहस्थ के निवास में खड़े रहना यावत् स्थित होना कल्पता है।

विवेचन - उपरोक्त सूत्र में साधु के लिए जो अकल्पनीय स्थितियाँ बतलाई गई हैं, वे सभी उत्सर्ग मार्ग के अन्तर्गत हैं। यथासंभव साधु-साध्वियों को ऊपर बतलाई गई सभी स्थितियों से बचना चाहिए क्योंकि इससे उनके उज्वल, धवल, निर्मल, चारित्र पर आंच आ सकती है, निरर्थक शंका पैदा होने का भय रहता है।

इतना अवश्य है - अपवाद रूप में गृहस्थ के यहाँ ठहरना कल्पनीय कहा है, जिसके हेतु ऊपर निर्दिष्ट किए गए हैं।

भाष्यकार ने और भी अनेक हेतु प्रतिपादित किए हैं, जिनके उत्पन्न होने पर साधु-साध्वी का ठहरना शास्त्रानुमोदित होता है, जैसे - औषधि आदि लेने के लिए, अचानक वर्षा होने पर या किसी कारणवश (बारात या राजा की सवारी आदि) जनसमूह के आधिक्य के समय साधु-साध्वी कुछ समय के लिए गृहस्थ के आश्रय में मर्यादापूर्वक ठहर सकते हैं।

गृहस्थ के यहाँ मर्यादित वार्ता का विधान

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अंतरिगिहंसि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा विभावेत्तए वा किट्टित्तए वा पवेइत्तए वा, णण्णत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा एगगाहाए वा एगसिलोएण वा, से वि य ठिच्चा, णो चेव णं अठिच्चा ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - आइक्खित्तए - आख्यान या मूल रूप में कथन करना, विभावेत्तए-चिन्तन प्रस्तुत करना - व्याख्या करना, किट्टित्तए - गीत की तरह उच्चारित करना, पवेइत्तए - (प्रवेदयितुं)-विशेष रूप से ज्ञापित करना, एगणाएण - एक उदाहरण द्वारा, एगवागरणेण - एक प्रश्न का उत्तर देना, एगसिलोएण - एक श्लोक में, ठिच्चा - खड़े रहकर, अठिच्चा - बैठकर (अस्थित्वा)।

भावार्थ - २०. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को गृहस्थ के घर में यावत् चार या पाँच गाथाओं का मूल रूप में कथन करना, उन पर चिन्तन-विमर्श प्रस्तुत करना, गीत की तरह उच्चारित करना तथा (उनका फल आदि बतलाते हुए) विशेष रूप से ज्ञापित करना नहीं कल्पता है।

(अति आवश्यक होने पर) केवल एक उदाहरण, एक प्रश्न का उत्तर, एक गाथा या एक श्लोक में आशय स्पष्ट करना कल्पता है।

यह भी खड़े-खड़े ही, बैठकर नहीं।

विवेचन - धर्म श्रवण एवं शंका समाधान हेतु श्रावक-श्राविकाओं के लिए उपाश्रय का स्थान निश्चित किया गया है। इसके अलावा प्रवचन आदि में भी साधु-साध्वी विविध तथ्यों का विस्तार से उद्घाटन, ज्ञापन एवं वर्णन करते हैं।

अतः गोचरी हेतु गए हुए साधु-साध्वी के लिए गृहस्थ के घर धर्म विषयक चर्चा आदि का निषेध किया गया है क्योंकि साधु जिस कार्य के निमित्त आचार्य की आज्ञा से उपाश्रय से बाहर निर्गत हुआ है, उसे वही कार्य करना कल्पता है।

इसके अलावा असमय एवं अनुचित स्थान पर की गई चर्चा भी अशोभनीय होती है। इसके अलावा यदि यह धर्मविषयक व्याख्या प्रश्नोत्तरों के माध्यम से लम्बी खिंच जाय तो स्वयं द्वारा समय विशेष पर करणीय कार्यों में तो विलम्ब होता ही है, अन्य भी इससे बाधित एवं प्रभावित होते हैं।

इसके अलावा गोचरी समय में साधु का गृहस्थ के यहाँ अधिक ठहरना भी विभिन्न शंकाओं को जन्म देता है।

अतः साधु को संक्षेप में ही धर्म तत्त्व का आख्यान कर, पूर्व निर्धारित कार्य करने चाहिए।

गृहस्थ के यहाँ मर्यादित धर्मकथा का विधान

णो कप्यइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अंतरगिहंसि इमाइं पंचमहव्वयाइं सभावणाइं आइक्खित्तए वा जाव पवेइत्तए वा, णणत्थ एगणाएण वा जाव एगसिलोएण वा, से वि य ठिच्चा, णो चेव णं अठिच्चा ॥ २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - महव्वयाइं - महाव्रतों का, सभावणाइं - भावना सहित।

भावार्थ - २१. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को गृहस्थ के घर में पाँच महाव्रतों को भावना सहित आख्यात करना - कहना यावत् सम्यक् रूप में प्रतिपादित करना नहीं कल्पता है।

(आवश्यक होने पर) केवल एक उदाहरण यावत् एक श्लोक में - संक्षेप में वर्णित करे तथा वह भी खड़े रहकर कहना कल्पता है न कि उस स्थान पर बैठकर।

विवेचन - पूर्व सूत्र में आया विवेचन यहाँ भी ग्राह्य है। क्योंकि किसी भी प्रकार के धर्मतत्त्व का विवेचन, विश्लेषण, आख्यान एवं प्रतिपादन गृहस्थ के घर में करना अकल्पनीय होता है।

प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक को व्यवस्थित लौटाने का विधान

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पडिहारियं सेज्जासंथारयं आयाए अपडिहट्टु संपव्वइत्तए ॥ २२ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सागारियसंतियं सेज्जासंथारयं आयाए अविकरणं कट्टु संपव्वइत्तए ॥ २३ ॥

कठिन शब्दार्थ - आयाए - आदाय - लेकर, अपडिहट्टु - अप्रतिहृत्य - पुनः देकर (वापस लौटाकर), संपव्वइत्तए - चले जाना - ग्रामान्तर गमन करना, सागारियसंतियं - सागारिक से संबंधित (सागारिक के स्वामित्व से युक्त), अविकरणं - अव्यवस्थित रूप में - जिस स्थान से जिस वस्तु को लिया उसी स्थान पर उस वस्तु को स्थापित न करना, विकरणं - यथास्थान स्थापित करना।

भावार्थ - २२. साधु-साध्वियों द्वारा (गृहस्वामी से) प्रातिहारिक रूप में लिए गए शय्या-संस्तारक को पुनः लौटाए बिना विहार करना - दूसरे स्थान में गमन करना नहीं कल्पता है।

२३. साधु-साध्वियों को सागारिक के स्वामित्व से युक्त प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक को अविकरण रूप में लौटाना नहीं कल्पता।

साधु-साध्वियों को सागारिक के स्वामित्व से युक्त प्रातिहारिक शय्या-संस्तारक को 'विकरण' रूप में लौटाना कल्पता है।

विवेचन - शरीर के प्रमाण जितने डाभ, घास-फूस आदि के आसन शय्या कहलाते हैं। ढाई हाथ प्रमाण युक्त पांड, फलक आदि को संस्तारक कहते हैं। ये 'प्रातिहारिक' - पुनः लौटाने का कहकर लाए गए होते हैं। अतः साधु-साध्वी जब किसी स्थान विशेष पर कुछ समयावधि या चातुर्मास आदि हेतु ठहरते हैं तो ये सागारिक के यहाँ से आवश्यकतानुसार शय्या-संस्तारक ग्रहण कर सकते हैं।

जब वे उस स्थान को छोड़कर अन्य स्थान की ओर गमन करते हैं तब उसे अविकरित लौटाना नहीं कल्पता वरन् विकरित रूप में लौटाना कल्पता है।

भाष्यकार ने 'विकरणम्' शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है - 'विकरणं नाम यथारूपेण यत्स्थानाद्वा आनीतं तथारूपेण तत्रैव स्थाने स्थापनम्, तस्य

करणम् - विकरणम् - जिस रूप में, जिस स्थान से जो वस्तु लाई गई है, उस वस्तु को उसी स्थान पर, उसी रूप में पुनः स्थापित करना 'विकरणम्' कहलाता है। ऐसा न करना 'अविकरणम्' संज्ञा से अभिहित हुआ है।

इस प्रकार शय्यातर के स्थान से लाई गई वस्तु को पुनः न लौटाने से साधु प्रायश्चित्त का भागी तो होता ही है, भविष्य में भी उसे शय्या-संस्तारक प्राप्त करने में असुविधा होती है तथा तृतीय महाव्रत में भी दूषण लगता है।

प्रातिहारिक वस्तु को अच्छी तरह स्वच्छ करके, जीव आदि होने की आशंका होने पर धूप में आतापित करके पुनः लौटाना चाहिए।

यदि पीठफलक आदि कहीं से टूट-फूट गए हों तो शय्यादाता को उसकी विवेकपूर्वक सूचना देनी चाहिए।

शय्या-संस्तारक खो जाने पर अन्वेषण का विधान

इह खलु णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पडिहारिए वा सागारियसंतिए वा सेज्जासंथारए विप्पणसिज्जा से य अणुगवेसियव्वे सिया; से य अणुगवेसमाणे लभेज्जा, तस्सेव पडिदायव्वे सिया; से य अणुगवेसमाणे णो लभेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चं पि उग्गहं अणुणवित्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - विप्पणसिज्जा - (चोरादि द्वारा) अपहृत हो जाए, अणुगवेसियव्वे-गवेषणा - खोज करनी चाहिए, लभेज्जा - प्राप्त हो जाए, पडिदायव्वे - लौटा देनी चाहिए, अणुणवित्ता - आज्ञा लेकर।

भावार्थ - २४. साधु-साध्वियों द्वारा प्रातिहारिक रूप में प्राप्त या सागारिक के स्वामित्व से युक्त (जो वस्तु उपाश्रय में लाई गई है) अथवा शय्या-संस्तारक यदि (चोरादि द्वारा) अपहृत हो जाए तो उसका अन्वेषण, गवेषण करना चाहिए।

यदि अन्वेषण करने पर प्राप्त हो जाए तो उसी (शय्यातर) को देना चाहिए।

अन्वेषण करने पर यदि (कदाचित्) प्राप्त न हो तो दुबारा (शय्यातर को) आज्ञा लेकर प्रातिहारिक (शय्या-संस्तारक आदि) ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन - साधु-साध्वियों द्वारा प्रातिहारिक रूप में गृहीत शय्या, संस्तारक, पाट,

काष्ठफलक आदि रक्षणीय होते हैं। हालांकि ये बहुमूल्य तो नहीं होते तथापि उन्हें वापस लौटाने का कहकर लाए जाते हैं। अतः शय्यातर को वापस लौटाने आवश्यक होते हैं।

चोरादि द्वारा अपहृत या चोरे जाने के भय से उनकी सुरक्षा आवश्यक होती है। अतः किसी कारणवश उपाश्रय से बाहर जाना पड़े तो साधु को चाहिए कि वह वहाँ किसी को नियुक्त करके जाए।

तप एवं संयममूलक साधना में निरत साधु की जीवनचर्या में ऐसा प्रसंग भी बन सकता है कि वह दत्तचित्त हो जाए, ध्यानस्थ हो जाए तब उस स्थिति में उसके उपाश्रय में रहते हुए भी प्रातिहारिक वस्तु को कोई चुरा कर ले जा सकता है। अतः यदि ऐसा प्रसंग उपस्थिति हो तो साधु-साध्वियों को प्रातिहारिक वस्तु की गवेषणा करना कल्पता है।

यदि कोई बलवान व्यक्ति वस्तु को अपने अधिकार में कर लेवे तो धर्मवाक्य एवं नीतिन्यायपूर्ण वचनों से उसे प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए।

यदि साधु फिर भी उस वस्तु को प्राप्त नहीं कर सके तो शय्यातर को इसकी विधिवत् सूचना देनी चाहिए। यदि शय्यातर किसी विधि से उस वस्तु को पुनः प्राप्त कर लेता है तो साधु के लिए उसकी प्रातिहारिक रूप में पुनः याचना कल्पनीय है।

अतः यदि साधु-साध्वी खोई हुई वस्तु का विवेकपूर्वक मार्गण-गवेषण (खोजबीन) नहीं करते हैं तो प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

भाष्यकार ने यहाँ विशेष रूप से ज्ञापित किया है कि शय्यातर यदि वहाँ से अन्यत्र चला जाए, राजा द्वारा राज्य से निकाल दिया जाय, कालधर्म को प्राप्त हो जाए अथवा साधु वृद्धावस्था एवं रुग्णावस्था आदि अपरिहार्य कारणों से मार्गण, गवेषण करने में असमर्थ हो तो उस स्थिति में वह प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता है।

पूर्वाज्ञा का विधान

जद्विवसं समणा णिग्गंथा सेज्जासंथारयं विप्पजहंति, तद्विवसं च णं अवेरे समणा णिग्गंथा हव्वमागच्छेज्जा; सच्चवेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिड्डइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ २५ ॥

अत्थि या इत्थ केइ उवस्सयपरियावण्णए अचित्ते परिहरणारिहे, सच्चवेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिड्डइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ २६ ॥

कठिन शब्दार्थ - विष्णुजहंति - छोड़कर जाते हैं, **तद्विवसं -** उसी दिन, **अवरे -** अपर - दूसरे, **हव्वमागच्छेज्जा -** शीघ्र आ जाएं, **पुव्वाणुण्णवणा -** पूर्व आज्ञा, **उवस्सयपरियावण्णा -** उपाश्रय में स्थित वस्त्र, पात्रादि उपकरण, **परिहरणारिहे -** साधुओं के उपभोग योग्य।

भावार्थ - २५. जिस दिन श्रमण निर्ग्रन्थ शय्या-संस्तारक छोड़ कर विहार कर रहे हों, उसी समय दूसरे श्रमण निर्ग्रन्थ आ जावें तो उन्हीं अवग्रहों - शय्या-संस्तारक आदि को पूर्व अनुज्ञा के अनुसार वे (श्रमण निर्ग्रन्थ) मर्यादित काल तक स्वीकार कर सकते हैं।

२६. यदि कोई उपाश्रयपर्यापन्न - उपाश्रय में पात्र आदि अचित्त उपकरण हों तो उनका भी पूर्व गृहीत आज्ञा के अनुसार मर्यादित काल तक उपभोग किया जा सकता है।

विवेचन - जैसा कि पूर्व में विवेचन हुआ है, साधु-साध्वियों को स्थान, शय्या-संस्तारक, पीठफलक आदि अवग्रहों का शय्यातर की आज्ञा से ही उपभोग करना कल्पता है। यदि किसी स्थान विशेष में विशेष समयावधि या चातुर्मास पर्यन्त साधु-साध्वी शय्यातर की आज्ञा से रह रहे हों और जिस दिन वे छोड़कर जाने को उद्यत हों, उसी दिन आज्ञा लौटाने के पूर्व अन्य साधु-साध्वी वहाँ आ जाएँ तो उन्हें श्रमणोपासक से पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं होती।

इधर साधु-साध्वी उपाश्रय छोड़ रहे हो, उनको जितने दिन के लिए मकान मालिक ने आज्ञा दी है वे दिन पूरे हो गए हों और इधर नए साधु-साध्वी पधार जाय, तब मकान मालिक उपस्थित नहीं हो वो भी उस दिन (आठ प्रहर) तक उसी पूर्व आज्ञा से रहना कल्पता है। नियत काल से आगे आठ प्रहर रहने तक यही अवग्रह चलता है। उसमें अदत्त नहीं लगता है। यह सूत्र का आशय है। जिस प्रकार चातुर्मास के लिए याचना किए हुए मकान में बाद में भी दस दिन तक रह जाने में अदत्त नहीं लगता है। इसी प्रकार मकान छोड़ते समय नए साधु आ जाए तो आठ प्रहर तक उसी आज्ञा में रह सकते हैं। आठ प्रहर में नए आने वाले साधुओं को 'पहले का संघाड़ा विहार कर गया है' इसकी सूचना मकान मालिक को देकर अपने रहने की आज्ञा प्राप्त कर लेनी चाहिए। ऐसा अर्थ करने की धारणा है। भाष्यकार तो छोड़ने के बाद भी ८ प्रहर तक अनुबंध रहने से नए आए हुए साधु उतर सकते हैं। ऐसा अर्थ करते हैं। इस कारण से ही छोड़ने के बाद भी ८ प्रहर तक उसकी शय्यातरता रहती है। किंतु धारणा तो उपर्युक्त प्रकार की ही है। पूर्व साधुओं के चले जाने के

बाद बिना आज्ञा से उतरना अटपटा सा लगता है। धारणानुसार अर्थ करने में कोई अनुचित नहीं लगता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वगृहीत आज्ञानुसार उस स्थान तथा तद्वर्ती अचित्त उपकरणों का साधु-साध्वी 'यथालन्दकाल' तक उपयोग कर सकते हैं। 'यथालन्दकाल' का तात्पर्य चातुर्मास में चार महीनों से तथा अन्य स्थितियों में शास्त्रमर्यादानुसार है।

यदि आश्रयदाता ने साधु संख्या एवं आवास के सीमांकन के साथ आज्ञा दी हो और तदनन्तर साधु अधिक आ जाए एवं स्थान भी अधिक वांछनीय हो तो पुनः आज्ञा लेना कल्पता है। इसके अलावा यदि पूर्व साधुओं ने श्रमणोपासक को मकान संभला दिया हो और उसके पश्चात् यदि निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनी आए तो उन्हें पुनः आज्ञा लेना कल्पता है।

उपाश्रयवर्ती अवग्रहों (पदार्थों) के उपयोग में भी सूत्रकार ने केवल अचित्त उपकरणों या वस्तुओं (शिला लोढ़ी, खरल आदि) के उपभोग को ही कल्पनीय कहा है।

स्वामी रहित आवास में आज्ञा का विधान

से वत्थुसु अवावडेसु अब्बोगडेसु अपरपरिग्गहिएसु अमरपरिग्गहिएसु सच्चवेव उग्गहस्स पुव्वाणुणवणा चिदुइ अहालंदमवि उग्गहे ॥ २७ ॥

से वत्थुसु वावडेसु वोगडेसु परपरिग्गहिएसु भिक्खुभावस्स अट्टाए दोच्चं पि उग्गहे अणुणवेयव्वे सिया अहालंदमवि उग्गहे ॥ २८ ॥

भावार्थ - २७. अव्यापृत, अव्याकृत, अपरपरिगृहीत तथा अमरपरिगृहीत आवास में भी पूर्व अनुज्ञापित साधुओं के स्थान पर(पूर्वानुसार)यथालन्दकाल - कल्पनीय काल मर्यादा तक अन्य साधुओं द्वारा प्रवास किया जा सकता है।

२८. यदि वही (पूर्वोक्त) आवास व्यापृत, व्याकृत और अन्यो द्वारा परिगृहीत हो गया हो तो भिक्षु भाव - संयम मर्यादा के लिए जितने समय रहना कल्पनीय हो, उतने समय के लिए पुनः अनुज्ञा लेनी चाहिए।

विवेचन - उपरोक्त सूत्र में आए विशिष्ट शब्दों का निर्वचन(अर्थ - आशय)निम्नांकित रूप में ज्ञातव्य हैं -

१. अव्यापृत - निवास एवं व्यापारादि कार्यों में निषप्रयोज्य जीर्ण-शीर्ण मकान।

२. अत्याकृत - अनेक स्वामियों से युक्त गृह, किन्तु जिसका स्पष्ट विभाग या विभाजन नहीं किया गया हो।

३. अपरपरिगृहीत - गृहस्वामी द्वारा त्यक्त तथा अन्य किसी के भी अधिकार से रहित भवन।

४. अमरपरिगृहीत - व्यन्तर या यक्ष आदि देवों द्वारा गृहीत मकान जिसे गृहस्वामी ने इनकी उपस्थिति के कारण छोड़ दिया हो।

इन स्थानों में भी पूर्व साधुओं द्वारा ली हुई अनुज्ञा के अनुसार (आने वाले नए साधु) उपयोग में ले सकते हैं।

क्योंकि पूर्व वर्णित चारों स्थितियों वाले भवन श्रमणोंपासकों के लिए सामान्यतः नियमित उपयोग में नहीं आते हैं अथवा स्वामित्ववर्जित होते हैं।

यदि ये ही स्थान व्यापृत, व्याकृत और परपरिगृहीत हो जाएं तो मर्यादानुसार पुनः आज्ञा लेना कल्पता है।

मार्ग आदि में पूर्वाज्ञा का विधान

से अणुकुड्डेसु वा अणुभित्तीसु वा अणुचरियासु वा अणुफरिहासु वा अणुपंथेसु वा अणुमेरासु वा सच्चे उगहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिड्डइ अहालंदमवि उगहे ॥ २९ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणुकुड्डेसु - मृत्तिका आदि से निर्मित भित्ति का निकटवर्ती भाग, अणुभित्तीसु - ईट, प्रस्तर आदि से बनी दीवाल के पास का भू भाग, अणुचरियासु - नगर के परकोटे और खाई के बीच का आठ हाथ प्रमाण मार्ग, अणुफरिहासु - नगर के चारों ओर स्थित खाई का निकटवर्ती भाग, अणुपंथेसु - मार्ग का समीपवर्ती स्थान, अणुमेरासु - (अनुमर्यादासु) नगर का समीपवर्ती स्थान।

भावार्थ - २९ अनुकुड्य, अनुभित्ति, अनुचरिका, अनुपरिखा, अनुपथ और अनुमर्यादित स्थानों में भी पूर्वस्थित साधुओं द्वारा ली हुई आज्ञा के अनुसार यथालन्दकाल - शास्त्रमर्यादानुसार प्रवास किया जा सकता है।

विवेचन - दीवाल के पास की भूमि आदि के स्वामित्व के विषय में भाष्यकार ने विशद चर्चा की है। अर्थात् भित्ति आदि के पास की कितनी भूमि का स्वामित्व मकान मालिक का तथा कितनी का राजा (शक्रेन्द्र) आदि का होता है, इत्यादि विवेचन भाष्य में प्राप्त है, जो जिज्ञासुओं के लिए पठनीय है।

सेना के समीपवर्ती क्षेत्र में गोचरी जाने एवं प्रवास का विधान

से गामस्स वा जाव रायहाणीए (संणिवेसंसि) वा बहिया सेण्णं संणिविट्ठं पेहाए कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा तद्धिवसं भिक्खायरियाए गंतुं पडिणियत्तए, णो से कप्पइ तं रयणिं तत्थेव उवाइणावित्तए, जे खलु णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा तं रयणिं तत्थेव उवाइणावेइ उवाइणावेतं वा साइज्जइ, से दुहओ वीइक्कममाणो आवज्जइ चाउम्पासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - पेहाए - दिखाइ देवे, भिक्खायरियाए - भिक्षाचर्या - गोचरी के लिए, पडिणियत्तए - वापस लौटाना, उवाइणावित्तए - बीताना, वहीं रहना।

भावार्थ - ३० यदि ग्राम यावत् राजधानी के बाहर (शत्रु की) सेना का पड़ाव दिखाई दे तो साधु-साध्वियों को (उसकी निकटवर्ती बस्ती में) भिक्षाचर्या हेतु जाकर उसी दिन वापस लौटना कल्पता है।

जो साधु-साध्वी वहाँ रात्रि बीताते हैं अथवा रात्रि व्यतीत करने वाले का अनुमोदन करते हैं, वे दोनों का - जिनाज्ञा और राजाज्ञा का अतिक्रमण करते हैं तथा (वे) चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

विवेचन - आचारांग सूत्र में भी सेना के पड़ाव के निकट से साधु-साध्वियों के लिए गमनागमन का निषेध किया गया है। केवल अपवाद मार्ग के रूप में इसे स्वीकार किया गया है।

अर्थात् अति आवश्यक होने पर ही सेना के पड़ाव के नजदीक से गमनागमन करना चाहिए। इसके अलावा जिन सैन्य-शिविरों में भिक्षाचर्यों आदि को आवागमन की छूट हो, वहाँ भी गोचरी कर उसी दिन वापस लौटना कल्पता है।

यदि गमनागमन निषिद्ध हो तो भिक्षु जिनाज्ञा के साथ-साथ राजाज्ञा उल्लंघन का भी भागी होता है, जिसके प्रायश्चित्त के संदर्भ में भावार्थ में उल्लेख हुआ है।

इसके अलावा भाष्यकार ने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है। जिनके अकस्मात् उत्पन्न हो जाने पर साधु को इस अपवाद मार्ग का सेवन करना पड़े।

अवग्रह क्षेत्र का विधान

से गामंसि वा जाव सणिवेसंसि वा कप्यइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा सव्वओ समंता सकोसं जोयणं उग्गहं ओगिण्हत्ताणं चिट्ठित्तए ॥ ३१ ॥ त्ति वेमि ॥

बिहवकप्ये तइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३ ॥

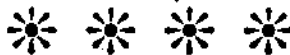
कठिन शब्दार्थ - सकोसं - एक कोस सहित, सव्वओ - सर्वतः - चारों दिशाओं में, ओगिण्हत्ताणं - ग्रहण करना।

भावार्थ - ३१. ग्राम यावत् सन्निवेश में प्रवास करते हुए साधु-साध्वियों का सर्वतः-चारों दिशाओं में कोस सहित एक योजन (सवा योजन) का अवग्रह ग्रहण करना कल्पता है।

विवेचन - चातुर्मास में साधु-साध्वी किसी उपाश्रय या स्थान विशेष में प्रवास करते हैं तो उन्हें गोचरी एवं उच्चार प्रस्रवण आदि हेतु सीमांकन करना होता है। यहाँ जो सवा योजन कहा गया है, वह दो दिशाओं को मिलाकर कहा गया है। जैसे - ढाई कोस पूर्व में जाने पर ढाई कोस ही पश्चिम में गमनागमन किया जा सकता है। इस प्रकार पाँच कोस या सवा योजन का अवग्रह क्षेत्र शास्त्रानुरूप स्वीकृत किया गया है।

यद्यपि गोचरी के लिए भिक्षु को दो कोस तक ही जाना कल्पता है तथापि ढाई कोस कहने का आशय यह है कि दो कोस गोचरी के लिए गये हुए भिक्षु को वहाँ कभी मल-मूत्र की बाधा हो जाये तो बाधा निवारण के लिए वहाँ से वह आधा कोस और आगे जा सकता है। तब कुल अढाई कोस एक दिशा में गमनागमन होता है। पूर्व-पश्चिम या उत्तर-दक्षिण यों दो-दो दिशाओं के क्षेत्र का योग करने पर पाँच कोस अर्थात् सवा योजन का अवग्रह क्षेत्र होता है। उसे ही रून में 'सकोस योजन अवग्रह क्षेत्र' कहा है। इस प्रकार तृतीय उद्देशक समाप्त होता है।

॥ बृहत्कल्प का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



चउत्थो उद्देशओ - चतुर्थ उद्देशक

अनुद्यातिक प्रायश्चित्त के हेतु

तओ अणुग्घाइया पणत्ता, तंजहा - हत्थकम्मं करेमाणे, मेहुणं पडिसेवमाणे, राईभोयणं भुंजमाणे ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणुग्घाइया - विशिष्ट तप से शुद्धि योग्य दोष, हत्थकम्मं - हस्तकर्म, मेहुणं - स्त्री के साथ यौन सम्पर्क।

भावार्थ - १. अनुद्यातिक प्रायश्चित्त के योग्य (निम्नांकित) तीन हेतु हैं -

१. हस्तकर्म - हस्त मैथुन करता हुआ, २. मैथुन प्रतिसेवन करता हुआ तथा ३. रात्रि भोजन करता हुआ (साधु अनुद्यातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है)।

विवेचन - प्रायश्चित्त शब्द का जैन, वैदिक एवं बौद्ध आदि विभिन्न परंपराओं में साधना के संदर्भ में उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि साधक के लिए अपने साध्य को अधिगत करने हेतु अपनी साधना में अविचल रूप में रत रहना चाहिए। किन्तु आखिर वह भी तो मानव ही है। जब विकारोत्पादक हेतु विशेष रूप से सम्मुख उपस्थित होते हैं या अन्तःकरण में उभर आते हैं तो वह कदाचन पदच्युत हो जाता है। पदच्युत होने पर जो संभल पाए वह अधःपतित नहीं होता, पुनः अपने सद्धर्म में संस्थित हो जाता है। जिस प्रकार दैहिक रोग की निवृत्ति के लिए चिकित्सा आवश्यक है, उसी प्रकार आचरित पापपूर्ण प्रवृत्तियों के लिए तपश्चरण द्वारा पापशोधन आवश्यक है।

“तपसा निर्जरा” के अनुसार तपस्या से क्रमों की निर्जरा होती है।

प्रायश्चित्त शब्द कर्म निर्जरात्मक तप के साथ जुड़ा हुआ है। “प्रकर्षेण आयः यस्य स प्रायः” - जीवन में जिसके आने के विशेष, अनेक प्रसंग हों, उसे ‘प्रायः’ कहा जाता है। पुण्य और पाप में सामान्यतः व्यक्ति की प्रवृत्ति पापमूलक अधिक होती है। पुण्यात्मक प्रवृत्ति तो अध्यवसाय, उद्यम और प्रयत्न से साध्य होती है। यही कारण है कि जगत् में पुण्यात्मा कम हैं और पापात्मा अधिक हैं। इन्हीं स्थितियों के कारण भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ‘प्रायः’ शब्द पाप के अर्थ में सन्निहित (रूढ) हो गया। तदनुसार ‘प्रायस्य - पापस्यचित्तं शोधनं यस्मात् स प्रायश्चित्तः’ - जिसके द्वारा पाप का विशोधन या अपगम हो, वह प्रायश्चित्त है।

जैन शास्त्रों में मुख्यतः दो प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन हुआ है - उद्घातिक एवं अनुद्घातिक।

‘उद्घातिक’ शब्द के मूल में उद्घात है जो उत् उपसर्गपूर्वक हन् धातु से बनता है। जिस पापकर्म का सामान्य तपरूप प्रायश्चित्त से नाश हो जाता है, वह उद्घातिक है। जो ऐसा निम्नकोटि का कृत्य हो, जो साधारण तप से न मिटे, उसे अनुद्घातिक कहा जाता है। इस सूत्र में जिन तीन कर्मों का उल्लेख हुआ है, वे अत्यन्त निकृष्ट, दूषणीय और परिहेय हैं। साधु वैसा करने की सोच तक नहीं सकता। फिर भी कदाचित् वैसा हो जाए तो उनके विशोधन के लिए गुरु मासिक तथा गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

भगवती सूत्र आदि आगमों एवं ग्रन्थों में प्रायश्चित्तों का विस्तार से वर्णन हुआ है, जो पठनीय है।

पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के हेतु

तओ पारंचिया पण्णत्ता, तंजहा - दुडे पारंचिए, पमत्ते पारंचिए, अण्णमण्णं करेमाणे पारंचिए ॥ २ ॥

भावार्थ - २. तीन प्रकार के (कुत्सित कृत्य) पाराञ्चिक प्रायश्चित्त के योग्य बतलाए गए हैं - १. दुष्ट पाराञ्चिक २. प्रमत्त पाराञ्चिक ३. परस्पर अनंगक्रीड़ाजनित पाराञ्चिक।

विवेचन - जैन धर्म और दर्शन दोषों से बचने की दृष्टि से सूक्ष्मावगाही चिन्तन पर आधारित है। जहाँ शुभकर्म, तपश्चरण आदि के सेवन में बहुमुखी विवेचन है वहाँ तुच्छतितुच्छ दोष भी साधु को न लग जाए, अतः दूषित कर्मों का भी विस्तार से उल्लेख है क्योंकि बाढ़ के आने से पूर्व ही बांध का निर्माण करना होता है।

कहा गया है - “कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते पालिः कथं बध्यते” - सरोवर के टूट जाने पर, पानी के बह जाने पर फिर पाल कैसे बांधी जा सकती है? अर्थात् फिर पाल बांधा जाना बहुत दुष्कर है। यही तथ्य यहाँ लागू है। पहले से ही खूब सावधान रहने हेतु छोटे से छोटे दोष की चर्चा की गई है।

जैसा पहले सूचित किया गया है, इन दोषों का उल्लेख करने का यह आशय नहीं है कि इनका सेवन होता है। अभिप्राय यह है कि सेवन कभी न हो एतदर्थ जागरूकता उनमें उत्पन्न करना आवश्यक है।

इस सूत्र में उन दोषों का उल्लेख है, जो यदि कदाचन साधु के लग जाएं तो उनकी शुद्धि के लिए पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान है। “पारांचिक” शब्द ‘पार’ और ‘अञ्च्’ धातु से बना है। “पारं अञ्चति - गच्छति, नयति वा इति पाराञ्चिकः” - जो दोष को पार ले जाय, उसे उच्छिन्न या विनष्ट कर दे, वह पारांचिक है। अर्थात् इसमें वे तप विहित हैं, जिनसे लगे हुए दोष नष्ट हो जाते हैं।

दुष्ट का अर्थ दूषित है। दूषितता के आधार पर दुष्ट पारांचिक दो प्रकार का कहा गया है -

१. कषाय दुष्ट - क्रोधादि कषायों के तीव्र होने पर जो अन्य साधु का घात कर डाले।

२. विषय दुष्ट - इन्द्रिय भोग या विषय-वासना के परिणाम स्वरूप जो किसी साध्वी आदि में आसक्त होकर उसके साथ विषय सेवन करे।

निम्नांकित दोष सेवी प्रमत्त पारांचिक के अन्तर्गत आते हैं -

१. मद्य प्रमत्त - मदिरा आदि नशीले पदार्थों के सेवन में प्रमत्त।

२. विषय प्रमत्त - इन्द्रियों के विषयों में लोलुप।

३. कषाय प्रमत्त - क्रोधादि प्रबल कषायों में प्रमत्त।

४. विकथा प्रमत्त - स्त्री कथा, राजकथा आदि लोकप्रवण कथा - वार्तालाप में रसिक।

५. निद्रा प्रमत्त - स्थानर्द्धि, निद्रा आदि में प्रमत्त।

कामवासनावश साधु यदि समलैंगिक मैथुन सेवन में प्रवृत्त होता है तो दोनों ही पारांचिक दोष के भागी होते हैं।

पारांचिक प्रायश्चित्त के अन्तर्गत विविध तपों का उल्लेख आगमों में आए प्रायश्चित्त तपों में द्रष्टव्य है।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के स्थान

तओ अणबडुप्पा पण्णात्ता, तंजहा - साहम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, अण्णधम्मियाणं तेण्णं करेमाणे, हत्थादालं दलमाणे ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणबडुप्पा - अनवस्थाप्य, साहम्मियाणं - साधर्मिकों के, तेण्णं - सैन्य - चौर्य, हत्थादालं - हस्तप्रहार करना - हथेली से चपेट लगाना।

भाषार्थ - ३. (निम्न तीन स्थान) अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त के योग्य हैं -

१. साधर्मिक भिक्षुओं के वस्त्र-पात्रादि की चोरी करने वाला। २. इतर संप्रदायगत भिक्षुओं के उपकरणों की चोरी करने वाला तथा ३. अपने हाथ से ताड़न - प्रहार करने वाला।

विवेचन - 'स्था' धातु 'स्थित होने' के अर्थ है। उसी का प्रेरणार्थक या कारित रूप स्थापित है। तदनुसार "स्थापयितुं योग्यः स्थाप्यः" - जो स्थापित करने योग्य होता है, उसे स्थाप्य कहा जाता है। उससे पूर्व 'अव' उपसर्ग लगाने से अवस्थाप्य बन जाता है, जो उसके अर्थ को और व्यापक बना देता है। "न स्थाप्यः अनवस्थाप्यः" - जो 'स्थापित करने योग्य' न हो वह अनवस्थाप्य कहा जाता है। यहाँ स्थापित न करने योग्य का तात्पर्य - पूर्ववर्णित दोषों का सेवन करने वाले साधुओं को तत्काल व्रत में स्थापित करने योग्य न मानना है। अर्थात् ये ऐसे दोष हैं, जिनका सम्मार्जन, परिमार्जन या विशुद्धिकरण तत्क्षण संभव नहीं होता। वह तपविशेष पूर्वक समयसापेक्ष होता है।

दीक्षार्थ अयोग्य त्रिविध नपुंसक

तओ णो कप्पंति पव्वावेत्तए तंजहा - पण्डए वाइए कीवे ॥ ४ ॥

एवं मुण्डावेत्तए ॥ ५ ॥

सिक्खावेत्तए ॥ ६ ॥

उवट्ठावेत्तए ॥ ७ ॥

संभुंजित्तए ॥ ८ ॥

संवासित्तए ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - पव्वावेत्तए - दीक्षा के लिए, पण्डए - पण्डक, वाइए - वातिक, कीवे - क्लीब - नपुंसक, मुण्डावेत्तए - मुण्डित (केश लुंचन) करने हेतु, सिक्खावेत्तए - शिक्षित करने हेतु, उवट्ठावेत्तए - संयम में उपस्थापित करने हेतु, संभुंजित्तए - मुनि के रूप में साथ आहार करने हेतु, संवासित्तए - साथ में रखने हेतु।

भावार्थ - ४-९. पण्डक, वातिक और क्लीब इन तीन प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा देना नहीं कल्पता। इसी प्रकार उन्हें मुण्डित, शिक्षित, संयमोपस्थापित, सहभोजित तथा सहवासित करना भी नहीं कल्पता।

विवेचन - इस सूत्र में तीन प्रकार के नपुंसकों को दीक्षा देना आदि निषिद्ध बतलाया गया है। शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जिनमें पुरुषत्व या पौरुष शक्ति का अभाव होता है, उनकी मनोभूमि और आध्यात्मिक धारा परिणामों की दृष्टि से ऊर्ध्वगामिता नहीं पा सकती। भोग में जो शक्ति एवं ऊर्जा का क्षय होता है, यदि वही शक्ति और ऊर्जा त्याग और वैराग्य में लगा दी जाती है तो वह संयम को बलवत्तर बना देती है। शक्ति और ऊर्जा के भौतिक और आध्यात्मिक द्विविध प्रयोग हैं। भौतिक प्रयोग संसारोपवर्धक हैं तथा आध्यात्मिक प्रयोग मोक्षसाधक हैं। नपुंसक वैसी शक्ति से शून्य होता है। उसके परिणामों की धारा सर्वथा निर्मलता नहीं पा सकती। कुत्सित और मलिन विचारों से उसका मन आंदोलित रहता है क्योंकि वह अतृप्त भोग (Sex Starved) होता है।

सूत्र में नपुंसकों के जो भेद बतलाए हैं, उनमें पहला 'पण्डक' उनके लिए है, जो जन्मजात नपुंसक होते हैं। 'वातिक' वे नपुंसक हैं, जो वातादि भयानक व्याधि से ग्रस्त होने के कारण पुरुषत्वहीन हो जाते हैं। इनमें निरन्तर वासनात्मक उद्वेलन तो बना रहता है किन्तु वे कामभोग में असमर्थ होते हैं। क्लीब वे हैं, जिनमें भोगशक्ति विषयक मानसिक कायरता बनी रहती है। जो भोग-भोगने में स्वयं को संशयापन्न मानते हैं।

यदि दीक्षा प्रदाता या गुरु को यह ज्ञात हो जाय कि दीक्षार्थी इन तीन प्रकार के नपुंसकों में से किसी भी प्रकार का नपुंसक है तो वे उसे अयोग्य मानकर दीक्षा नहीं देते। यदि दीक्षा काल तक यह ज्ञात नहीं हो पाता और सर्वसावद्ययोग प्रत्याख्यानान्तात्मक दीक्षा दे देते हैं तथा पश्चात् नपुंसकत्व का ज्ञान हो जाए तो केश लोच नहीं करते। केशलोच तक नपुंसकत्व प्रच्छन्न रहे तो महाव्रतारोपण नहीं करते। यदि बड़ी दीक्षा तक ज्ञात नहीं हो तो दीक्षा पश्चात् साथ में आहार नहीं करते तथा साथ में उठना-बैठना नहीं करते।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है, जो 'स्त्री-नपुंसक' होते हैं वे सिद्धत्व के योग्य नहीं होते हैं। किन्तु जो जन्म जात पुरुष नपुंसक होते हैं तथा जो रोगादि कारणों से अस्वाभाविक, कृत्रिम नपुंसक होते हैं, उनमें शक्ति या ऊर्जा का अत्यान्ताभाव नहीं होता। उनमें भी प्रबल प्रयास एवं सद् अध्यवसाय के परिणाम स्वरूप आत्मशक्ति प्रस्फुटित हो सकती है। यही कारण है कि सिद्धों के पन्द्रह भेदों में नपुंसक लिंग सिद्ध भी हैं।

वाचना के लिए योग्य एवं अयोग्य

तओ णो कप्पंति वाइत्तए, तंजहा - अविणीए विगईपडिबद्धे अविओसविय-
पाहुडे ॥ १० ॥

तओ कप्पंति वाइत्ताए, तंजहा - विणीए णो विगईपडिबद्धे विओसविय-
पाहुडे ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - वाइत्ताए - वाचना के लिए, अविणीए - अविनीत, विगईपडिबद्धे-
विकृति प्रतिबद्ध - विकृत मानसिकता युक्त, अविओसवियपाहुडे - अव्यवशमित प्राभृत -
अनुपशान्त क्रोध युक्त।

भावार्थ - १०. निम्नांकित तीन को वाचना देना नहीं कल्पता - १. विनय रहित
२. विकृति प्रतिबद्ध तथा ३. अनुपशान्त क्रोध युक्त।

११. निम्न तीन को वाचना देना कल्पता है-

१. विनीत २. विकृति अप्रतिबद्ध तथा ३. (जिसका)क्रोध उपशान्त हो।

विवेचन - श्रमण जीवन में ज्ञानाराधना और चारित्र्याराधना - दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान
है। सर्वज्ञ प्ररूपित आगमों, का वाचन, अध्ययन ज्ञानाराधना का महत्त्वपूर्ण अंग है। साधुओं को
वाचना देने का मुख्य दायित्व उपाध्याय या वाचना प्रमुख पर होता है। वाचना प्रदायक द्वारा
दी जाने वाली वाचना सार्थक सिद्ध हो - एतदर्थ इस सूत्र में यह निरूपित किया गया है कि
तीन प्रकार के वाचनार्थी अयोग्य होते हैं। उनमें सबसे पहले अविनीत का उल्लेख हुआ है।
जिसमें विनय नहीं होता, वह आदर और श्रद्धा पूर्वक वाचना नहीं ले पाता।

दूसरे भेद में विकृति प्रतिबद्ध शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में है। सामान्यतः विकार
को विकृति कहा जाता है किन्तु जैन परंपरा में विकारोत्पादक दूध, दही, घृत आदि पौष्टिक
पदार्थों को 'विगई' कहा जाता है। ब्रह्मचारी के लिए अति पौष्टिक भोजन इसलिए वर्जित है
क्योंकि वे मानसिक विकारोत्पादक माने गए हैं। कारण में कार्य का उपचार करते हुए विकार
हेतुता के कारण दूध, दही, घृत आदि को 'विगय' या विकृति कहा गया है। जो साधु इन
पदार्थों में लोलुप या गृद्ध होता है, उसमें प्रमाद, आलस्य आदि अवगुण आ जाते हैं, वाचना
लेने में वह तन्मय नहीं हो पाता।

तीव्र क्रोधी साधु को भी वाचना के अयोग्य कहा गया है। किसी द्वारा थोड़ा सा अपराध
होने पर भी क्रोध में उबल पड़ता है। क्षमा मांगने पर भी उसका क्रोध उपशान्त नहीं होता।

अविनय, विकृति एवं तीव्र क्रोध - ये तीनों अवगुण जिनमें नहीं होते, वे वाचना के पात्र
होते हैं। वैसे भिक्षुओं को दी गई वाचना सार्थक होती है। इन तीनों में "विणयमूलो

धम्मो” के अनुसार विनय का सर्वाधिक महत्त्व है। “विद्या ददाति विनयम्, विनयाद्याति पात्रताम्” - इत्यादि अन्य शास्त्रों की उक्तियाँ भी इसे चरितार्थ करती हैं।

शिक्षार्थ योग्य-अयोग्य

तओ दुस्सण्णप्पा पण्णत्ता, तंजहा - दुट्ठे मूढे वुग्गाहिए ॥ १२ ॥

तओ सुस्सण्णप्पा पण्णत्ता, तंजहा - अदुट्ठे अमूढे अवुग्गाहिए ॥ १३ ॥

कठिन शब्दार्थ - दुस्सण्णप्पा - दुस्संज्ञाप्य - कठिनाई से संज्ञापित (शिक्षित) किए जाने योग्य, दुट्ठे - दुष्ट, मूढे - मूर्ख, वुग्गाहिए - दुराग्रही, सुस्सण्णप्पा - सुसंज्ञाप्य - समीचीन रूप में शिक्षित किए जाने योग्य।

भावार्थ - १२. (निम्नांकित) तीन (श्रमण) दुःसंज्ञाप्य कहे गए हैं -

१. दुष्ट २. मूर्ख तथा ३. दुराग्रही।

१३. (निम्न) तीन (श्रमण) सुसंज्ञाप्य (सुबोध्य) कहे गए हैं -

१. अदुष्ट (दुष्टता रहित)

२. अमूर्ख - मूर्खता रहित तथा

३. दुराग्रह रहित।

विवेचन - “ज्ञा” धातु से निष्पन्न “ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयम्” के अनुसार जानने योग्य के अर्थ में ज्ञेय और दूसरे को ज्ञान कराने के अर्थ में (प्रेरणा या कारित के संदर्भ में) ज्ञाप्य बनता है। ‘सम’ (जो सम्यक् बोधक है) उपसर्ग लगने से संज्ञाप्य बनता है। संज्ञाप्य के पूर्व ‘दुस्’ उपसर्ग लगने से ‘दुस्संज्ञाप्य’ बनता है, जिसका अर्थ दुःखपूर्वक या कठिनाई के साथ ज्ञापित करने योग्य या समझाने योग्य होता है। जिसको धर्म तत्त्व समझाना कठिन होता है, वैसा शिक्षार्थी दुस्संज्ञाप्य कहा जाता है।

इसके विपरीत “सुखेन संज्ञाप्यः सुसंज्ञाप्यः” - जिसे सुखपूर्वक (सुविधा पूर्वक) समझाया जा सकता है, वह सुसंज्ञाप्य है। इस सूत्र में द्वेषादि दोषयुक्त, गुण-अवगुण के भेद से अनभिज्ञ तथा दुराग्रह से आबद्ध शिक्षार्थी दुस्संज्ञाप्य श्रेणी में लिए गए हैं क्योंकि दूषित भावना, सत्-असत् की अनभिज्ञता और सदग्राहकता के अभाव में वे धार्मिक शिक्षा या धर्म तत्त्वों को आसानी से स्वायत्त नहीं कर पाते। ऐसे व्यक्तियों को सिखाना, पढ़ाना, ज्ञापित करना बड़ा कठिन होता है।

जिनमें ये दोष नहीं होते, वैसे दोषादि रहित गुणग्राही तथा सत् तत्त्व जिज्ञासु शिक्षार्थी सुखपूर्वक ज्ञापित, अध्यापित, शिक्षित करने योग्य होते हैं।

ग्लान में उद्भूत मैथुन भाव का प्रायश्चित्त

णिग्गंथिं च णं गिलायमाणिं पिया वा भाया वा पुत्तो वा पलिस्सएज्जा, तं च णिग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ १४ ॥

णिग्गंथं च णं गिलायमाणं माया वा भगिणी वा धूया वा पलिस्सएज्जा, तं च णिग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ १५ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिलायमाणिं - रुग्ण, पलिस्सएज्जा - परिष्वजेत - गिरने से बचाने हेतु सहारा दे, साइज्जेज्जा - साभिरुचि अनुभव करे, मेहुणपडिसेवणपत्ता - मैथुन सेवन की इच्छा से युक्त, आवज्जइ - प्राप्त होता है।

भावार्थ - १४. ग्लान (रोगयुक्त) साध्वी के संसारपक्षीय पिता, भाई या पुत्र उसे अशक्ततावश (गिरती हुई देखकर) सहारा दें (हाथ आदि के सहारे से बचाएं), उस समय वह साध्वी मैथुन-प्रतिसेवन परिणामवश मन में आनुकूल्य अनुभव करे तो उसको चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।

१५. ग्लान साधु की संसारपक्षीय माता, भगिनी या पुत्री उसे (साधु को) अशक्ततावश (गिरता हुआ देखकर) सहारा दे, उस समय वह साधु मैथुन-प्रतिसेवन परिणामवश मन में आनुकूल्य अनुभव करे तो उसको चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साध्वी के लिए किसी भी पुरुष का स्पर्श तथा साधु के लिए किसी भी स्त्री का स्पर्श जिनाज्ञा के सर्वथा विरुद्ध है। किन्तु रुग्णतावश जब साधु या साध्वी स्वयं चलने में असमर्थ हो अथवा गिर पड़ने की आशंका हो, वैसी स्थिति में साधु की संसार पक्षीय पारिवारिक स्त्रियाँ तथा साध्वी के संसारपक्षीय पारिवारिक पुरुष उसे सहारा दे, गिरने से बचाएं, तब यदि साधु या साध्वी के मन में विपरीत लिंगीय स्पर्श के कारण कामवासना का भाव उत्पन्न हो जाय तो उन्हें गुरु चातुर्मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त आता है।

यद्यपि सामान्यतः रुग्णावस्था प्राप्त साधु-साध्वी में ऐसा भाव नहीं होता किन्तु पूर्वतन संस्कारजनित वेदविकारवश कदाचन ऐसा आशंकित हो सकता है। तदर्थ इस प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।

प्रथम प्रहर में गृहीत आहार को चतुर्थ प्रहर में रखने का निषेध

णो कप्यइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेत्तए, से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजेज्जा णो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्टवेयव्वे सिया, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारद्दाणं उग्घाइयं ॥ १६ ॥

कठिन शब्दार्थ - पोरिसीए - प्रहर में, पच्छिमं - दिन के अन्तिम (प्रहर में), उवाइणावेत्तए - रखने में, आहच्च - कदाचन (आहार रूप में न लेने से), अप्पणा - स्वयं, अणुप्पदेज्जा - अनुप्रदान करे - खाने को दे, एगंते - एकांत स्थान में, बहुफासुए - सर्वथा प्रासुक, पडिलेहित्ता - प्रतिलेखित कर, पमज्जित्ता - प्रमार्जित कर, परिट्टवेयव्वे - परिष्ठापित करे, आवज्जइ - प्राप्त करता है।

भावार्थ - १६. निर्ग्रन्थों या निर्ग्रन्थिनियों को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चतुर्विध आहार प्रथम प्रहर में ग्रहण कर अन्तिम प्रहर तक रखना नहीं कल्पता। यदि कदाचन वैसा आहार रह जाए तो न वे उसे स्वयं खाएं तथा न अन्यो को खाने हेतु दें किन्तु एकान्त, सर्वथा प्रासुक, स्थंडिल भूमि का प्रतिलेखन, प्रमार्जन कर उसे परठ दें।

उसे स्वयं खाते हुए या औरों को (अन्य साधु-साध्वियों को) देने पर उद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

विवेचन - आत्मेतर, शरीरापेक्षी आहार आदि में कदापि संग्रह की भावना न रहे, यह अपरिग्रह का अत्यन्त उत्कृष्ट और आदर्श रूप है। प्रथम प्रहर के आहार को चतुर्थ प्रहर तक न रखने का जो विधान किया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि साधु के मन में आहार के प्रति जरा भी आसक्ति न आए। उसका जीवन सर्वथा आत्मापेक्षी, हलका बना रहे। क्योंकि आहार को दीर्घकाल तक प्रतिगृहीत रखना एक प्रकार से परिग्रह को ही अनुमोदित करना है।

भाष्यकार ने इस संबंध में और अधिक स्पष्ट किया है कि जिन कल्पी श्रमण के लिए तो यह विधान है कि जिस प्रहर में आहार ले उसी प्रहर में ग्रहण कर ले। स्थविर कल्पी तीन प्रहर तक आहार को रख सकता है।

दो कोस से आगे आहार ले जाने का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं अद्धजोयणमेराए उवाइणावेत्ताए, से य आहच्च उवाइणाविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजेज्जा णो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता पमज्जिता परिट्टवेयव्वे सिया, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं उग्घाइयं ॥ १७ ॥

कठिन शब्दार्थ - अद्धजोयणमेराए - अद्ध योजन की सीमा में - दो कोस की मर्यादा में।

भावार्थ - १७. साधु-साध्वियों को अशन, पान, खाद्य एवं स्वाद्य आदि चतुर्विध आहार आधा योजन (दो कोस) की सीमा से आगे ले जाना नहीं कल्पता।

कदाचित् (भूलवश) यदि ऐसा हो जाए तो उस आहार को न तो स्वयं खाए और न अन्य को ही देवे, वरन् एकांत, सर्वथा स्थंडिल भूमि को प्रतिलेखित, प्रमार्जित कर परठ दे।

ऐसे आहार को स्वयं ग्रहण करने या अन्य साधु-साध्वियों को देने पर (ऐसा साधु) उद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

विवेचन - दो कोस के अवग्रह क्षेत्र (सीमा) से आगे - आधा कोस (लगभग १ किलोमीटर ८०० मीटर) तक स्थण्डिल भूमि योग्य नहीं मिलने के कारण आहार आदि ले गये हो तो - उस आहार आदि को पुनः अवग्रह क्षेत्र (दो कोस) की मर्यादा में आ करके उपभोग किया जा सकता है। आधा कोस से अधिक (कुल मिलाकर ७.२+१.८ कि. मी. = ९ किलोमीटर) दूर ले जाने पर पुनः अवग्रह क्षेत्र में लाकर के उस आहार आदि को उपभोग में नहीं ले सकते हैं - उसे तो परठना ही होता है।

पूर्व के १६वें सूत्र में तो - प्रथम प्रहर का लाया हुआ आहार आदि यदि अनाभोग से भी चतुर्थ प्रहर में रखा गया हो, तो उसे परठना ही होता है, क्योंकि 'काल' (समय) को तो इधर उधर परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। क्षेत्र को तो परिवर्तित किया जा सकता है।

गृहीत अनेषणीय आहार का उपयोग या परिष्ठापन विधान

णिगगंश्रेण य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठेणं अण्णयरे अचिच्चं
अणेसणिज्जे पाणभोयणे पडिग्गाहिए सिया, अत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए,
कप्पइ से तस्स दाउं वा अणुप्पदाउं वा, णत्थि या इत्थ केइ सेहतराए अणुवट्ठावियए तं
णो अप्पणा भुंजेज्जा णो अण्णेसिं दावए एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिच्चा पमज्जित्ता
परिट्ठवेयव्वे सिया ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अणेसणिज्जे - अनेषणीय - दोषयुक्त, सेहतराए - नवदीक्षित,
अणुवट्ठावियए - महाव्रतारोपण रहित, दाउं - देने के लिए, अणुप्पदाउं - अनुप्रदत्त करना।

भावार्थ - १८. गाथापति - गृहस्थ के घर में आहार लेने हेतु अनुप्रविष्ट साधु को
कुछेक अचित्त, प्रासुक किन्तु अनेषणीय भक्त-पान जाने-अनजाने प्रतिगृहीत हो जाय तो उसे
नवदीक्षित महाव्रतारोपण रहित (बड़ी दीक्षा नहीं हुई हो ऐसा) साधु हो तो उसे देना, अनुप्रदान
करना - एषणीय आहार देने के बाद भी देना कल्पता है।

यदि वहाँ कोई नवदीक्षित, महाव्रतारोपण रहित साधु न हो त्ने वह साधु उसे न
स्वयं खाए न अन्यो को देवे वरन् एकांत, सर्वथा स्थंडिल भूमि को प्रतिलेखत-प्रमार्जित
कर परिष्ठापित करे।

विवेचन - यहाँ नवदीक्षित और महाव्रतारोपण रहित साधु को अनेषणीय आहार देने का
जो विधान किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि वह नवदीक्षित श्रमण संज्ञा से
अभिहित तो है किन्तु जब तक महाव्रतों का सम्यक् आरोपण नहीं होता तब तक वह सर्वथा
श्रामण्य का अधिकारी नहीं माना जाता। यह (महाव्रतों के उपस्थापन के पूर्व का काल)
प्रयोगकाल कहा जाता है। इस काल स्थिति में नवदीक्षित परिपक्व हो जाता है। तभी उसमें
महाव्रतों का आरोपण किया जाता है या बड़ी दीक्षा दी जाती है।

बौद्ध परंपरा में प्रव्रज्या से पूर्व उपसंपदा दी जाती है। उपसंपदा का अर्थ प्रव्रज्या के पूर्व
का एक सीमित प्रयोगकाल है, जिसमें वह भिक्षु जीवन में सर्वथा पालनीय, अनुकरणीय
मर्यादाओं का निर्वाह करने में स्वयं को सक्षम बना लेता है।

औद्देशिक आहार की कल्पनीयता-अकल्पनीयता

जे कडे कप्पट्टियाणं कप्पइ से अकप्पट्टियाणं; णो से कप्पइ कप्पट्टियाणं ।

जे कडे अकप्पट्टियाणं णो से कप्पइ कप्पट्टियाणं, कप्पइ से अकप्पट्टियाणं ।

कप्पेट्टिया कप्पट्टिया, अकप्पे ठिया अकप्पट्टिया ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - कडे - बनाया हुआ, कप्पट्टियाणं - कल्पस्थित साधुओं के लिए, अकप्पट्टियाणं - अकल्पस्थित साधुओं के लिए।

भावार्थ - १९. कल्पस्थित साधुओं के लिए बनाया गया आहार अकल्पस्थितों को लेना कल्पता है किन्तु कल्पस्थितों को लेना नहीं कल्पता।

जो (आहार) अकल्पस्थितों के लिए बनाया गया हो वह कल्पस्थितों को नहीं कल्पता किन्तु अकल्पस्थितों को कल्पता है।

जो कल्प में स्थित हैं वे कल्पस्थित कहे जाते हैं तथा जो कल्प में स्थित नहीं हैं, वे अकल्पस्थित कहे जाते हैं।

विवेचन - स्वीकरणीय आचार विषयक क्रिया विशेष को कल्प कहा जाता है। कल्प दस हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थकरों के साधु-साध्वी इन दसों कल्पों का पालन करते हैं इसलिए वे कल्पस्थित कहे जाते हैं।

द्वितीय तीर्थकर से तेवीसवे तीर्थकर तक के साधु-साध्वी दस कल्पों का संपूर्णतः पालन नहीं करते। उनके लिए केवल चार कल्पों - शय्यातरपिंडकल्प, कृतिकर्मकल्प, व्रतकल्प तथा षष्ठकल्प का पालन करना आवश्यक है।

संपूर्णतः कल्पों का पालन न करने के कारण वे अकल्पस्थित कहे जाते हैं।

इस सूत्र ने कल्पस्थितों और अकल्पस्थितों द्वारा औद्देशिक आहार की ग्राह्यता-अग्राह्यता की जो घर्षा की गई है, उससे यह प्रतीत होता है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थकर के अतिरिक्त शेष बाईस तीर्थकरों के साधु-साध्वियों के लिए औद्देशिक आहार की कल्पनीयता का विधान है, जिसके मूल में उनका ऋजुप्राज्ञत्व है।

दस कल्प निम्नांकित हैं -

१. अचेल कल्प - यह कल्प वस्त्रमर्यादा की ओर इंगित करता है। इसके अन्तर्गत साधु को रंगीन, मूल्यवान एवं आवश्यकता से अधिक वस्त्रों को रखने का निषेध किया गया है।

२. **औद्देशिक कल्प** - साधर्मिक या सांभोगिक साधुओं के उद्देश्य से बनाए गए आहार को ग्रहण न करने का विधान।

३. **शय्यातरपिंडकल्प** - जिस घर में भिक्षु प्रवास करे उसके यहां से आहार ग्रहण न करना।

४. **राजपिंड कल्प** - राज तिलक धारी (मूर्धाभिषिक्त) राजा से आहार आदि लेने का निषेध।

५. **कृतिकर्म कल्प** - रत्नाधिक के प्रति विनयपूर्वक वंदन व्यवहार करना।

६. **व्रत कल्प** - चातुर्मास धर्म या पंचमहाव्रतों का पालन करना।

७. **ज्येष्ठ कल्प** - पूर्व महाव्रतारोपित - पहले बड़ी दीक्षा जिसकी हुई हो, ऐसे दीक्षाज्येष्ठ के प्रति वंदन व्यवहार करना।

८. **प्रतिक्रमण कल्प** - नित्य-नैमित्तिक रूप में दैवसिक एवं रात्रिक प्रतिक्रमण करना।

९. **मास कल्प** - चातुर्मास के अलावा विचरण करते हुए किसी एक स्थान पर एक मास (२९ रात्रि) से अधिक नहीं ठहरना तथा पुनः दो मास तक लौटकर न आना। इसी प्रकार साध्वियों के लिए अधिकतम दो मास (५९ रात्रि) का कल्प होता है।

१०. **चातुर्मास कल्प** - चातुर्मास में चार मास तक एक स्थान पर प्रवास करना एवं तदनंतर आठ मास तक (अगले चातुर्मास आ जाने तक) पुनः वहाँ आकर नहीं रहना। इस प्रकार कुल बारह मास (८ मास + ४ मास दूसरे ग्रामादि में चातुर्मास के) तक पुनः पूर्व चातुर्मास के स्थान पर आना अकल्पनीय कहा है।

श्रुतग्रहण हेतु अन्य गण में जाने का विधि-निषेध

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्जायं वा पवत्तिं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से विरयेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ते य से णो विरयेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ २० ॥

गणावच्छेद ए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो कप्पइ गणावच्छेदयस्स गणावच्छेदयत्तं अणिक्खवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ गणावच्छेदयस्स गणावच्छेदयत्तं णिक्खवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेदयं अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेदयं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा एवं से कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से णो वियरेज्जा एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ २१ ॥

आयरिय-उवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ आयरियउवज्झायस्स आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ आयरियउवज्झायस्स आयरियउवज्झायत्तं णिक्खवित्ता अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेदयं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेदयं वा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ २२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अवक्कम्म - निकल कर (अवक्रांत कर), उवसंपज्जित्ताणं - स्वीकार कर, विहरित्तए - (वहाँ) स्थिर रहे, अणापुच्छित्ता - बिना पूछे, वियरेज्जा - (गण से जाने की) आज्ञा दें, अणिक्खवित्ता - त्याग किए बिना।

भावार्थ - २०, यदि कोई भिक्षु (स्व) गण को छोड़कर श्रुतादि ग्रहण हेतु अन्य गण की उपसंपदा - आज्ञा एवं व्यवस्था स्वीकार करने की इच्छा करे तो उसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर या गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना वहाँ स्थित होना (जाना) नहीं कल्पता है।

(परन्तु) आचार्य यावत् गणावच्छेदक से पूछकर (आज्ञा प्राप्त कर) अन्य गण में जाना कल्पता है।

(अर्थात्) यदि वे आज्ञा दें (तो ही) अन्य गण की उपसंपदा को स्वीकार करना कल्पता है।

(तथा) यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण में जाना नहीं कल्पता है।

२१. यदि गणावच्छेदक स्वगण को छोड़कर अन्य गण में ज्ञान संपदादि प्राप्ति हेतु जाना चाहें तो उन्हें अपने पद का त्याग किए बिना अथवा अपने अधिकारों को आचार्य आदि को समर्पित किए बिना अन्य गण में जाना नहीं कल्पता है।

(पुनश्च) गणावच्छेदक को अपने पद का त्याग कर अन्य गण में जाना कल्पता है।

(इसके अलावा) उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना - उन्हें पूछे बिना अन्य गण में जाना नहीं कल्पता है।

वे आचार्य यावत् गणावच्छेदक को पूछकर अन्य गण में ज्ञान, आचारादि की शिक्षा प्राप्त करने हेतु जा सकते हैं।

(अर्थात्) यदि वे आज्ञा दें (तभी) अन्य गण में जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो गणावच्छेदक को अन्य गण में ज्ञानसंपदार्थ जाना नहीं कल्पता है।

२२. यदि आचार्य या उपाध्याय स्वगण को छोड़कर ज्ञान, आचार आदि की प्राप्ति हेतु अन्य गण की आज्ञा में जाना चाहें तो आचार्य एवं उपाध्याय को अपने आचार्य-उपाध्याय संज्ञक पद का त्याग किए बिना अन्य गण में जाना नहीं कल्पता है।

(वरन्) आचार्य या उपाध्याय को अपने पद के त्यागपूर्वक - अन्य योग्य भिक्षु को समर्पणपूर्वक अन्य गण को स्वीकार करना कल्पता है।

(तथापि) उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक से पूछे बिना अन्य गण में जाना नहीं कल्पता।

उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा से अन्य गण में जाना कल्पता है।

यदि ये आज्ञा देते हैं (तो ही) अन्य गण को ज्ञान, दर्शन आदि प्राप्त करने हेतु स्वीकार करना कल्पता है।

यदि ये आज्ञा नहीं देते हैं तो स्वीकार करना कल्पनीय नहीं होता।

विवेचन - जैन दर्शन में ज्ञान की सर्वातिशायी महत्ता रही है। उत्तमोत्तम ज्ञान ही आचार पक्ष को सबल बनाता है। इसके अलावा जैसा ज्ञान होगा वैसी ही क्रिया होगी। अतः

ज्ञानप्राप्ति हेतु भिक्षु को, वह चाहे जिस पद पर भी क्यों न हो, अन्य गण में जाने की आज्ञा दी गई है।

यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि भिक्षु के लिए केवल ज्ञान पिपासा ही मुख्य नहीं है। आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा को यहाँ सर्वोपरि कहा गया है। अतः अन्तिम निर्णय संघ की मर्यादा एवं स्थिति को देखकर ही किया जाता है।

गणावच्छेदक एवं आचार्य, उपाध्याय आदि के लिए यहाँ जो पदत्याग पूर्वक अन्य गण की सेवा में जाने का विधान किया गया है, वह भी अति महत्त्वपूर्ण है।

जो शैक्ष है, ज्ञान प्राप्ति हेतु जा रहा है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह विनयवान हो न कि अधिकार सम्पन्न। क्योंकि अन्य गण में 'ज्ञान प्रदाता' या 'गुरु' आचार्य या उपाध्याय से निम्न पद का भी हो सकता है अथवा अनुभववृद्ध स्थविर साधु भी हो सकता है। अतः ज्ञान प्राप्ति में पद की गरिमा आड़े न आए, विनीत भाव की कमी न आए, एतदर्थ पद समर्पण का विधान किया गया है। इसके अलावा जहाँ पद आदि के अधिकार छूटते हैं वहाँ उन-उन कर्तव्यों - संघ आदि हेतु करणीय विशेष कार्यों से भी मुक्ति मिलती है। अतः दत्तचित्त होकर, चिन्तामुक्त होकर अध्ययन, चिन्तन, मनन करना संभव हो पाता है।

यहाँ ज्ञातव्य है कि साधु आज्ञा प्राप्त होने पर अकेला ही विहार कर अन्य गण में जा सकता है किन्तु साध्वी के लिए अकेली विहार करने का सर्वथा निषेध होने से कम से कम एक साध्वी को उसके साथ अवश्य जाना चाहिए। इसके अलावा साध्वी के लिए आचार्य, उपाध्याय आदि की आज्ञा के साथ-साथ प्रवर्तिनी की आज्ञा भी आवश्यक होती है।

सांभोगिक व्यवहार हेतु अन्य गण में जाने का विधान

भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा उवज्जायं वा पवत्तिं वा थेरं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए,

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से णो वियरेज्जा.

एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ २३ ॥

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो कप्पइ गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं अणिक्खवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए;

कप्पइ गणावच्छेइयस्स गणावच्छेइयत्तं णिक्खवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए;

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए;

ते य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ २४ ॥

आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म इच्छेज्जा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए;

कप्पइ आयरियउवज्झायस्स आयरियउवज्झायत्तं णिक्खवित्ता अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए;

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं गणं संभोगपडियाए

उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए;

ते य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए; जत्थुत्तरियं धम्मविणयं लभेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ २५ ॥

कठिन शब्दार्थ - संभोगपडियाए - संभोगप्रत्यक - आवास, भक्त-पान आदि एक साथ करने हेतु, जत्थुत्तरियं - जहाँ उन्नति, लभेज्जा - प्राप्त करे।

भावार्थ - २३. (कोई) भिक्षु यदि अपने गण को छोड़कर अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाने की इच्छा करे - जाने का भाव रखे तो उसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक स्थविर, गणी, गणधर या गणावच्छेदक से पूछे बिना अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना नहीं कल्पता।

उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा से अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना कल्पता है।

यदि वे उसे आज्ञा दें तो ही अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना कल्पता है।

यदि वे उसे आदिष्ट न करें तो अन्य गण में सांभोगिक व्यवहारार्थ जाना नहीं कल्पता है।

(यहाँ इतना और ज्ञातव्य है) यदि वहाँ धर्म और विनय की उन्नति होती हो तभी उसका अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु रहना कल्पता है।

यदि (वहाँ) संयम एवं धर्म की उन्नति नहीं हो तो उस अन्य गण में उसका सांभोगिक व्यवहार हेतु रहना नहीं कल्पता है।

२४. यदि गणावच्छेदक स्वगण से निःसृत होकर अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना चाहे तो गणावच्छेदक को अपने पद का त्याग किए बिना अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना नहीं कल्पता है।

गणावच्छेदक को स्वपद त्यागपूर्वक अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना कल्पता है।

उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना (उन्हें पूछे बिना) अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना नहीं कल्पता है।

उसे (गणावच्छेदक को) आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा से अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तभी अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना कल्पता है।

यदि आज्ञा नहीं दें तो अन्य गण में गणावच्छेदक का सांभोगिक व्यवहारार्थ जाना नहीं कल्पता है।

(तथापि) यदि वह यह पाता है कि यहाँ विनय और धर्म की उन्नति हो रही है तभी उसका अन्य गण के साथ सांभोगिक व्यवहार करना कल्पता है।

यदि वह देखे कि यहाँ संयम और धर्म की उन्नति नहीं हो रही है तो उसे उस अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार करते हुए रहना नहीं कल्पता है।

२५. आचार्य या उपाध्याय स्वगण को छोड़कर अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना चाहें तो उन्हें अपने आचार्य या उपाध्याय (संज्ञक) पदों का त्याग किए बिना जाना नहीं कल्पता है।

(अपितु किसी योग्य शिष्य को) अपने पद के समर्पण पूर्वक - त्याग के उपरान्त (आचार्य या उपाध्याय को) अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना कल्पता है।

आचार्य या उपाध्याय को आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना (उन्हें पूछे बिना) अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें आचार्य यावत् उपाध्याय की आज्ञा से अन्य गण में सांभोगिक व्यवहारार्थ जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तो ही अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य गण में सांभोगिक व्यवहारार्थ जाना नहीं कल्पता है।

(इसके अलावा) यदि वहाँ धर्म और विनय की उत्तरोत्तर उन्नति हो तभी (उस) अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु ठहरना कल्पता है।

यदि वहाँ धर्म और विनय की उन्नति न होती हो तो (उस) अन्य गण में सांभोगिक व्यवहार हेतु रहना नहीं कल्पता है।

विवेचन - 'सम्' उपसर्ग, 'भुज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय के योग से 'संभोग' शब्द निष्पन्न होता है। "सम्यक् भुज्यते भोजनादि क्रिया सम्पाद्यते अनेन इति संभोगः।"

सम् उपसर्ग सम्यक् या भलीभाँति तथा साहचर्य - एक साथ, समवेत रूप में सहभागिता के रूप में प्रयुक्त है। इसके अनुसार इसका अर्थ अच्छी तरह भोजन करना है। मानव जीवन में भोजन की सर्वाधिक महत्ता है। उसी के आधार पर उठना, बैठना, चलना, फिरना आदि क्रियाएँ संपादित होती हैं। इसीलिए 'संभोग' शब्द का अर्थ भाषाशास्त्रीय दृष्टि से 'साथ-साथ खाना, पीना, चलना, फिरना' आदि हुआ।

भाषा विज्ञान की अपेक्षा से अर्थ परिवर्तन की विविध विचित्र दशाएँ हैं। जो संभोग शब्द कभी खान-पान आदि के अर्थ में व्यवहृत था, उसका अर्थ परिवर्तित होते-होते आज - 'काम सेवन' तक पहुँच गया है। इस समय संभोग का अर्थ खान-पान आदि के रूप में कहीं भी व्यवहृत नहीं है। यह अर्थापकर्ष का उदाहरण है।

कहीं-कहीं अर्थ उत्कर्षगामी होते हैं तो कहीं-कहीं हीनभाव द्योतक बन जाते हैं।

जैन आगमों में प्रयुक्त संभोग शब्द उस काल के अर्थ के आशय का द्योतक है, जब वह शब्द अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में ही प्रयुक्त था।

अत एव इस सूत्र में भिक्षु के सांभोगिक व्यवहार का संबंध भोजन तथा अन्यान्य दैनंदिन क्रियाओं से है।

यहाँ गण शब्द का अर्थ एक बड़े संघ के अन्तर्गत व्यवस्था की दृष्टि से विभाजित समुदायों से है। जिसकी मूलतः आचार विद्या एवं मर्यादाएँ भिन्न नहीं होती।

व्यवस्था की दृष्टि से वे पृथक्-पृथक् विचरणशील होते हैं।

समवायांग सूत्र के १२ वें समवाय में संभोग के १२ भेद बतलाए गए हैं -

१. उपधि - वस्त्र-पात्रादि का आदान-प्रदान।
२. श्रुत - शास्त्रविषयक आचार-विचार या वाचना आदि का आदान-प्रदान।
३. भक्तपान - परस्पर आहार-पानी, औषध आदि का व्यवहार करना।
४. अंजलिप्रग्रह - रत्नाधिक - संयम पर्याय ज्येष्ठ साधुओं के पास अंजलिबद्ध होकर खड़े होना तथा मार्ग आदि में सामने मिलने पर मस्तक झुकाकर करबद्ध होना।
५. दान - शिष्य संपदा का आदान-प्रदान करना।
६. निमंत्रण - शय्या, उपधि, आहार, स्वाध्याय आदि हेतु आमंत्रित करना।
७. अभ्युत्थान - दीक्षा ज्येष्ठ के उपस्थित होने पर उनके सम्मान में खड़े होना।

८. कृत्तिकर्म - विधिवत् वंदन व्यवहार (दीक्षा ज्येष्ठों के प्रति) का पालन करना (प्रतिक्रमण तथा अन्य करणीय अवसरों पर)।

९. वैयावृत्य - शारीरिक सेवा करवाना, आहार आदि लाकर देना, वस्त्र आदि स्वच्छ करना और उनकी सिलाई करना, मल-मूत्र परठना, रुग्णता में औषध-भैषज आदि से सेवा-सुश्रूषा करना तथा आवश्यकतावश अन्य भिक्षु से करवाना।

१०. समवसरण - एक ही प्रवास स्थल पर उठना, बैठना, सोना आदि सामान्य क्रियाएँ करना।

११. सन्निषथा - समान आसन पर बैठना तथा बैठने के लिए स्वयं का आसन देना।

१२. कथाप्रबंध - परिषद् में एक साथ प्रवचन करना।

साध्वियों के लिए श्रुत, अंजलिप्रग्रह, शिष्यदान, अभ्युत्थान, कृत्तिकर्म एवं कथाप्रबंध - ये छह ही सांभोगिक व्यवहार उत्सर्ग मार्ग हेतु विहित किए गए हैं। शेष छह अपवाद मार्ग के अन्तर्गत आते हैं।

ये व्यवहार पार्श्वस्थों, स्वच्छंदचारियों, गृहस्थों या बिना कारण साध्वियों के साथ करने पर भाष्यकार ने विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन किया है, जो जिज्ञासुओं के लिए पठनीय है।

यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि अन्य गण में सांभोगिक व्यवहारार्थ गए साधु को पश्चात् यह मालूम हो कि यहाँ कि परिस्थितियाँ संयम एवं साधना के अनुकूल नहीं हैं अथवा यहाँ संयम और विनय की हानि हो रही है तो उसे तुरन्त उस गण को छोड़ देना चाहिए।

सूत्र में “जत्थुत्तरियं धम्मविणयं णो लभेज्जा एवं से णो कप्पइ अण्णं गणं संभोगपडियाए.....” इस अंतिम वाक्य से यह स्पष्ट है।

क्योंकि पंचमहाव्रतधारी साधु जिस उद्देश्य (ज्ञान-ध्यान की वृद्धि हेतु) से अन्य गण में जाता है, यदि वही उद्देश्य पूर्ण न हो, उलटा संयम एवं आचार की हानि हो तो उसे वहाँ क्षण भर भी नहीं ठहरना चाहिए।

वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में अन्य गण में जाने का विधि-निषेध

भिक्षू य इच्छेज्जा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए:

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, ते य से वियरेज्जा; एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए; ते य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए;

णो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए ॥ २६ ॥

गणावच्छेइए य इच्छेज्जा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, णो से कप्पइ गणावच्छेइयत्तं अणिक्खवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, कप्पइ से गणावच्छेइयत्तं णिक्खवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए;

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए; ते य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए;

णो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए ॥ २७ ॥

आयरियउवज्झाए य इच्छेज्जा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, णो से कप्पइ आयरियउवज्झायत्तं अणिक्खवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, कप्पइ से आयरिय उवज्झायत्तं णिक्खवित्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, णो से कप्पइ अणापुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए;

कप्पइ से आपुच्छित्ता आयरियं वा जाव गणावच्छेइयं वा अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, ते य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए; ते य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए;

णो से कप्पइ तेसिं कारणं अदीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए, कप्पइ से तेसिं कारणं दीवेत्ता अण्णं आयरियउवज्झायं उद्दिसावेत्तए ॥ २८ ॥

कठिन शब्दार्थ - उद्दिशावेत्तए - वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में जाना, **अदीवेत्ता -** (अदीपयित्वा) - कारण प्रकाश में लाए बिना (कारण स्पष्ट किए बिना), **दीवेत्ता -** बतला कर।

भावार्थ - २६. भिक्षु (ज्ञान एवं अनुभववृद्ध) यदि अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में जाना चाहे तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना अन्य गण के आचार्य, उपाध्याय के यहाँ वाचनार्थ जाना नहीं कल्पता है।

उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा से अन्य गण के आचार्य या उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में जाना कल्पता है।

यदि ये आज्ञा दें तभी अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना कल्पता है।

यदि ये आज्ञा नहीं दें तो अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उसे (भिक्षु को) कारण पर प्रकाश डाले बिना - कारण स्पष्ट किए बिना अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदाता के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें कारण बतलाकर अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में जाना कल्पता है।

२७. गणावच्छेदक यदि अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचना प्रदाता गुरु के रूप में जाना चाहे तो उसे गणावच्छेदक के पद पर रहते हुए अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उसे गणावच्छेदक के पद का त्याग कर अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना कल्पता है।

उसे (स्वसंघवर्ती) आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना अन्य गणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचना प्रदाता के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उसे (गणावच्छेदक को) आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा से अन्य गणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा दें तभी अन्य संघ के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना कल्पता है।

यदि वे आज्ञा न दें तो अन्य संघ के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें कारण स्पष्ट किए बिना अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदाता गुरु के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उनके समक्ष कारण स्पष्ट कर अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदाता गुरु के रूप में जाना कल्पता है।

२८. आचार्य-उपाध्याय यदि अन्य गणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना चाहें तो उन्हें स्व-स्व पद का त्याग किए बिना परगणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदाता गुरु के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें अपने पद के समर्पण (त्याग) पूर्वक अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदाता के रूप में जाना कल्पता है।

उन्हें (स्वगणवर्ती) आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा के बिना परगणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें (आचार्य-उपाध्याय को) आचार्य यावत् गणावच्छेदक की आज्ञा से अन्य गणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में जाना कल्पता है।

यदि ये आज्ञा दें तभी अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदाता गुरु के रूप में जाना कल्पता है।

यदि ये आज्ञा न दें तो अन्य गणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें स्पष्ट कारण बतलाए बिना अन्य गण के आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचना प्रदाता गुरु के रूप में जाना नहीं कल्पता है।

उन्हें स्पष्ट कारण बतलाकर अन्य गणवर्ती आचार्य-उपाध्याय के यहाँ वाचनाप्रदायक गुरु के रूप में जाना कल्पता है।

विवेचन - जैन धर्म में ज्ञान एवं आचार दोनों का महत्त्व है। 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' से यह स्पष्ट है। ज्ञान से प्रेरित और प्रमार्जित क्रिया अतीव निर्मल, उज्वल और पावन होती है। अत एव श्रुत या आगमज्ञान यथेष्ट रूप में साधुओं को प्राप्त रहे। आचार्य-उपाध्याय तो विशिष्ट ज्ञानी होने ही चाहिए।

संघ के प्रत्येक गण या गच्छ में आचार्य-उपाध्याय आदि पदों पर सुयोग्य भिक्षु प्रतिष्ठापित होते हैं। सभी में शास्त्राध्ययन आदि की विधिवत् व्यवस्था रहती है किन्तु ऐसे भी कारण कदाचन उपस्थित होते रहते हैं, जिससे किसी गणविशेष में श्रुताध्ययन की समीचीन व्यवस्था नहीं होती। वैसी स्थिति दृष्टिगोचर हो, कारण विशेष स्पष्ट हो तो एक गण के भिक्षु, गणावच्छेदक या आचार्य-उपाध्याय द्वारा इतर गण में आगम वाचना देने हेतु, अध्ययन कराने हेतु जाना कल्पनीय, औचित्यपूर्ण है। क्योंकि मूलतः धर्मसंघ तो एक ही है। गण भिन्नता तो व्यवस्थामूलक है।

जाने के कारण निम्नांकित हो सकते हैं - १. किसी गण या गच्छ के नवमनोनीत आचार्य को पदानुरूप श्रुत का अध्ययन करना अपेक्षित हो परन्तु संघ का दायित्व किसी को सौंपने में असमर्थ हो।

२. गणविशेष के आचार्य व्यवस्था आदि किसी विकट परिस्थिति में हो और अपने क्षेत्र को छोड़कर उनके लिए आना संभव न हो किन्तु श्रुताध्ययन अपरिहार्य हो।

सारांश यह है, किसी गण विशेष के भिक्षु आदि का अन्य गण में अध्यापनार्थ जाना समुचित कारणों के बिना अव्यावहारिक एवं अकल्पनीय कहा है।

इस सूत्र से स्पष्ट है कि गण स्थित भिक्षु या पद विशेष पर अवस्थित सभी साधु आगम-निष्णात हों, यह वांछित रहा है। उसकी पूर्ति हेतु ही ऐसी व्यवस्थाएँ दी गई हैं।

काल धर्म प्राप्त भिक्षु के शरीर को परठने की विधि

भिक्षू य राओ वा वियाले वा आहच्च वीसुंभिज्जा, तं च सरीरगं केइ वेयावच्चकरे भिक्षू इच्छेज्जा एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्टवेत्तए, अत्थि या इत्थि केइ सागारियसंतिए उवगरणजाए अचित्ते परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारियकडं गहाय तं सरीरगं एगंते बहुफासुए थंडिले परिट्टवेत्ता तत्थेव उवणिक्खेवियव्वे सिया ॥ २९ ॥

कठिन शब्दार्थ - राओ - रात्रि में, वियाले - विकाल - संध्याकाल में, वीसुंभिज्जा-कालगत हो जाय।

भावार्थ - २९. यदि कोई भिक्षु कदाचित् रात्रि में या संध्याकाल में कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो उसकी सेवा-सुश्रूषा करने वाले भिक्षु को उसे एकांत में सर्वथा प्रासुक एवं स्थंडिल भूमि पर परिष्ठापित कर देना चाहिए।

यदि वहाँ कोई सागारिक - गृहस्थ का अचित्त उपकरण - वहन काष्ठ इत्यादि प्राप्त हो जाए तो उसे प्रातिहारिक रूप में ग्रहण कर उस भिक्षु के शरीर को (उसकी सहायता से) एकांत, स्थंडिल एवं अचित्त भूमि पर ले जाकर परठ देना चाहिए तथा उस वहन काष्ठ को यथास्थान पूर्ववत् रख देना चाहिए।

विवेचन - यद्यपि किसी साधु का देहावसान हो जाने के अनन्तर गण के अन्य साधुओं का उससे संबंध विच्छेद हो जाता है क्योंकि देह जड़ है। तब तक ही उसका सार्थक्य है जब तक वह प्राण या आत्मा से युक्त हो। साधु को तो अन्ततः देह से मुक्त हो जाना अभीष्ट है। इसलिए तात्त्विक दृष्टि से देह मात्र का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से, क्योंकि वह देह वैसे व्यक्ति की है, जिसका जीवनभर गणस्थित भिक्षुओं के साथ साहचर्य रहा। अतः (व्यावहारिक दृष्टि से) इस सूत्र में ऐसी करणीयता का उल्लेख है, जो सावद्य नहीं है। यदि जहाँ साधु रुके हुए हों, वहाँ समुचित स्थंडिल, अचित्त भूमि प्राप्त न हो तो मृत साधु की देह को प्रातिहारिक रूप में गृहस्थ से कोई वाहन याचित कर अन्यत्र स्थंडिल भूमि में परिष्ठापित करे। परिष्ठापन के पश्चात् उस देह से साधुओं का कोई संबंध नहीं रहता। ऐहिक या लौकिक विधिक्रम के अनुसार उस स्थान के गृहस्थ अनुयायी इसका दाह-संस्कार करते हैं।

अन्य परिस्थापनीय वस्तुओं के परिस्थापन की भूमि पूर्व प्रतिलेखित होने से रात्रि में वे वस्तुएं उस भूमि में परठ दी जाती हैं। अशनादि ग्रहण के बाद अचानक आई हुई आंधी आदि प्राकृतिक विवशताओं से उसका सेवन नहीं कर पाए हों और इधर रात्रि हो गई हों, अशनादि परठने की योग्य स्थण्डिल भूमि प्रतिलेखित नहीं होने से आगम में रात्रि में रखकर दूसरे दिन उन्हें परठने के विधि बताई है। वैसे ही आगमकालीन युग में साधु स्वयं साधर्मिक के देह को योग्य स्थण्डिल में रात्रि में काल कर जाने पर भी दिन में ही जाकर परिस्थापना किया करते थे। अन्तिम समय के मल-मूत्रादि से शरीर भरा हुआ न हो, इसीलिए मृत्यु के बाद शरीर एवं वस्त्रों का प्रतिलेखन करके योग्य वस्त्र पहना कर छोड़ने की विधि है। यह विधि भी रात्रि में संभव नहीं होने से दिन में छोड़ने की परम्परा रही है। पूरी जानकारी के अभाव में एवं भयादि कारणों से यदि कहीं पर रात्रि में छोड़ने की प्रवृत्ति हो गई हो तो उसे विवशता एवं आपवादिक स्थिति समझना चाहिए।

रात्रि व विकाल में मनुष्यों का गमनागमन कम रहता है। साधु के उपाश्रय में भी दिन की अपेक्षा रात्रि व विकाल में लोगों का आना जाना कम रहता है। अतः ऐसे समय में कोई साधु काल कर जावे और लोगों का मालूम नहीं हुआ हो तो साधु सूर्योदय के बाद गृहस्थों से बांस आदि उपकरण पडिहारा लाकर उस मृतक को बहुप्रासुक एकान्त स्थान में परठ दे, फिर उन पडिहारे याचे हुए उपकरणों को वापिस उसी के यहाँ रख दे और यदि लोगों को मालूम (ज्ञात) हो गया हो, लोग उसे परठने के लिए तैयार हो, तब तो साधु को ले जाने की आवश्यकता नहीं है। दिन में तो लोगों का आना-जाना विशेष रहने से प्रायः बहुतेरों को पता लग जाता है। अतः साधु को परठने का प्रसंग कम ही आता है। दिन में भी यदि कोई ले जाने को तैयार नहीं हो तो भी उसी विधि से परठ देना चाहिए। दिन की अपेक्षा रात्रि व विकाल में लोगों को कम मालूम होने के कारण जैनेतर ग्रामों में साधुओं के द्वारा ले जाने के विशेष प्रसंग आ सकते हैं। अतः सूत्र में 'रात्रि व विकाल' शब्द का ग्रहण किया है। ऐसी संभावना है। इस सूत्र में उस समय की परिस्थिति के अनुसार वर्णन किया है। वर्तमान में परिस्थिति बदल जाने से यह विधि नहीं रही है।

भाष्यकार ने अन्तिम क्रिया के संदर्भ में विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने प्रवास स्थल से नैऋत्य कोण (दक्षिण-पश्चिम दिशा) में शव का परिष्ठापन शुभ बतलाया है। इससे संघ में शान्ति एवं समाधि रहती है। यदि ऐसा स्थान प्राप्त न हो तो दक्षिण दिशा या दक्षिण-पूर्व में भी शव को परठा जा सकता है। अन्य दिशाओं में शव परिष्ठापन से संघ में कलह एवं मतभेद की आशंका रहती है।

संध्या या रात्रि में भिक्षु के कालगत होने पर संघ के साधु रात्रि जागरण करते हैं क्योंकि ऐसी मान्यता है कि शव को अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। इसके अलावा शव की अंगुली के मध्य भाग का छेदन करने का भी विधान है जिससे यक्ष, प्रेत आदि बाधा उत्पन्न न हो (क्योंकि क्षत शरीर में प्रेत आदि प्रविष्ट नहीं होते)।

शव को ले जाते समय आगे की ओर पाँव रखना, मुँहपत्ति, रजोहरण, चोलपट्टक आदि को साथ रखना आदि का भी भाष्यकार ने विशेष वर्णन किया है।

इस संदर्भ में अन्य ज्ञापनीय तथ्य भाष्य से पठनीय हैं।

उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में परठने संबंधी विस्तृत वर्णन है। भाष्यकार तो रात्रि में परठने व वस्तुएं लाने का कहते हैं। परन्तु पूर्वजों की धारणा अनुसार याचना विधि दिन में ही करने की

होने से दिन में ही वहन काष्ठ आदि की याचना करके दिन में ही परठने की विधि समझनी चाहिए, रात्रि व विकाल में नहीं। 'रात्रि' व 'विकाल' शब्द के उपलक्षण से 'दिन' का भी ग्रहण समझ लेना चाहिए। भाष्य में आया हुआ इस संबंधी अधिकांश वर्णन उचित नहीं लगता है।

इसके अलावा यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सदगृहस्थ मृत भिक्षु के शरीर की जो भी लौकिक क्रियाएँ करनी चाहें, साधु को उनसे सर्वथा निरपेक्ष रहना चाहिए।

कलहकारी भिक्षु के संदर्भ में विधि-निषेध

भिक्षू य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता-णो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, णो से कप्पइ बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, णो से कप्पइ गामाणुगामं वा दूइजित्तए, गणाओ वा गणं संकमित्तए वासावासं वा वत्थए, जत्थेव अप्पणो आयरियउवज्जायं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, कप्पइ से तस्संतिए आलोइज्जा पडिक्कमिज्जा णिंदिज्जा गरहिज्जा विउट्टिज्जा विसोहिज्जा अकरणाए अब्भुट्टित्तए अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जिज्जा, से य सुएणं पट्टुविए आइयव्वे सिया, से य सुएणं णो पट्टुविए णो आइयव्वे सिया, से य सुएणं णो पट्टुविज्जमाणे णो आइयइ, से णिज्जूहियव्वे सिया ॥ ३० ॥

कठिन शब्दार्थ - अहिगरणं - कलह, अविओसवेत्ता - उपशांत न करे, णिक्खमित्तए - निष्क्रांत होना - निकलना, पविसित्तए - प्रविष्ट होना, दूइजित्तए - विचरण करना, संकमित्तए - संक्रांत होना, वत्थए - वास करना, बब्भागमं - बहु आगम मर्मज्ञ, तस्संतिए - उनके समीप, विउट्टिज्जा - निवृत्त होना चाहिए, अहारिहं - यथोचित, पट्टुविए - प्रस्थापित- दिए गए, आइयव्वे - ग्रहण करने योग्य, णिज्जूहियव्वे - निर्यूहितव्य- पृथक् कर देना चाहिए।

भावार्थ - ३०. यदि कोई साधु कलह कर उसे व्युपशान्त - विशेष रूप से उपशान्त न करे तो उसे भक्तपान हेतु गाथापतिकुल - गृहस्थों के यहाँ भिक्षा हेतु जाना और घर में प्रविष्ट होना नहीं कल्पता ।

उसे प्रवास स्थान के बाहर स्वाध्यायभूमि या उच्चारप्रस्रवण भूमि हेतु आना-जाना नहीं कल्पता।

उसे ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता।

एक गण से दूसरे गण में सम्मिलित होना तथा वर्षावास करना नहीं कल्पता।

जहाँ उसके अपने बहुश्रुत एवं आगमज्ञ आचार्य तथा उपाध्याय हों, उनके पास आलोचना, प्रतिक्रमण, निन्दा, गर्हा आदि द्वारा (अपने पापकर्म का) विशोधन कर दोष निवृत्ति करे।

यदि उसे शास्त्रानुसार प्रस्थापित किया जाए - प्रायश्चित्त द्वारा दोषनिरूपणपूर्वक पुनः स्थापित किया जाए तो उसे स्वीकार करे।

यदि शास्त्रमर्यादानुरूप उसे प्रस्थापित न किया जाए तो वह स्वीकार न करे।

यदि शास्त्रानुसार प्रस्थापित किए जाने पर भी वह (प्रायश्चित्त आदि) स्वीकार न करे तो उसे संघ से निर्यूहित - पृथक् कर देना चाहिए।

विवेचन - क्रोध एक ऐसा विकार है, जिसमें मानव अपना आंपा खो देता है। अपने स्वरूप को भूल जाता है। सामान्यतः भिक्षु सदा जागरूक रहे कि वह प्रतिकूल परिस्थिति में भी कोपाविष्ट न हो। किन्तु वह भी साधनावस्था में है, अतः मानवीय दुर्बलतावश कभी वह तीव्र क्रोधाभिभूत हो जाय तो उसे अपने क्रोध को उपशान्त कर देना चाहिए। यदि ऐसा न कर पाए तो वैसे भिक्षु को इस स्थिति में बाहर जाना इसलिए नहीं कल्पता क्योंकि उस द्वारा अपने साधनामय जीवन के अनुकूल-प्रतिकूल करणीय का (ऐसी दशा में) भान नहीं रहता। साथ ही साथ क्रोधाविष्ट दशा में देखने पर उपासकों के मन में भिक्षु के त्याग-वैराग्यमय जीवन का आदर्श चित्र होता है, उसे ठेस पहुँचती है, पीड़ा होती है और अग्रद्धा भी।

यह भी यहाँ ज्ञातव्य है कि क्रोधावेश चाहे कितना भी तीव्र हो, सामान्यतः वह चिरस्थायी नहीं होता क्योंकि क्रोध कादाचित्क है, सार्वदिक नहीं है। कोई भी व्यक्ति निरंतर क्रोध, हिंसा आदि में प्रवृत्त नहीं रह सकता। अहिंसा, शान्ति आदि आत्मगुणों में ही प्रवृत्ति का सातत्य है।

परिहार तप में अवस्थित भिक्षु का वैयावृत्य विधान

परिहारकप्पट्टियस्स णं भिक्खुस्स कप्पइ आयरियउवञ्जाएणं तद्विसं एगगिहंसि पिण्डवायं दवावित्तए, तेण परं णो से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा कप्पइ से अण्णयरं वेयावडियं करेत्तए, तंजहा - उट्टावणं वा

 (अणुद्रावणं वा) णिसीयावणं वा तुयद्रावणं वा, उच्चारपासवणखेलजल्ल-
 सिंघाणविगिंचणं वा विसोहणं वा करेत्तए, अह पुण एवं जाणेज्जा-छिण्णावाएसु
 पंधेसु आउरे झिंझिए पिवासिए तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा, एवं
 से कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ ३१ ॥

कठिन शब्दार्थ - परिहारकल्पट्टियस्स - परिहारकल्पस्थित, विगिंचणं - परिष्ठापन,
 छिण्णावाएसु - गमनागमन रहित, आउरे - आतुर, झिंझिए - भूख आदि से पीड़ित,
 अणुप्पदाउं - अनुप्रदातुं - बार-बार देना।

भावार्थ - ३१. परिहारकल्पस्थित भिक्षु को, जिस दिन वह परिहार तप स्वीकार करता
 है (केवल) उस दिन आचार्य या उपाध्याय को एक घर से आहार दिलाना कल्पता है।

उसके अनंतर उसे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चतुर्विध आहार देना अथवा बार-
 बार देना नहीं कल्पता (परन्तु) उसका (निम्नांकित प्रकार से) वैयावृत्य करना कल्पता है,
 यथा -

उस भिक्षु को (सहारा देकर) उठाना, बिठाना, त्वगवर्तन करवाना - पसवाड़ा फिरवाना,
 मल, मूत्र, श्लेष्म, कफ, नासामल आदि का परिष्ठापन करना तथा इनसे लिप्त उपकरणों को
 विशोधित या स्वच्छ करना।

पुनश्च, यदि (आचार्य या उपाध्याय) यह जाने कि वह आतुर (ग्लान), बुभुक्षापीड़ित,
 पिपासित (प्यासा), तपस्वी दुर्बल एवं क्लान्त होने से गमनागमन मार्ग में ही मूर्च्छित होकर
 गिर पड़ेगा तो उसे अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चतुर्विध आहार देना या बार-बार देना
 कल्पता है।

विवेचन - परिहार शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'हृ' धातु के योग से बनता है। 'हृ'
 धातु हरने, दूर करने या मिटाने के अर्थ में है। "यत्तोषान् परिहरति, तत्परिहार
 तपः" के अनुसार दोषनाशन के आशय में यह शब्द यहाँ प्रयुक्त है।

अर्थात् 'परिहार तप' ऐसा प्रायश्चित्त है, जिसमें उस साधु को कुछ समय के लिए अपने
 दोषों को अपगत करने हेतु संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इस तप में आचार्य किसी
 योग्य (वैयावृत्य निपुण) भिक्षु को परिहारकल्प स्थित भिक्षु की सेवा में नियुक्त करते हैं। यह
 प्रायश्चित्त मूलक तप उस भिक्षु से इसलिए कराया जाता है ताकि वह मौन रहते हुए, एकान्त

सेवन करते हुए स्व आचरित दुष्कृत्यों की आलोचना, गर्हा एवं निन्दा कर सके, स्वयं को पुनः पूर्ववत् संयम-साधना में उपस्थापित कर सके।

इसमें केवल प्रथम दिन आचार्य द्वारा साथ जाकर स्निग्ध आहार दिलवाने का जो उल्लेख किया गया है, वह इसलिए है कि लोगों को इस संदर्भ में जानकारी हो जाए कि अमुक भिक्षु परिहारकल्पस्थित है।

इसके उपरान्त वैयावृत्य तो करने का विधान है किन्तु आहार आदि उसे प्रदान नहीं किए जाते। छह से आठ परिहारतप करने पर अथवा जितना आचार्य उचित समझते हों अथवा उसकी शारीरिक स्थिति के अनुसार जब वह अत्यंत क्लान्त, दुर्बल और मूर्च्छित होकर गिर पड़ने की स्थिति में आ जाए, दूसरे शब्दों में सर्वथा अशक्त और क्षीण हो जाए तब उसे पुनः आहार देने का विधान किया गया है ताकि आगे की विहार यात्रा आदि में बाधा न आए।

महानदी पार करने की मर्यादा

णो कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा इमाओ पंच महण्णवाओ महाणईओ उद्दिट्ठाओ गणियाओ वंजियाओ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, तंजहा-गंगा जउणा सरयू कोसिया मही, अह घुण एवं जाणेज्जा-एरवई कुणालाए-जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा, एवं से कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा, जत्थ णो एवं चक्किया, एवं से णो कप्पइ अंतो मासस्स दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा उत्तरित्तए वा संतरित्तए वा ॥ ३२ ॥

कठिन शब्दार्थ - इमाओ - ये, उद्दिट्ठाओ - कथित, अभिमत, गणियाओ - गिनी गई, वंजियाओ - व्यक्त - प्रसिद्ध, उत्तरित्तए - तैर कर पार करना, संतरित्तए - नौका आदि की सहायता से पार करना, जउणा - यमुना, सरयू - सरयू या बाघरा, चक्किया - संभव हो सके।

भावार्थ - ३२. निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थिनियों को पाँच महानदियों के रूप में वर्णित, प्रसिद्ध इन नदियों को एक मास में दो बार या तीन बार तैर कर या नौका द्वारा पार करना नहीं कल्पता। वे पाँच नदियाँ इस प्रकार हैं - गंगा, यमुना, सरयू, कोसी तथा मही (या माही)।

यहाँ यह जाने कि एरावती नदी कुणाला नगरी के पास से बह रही है, यदि एक पैर पानी में तथा दूसरा पैर ऊपर उठाए हुए (थल में) उसे पार कर सके तो एक मास में दो बार या तीन बार उत्तीर्ण या संतीर्ण करना कल्पता है। यदि वह इस प्रकार न किया जा सके तो एक महीने में दो बार या तीन बार उसे उत्तरित या संतरित करना नहीं कल्पता।

विवेचन - इस सूत्र में एरावती नदी के संदर्भ में एक पैर जल में तथा एक पैर थल में रखते हुए पार करने का जो विवेचन हुआ, उस संदर्भ में ज्ञातव्य है -

थल का प्रचलित अर्थ स्थल है। जब एक भिक्षु पानी में चलता हुआ नदी को पार करता है तो थल या जमीन पर पैर रखने की तो बात ही घटित नहीं होती है। यह शब्द यहाँ अपने सीधे व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। “स्थितिं लातीति स्थलम्” - के अनुसार इसका अर्थ पानी से ऊपर दूसरे पैर को स्थित रखने या टिकाए रखने के अर्थ में है। स्थल शब्द का भूमि शब्द प्रवृत्तिलभ्य है। प्रवृत्तिलभ्य अर्थ वह होता है जो व्युत्पत्ति के सर्वथा अनुरूप न रहता हुआ किसी एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है।

यहाँ महानदी शब्द में अन्य जलविपुल नदियों का भी अध्याहार हो जाता है।

यह सर्वविदित है कि नाव आदि से नदी को पार करने से जीवों की विराधना होती है। इसके अलावा नाविक आदि को शुल्क आदि भी देना पड़ सकता है।

स्वयं पार करने पर भी षट्कार्यिक जीवों की विराधना तो होती ही है। अत एव विशेष कारणवश माह में एक बार ही पार करने का विधान किया गया है। इस संदर्भ में विशेष विवेचन निशीथ सूत्र में किया गया है।

एक पैर ऊपर उठाकर केवल एक पैर से ही नदी पार करने का जो विधान किया गया है, वह तभी संभव है जब नदी उथली हो अर्थात् जंघार्ध प्रमाण (जंघा से नीचे) जल हो।

घास-फूस से आवृत छत वाले स्थान में प्रवास का विधान

से तणेसु वा तणपुंजेसु वा पलालेसु वा पलालपुंजेसु वा अप्पण्डेसु अप्पपाणेसु
अप्पबीएसु अप्पहरिएसु अप्पुस्सेसु अप्पुत्तिंगपणगदगमट्टिय-मक्कडगसंताणएसु
अहेसवणमायाए णो कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंत-
गिम्हासु वत्थए ॥ ३३ ॥

से तणेसु वा जाव संताणएसु, उप्पिसवणमायाए कप्पइ णिगंगंथाण वा णिगंगंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए हेमंतगिप्फासु वत्थए ॥ ३४ ॥

से तणेसु वा जाव संताणएसु अहेरयणिमुक्कमउडेसु णो कप्पइ णिगंगंथाण वा णिगंगंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥ ३५ ॥

से तणेसु वा जाव संताणएसु उप्पिरयणिमुक्कमउडेसु कप्पइ णिगंगंथाण वा णिगंगंथीण वा तहप्पगारे उवस्सए वासावासं वत्थए ॥ ३६ ॥ ति-बेमि ॥

बिहक्कप्पे चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुञ्ज - समूह, पलाल - शल्य आदि पराल, अप्पण्डेसु - अण्डों से रहित, अप्पपाणेसु - द्वीन्द्रिय आदि जीवों से रहित, अप्पबीएसु - बीजों से रहित, अप्पहरिएसु - अंकुरित बीजादि की हरियाली से रहित, अप्पुस्सेसु - ओस आदि से रहित, उत्तिंग - चींटियों का समूह, पणग - लीलण-फूलण इत्यादि विषयक वनस्पतिकाय, दगमट्टिय-कर्दम - कीचड़, मक्कडगसंताणएसु - मकड़ी के जालों से युक्त, अहेसवणमायाए - कानों से नीचे, अहेरयणिमुक्कमउडेसु - दोनों हाथों को ऊपर उठाकर मिलाने से बनी मुकुट की भाँति आकृति से नीचे, उप्पिं - ऊपर।

भावार्थ - ३३. जो उपाश्रय, तृणों, तृणपुंजों, परालों, परालपुञ्जों से युक्त हो तथा अण्डों, द्वीन्द्रिय आदि जीवों, बीजों, हरियाली, ओस, चींटियों के समूह, लीलण-फूलण संज्ञक वनस्पति विशेष की जड़ तथा मकड़ी आदि के जालों से युक्त न हो तथा उस (उपाश्रय) की ऊँचाई कानों से नीची हो तो इस प्रकार के उपाश्रय में साधु-साध्वियों को हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में रहना नहीं कल्पता है।

३४. कोई उपाश्रय तृणों से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से युक्त न हो तथा उसकी छत की ऊँचाई कानों से ऊँची हो तो उस प्रकार के उपाश्रय में साधु-साध्वियों को हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में रहना कल्पता है।

३५. कोई उपाश्रय तृणों से निर्मित हो यावत् मकड़ी के जालों से युक्त न हो तथा रत्तिमुक्कमुकुट - खड़े व्यक्ति द्वारा हाथों को ऊपर उठाकर मिलाने से बनी मुकुट की भाँति आकृति से छत की ऊँचाई कम हो (मिले हुए हाथ स्पर्श करें) तो ऐसे उपाश्रय में साधु-साध्वियों को वर्षावास में रहना नहीं कल्पता है।

३६. यदि कोई उपाश्रय तृणों से बना हो यावत् मकड़ी के जालों से रहित हो और पूर्ववर्णित रत्निमुक्तमुकुट से उस उपाश्रय के छत की ऊँचाई अधिक हो तो वैसे उपाश्रय में साधु-साध्वियों को वर्षावास में रहना कल्पता है।

इस प्रकार बृहत्कल्प का चतुर्थ उद्देशक समाप्त होता है।

विवेचन - प्रथम एवं द्वितीय सूत्र में घास-फूस से बने उस उपाश्रय में हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में रहने का निषेध किया गया है, जिसकी ऊँचाई कानों की ऊँचाई से कम हो।

क्योंकि इस प्रकार के उपाश्रय में बार-बार सिर छत से टकरायेगा तथा घास या मिट्टी के कण बार-बार नीचे गिरने की संभावना रहेगी। अतः ऐसे स्थान में अल्प समय का प्रवास ही उत्तम रहता है।

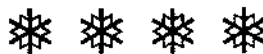
वर्षावास में रत्निमुक्तमुकुट (दोनों हाथों को ऊँचा कर मिलाने से बनी मुकुट जैसी आकृति) माप से ऊँची छत वाले उपाश्रय में प्रवास का विधान किया गया है। क्योंकि ऐसा स्थान असुविधाजनक तो होता ही है इसके अलावा वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि में भी एकाग्रता भंग होती है, सविधि पालन में विघ्न आता है। क्योंकि लम्बे समय तक रहने में हाथ आदि ऊँचे करने का भी प्रसंग बन सकता है।

अतः दीर्घावधि प्रवास रत्निमुक्तमुकुट के परिमाण युक्त हो।

इस प्रकार के उपाश्रयों में बिना कारण प्रवास करने पर भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का विधान किया है।

इसके अलावा कम ऊँचाई वाले उपाश्रय में रहते हुए आने वाले कष्टों एवं उनके निवारणार्थ उपायों का भी भाष्यकार ने विवेचन किया है, जो जिज्ञासुओं के लिए पढ़ने योग्य है।

॥ बृहत्कल्प सूत्र का चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥



पंचमो उद्देशओ - पञ्चम उद्देशक

विकुर्वणाप्रसूत विपरीत लिङ्गीय दिव्य शरीर संस्पर्श का प्रायश्चित्त

देवे य इत्थिरूवं विउच्चित्ता णिग्गंथं पडिग्गाहेज्जा, तं च णिग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहाणट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १ ॥

देवे य पुरिसरूवं विउच्चित्ता णिग्गंथिं पडिग्गाहेज्जा, तं च णिग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ २ ॥

देवी य इत्थिरूवं विउच्चित्ता णिग्गंथं पडिग्गाहेज्जा, तं च णिग्गंथे साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ३ ॥

देवी य पुरिसरूवं विउच्चित्ता णिग्गंथिं पडिग्गाहेज्जा, तं च णिग्गंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - इत्थिरूवं - स्त्री का रूप, विउच्चित्ता - विकुर्वित कर, पडिग्गाहेज्जा- प्रतिगृहीत - आलिंगित करे, साइज्जेज्जा - सुखद अनुभूति करे, मेहुणपडिसेवणपत्ते - मैथुन भाव प्रतिसेवन रूप - भोगासक्तिमय।

भावार्थ - १. यदि कोई देव स्त्री रूप को विकुर्वित कर निर्ग्रन्थ को प्रतिगृहीत करे - आलिंगन करे तथा निर्ग्रन्थ उस स्पर्श से सुख अनुभव करे - उसका अनुमोदन करे तो वह (भावतः) मैथुन सेवन दोष को प्राप्त करता है एवं अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

२. यदि कोई देव पुरुष रूप की विकुर्वणा कर निर्ग्रन्थी का आलिंगन करे तथा साध्वी उसका अनुमोदन करे तो वह (भावों से) मैथुन सेवन के दोष की प्रतिभागी होती है तथा अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की पात्र होती है।

३. यदि कोई देवी विकुर्वणा शक्ति से स्त्री रूप धारण कर निर्ग्रन्थ का आलिंगन करे तथा निर्ग्रन्थ उसमें सुखद अनुभूति करे तो (भावतः) मैथुन सेवन दोषों की प्राप्ति के परिणामस्वरूप उसे अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।

४. यदि कोई देवी पुरुष रूप को विकुर्वित कर साध्वी का आलिंगन करती है और साध्वी उसका अनुमोदन करती है तो वह (मैथुन सेवन न करते हुए भी) भावतः मैथुन सेवन के दोष को प्राप्त करती है तथा अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की भागी होती है।

विवेचन - देव या देवी द्वारा विकुर्वणाजनित स्त्री या पुरुष रूप में वासनात्मक भाव से साधु या साध्वी के देह संस्पर्श का जो प्रसंग आया है, देव-देवी अपने विकुर्वित रूप से अदृश्य होकर किसी भी सुरक्षित स्थान पर रहे हुये ऐसा कर सकते हैं। वहाँ यह सहज ही प्रसंग उपस्थित होता है कि इन्हें स्वजातिगत भोग संपूर्ति का यथेष्ट अवसर प्राप्त रहता है तथा रूप सौन्दर्य भी उनका पुरुषों एवं नारियों से अत्यधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है फिर देव विकुर्वणा कर वैसा करने का भाव उनके मन में क्यों उत्पन्न होता है?

यहाँ दो तथ्य सामने आते हैं - कोई मिथ्यात्वी देव या देवी निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनी को विचलित करने हेतु ऐसा उपक्रम कर सकते हैं क्योंकि इन्हें संयम से पतित करने में इनकी दूषित मानसिकता परितोष पाती है।

आगमों में इसे अनुकूल परीषह के रूप में व्याख्यात किया गया है। अनुकूल होने पर भी परीषह इसलिए है कि वह संयम के लिए कष्टप्रद एवं विघातक है।

दूसरा तथ्य यहाँ यह है कि देवों में भी मानवों की तरह भोगादि सेवन में वैविध्य प्रतिसेवना का भाव तो रहता ही है। देवगति संबद्ध भोगों का नैरन्तर्य तद्विषयक कुछ नवीनता या भिन्नता की भोगानुभूति का भाव उत्पन्न कर सकता है। तत्पूर्ति हेतु भी देवों और देवियों द्वारा ऐसे उपक्रम आशंकित हैं।

साधु-साध्वी ऐसी स्थिति में सर्वथा अविचलित रहें यह वांछित है किन्तु कदाचन जरा भी मानसिक विचलन हो जाय, उसमें आस्वादानुभूति होने लगे तो वह दोष है।

इसी के प्रायश्चित्त की यहाँ चर्चा है।

कलहोपरान्त आगत भिक्षु के प्रति कर्तव्यशीलता

भिक्षु य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसवेत्ता इच्छेज्जा अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ तस्स पंच राइंदियं छेयं कट्टु परिणि(व्वा)व्ववियर दोच्चंपि तमेव गणं पडिणिज्जाएयव्वे सिया, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥ ५ ॥

११३ सूर्योदय से पहले एवं सूर्यास्त के पश्चात् आहारग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

कठिन शब्दार्थ - अविओसवेत्ता - क्रोधादि का उपशमन किए बिना, उवसंपजित्ताणं- (अन्य गण की आज्ञा) स्वीकार करना, परिणिव्वाविय - कषायग्नि को उपशान्त कर, पडिणिज्जाएयव्वे - भेज देना चाहिए, पत्तियं - प्रतीति या विश्वास।

भावार्थ - ५. (कोई) भिक्षु कलह कर उसका उपशमन किए बिना (क्रोधावेश में) अन्य गण की आज्ञा स्वीकार करना चाहे - अन्य गण में शामिल होने की इच्छा करे तो उसे पांच दिवा-रात्रि का दीक्षा छेद देकर, शान्त-उपशान्त करते हुए दुबारा उसी गण में लौटा देना चाहिए अथवा पूर्वगण को जैसी प्रतीति हो, उसी प्रकार इस संबंध में करना चाहिए।

विवेचन - किसी भी साधु के लिए क्रोधादि करना किसी भी प्रकार से आगम सम्मत नहीं है। यह ऐसा कषाय है, जो क्षणभर में वर्षों की साधना को धूल में मिला सकता है। इस संदर्भ में पूर्व में विवेचन किया जा चुका है।

ऐसे अवसर आचार्य, उपाध्याय आदि किसी के द्वारा भी परिस्थितिवश उपस्थित हो सकते हैं। अतः भाष्यकार ने इनके लिए अलग-अलग प्रायश्चित्त आदि के विधान किए हैं, जो जिज्ञासुओं के लिए पठनीय हैं।

सूर्योदय से पहले एवं सूर्यास्त के पश्चात् आहारग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

भिक्षू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए णिव्वित्तिगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा-अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचिमाणे वा विसोहेमाणे वा णा(णोअ)इक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्पासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ ६ ॥

भिक्षू य उग्गयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे संथडिए विइगिच्छासमावण्णे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा-अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचिमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्पासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ ७ ॥

भिक्षु य उगयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए णिव्वित्तिगिच्छे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा - अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयण-पडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ ८ ॥

भिक्षु य उगयवित्तीए अणत्थमियसंकप्पे असंथडिए विइगिच्छासमावण्णे असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता आहारमाहारेमाणे अह पच्छा जाणेज्जा-अणुग्गए सूरिए अत्थमिए वा, से जं च मुहे जं च पाणिंसि जं च पडिग्गहे तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ, तं अप्पणा भुंजमाणे अण्णेसिं वा दलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - उगयवित्तीए - उदगतवृत्तिक - सूर्योदय के पश्चात् भिक्षाचर्या करने वाला, अणत्थमियसंकप्पे - सूर्यास्त से पूर्व आहार सेवी, संथडिए - समर्थ, णिव्वित्तिगिच्छे - विचिकित्सा या शंका रहित, अणुग्गए - अनुदित - सूर्य उदय नहीं हुआ, अत्थमिए - अस्त हो गया है, विगिंचिमाणे - परिष्ठापित करता हुआ, अइक्कमइ - उल्लंघन करता है।

भावार्थ - ६. सूर्योदय के पश्चात् और सूर्यास्त से पूर्व अर्थात् दिन में भिक्षाचर्या के नियम वाला, असंदिग्घता जानने में समर्थ - तद्विषयक संदेह रहित ज्ञान में समर्थ भिक्षु अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य को ग्रहण करता हुआ यह जाने -

सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्य अस्त हो गया है, उस समय यदि आहार का कौर उसके मुंह में, हाथ में या पात्र में है तो वह उसे परिष्ठापित कर दे तथा अपने मुंह आदि को शुद्ध कर ले।

यों करने वाला जिनेश्वर देव की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता है।

यदि उस आहार को वह स्वयं खा ले या दूसरे साधु को दे दे तो उस पर रात्रि भोजन का दोष आता है तथा तदनुसार वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

७. सूर्योदय के अनन्तर या सूर्यास्त के पहले भिक्षाचर्या का संकल्पी (भिक्षु) सूर्योदय या

११५ सूर्योदय से पहले एवं सूर्यास्त के पश्चात् आहारग्रहण विषयक प्रायश्चित्त

सूर्यास्त के संबंध में संदिग्ध ज्ञानयुक्त भिक्षु अशन, पान, खादिम, स्वादिम स्वीकार करता हुआ यदि जाने -

सूरज नहीं उगा है या सूर्यास्त हो गया है तो उस समय जो आहार उसके मुख, हाथ या पात्र में हो, उसे परठ दे तथा मुख आदि को शुद्ध कर ले। ऐसा कर वह जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

यदि वह उस आहार को स्वयं खा ले या दूसरे साधु को दे दे तो उसे रात्रि भोजन का दोष लगता है। तदनुसार वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

८. सूर्योदय के अनन्तर और सूर्यास्त के पूर्व भिक्षाचर्या में वर्तनशील तथा सूर्योदय या सूर्यास्त की असंदिग्धता जानने में असमर्थ भिक्षु अशन, पान आदि चतुर्विध आहार ग्रहण करता हुआ यदि यह जाने -

सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्य अस्त हो गया है, उस समय यदि आहार का कौर उसके मुँह में, हाथ में या पात्र में है तो वह उसे परिष्ठापित कर दे तथा अपने मुँह आदि को शुद्ध कर ले तो जिनेश्वर देव की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

यदि वह उस आहार को स्वयं खाले या दूसरे साधु को दे दे तो उसे रात्रि भोजन का दोष लगता है। तदनुसार वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

९. सूर्योदय के अनन्तर या सूर्यास्त के पूर्व भिक्षाचारी के नियम वाला भिक्षु जो सूर्योदय या सूर्यास्त के ज्ञान में असमर्थ हो, अशन, पान, खादिम, स्वादिम रूप चतुर्विध आहार ग्रहण करता हुआ यह जाने कि सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो गया है, उस समय जो आहार उसके मुख, हाथ या पात्र में हो, उसे परठ दे तथा अपने मुँह आदि को शुद्ध कर जिनेश्वर की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

यदि वह उस आहार को स्वयं खा ले या दूसरे साधु को दे दे तो उसे रात्रि भोजन का दोष लगता है। तदनुसार वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्रायश्चित्त का भागी होता है।

विवेचन - इस सूत्र में उद्गतवृत्तिक, संस्तृत, असंस्तृत, निर्विचिकित्स एवं विचिकित्स शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त हैं।

उद्गतवृत्तिक - "उद्गते उदिते सूर्ये वृत्तिः भिक्षादि संयमोचित व्यवहारो

यस्य स उद्गतवृत्तिकः” इस व्युत्पत्ति के अनुसार उद्गतवृत्तिक का आशय सूर्योदय के पश्चात् भिक्षोपसेवी से है। रात्रि भोजन का सर्वथा त्याग होने से सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के पश्चात् किसी भी प्रकार के अशन, पान आदि चतुर्विध आहार एवं औषधादि सेवन का भिक्षु के लिए सर्वथा निषेध है। प्राणों की कीमत पर भी साधु रात्रिभोजी नहीं होता क्योंकि साधु के जीवन में प्राणों का महत्त्व नहीं है अक्षुण्ण रूप में व्रतों की परिपालना या संयम साधना का महत्त्व है। इसी तथ्य पर विविध अपेक्षाओं से सूत्र में प्रकाश डाला गया है।

संस्तृत - ‘संस्तृत’ शब्द सामर्थ्ययुक्त, स्वस्थ एवं यथेष्टभोजी भिक्षु के लिए हुआ है।

असंस्तृत - वृद्धावस्था, रुग्णता, विहार यात्रा की परिश्रान्ति, तीव्र तपश्चरण इत्यादि के कारण उत्पन्न असमर्थता के लिए असंस्तृत शब्द का यहाँ व्यवहार हुआ है।

विचिकित्स - यह शब्द विचिकित्सा से बना है। **“विगता चिकित्सा निश्चयात्मिका बुद्धिः यत्र सा विचिकित्सा”** - इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह शब्द संशय का द्योतक है।

जैसे दीपक आदि की रोशनी में सूर्यास्त होने पर भी संशयापन्न रहना। प्रामाणिक व्यक्तियों के कहने से संदेह रहित होना। पहले शंकाशील होने पर भी बाद में शंका रहित होना। यह अर्थ अध्याहार्य गम्य है। ऐसा अर्थ करने पर अन्य सूत्रों से बाधा नहीं आती है।

निर्विचिकित्सा - **“निर्गता विचिकित्सा यस्याः”** - जिससे विचिकित्सा - संशयापन्न बुद्धि निर्गत हो चुकी है।

अर्थात् सूर्योदय हुआ है अथवा नहीं, इस प्रकार से संशयापन्न बुद्धि का न होना।

एतद्विषयक यत्किंचित् असावधानीवश यदि आहार सेवन हो जाय तो वह वहाँ अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

यहाँ भिक्षु की आहारशुद्धि के संदर्भ में जो विश्लेषण हुआ है, वह अत्यन्त सूक्ष्मता लिए हुए है। यहाँ भिक्षु के जीवन के उस क्षण की चर्चा है, जब वह आहार करने बैठता है। उस समय उसके ज्ञान में असंदिग्ध रूप में यह आभासित होता है कि सूर्योदय नहीं हुआ है या सूर्यास्त हो चुका है तो मुंह में लिया हुआ कौर, पात्र में रखा हुआ आहार आदि अग्राह्य एवं परिष्ठापनीय है।

इसे निर्विचिकित्सा (असंदिग्धता), विचिकित्सा (संदिग्धता), संस्तृत (समर्थ) तथा असंस्तृत (असमर्थ) - इन चारों शब्दों के पारस्परिक समन्वय के साथ भाषा की सूक्ष्मता के आधार

पर चार विकल्पों में प्रदर्शित किया गया है, जो जैन आचार की सूक्ष्मावगाहिनी पद्धति के द्योतक हैं।

वमन विषयक प्रायश्चित्त

इह खलु णिगंथस्स वा णिगंथीए वा राओ वा वियाले वा सपाणे सभोयणे उग्गाले आगच्छेज्जा, तं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ, तं उगिगलित्ता पच्चोगिलमाणे राइभोयणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ १० ॥

कठिन शब्दार्थ - सपाणे - जल युक्त, सभोयण - अन्नादि भोजन युक्त, उग्गाले - उद्गाल या वमन, आगच्छेज्जा - आये, उगिगलित्ता - उगले हुए - वमन के रूप में मुँह में आए हुए, पच्चोगिलमाणे - पुनः गले से नीचे उतार ले।

भावार्थ - १०. साधु या साध्वी को रात या संध्याकाल के समय जल युक्त या अन्नादि आहार युक्त उद्गाल - वमन (उल्टी) आ जाए तो यदि वह उसे थूक दे - परठ दे, मुँह को शुद्ध कर ले तो वह जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता। यदि वह उस वमन के रूप में आए हुए आहार आदि को पुनः गले से नीचे उतार ले तो वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।

विवेचन - उद्गाल शब्द उत् उपसर्ग एवं गल् धातु के योग से बनता है। “उत् ऊर्ध्वं गलति - अशितमन्नं पानादिकं मुखामिमुखमागच्छतीति उद्गालम्” - इस व्युत्पत्ति के अनुसार खाया हुआ अन्न-पान आदि जब वमन रूप में आता है, उसे उद्गाल कहा जाता है।

अजीर्ण, वात-पित्तादि दोष, अधिक भोजन इत्यादि इसके कारण हैं। इनमें से किसी कारण वश साधु या साध्वी को अन्नादियुक्त या केवल जल, पित्तादि युक्त वमन हो जाय तो वह उसे कदापि वापस न निगले क्योंकि वैसा होने से उदर से बहिर्गत अन्न-पानादि पुनः उदर में जाते हैं और रात्रिभोजन का दोष लगता है। यद्यपि वह विधिवत् भोजन का रूप तो नहीं किन्तु जैसे भी हो, अन्न-पानादि का आमाशय में पुनर्गमन तो है ही। निगलने में भी किंचिद्मात्र अशन-पान के सेवन का भाव भी संभावित है। आहार विषयक शुद्धचर्या का यह परमोत्कृष्ट रूप है, जो श्रमण जीवन की अतीव निर्दोष चर्या का ज्ञान कराता है।

सचित्त समायुक्त आहार के अशन एवं परिष्ठापन का विधान

णिगगंथस्स य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिगगहंसि पाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेजा, तं च संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं पुब्बामेव विगिंचिय विसोहिय तओ संजयामेव भुंजेज्ज वा पिएज्ज वा, तं च णो संचाएइ विगिंचित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं णो अप्पणा भुंजेज्जा णो अण्णेसिं दावए एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता पमज्जित्ता परिट्टवेयव्वे सिया ॥ ११ ॥

कठिन शब्दार्थ - परियावज्जेजा - गिर जाए, विगिंचित्तए - परिष्ठापित करे, विसोहेत्तए - विशोधित करे।

भावार्थ - ११. सद्गृहस्थ के घर में अशन-पान हेतु संप्रविष्ट साधु के पात्र में यदि कोई प्राणी (सूक्ष्म), बीज या सचित्त रज गिर जाए और यदि उसे अलग किया जा सके, विशोधित किया जा सके - आहार को तद्रहित किया जा सके तो उसे पहले लाकर सचित्त प्राणी आदि को निकाल दे, यों आहार को विशोधित करे, तदनन्तर यतनापूर्वक उसका उपयोग करे।

यदि आहार को विशोधित करना संभव न हो तो न स्वयं उसका उपयोग करे और न दूसरों को ही दे अपितु एकांत, स्थंडिल भूमि को प्रतिलेखित, प्रमार्जित कर वहाँ उसे परठ दे।

विवेचन - भिक्षु के प्रति अत्यंत श्रद्धाशील श्रमणोपासक उन्हें भिक्षा देते समय यह सदैव ध्यान रखते हैं कि उन द्वारा आचरित नियम-उपनियमों का वे सदैव पालन करें। अतः साधुओं को सदैव सर्वथा प्रासुक एवं एषणीय आहार ही प्रदान करते हैं।

कदाचित् ऐसे प्रसंग बन जाते हैं कि भूलवश या अज्ञानतावश किसी अचित्त, एषणीय खाद्य पदार्थ के साथ सचित्त द्विन्द्रिय आदि छोटे प्राणी अथवा सचित्त बीज आदि चिपक कर आ जाते हैं। इन्हें यदि सावधानीवश, बिना हानि पहुँचाए अलग करना संभव हो तो अवश्य ही अलग कर देना चाहिए तथा अवशिष्ट अचित्त पदार्थ का उपयोग करना चाहिए।

यदि ऐसा पदार्थ (तरल आदि) हो, जिसमें से अलग किया जाना संभव नहीं हो तो साधु के लिए उसे सर्वथा प्रासुक एषणीय एवं स्थंडिल भूमि में परठ देना चाहिए।

भाष्यकार ने अन्य दिशा-निर्देशों के साथ यह भी बतलाया है कि परिष्ठापन श्रावक के

सामने नहीं होना चाहिए क्योंकि वह तो अपनी अज्ञानता या भूल से अपरिचित होता है। अतः सामने परिष्ठापन से उसकी श्रद्धा को ठेस पहुँच सकती है।

पुनश्च, यह निर्णय साधु को ही करना होता है कि प्राप्त आहार सर्वथा अचित्त, प्रासुक है या नहीं।

परिपतित सचित्त जलबिन्दुमय आहार का ग्रहण विधान

णिगगंथस्स य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स अंतो पडिगगहंसि दए वा दगरए वा दगफुसिए वा परियावज्जेजा, से य उसिणे भोयणजाए, भोत्तव्वे सिया, से य सीए भोयणजाए, तं णो अप्पणा भुंजेजा णो अण्णेसिं दावए एगंते बहुफासुए थंडिले पडिलेहिता पमज्जिता परिदुवेयव्वे सिया ॥ १२ ॥

कठिन शब्दार्थ - दए - जल, दगरए - जलमिश्रित मृत्तिका कण, दगफुसिए - जल बिन्दु - ओस, उसिणे - उष्ण - गर्म।

भावार्थ - १२. निर्ग्रन्थ, भिक्षा प्राप्ति हेतु सदगृहस्थ के घर में प्रवेश करे और वहाँ प्राप्त आहार में यदि जल, जलयुक्त रजकण या ओस बिन्दु गिर जाए किन्तु भोजन यदि उष्ण हो तो वह परिभोग करने योग्य होता है। यदि भोजन (उष्ण न हो) ठण्डा हो तो न तो स्वयं खाए तथा न अन्यो को दे अपितु एकान्त, सर्वथा प्रासुक एवं स्थंडिल भूमि को प्रमार्जित कर उसे परठ दे।

विवेचन - इस सूत्र में आहार की शुद्धता पर विशेष रूप से चर्चा की गई है। जीवन के लिए आहार परमावश्यक है। अतः उसके विविध पक्षों को लेकर आगमों में विवेचन हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि साधु किसी भी स्थिति में अप्रासुक आहार का सेवन न करे। सचित्त जल बिन्दु आदि के गिर जाने पर जो लेने का विधान किया गया है, उसका आशय यह है कि उष्णता के कारण वे जलबिन्दु अचित्त हो जाते हैं, शास्त्रीय भाषा में शस्त्रपरिणत हो जाते हैं। उष्णत्व जलादिगत सचित्तता का नाशक होने से उनके लिए शस्त्र रूप है। जिस प्रकार खड्ग आदि शस्त्र से व्यक्ति का हनन किया जाता है, उसी प्रकार उष्णत्व की तीव्रता से संप्राणता नष्ट हो जाती है।

यहाँ इतना विशेष रूप से और ज्ञातव्य है -

यदि आहार की मात्रा कम हो, सचित्त पदार्थ अधिक मात्रा में गिरे हों तथा ऐसा प्रतीत

हो कि वे अचित्त नहीं हुए हैं तो साधु उस आहार का उपयोग न करे। इस संदर्भ में निर्णय करना उसके अपने विवेक पर आधारित है।

शीत भोजन में गिरा हुआ पानी का बिन्दु आदि यदि अलग करने में जीवों की सुरक्षा हो सकती हो तो सुरक्षा करना चाहिए। प्रयत्न पूर्वक भी यदि सुरक्षा नहीं की जा सकती हो तो वह आहार परिस्थापनीय नहीं होता है। भाष्य में इस संबंध में विस्तार से वर्णन है।

पशु-पक्षी के संस्पर्श से अनुभूत मैथुनभाव का प्रायश्चित्त

णिगगंथीए य राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अण्णयरे पसुजाईए वा पक्खिजाईए वा अण्णयरइंदियजाए तं परामुसेज्जा, तं च णिगगंथी साइज्जेज्जा, हत्थकम्मपडिसेवणपत्ता आवज्जइ मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १३ ॥

णिगगंथीए य राओ वा वियाले वा उच्चारं वा पासवणं वा विगिंचमाणीए वा विसोहेमाणीए वा अण्णयरे पसुजाईए वा पक्खिजाईए वा अण्णयरंसि सोयंसि ओगाहेज्जा, तं च णिगगंथी साइज्जेज्जा, मेहुणपडिसेवणपत्ता आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं अणुग्घाइयं ॥ १४ ॥

कठिन शब्दार्थ - पसुजाईए - पशु ज्ञातीय, पक्खिजाईए - पक्षी जातीय, अण्णयरे- अन्यतर, परामुसेज्जा - स्पर्श हो जाए, सोयंसि - स्रोत में - जननेन्द्रिय (योनि) में।

भावार्थ - १३. रात्रि में या संध्यावेला में कोई साध्वी मल-मूत्र त्याग हेतु जाए तो उस समय कोई पशु या पक्षी द्वारा उसके किसी इन्द्रिय का संस्पर्श हो जाए तथा वह उसमें मैथुनजनित सुखानुभूति करे तो उसे (कुत्सित) हस्तकर्म दोष लगता है तथा उसे अनुद्घातिक मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१४. रात्रि में या संध्या वेला में कोई साध्वी मल-मूत्र त्याग हेतु जाए तो उस समय कोई पशु या पक्षी उसके जननेन्द्रिय का अवगाहन करे तथा वह उसमें मैथुन जनित सुखानुभूति करे तो उसे मैथुन कर्म दोष लगता है तथा वह अनुद्घातिक चातुर्मासिक प्रायश्चित्त की भागी होती है।

विवेचन - साधनामय जीवन में ब्रह्मचर्य का सर्वाधिक महत्त्व है। अन्यान्य ऐहिक सुख-भोगों की अपेक्षा स्पर्शनेन्द्रिय सुख की व्यक्ति में अपेक्षाकृत रूप से सर्वाधिक वासना

रहती है। साध्वी के नारी जीवन की दृष्टि से इस ओर इसलिए विशेष ध्यान दिया गया है कि उसकी दैहिक संस्थिति, कोमलता तज्जनित स्पर्शानुभूति इत्यादि की दृष्टि से उसके शील भंग की अधिक स्थितियाँ आशंकित रहती हैं।

मनुष्यों से ही नहीं, पशु-पक्षियों से भी शील विषयक बादा उत्पन्न होने की स्थिति आ जाती है। अर्द्धमानवीय देहसंस्थिति युक्त पशु (जैसे बंदर) आदि इस संदर्भ में अकस्मात् अंगस्पर्श कर सकते हैं।

भाष्यकार ने तो यहाँ तक लिखा है कि जिस प्रदेश में वानर, मयूर आदि अधिक हों, वहाँ साध्वी उच्चार-प्रस्रवण हेतु एकाकी न जावे, एक साध्वी साथ जाए तथा हाथ में दण्ड लेकर जाए जिससे इन स्थितियों से बचा जा सके। दण्ड लेने का अभिप्राय उन्हें मारने से नहीं है, वरन् वे उससे सहज ही सशंक रहते हैं तथा बाधा उत्पन्न नहीं करते हैं।

यहाँ पर उपर्युक्त दोनों सूत्रों में जो प्रायश्चित्त बताया है, वह मानसिक भावों की अपेक्षा समझना चाहिए। कायिक प्रतिसेवना का प्रायश्चित्त तो अत्यधिक होता है।

साध्वी को एकाकी गमन का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथीए एगाणियाए होत्तए ॥ १५ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवाय पडियाए णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ १६ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए एगाणियाए बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ १७ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए एगाणियाए गामाणुगामं दूइज्जित्तए वासावासं वा वत्थए ॥ १८ ॥

भावार्थ - १५. निर्ग्रन्थिनी को एकाकिनी (अकेली) होना नहीं कल्पता है।

१६. एकाकिनी निर्ग्रन्थिनी को गृहस्थ के घर में आहारार्थ प्रविष्ट होना और निकलना नहीं कल्पता है।

१७. निर्ग्रन्थिनी को अकेले विचार भूमि (उच्चार-प्रस्रवण विसर्जन स्थान) और विहार भूमि (स्वाध्याय स्थान) में जाना कल्पनीय नहीं कहा गया है।

१८. साध्वी को एक गाँव से दूसरे गाँव एकल विहार करना एवं वर्षावास (एकाकी) करना कल्प्य नहीं होता।

विवेचन - एकाकिनी साध्वी के गमनामन एवं वर्षावास आदि का जो निषेध किया गया है, वह उसकी दैहिक संस्थिति को दृष्टि में रखते हुए किया गया है क्योंकि अकेली साध्वी के साथ दुराचरण या दुर्व्यवहार आदि की हमेशा आशंका बनी रहती है। इसीलिए इसे शास्त्रमर्यादानुसार अकल्पनीय कहा है। इस संदर्भ में पूर्व में भी चर्चा की जा चुकी है।

साध्वी को वस्त्र-पात्र रहित होने का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथीए अचेलियाए होत्तए ॥ १९ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए अपाइयाए होत्तए ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - अचेलियाए - वस्त्र रहित, अपाइयाए - पात्र रहित।

भावार्थ - १९. साध्वी का वस्त्र रहित होना अकल्पनीय होता है।

२०. साध्वी का पात्र रहित होना कल्पनीय नहीं होता।

विवेचन - विविध प्रकार के साधनाक्रमों में, यथा - जिनकल्पी साधना में भिक्षु वस्त्र रहित होकर संयमाराधना में प्रवृत्त होता है। यह उसके लिए जिनाज्ञानुसार एवं कल्पनीय होता है परन्तु साध्वी के लिए यह सर्वथा निषिद्ध है। वह जिनकल्पी नहीं हो सकती।

इसके अलावा उसके लिए पात्र रहित होना भी अविहित कहा गया है क्योंकि आहार-नीहार आदि के प्रसंगों में पात्रों की आवश्यकता होती है।

जैसा पूर्व सूत्र में विवेचित हुआ है, यह निषेध साध्वी के दैहिक संस्थान के कारण किया गया है क्योंकि वस्त्र रहित होने पर कामुक एवं अज्ञ पुरुष द्वारा साध्वी पर कुदृष्टि डाली जा सकती है, उसके लिए उपसर्ग उत्पन्न किया जा सकता है।

साध्वी के लिए आसनादि का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथीए वोसट्टकाइयाए होत्तए ॥ २१ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए बहिया गामस्स वा जाव (रायहाणीए) सणिवेसस्स वा उट्ठं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहीए एगपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए । कप्पइ

से उवस्सयस्स अंतो वगडाए संघाडिपडिबद्धाए पलंबिय बाहियाए समतलपाइयाए ठिच्चा आयावणाए आयावेत्तए ॥ २२ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए ठाणाइयाए होत्तए ॥ २३ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए पडिमड्ढावियाए होत्तए ॥ २४ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए णेसज्जियाए होत्तए ॥ २५ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए उक्कुडुगासणियाए होत्तए ॥ २६ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए वीरासणियाए होत्तए ॥ २७ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए दण्डासणियाए होत्तए ॥ २८ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए लगण्डसाइयाए होत्तए ॥ २९ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए ओमंथियाए होत्तए ॥ ३० ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए उत्ताणियाए होत्तए ॥ ३१ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए अम्बखुज्जियाए होत्तए ॥ ३२ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथीए एगपासियाए होत्तए ॥ ३३ ॥

कठिन शब्दार्थ - वोसडुकाइयाए - सर्वथा व्युत्सर्जित कर - वोसिरा कर, पगिज्जिय-
प्रगृहीत कर - उठाकर, सूर्याभिमुहीए - सूर्याभिमुख होकर, एगपाइयाए - एक पैर से,
ठिच्चा - स्थित होकर, आयावेत्तए - आतापना लेना, अंतो वगडाए - चार दीवारी के
भीतर, संघाडिपडिबद्धाए - शरीर को समुचित रूप में वस्त्रों से ढककर, ठाणाइयाए - खड़े
होकर, पडिमड्ढावियाए - प्रतिमा में अवस्थित, णेसज्जियाए - बैठने के आसन विशेष में,
उक्कुडुगासणियाए - उत्कुटुकासन - उकडू आसन से बैठना, लगण्डसाइयाए - लकुटासन,
ओमंथियाए - अधोमुखी होकर, उत्ताणियाए - मुख ऊँचा करके सोना, अम्बखुज्जियाए -
आम्रकुब्जासन, एगपासियाए - एक पसवाड़े से।

भावार्थ - २१. साध्वी को अपने शरीर का सर्वथा व्युत्सर्जन कर - वोसिरा कर रहना
नहीं कल्पता है।

२२. साध्वी को ग्राम यावत् (राजधानी) सन्निवेश के बाहर अपनी भुजाओं को ऊपर
उठा कर सूर्याभिमुख होकर, एक पैर के बल खड़े होकर आतापना लेना नहीं कल्पता। अपितु

उपाश्रय के भीतर, वस्त्रावृत होकर, अपनी भुजाएँ नीचे लटकाकर, दोनों पैरों को समतल कर-
इस स्थिति में खड़े होकर आतापना लेना कल्पता है।

२३. साध्वी को खड़े होकर कायोत्सर्ग करने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता।

२४. साध्वी को (एकरात्रिक आदि) प्रतिमाओं के आसनों में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२५. साध्वी के निषद्याओं - बैठकर किये जाने वाले आसन विशेषों में स्थित होना नहीं कल्पता।

२६. साध्वी को उत्कुटुकासन में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२७. निर्ग्रन्थिनी को वीरासन में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२८. निर्ग्रन्थिनी को दण्डासन में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

२९. निर्ग्रन्थिनी को लकुटासन में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

३०. निर्ग्रन्थिनी को अधोमुखी (अवाङ्मुखी) स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

३१. साध्वी को मुंह ऊँचा कर सोने के अभिग्रह में स्थित होना नहीं कल्पता।

३२. साध्वी को आम्रकुब्जासन में स्थित होने का अभिग्रह करना नहीं कल्पता है।

३३. साध्वी को एक पार्श्वस्थ होकर सोने का अभिग्रह कर स्थित होना नहीं कल्पता है।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्र क्रमांक २३ से ३३ तक जिन आसनों का नाम बताया है उनके अर्थ इस प्रकार हैं -

स्थानायतिक - खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

प्रतिमास्थायी - मासिकी आदि प्रतिमाओं में जिन आसनों में रहते हैं, उन आसनों में रहना।

निषद्यासन - पालथी लगाकर पर्यकासन से सुखपूर्वक बैठना।

उत्कुटुकासन - दोनों पाँवों को समतल रखकर उन पर पूरे शरीर को रखते हुए बैठना।

वीरासन - कुर्सी या सिंहासन आदि पर बैठे हुए के नीचे से कुर्सी आदि निकाल देने पर वैसी आकृति से बैठना।

दण्डासन - मस्तक से पाँव तक पूरा शरीर दण्ड के समान सीधा लम्बा रहना, हाथ पाँव अंतर रहित रहना, मुख आकाश की तरफ रहना।

लकुटासन - करवट से सोकर मस्तक तक एक हथेली पर टिकाकर और पांव पर पांव चढ़ाकर लेटे रहना। इसमें मस्तक और एक पांव भूमि से ऊपर रहता है।

अवाङ् मुरवासन - अधोमुखी होकर लम्बे सोने का आसन।

उत्तानासन - हाथ पांव आदि फैलाए हुए या अन्य किसी भी अवस्था में रहना किन्तु मुख आकाश की तरफ होना अर्थात् चत्ता सोना।

आम्रकुञ्जासन - जिस प्रकार आम्र फल ऊपर से गोल और नीचे से कुछ टेढ़ा होता है, इसी प्रकार इस आसन में पूरा शरीर तो पैरों के पंजों पर रखना होता है, घुटने कुछ टेढ़े रखने होते हैं। शेष शरीर का सम्पूर्ण भाग सीधा रखना होता है।

एक पाशवासन - भूमि पर एक पार्श्व भाग (करवट) से सोना।

तपश्चरण में अभिग्रह स्वीकार दृढ़ता एवं आत्मशक्ति का परिचायक है किन्तु कुछ ऐसे अभिग्रह हैं, जो पुरुषों द्वारा साधे जाने योग्य हैं। दैहिक संस्थान, मार्द्रव, कोमलत्व आदि नारी जीवन के साथ कुछ ऐसी स्थितियाँ जुड़ी हुई हैं, जिनके कारण वैसे अभिग्रहों में विघ्न या संकट आशंकित है। ब्रह्मचर्य पर आपत्ति आना भी संभावित है क्योंकि दुराचारी, कामुकजन नारी को स्थिति विशेष में देखकर कामासक्त हो सकते हैं। सर्वथा न चाहते हुए भी नारी में ऐसी शारीरिक शक्ति नहीं होती कि वह अपने आपको बचा सके। अत एव शील परिरक्षण की दृष्टि से इन विशिष्ट तपोमूलक अभिग्रहों का साध्वी के लिए निषेध किया गया है।

इस संबंध में यह ज्ञातव्य है कि साध्वी के लिए आसनों का सम्पूर्णतः निषेध नहीं है। भाष्यकार ने इस संदर्भ में उल्लेख किया है कि वीरासन और गोदोहिकासन के अतिरिक्त अन्य सभी आसन अभिग्रह के बिना साध्वियों के लिए भी करणीय हैं।

अभिग्रह अवस्था में आसन विशेष स्वीकार करने पर उसमें उतने समय तक स्थित रहना होता है जबकि अभिग्रह के अभाव में प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर आसन आदि को तुरन्त त्यागा जा सकता है।

साध्वियों के लिए आकुंचनपट्टक धारण का निषेध

णो कप्यङ्गिणगंथीणं आउंचणपट्टगं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३४ ॥

कप्यङ्गिणगंथाणं आउंचणपट्टगं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ३५ ॥

भावार्थ - ३४. साध्वियों के लिए आकुंचनपट्टक धारण करना और उपयोग में लेना नहीं कल्पता है।

३५. साधुओं के लिए आकुंचनपट्टक रखना और उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन - वृद्धावस्था, रुग्णावस्था आदि में सहारे के बिना सुविधापूर्वक बैठ पाना कठिन होता है। अत एव उनके लिए आकुंचनपट्टक, जिसे पर्यस्तिकापट्टक भी कहा जाता है, धारण करने का विधान किया गया है।

जिस वस्त्र को पीठ की तरफ से लेकर पक्षपिण्ड की तरह आगे घुटनों पर बांध दिया जाता है उसे आकुंचनपट्टक कहते हैं। इसके द्वारा बिना सहारे के स्थान पर भी सहारा लेकर बैठने के समान बैठा जा सकता है।

सूत्र में साध्वियों के लिए इसका निषेध किया गया है क्योंकि आकुंचनपट्टक में स्थित होना सामान्यतः गर्वोद्धतता का सूचक है। साध्वी का वैसी स्थिति में होना लोकनिन्दा का हेतु हो सकता है। किन्तु भाष्यकार ने ऐसा उल्लेख किया है -- यदि वृद्धत्व या रुग्णत्व के कारण साध्वी द्वारा प्रयत्न पूर्वक भी सीधा बैठना संभव न हो वहाँ इसका उपयोग किया जा सकता है किन्तु साध्वी के ऊपर कपड़ा डालने का विधान किया गया है।

आकुंचनपट्टक का परिमाण बतलाते हुए कहा गया है कि वह सूती वस्त्र से बना हुआ एवं चार अंगुल चौड़ा तथा शरीर प्रमाण जितना लम्बा होता है।

यहाँ पर ज्ञातव्य है कि इस पट्ट का प्रयोग तभी किया जा सकता है जब उदड़ (दीमक) आदि सूक्ष्म जीवों की दीवार पर उपस्थिति के कारण दीवाल का सहारा लेना संभव न हो, स्वीकार्य न हो।

यह अपवाद मार्गानुगत विधान है।

सहारे के साथ बैठने का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथीणं सावस्सयंसि आसणांसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ॥३६ ॥

कप्पइ णिग्गंथाणं सावस्सयंसि आसणांसि आसइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ॥ ३७ ॥

कठिन शब्दार्थ - सावस्सयंसि - आश्रय (अवलम्बन) सहित।

भावार्थ - ३६. साध्वियों को आश्रय या सहारा लेकर बैठना या करवट लेना (सोना) नहीं कल्पता है।

३७. साधुओं को अवलम्बन या सहारा लेकर बैठना या करवट लेना कल्पता है।

विवेचन - शारीरिक अस्वस्थता, वृद्धता आदि पूर्वोक्त कारणों के अनुरूप आश्रययुक्त अर्थात् भित्तिका, कुर्सी, पट्टविशेष इत्यादि का सहारा लेकर बैठने का यहाँ आशय है।

साधुओं के लिए इसे अव्यावहारिक न होने से विहित किया गया है तथा साध्वियों के लिए पूर्वकथनानुसार लोक व्यवहार आदि के कारण अकल्प्य कहा गया है।

शृंगयुक्त पीठ आदि के उपयोग का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिगंथीणं सविसाणांसि पीढंसि वा फलगांसि वा आसइत्तए वा तुयडित्तए वा ॥ ३८ ॥

कप्पइ णिगंथाणं सविसाणांसि पीढंसि वा फलगांसि वा आसइत्तए वा तुयडित्तए वा ॥ ३९ ॥

कठिन शब्दार्थ - सविसाणांसि - विषाणयुक्त - सींग की तरह ऊँचे उठे हुए कंगूरे, पीढंसि - चौकी (पीढा), फलगांसि - पट्ट (तख्ता) पर।

भावार्थ - ३८. साध्वियों को शृंगाकार युक्त कंगूरों सहित पीढे या पट्ट पर बैठना या करवट बदलना नहीं कल्पता।

३९. साधुओं को शृंगाकार युक्त कंगूरों सहित पीढे या पट्ट पर बैठना या करवट बदलना कल्पता है।

विवेचन - इस सूत्र में सींग के आकार जैसे कंगूरों से युक्त पीढे और पट्ट पर साध्वियों के लिए बैठने, सोने या करवट लेने का जो निषेध किया गया है, उसका आशय उनकी ब्रह्मचर्य मूलक भावना को अव्याहत एवं सुस्थिर बनाए रखना है। यद्यपि साध्वियाँ ब्रह्मचर्य की साधना में सुदृढ़ और समुद्यत होती हैं किन्तु वैसा जरा भी प्रसंग न बने, जिससे कदाचन मानवीय दुर्बलतावश मन में अवाञ्छित भाव का उद्गम हो सके, ऐसा यहाँ वाञ्छनीय है।

सवृन्त तुम्बिका रखने का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिगंथीणं सवेण्टयं लाउयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४० ॥

कप्पइ णिगंथाणं सवेण्टयं लाउयं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४१ ॥

कठिन शब्दार्थ - सवेण्टयं - डण्डल सहित, लाउयं - अलाबु - तुम्बिका।

भावार्थ - ४०. साध्वियों को डण्ठल युक्त तुम्बपात्र रखना एवं उसका उपयोग करना नहीं कल्पता।

४१. साधुओं को डण्ठल सहित तुम्बपात्र रखना एवं उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन - साध्वियों के लिए सवृन्त अलाबु रखने का निषेध करने में पूर्वसूत्रानुसार उनकी ब्रह्मचर्य भावना का परिरक्षण ही है।

सवृन्त पात्रकेशरिका रखने का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिगंथीणं सवेण्टयं पायकेसरियं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४२ ॥

कप्पइ णिगंथाणं सवेण्टयं पायकेसरियं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४३ ॥

कठिन शब्दार्थ - पायकेसरियं - पात्रकेशरिका।

भावार्थ - ४२. साध्वियों को सवृन्त पात्र प्रमार्जनिका रखना एवं उसका उपयोग करना नहीं कल्पता।

४३. साधुओं को सवृन्त पात्र प्रमार्जनिका रखना एवं उसका उपयोग करना कल्पता है।

विवेचन - जिस पात्र का मुंह छोटा हो, सफाई के लिए हाथ अन्दर न जा सके, उनकी स्वच्छता के लिए कपड़ा लपेटी हुई काष्ठदण्डिका का प्रयोग किया जाता है।

केसर का अर्थ - पुष्प पराग या किंजल्क होता है। दण्डिका पर किंजल्क की तरह रौंदादार मुलायम वस्त्र लपेटा जाता है, जिससे पात्र भलीभांति स्वच्छ हो सके। वस्त्र के इस किंजल्कवत् वैशिष्ट्य के कारण इसे पात्र केशरिका कहा गया है।

पूर्वोक्त वर्णनानुसार यहाँ भी ब्रह्मचर्य की अखण्ड आराधना उद्दिष्ट या अभिलक्षित है।

दण्डयुक्त पादप्रोञ्चन का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिगंथीणं दारुदण्डयं पायपुंछणं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४४ ॥

कप्पइ णिगंथाणं दारुदण्डयं पायपुंछणं धारेत्तए वा परिहरित्तए वा ॥ ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - दारुदण्डयं - काष्ठमय दण्ड।

भावार्थ - ४४. साध्वियों को दण्ड युक्त पादप्रोञ्चन रखना, उपयोग में लेना नहीं कल्पता।

४५. साधुओं को दण्डयुक्त पादप्रोञ्चन रखना, उपयोग में लेना कल्पता है।

विवेचन - साधु-साध्वियों को पादरक्षिका या उपानह रखने का विधान नहीं है। कितनी भी लम्बी यात्रा हो, कैसा ही पथ हो, वे नंगे पैर ही चलते हैं। इससे मृत्तिका, रज आदि उनके पैरों के लगती रहती है। पैरों को पुनः-पुनः पोंछना होता है। इस हेतु काष्ठदण्ड के आगे वस्त्र लपेट कर बनाए हुए पादप्रोँछन का उपयोग किया जाता है।

साध्वियों के लिए इसके निषेध का कारण ब्रह्मचर्य के पावित्र्य और नैर्मल्य का संरक्षण है।

मूत्र के आदान-प्रदान का निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अण्णमण्णस्स मोयं आइयत्तए वा आइमित्तए वा णण्णत्थ गाढाऽगाढेसु रोगायंकेसु ॥ ४६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अण्णमण्णस्स - एक दूसरे का, मोयं - मूत्र, आइयत्तए - ग्रहण करना, आइमित्तए - आचमन करना, णण्णत्थ - इसके सिवाय, गाढाऽगाढेसु - अत्यन्त कष्ट साध्य स्थिति में, रोगायंकेसु - रोग तथा आतंक में।

भावार्थ - ४६. साधुओं तथा साध्वियों को एक दूसरे का मूत्र भयानक रोगों के अतिरिक्त परस्पर गृहीत करना, पीना या उसकी मालिश करना नहीं कल्पता।

विवेचन - सामान्यतः मूत्र पेय नहीं है। किन्तु आयुर्वेद के अनुसार रक्तविकार, कुष्ठ, मधुमेह इत्यादि रोगों में मूत्र सेवन एवं उसकी मालिश अमोघ औषधि का काम करता है।

ऐसी स्थितियों के अतिरिक्त साधु-साध्वियों के लिए परस्पर मूत्र का आदान-प्रदान अविहित है।

पर्युषित आहार-औषध आदि रखने की मर्यादा

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पारियासियस्स आहारस्स जाव तयप्पमाणमेत्तमवि भूइप्पमाणमेत्तमवि बिंदुप्पमाणमेत्तमवि आहारमाहारेत्तए, णण्णत्थ गाढाऽगाढेहि रोगायंकेहि ॥ ४७ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पारियासिएणं आलेवण जाएणं (गायाइं) आलिम्पित्तए वा विलिम्पित्तए वा, णण्णत्थ गाढाऽगाढेहि रोगायंकेहि ॥ ४८ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पारियासिएणं तेल्लेण वा घएण वा

वसाए वा णवणीएण वा गायाइं अब्भंगेत्तए वा मक्खेत्तए वा, णणत्थ गाढाऽगाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ४९ ॥

(णो कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा कक्केण वा लोद्धेण वा पधूवणेण वा अणयरेण वा आलेवणजाएणं गायाइं उव्वलेत्तए वा उव्वट्टित्तए वा, णणत्थ गाढाऽगाढेहिं रोगायंकेहिं ॥ ५० ॥)

कठिनशब्दार्थ - पारियासियस्स - परिवासित - पर्युषित कालातिक्रान्त, तयप्पमाणमेत्तमवि- तिल मात्र भी, भूइप्पमाणमेत्तमवि - चुटकी भर भी, बिंदुप्पमाणमेत्तमवि - बूंद मात्र भी, आलेवण जाएणं - विधि प्रकार के लेपन, आलिम्पित्तए - लेप करना, विलिम्पित्तए - विलेपन करना (चुपड़ना), मक्खेत्तए - मलना, कक्केण - उबाला हुआ, सुगन्धित द्रव्य, लोद्धेण - सुगन्धित, चूर्णित द्रव्य विशेष, पधूवणेण - अगुरु-चन्दन आदि धूप द्रव्य निर्मित, उव्वलेत्तए - उद्धर्तित करना, उव्वट्टित्तए - उपमर्दन करना।

भावार्थ - ४७. भीषण रोग के अतिरिक्त साधु-साध्वियों को तिल मात्र भी, चुटकी भर भी परिवासित आहार रखना तथा बूंद मात्र भी पानी रखना, सेवन करना नहीं कल्पता।

४८. भयानक रोग की स्थिति को छोड़कर किसी भी स्थिति में साधु-साध्वियों को किसी भी प्रकार के परिवासित लेप का (शरीर पर) आलेपन - विलेपन करना नहीं कल्पता।

४९. भयानक रोगांतक की स्थिति को छोड़कर साधु-साध्वियों को पर्युषित तेल, घी, वसा (चर्बी), नवनीत (मक्खन) का शरीर के अंगों पर अभ्यंगन - चुपड़ना या मालिश करना नहीं कल्पता।

(५०. भीषण रोगावस्थिति के अतिरिक्त साधु-साध्वियों को परिवासित उत्कलित सुगन्धित द्रव्य, चूर्णित द्रव्य, अगुरु - चंदन आदि निर्मित धूप द्रव्य आदि का शरीरांगों पर उद्धर्तन एवं उपमर्दन करना नहीं कल्पता।)

विवेचन - साधु-साध्वियों का जीवन सर्वथा निष्परिग्रही होता है। अतः वे किसी भी वस्तु का भविष्य के लिए संग्रह नहीं रखते। सायंकाल के पश्चात् वैसा कोई भी पदार्थ उनके पास नहीं रहता। रात्रि में खान-पान तो सर्वथा वर्जित है ही तथा रात्रि में किंचित् मात्र भी सन्निधि का भी पूर्ण वर्जन बताया है।

किन्तु साधु-साध्वी भी शरीरधारी हैं। कुछ भयानक रोग, महामारी इत्यादि में ऐसी स्थितियाँ हो जाती हैं, जिनमें आहार पानी, औषध आदि को पर्युषित (कालातिक्रान्त) रखने का विधान किया गया है, जो अपवाद मार्ग है। क्योंकि साधु-साध्वियों का शरीर संयम-साधना में सहायक है, उस दृष्टि से अपवाद मार्ग का अवलम्बन करते हुए ही उसकी परिरक्षणीयता स्वीकार की गई है।

विविध सुगंधित पदार्थों के आलेपन, विलेपन का जो वर्णन आया है, उसका तात्पर्य यह है कि उसका उपयोग केवल रोगनिवृत्ति हेतु ही किया जा सकता है। दैहिक सौन्दर्यवृद्धि या सज्जा हेतु कदापि प्रयोजनीय नहीं हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है -

आहार-पानी को जो पर्युषित - कालातिक्रान्त बताया है वह भी सीमित समय (तीन प्रहर) तक ही उपयोग में ले सकता है। किसी भी स्थिति में रात्रि में ग्रहण एवं सन्निधि कदापि स्वीकार्य नहीं है।

उपर्युक्त सूत्रों में परिवासित का अर्थ - प्रथम प्रहर में गृहीत आहार आदि को चतुर्थ प्रहर में रखना समझना चाहिए।

उपर्युक्त सूत्रों में बताए गये पदार्थ पडिहारी नहीं होने से उनके लिए अन्य औषधियों की तरह द्वितीय प्रहर की पुनः आज्ञा लेना नहीं बताया है। गाढ़ा-गाढ़ी कारण होने से इन पदार्थों को प्रथम प्रहर में ग्रहण किये हुए को चतुर्थ प्रहर में भी काम में लेना बताया है।

परिहारकल्पस्थित भिक्षु द्वारा दोष सेवन का प्रायश्चित्त

परिहारकल्पद्विए णं भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, से य आहच्च अइक्कमेजा, तं च थेरा जाणेज्ज अप्पणो आगमेणं अण्णोसिं वा अंतिए सोच्चा, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए णाम ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ५१ ॥

भावार्थ - ५१. परिहारकल्प में विद्यमान भिक्षु यदि स्थविर मुनियों के वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या हेतु कहीं बाहर जाए और कदाचन उसके परिहारकल्प में कोई दोष सेवन हो जाए तथा स्थविर मुनि उसके दोष सेवन को (अपने ज्ञान से) जान ले या अन्य से जान ले तो वे वैयावृत्य से निवृत्त होने पर उसे यथालघुष्क - बहुत हल्का प्रस्थापना (प्रायश्चित्त) दें।

पुलाकभक्त ग्रहीत होने पर पुनः भिक्षार्थ जाने का विधि-निषेध

णिगंशीए य गाहावइकुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्पविट्ठाए अण्णयरे पुलागभत्ते पडिग्गाहिए सिया, सा य संथरेज्जा, कप्पइ से तद्विसं तेणेव भत्तट्टेणं पज्जोसवेत्तए णो से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं पिण्डवाय पडियाए पविसित्तए; सा य णो संथरेज्जा, एवं से कप्पइ दोच्चं पि गाहावइकुलं पिण्डवाय पडियाए पवि-सित्तए ॥ ५२ ॥ त्ति बेमि ॥

//बिहक्कप्पे पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुलागभत्ते - पुलाकभक्त - संयम को निस्सार करने वाला भोजन, संथरेज्जा - निर्वाह हो जाए, पज्जोसवेत्तए - पर्युषित रखे - दिनभर निर्वाह करे।

भावार्थ - ५२. यदि कोई साध्वी आहार हेतु सदगृहस्थ के घर में संप्रविष्ट हो तथा किसी एक घर में पुलाकभक्त प्राप्त हो जाए तथा यदि उस द्वारा (दिन भर) निर्वाह किया जाना संभव हो तो उसे उस दिन उसी भोजन पर निर्वाह करना कल्पता है। किन्तु दुबारा गृहस्थ के यहाँ आहार प्राप्ति हेतु जाना नहीं कल्पता।

यदि उस द्वारा निर्वाह किया जाना संभव न हो (अल्प हो) तो पुनः गृहस्थ के यहाँ आहार प्राप्ति हेतु प्रविष्ट होना - जाना कल्पता है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में भक्त (आहार) के पूर्व में जो पुलाक विशेषण आया है उसका अर्थ निस्तथ्य या सारहीन या कदन्न है[●]। भाष्यकार ने धान्यपुलाक, गन्धपुलाक तथा रसपुलाक के रूप में इसके तीन भेद बतलाए हैं। चणक (चना), वल्ल आदि कुछ ऐसे धान्य हैं, जिनमें सारभूत तत्त्व बहुत कम होता है। त्वक् या भूसे का भाग अधिक होता है। इन्हें शुष्क अन्न कहा जा सकता है।

इसी प्रकार गंधपुलाक के अन्तर्गत लहसुन, प्याज आदि तीव्रगंधमय पदार्थों का समावेश है, जो दुर्गन्धित होते हैं।

रसपुलाक के अन्तर्गत इमलीरस, द्राक्षारस आदि आते हैं, जो मादकता उत्पन्न करते हैं।

● (अ) संस्कृत - हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, (पुलाकः, पुलाकम्), पृष्ठ: ६२६

(ब) पाइज सद महण्णवो, (पुलाग, पुलाय) पृष्ठ ६०९

१३३ पुलाकभक्त ग्रहीत होने पर पुनः भिक्षार्थ जाने का विधि-निषेध

इस तीनों में 'पहला' देह पोषक तत्त्व की अल्पता के कारण निस्सार है, क्योंकि पर्याप्त मात्रा में खा लेने पर भी शक्ति उत्पादकता उसमें नहीं होती। गन्धपुलाक, रसपुलाक में आए पदार्थ ऐसे हैं, जो कुरुचि, उन्माद, प्रमाद आदि बढ़ाने वाले हैं। इनमें पहला (धान्यपुलाक) कदन्नता के कारण निःसार या तथ्य विहीन है, वही अगले दोनों संयम की निर्मलता में बाधक हैं, संयम को सारहीन बनाते हैं, इसलिए वे निस्सार हैं।

सूयगडांग सूत्र में **“निस्सारए ह्योइ जहा पुलाए”** - इस तथ्य को पुष्ट करता है*।

भिक्षा में पुलाक भक्त पान आ जाए तथा साधु यह जाने कि इससे दिन भर जीवन निर्वाह संभव है तो पुनः भिक्षार्थ न जाए।

यदि निस्तथ्य धान्यपुलाक पर्याप्त मात्रा में हो अथवा रसपुलाक आदि अल्प मात्रा में हो तो भी पुनः भिक्षार्थ जाना कल्पनीय नहीं कहा गया है (दुष्प्राच्यत्व के कारण)।

दूध, खीर आदि सरस पदार्थ जिसके अधिक सेवन से संयम निस्सार बन जाता है। उसे पुलागभक्त कहते हैं। सतियों की स्थिति ज्यादा आहार उठाने जैसी नहीं होने से फिर अधिक विरेचनादि आदि का कारण न बन जाय, इसलिए साध्वी को पहले वह आहार उठाकर जरूरत हो तो आहार ग्रहण करना चाहिए। साधुओं की स्थिति प्रायः वैसी नहीं होती है वे उस आहार को उठाने के पहले भी दूसरा आहार ला सकते हैं।

इस सूत्र में केवल निर्ग्रन्थिनी या साध्वी का ही उल्लेख हुआ है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि साधु को पुलाक भक्त-पान प्राप्त हो तो उनके लिए कोई मर्यादा है या नहीं?

इस संदर्भ में भाष्यकार ने समाधान करते हुए कहा है -

“एसेव गमो नियमा तिविहपुलागमि ह्योइ समणाणं” - अर्थात् इन त्रिविध पुलाक के संदर्भ में जिस मर्यादा का उल्लेख साध्वियों के लिए हुआ है, वही साधुओं के लिए भी है।

॥ बृहत्कल्प सूत्र का पांचवाँ उद्देशक समाप्त ॥

* सूयगडांग सूत्र - १,७,२६।

छटो उद्देशओ - छठा उद्देशक

अकल्प्य वचन निषेध

णो कप्यइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए, तंजहा - अलियवयणे हीलियवयणे खिंसियवयणे फरुसवयणे गारस्थियवयणे, वि(उ)ओसवियं वा पुणो उदीरित्तए ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - अवयणाइं - अवचन - नहीं बोलने योग्य वचन, अलियवयणे - अलीकवचन, हीलियवयणे - हीलित वचन, खिंसियवयणे - खिंसितवचन, फरुसवयणे - फरुसवचन - परुषवचन, गारस्थियवयणे - गार्हस्थिकवचन, विओसवियं वा पुणो उदीरित्तए- कलहोत्पादक वचन का पुनः कथन।

भावार्थ - १. साधुओं और साध्वियों को इन छह प्रकार के न बोलने योग्य वचनों का प्रयोग करना नहीं कल्पता -

अलीकवचन, हीलितवचन, खिंसितवचन, परुषवचन, गार्हस्थिकवचन तथा कलहोत्पादक वचनों का पुनःकथन।

विवेचन - इस सूत्र में साधु-साध्वियों के लिए वचनप्रयोग के संदर्भ में वर्णन किया है। मानव के जीवन व्यवहार में वाणी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि जैन आगमों में त्याग-प्रत्याख्यान के संदर्भ में तीन करण और तीन योग की बात आती है, वहाँ मन तथा कर्म के साथ वचन भी है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवनधारा इन तीन प्रवृत्तियों से विशेष रूप से जुड़ी रहती है। मानसिक पवित्रता और कार्मिक निर्वद्यता के साथ-साथ वाचिक शुद्धता - दोष रहितता का भी उतना ही महत्त्व है। साधु का वचन ऐसा न हो, जिसमें हिंसा, अतथ्य, क्रोध, कालुष्य, मालिन्य, छल, प्रपञ्च, आसक्ति आदि का समावेश हो।

इसी दृष्टि से यहाँ वाणी के प्रयोग की चर्चा है। इस कोटि की वाणी के लिए यहाँ अवचन का प्रयोग हुआ है, जिसका तात्पर्य - 'न बोलने योग्य' है।

सूत्र में छह प्रकार के अवचन वर्णित हुए हैं।

१. अलीकवचन - अलीक शब्द अल् धातु एवं वीकन प्रत्यय के योग से बनता है, जिसका अर्थ अयर्थाथ या असत्य है। वाणी की यथार्थता के लिए सत्य शब्द का व्यवहार होता है। अस्तित्वबोधक 'अस्' धातु से सत् बनता है। 'सतोभावः सत्यम्' - के अनुसार जिसका जिस रूप में अस्तित्व है, उसे उसी रूप में व्यक्त करना सत्य है। असत्यवर्जन या सत्य प्रयोग पाँच महाव्रतों में दूसरा महाव्रत है।

२. हीलितवचन - साधु के वचन में ऐसा भाव कदापि न हो, जिससे सुनने वाले के मन में जरा भी पीड़ा, अपमान या दुःख का भाव हो।

हीलितवचन वह है, जिसमें सुनने वाले के मन में अपने प्रति अवहेलना, अपमान या तिरस्कार का भाव उत्पन्न हो।

३. विवसितवचन - आक्रोश, असहिष्णुता, असंतोष, ईर्ष्याप्रसूत असंतुलन के परिणामस्वरूप जो खीझपूर्ण वाणी निकलती है, वह श्रोता के लिए दुःखद होती है एवं क्लेश, कदाग्रह बढ़ाकर वैमनस्य की वृद्धि करती है।

४. पराधवचन - कर्कश, रूक्ष, कठोरवचन परुषवचन कहे जाते हैं।

५. गार्हस्थ्यवचन - जैसे - अरे, अरी, मित्र, सखी, पिता, पुत्र, भाई, मामा आदि गृहस्थ के रिश्ते सूचक वचन। एक श्रमण गृहस्थ जीवन का परित्याग कर पंचमहाव्रतमय, सर्वथा निर्लिप्त तथा निष्कामजीवन स्वीकार करता है। एक प्रकार से उसका गृहस्थ जीवन मृत हो जाता है, उसे नवजीवन प्राप्त हो जाता है। परिवार, कुटुम्ब, संबंधी आदि किन्हीं के साथ उसका लगाव नहीं रहता। "वसुधैवकुटुम्बकम्" या "विश्वबन्धुत्व" की भूमिका पा लेता है। उसके हर व्यवहार में यह भाव अभिव्यक्ति पाए यह वांछित है। अत एव ऐसी वाणी उसके लिए अकथनीय है, जिसमें गार्हस्थ्य विषयक जरा भी आसक्ति का भाव व्यक्त हो।

६. कलहोत्पादक वचनों का पुनः कथन - पारस्परिक अवांछित व्यवहार होने पर क्षमायाचना करने के पश्चात् पुनः उस बात को उठाना, लोक भाषा में 'गढ़े मुँदे उखाड़ना' कलहोत्पादक का मुख्य हेतु है।

नीतिशास्त्र में भी वाक्शुद्धि एवं वाक्संस्कारिता पर बड़ा सुन्दर लिखा है -

“केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं, हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः।

न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं, नाऽलंकृता मूर्धजाः॥

वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं, या संस्कृता धार्यते।

क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं, वाग्भूषणं भूषणम्॥”

भुजा अलंकार, चन्द्र के समान चमचमाते हार आदि आभूषण व्यक्ति को विभूषित नहीं करते। केवल वाणी ही व्यक्ति को अलंकृत करती है, जो संस्कार युक्त हो। अन्य सभी बाह्य आभूषण क्षीण होने वाले हैं, नश्वर हैं। संस्कारयुक्त वाणीरूप आभूषण कभी नष्ट नहीं होता।

वाणी के लिए यहाँ प्रयुक्त 'संस्कृता' शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह अहिंसा, संयम, मानसिक संतुलन, धैर्य तथा सहिष्णु भाव आदि उत्तमोत्तम गुणों का द्योतक है। ऐसे ही संस्कारों से सुसज्ज वाणी साधु के लिए वचनीय है क्योंकि वाणी ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का संसूचन करती है, कहा है -

**'चरित है मूल्य जीवन का,
वचन प्रतिबिम्ब है मन का।
सुयश है आयु सज्जन की,
सुजनता है प्रधा धन की।'**

मिथ्या आरोपी के लिए तदनुरूप प्रायश्चित्त विधान

कप्पस्स छ पत्थारा पण्णात्ता, तंजहा - पाणाइवायस्स वायं वयमाणे, मुसावायस्स वायं वयमाणे, अदिण्णादाणस्स वायं वयमाणे, अविरइ(य)यावायं वयमाणे, अपुरिसवायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्चेए कप्पस्स छप्पत्थारे पत्थरेत्ता सम्मं अप्पडिपूरेमाणे तट्ठाणपत्ते सिया ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - पत्थारा - प्रस्तार - विशेष प्रायश्चित्त स्थान, अपुरिसवायं - नपुंसक का आरोप, अप्पडिपूरेमाणे - प्रमाणित न किए जा सकने पर, तट्ठाणपत्ते - उस स्थान पर - वैसी स्थिति में दिए जाने वाले।

भावार्थ - २. साध्वाचार के छह विशेष प्रायश्चित्त स्थान प्रतिपादित किए गए हैं -

१. प्राणातिपात - जीव हिंसा का आक्षेप लगाए जाने पर,
२. मृषावाद - असत्य भाषण करने का आरोप लगाए जाने पर,
३. अदत्तादान - चौर्य द्वारा आरोपित किए जाने पर,
४. अब्रह्मचर्य सेवन का आरोप किए जाने पर,
५. नपुंसक होने का आक्षेप लगाए जाने पर,
६. दास - गुलाम होने का आक्षेप लगाए जाने पर।

साध्वाचार विषयक इन छह प्रायश्चित्त स्थानों का आरोप लगाने वाला यदि उन्हें प्रमाणित, साबित न कर सके तो वह अपने द्वारा लगाए जाने वाले दोषों का (स्वयं) भागी होता है।

विवेचन - यदि कोई साधु किसी अन्य साधु पर उपर्युक्त में से कोई आरोप लगाए, आचार्य के समक्ष शिकायत करे, आरोपकर्ता उन्हें प्रमाणित कर सके तो आरोपित दोष का भागी होता है। यदि वैसा न कर सके तो प्राप्त होने वाले प्रायश्चित्त का उस आरोपी को भागी होना पड़ता है।

यह मर्यादा साधुओं को वाक्संयम की विशेष प्रेरणा प्रदान करती है। किसी भी व्यक्ति को बिना पूरी जानकारी के किसी भी प्रकार का आरोप लगाना सर्वथा अनुचित है। उसके लिए तदनुरूप प्रायश्चित्त की दण्डभागिता उसमें तद्विषयक जागरूकता उत्पन्न करने हेतु है। इसके परिणामस्वरूप प्रत्येक साधु अपने आप में अत्यंत सावधानी बरतता है।

ईर्ष्या आदि मलिन भावों से वह बचा रहता है।

परस्पर काँटा आदि निकालने का विधान

णिगंथस्स य अहे पायंसि खाणू वा कण्टए वा हीरे वा सक्क्रे वा परियावज्जेज्जा; तं च णिगंथे णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं णिगंथी णीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ ॥ ३ ॥

णिगंथस्स य अच्छिसि पाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेज्जा, तं च णिगंथे णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं णिगंथी णीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा णाइक्कमइ ॥ ४ ॥

णिगंथीए य अहे पायंसि खाणू वा कंटए वा हीरे वा सक्क्रे वा परियावज्जेज्जा, तं च णिगंथी णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं णिगंथे णीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ५ ॥

णिगंथीए य अच्छिसि पाणे वा बीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च णिगंथी णो संचाएइ णीहरित्तए वा विसोहेत्तए वा, तं णिगंथे णीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहे - नीचे, पायंसि - पैर में, खाणू - स्थाणु - लकड़ी का

टुकड़ा, कण्टए - कण्टक, हीर - काच, सक्करे - तीखा - पत्थर का टुकड़ा, परियावज्जेज्जा-
चुभ जाए, संचाएइ - समर्थ, णीहरित्तए - निकालने में, विसोहेत्तए - विशोधित करने में,
अच्छिसि - नेत्र में।

भावार्थ - ३. साधु की पगथली (पादस्थली) में तीखा, सूखा दूँठ का टुकड़ा, काँटा, काच या तीखे पत्थर का टुकड़ा चुभ जाए तथा वह उसे निकालने में समर्थ न हो अथवा उसका शोधन न कर पाए तब उसे निकालती हुई या शोधित करती हुई साध्वी जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती।

४. निर्ग्रन्थ की आँख में छोटे जीव, बीज या रज गिर जाए और साधु उसे निकाल न सके, परिशोधित न कर सके तो उसे निकालती हुई या परिशोधित करती हुई साध्वी जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करती।

५. साध्वी की पगथली में यदि तीखा दूँठ का टुकड़ा, काँटा, काच या पत्थर का टुकड़ा चुभ जाए तथा वह उसे निकालने में असमर्थ हो अथवा उसका शोधन न कर सके तब उसे निकालता हुआ या परिशोधित करता हुआ साधु जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

६. साध्वी की आँख में छोटा जीव (मच्छर आदि), बीज या रज गिर जाए और साध्वी उसे निकाल न सके या परिशोधित करने में समर्थ न हो तब उसे निकालता हुआ या परिशोधित करता हुआ साधु जिनाज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

विवेचन - ब्रह्मचर्य महाव्रत के परिपालन में यह अत्यंत आवश्यक माना गया है कि साधु, साध्वी के तथा साध्वी, साधु के शरीर का कदापि स्पर्श न करे। स्पर्शजनित रागात्मक भाव का उदय इसका मुख्य कारण है। किन्तु कुछ ऐसी अनिवार्य स्थितियाँ होती हैं, जिनमें एक दूसरे का स्पर्श करना वर्जित नहीं है। यहाँ वैसी ही द्विविध स्थितियों का विवेचन है। जो साधु या साध्वी की शारीरिक, विषम हानि को मिटाने से जुड़ी है।

यद्यपि आत्मारथी साधु या साध्वी की शरीर के प्रति कोई मूर्च्छा नहीं होती किन्तु संयम के विशेष उपकरण या साधना में अत्यंत उपयोगी होने के कारण वह परिरक्षणीय है।

इसी दृष्टि से यहाँ साधु या साध्वी के पैर में काँटा आदि लग जाने पर तथा नेत्र में छोटे प्राणी आदि के गिर जाने पर यदि वे स्वयं उनका निवारण न कर सकें, साधुओं के साधु साथी तथा साध्वियों की सहचारिणियाँ भी उसका परिशोधन न कर सकें तो दोनों के लिए इसका विधान किया गया है, जिसमें प्रायश्चित्त नहीं आता।

इस संबंध में इतना और ध्यान रखने की आवश्यकता है कि वैसा करते समय प्रतिष्ठित एवं योग्य साक्षी भी रहे।

संकटापन्न स्थिति में साधु द्वारा साध्वी को अवलम्बन का विधान

णिग्गंथे णिग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा पक्खु प्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ७ ॥

णिग्गंथे णिग्गंथिं सेयंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उदयंसि वा ओकसमाणिं वा ओबुज्झमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ८ ॥

णिग्गंथे णिग्गंथिं णावं आरोहमाणिं वा ओरोहमाणिं वा गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ९ ॥

खित्तचित्तं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १० ॥

दित्तचित्तं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ ११ ॥

जक्खाइट्ठं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १२ ॥

उम्मायपत्तं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १३ ॥

उवसग्गपत्तं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १४ ॥

साहिगरणं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १५ ॥

सपायच्छित्तं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १६ ॥

भत्तपाणपडियाइत्थियं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १७ ॥

अट्टजायं णिग्गंथिं णिग्गंथे गेण्हमाणे वा अवलम्बमाणे वा णाइक्कमइ ॥ १८ ॥

कठिन शब्दार्थ - दुग्गंसि - दुर्गम - संकटापन्न या दुःखद स्थान, विसमंसि - प्रतिकूल, पक्खुलमाणिं - खलित होती हुई, पवडमाणिं - गिरती हुई, गेण्हमाणे - प्रतिग्रहीत करता हुआ, अवलम्बमाणे - अवलम्बन या सहारा देता हुआ, सेयंसि - कीचड़ युक्त पानी में, पंकंसि - कर्दम (कीचड़) में, पणगंसि - सूक्ष्म हरितकाय - काई (लीलन-फूलन), ओकसमाणिं - फिसलती हुई, ओबुज्झमाणिं - डूबती हुई, णावं - नौका पर, आरोहमाणिं - चढ़ती हुई, ओरोहमाणिं - उतरती हुई, खित्तचित्त - क्षिप्तचित्त, जक्खाइट्ठ-

यक्षाविष्ट, उम्मायपत्तं - उन्मादग्रस्त, अट्टुजायं - अर्थजातां - सुवर्ण आदि गिरी हुई वस्तु को झुक कर उठाती हुई।

भावार्थ - ७. दुर्गम, विषम या पर्वतीय स्थान से स्वलित होती हुई या गिरती हुई साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ साधु जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

८. दलदल, कीचड़, काई या जल में फिसलती हुई, डुबती हुई साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ साधु जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

९. नाव पर चढ़ती हुई या उतरती हुई (जहाँ गिरना आशंकित हो) साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ साधु जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१०. विक्षिप्तचित्ता साध्वी को (यदि) साधु पकड़े या सहारा दे तो जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

११. दीप्तचित्ता साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या सहारा देता हुआ साधु जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१२. यक्षाविष्ट साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ साधु जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१३. उन्मादयुक्त साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या सहारा देता हुआ साधु जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१४. उपसर्गप्राप्त साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ साधु जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१५. क्रोधादि कषायाधिक्य (अधिकरण)युक्त साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या सहारा देता हुआ साधु जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१६. (वृहद् या कठोर) प्रायश्चित्त के कारण व्यथित साध्वी को प्रतिगृहीत करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ साधु जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१७. आहार-पानी के प्रत्याख्यान से (अशक्त, दुर्बल) साध्वी को साधु सहारा दे तो वह जिनेश्वर देव की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

१८. अर्थजात साध्वी को साधु प्रतिगृहीत करे (रोके - वैसा करने से मना करे तथा संयम में बढ़ने हेतु) अवलम्बन प्रदान करे तो वह जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

विवेचन - जैसा पूर्वतन सूत्रों में वर्णित हुआ है, यद्यपि सामान्यतः आचार - मर्यादा के अनुसार साधु-साध्वी एक दूसरे का देह स्पर्श नहीं कर सकते किन्तु विषम, खतरनाक स्थिति में वैसा करने का अपवादमार्गानुगत विधान है।

इस सूत्र में वर्णित स्थितियों में साधु तभी साध्वी को प्रतिगृहीत या अवलम्बित कर सकता है जबकि उसकी सहवर्तिनी साध्वियाँ वैसा करने में समर्थ न हो, यथेष्ट संख्या में उपस्थित न हो। यह आपत्तिकालीन स्थिति है। यदि साधु भी कदाचित् ऐसी दुर्वस्था में आपतित हो जाय और कोई सहारा देने वाला साधु न हो, वैसी स्थिति में साध्वी भी उसे अवलम्बन दे तो वह जिनाज्ञा का उल्लंघन नहीं करती।

इस सूत्र प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है -

दिपाचित - मानसिक ग्लानि आदि के कारण चित्त में उत्पन्न अस्थिरता।

दीघाचित - लौकिक-पारलौकिक वस्तु विशेष से जनित हर्षातिरेकवश भ्रान्त चित्त।

यक्षादिष्ट - यक्ष, प्रेत, व्यंतर आदि से गृहीत स्थिति।

उन्मादप्राप्त - वातादि जनित रोगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न चैतसिक उन्मादयुक्त।

सप्रायश्चित्त - कठोर, वृहद् प्रायश्चित्त के परिणामस्वरूप व्यथित चित्तवृत्तियुक्त।

भक्तपानप्रत्याख्यात - आहार-पानी के प्रत्याख्यानजनित अशक्त या दुर्बल देह युक्त।

अर्थजात - शिष्य आदि का अर्थ या द्रव्य (निधि) आदि को देखने से चित्त असंतुलित होना।

संयमविघातक छह स्थान

छ कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता तंजहा - कुक्कुइए संजमस्स पलिमंथू, मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू, तित्तिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू, चक्खुलोलुए इरियावहियाए पलिमंथू, इच्छालो(भ-ल ए)भे मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू; भिज्जा(भुज्जो) णियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू, सच्चत्थ भगवया अणियाणया पसत्था ॥ १९ ॥

कठिन शब्दार्थ - पलिमंथू - परिमन्थवः - संयम का परिमन्थन - घात करने वाले, **कुक्कुइए** - कौत्कुच्य, **मोहरिए** - मौखर्य - वाचालता, **तित्तिणिए** - बड़बड़ करने वाला, **चक्खुलोलुए** - नेत्र चंचलता युक्त, **इच्छालोभे** - आहारादि में गृह्णभाव, **मुत्तिमग्गस्स** - मुक्ति मार्ग का, **भिज्जाणियाणकरणे** - अभिध्यानिदानकारण - लालचवश निदान करना।

भावार्थ - १९. निर्ग्रन्थाचार का विघात करने वाले छह स्थान कहे गए हैं -

१. भाण्ड जैसी निर्लज्जतापूर्ण चेष्टाएं संयम का विनाश करती हैं।
२. मुखरता - वाचालता सत्य का नाश करती है।
३. यथेच्छ आहारादि न मिलने पर चिढना - बड़बड़ाना एषणा समिति का नाश करती है।
४. चक्षुलोलुपता ईर्यासमिति का विघात करती है।
५. इच्छलोलुपता मुक्तिमार्ग का विघात करती है।
६. लोभवश निदान करना मोक्षमार्ग का विघातक है।

क्योंकि सर्वत्र भगवान् ने अनिदानता को प्रशस्त - उत्तम बतलाया है।

विवेचन - एक निर्ग्रन्थ का जीवन संयत, शालीन, स्वल्प, सप्रयोजनभाषिता युक्त, इच्छा - आकांक्षा विवर्जित, प्रत्येक क्रिया में जागरूकतापूर्ण तथा एक मात्र मोक्ष के परम लक्ष्य से अभिभावित होता है।

इनमें बाधा उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ निर्ग्रन्थ की संयम साधना का नाश करती हैं। उन प्रवृत्तियों के लिए सूत्र में 'परिमन्थु' शब्द का प्रयोग हुआ है। मूलतः यह 'परिमन्थु' शब्द है। संस्कृत और प्राकृत में 'रलयोः साम्यम्' - 'र' और 'ल' समान हैं। इस प्रवृत्ति के अनुसार 'र' का प्राकृत में 'ल' हो गया है। 'परिमन्थु' शब्द 'परि' उपसर्ग और 'मथ्' धातु से बनता है। 'परि-पर्याप्ततया समग्रतया वा मथ्नाति नाशयति इति परिमन्थु' - जो समग्रता से नाश कर देता है, उसे परिमन्थु कहा जाता है। यहाँ जिन-जिन प्रवृत्तियों को संयम के लिए परिमन्थु बतलाया है, वे-वे प्रवृत्तियाँ संयम के सूत्रोक्त हेतुओं का नाश करती हैं।

यहाँ प्रयुक्त 'मौखर्य' शब्द 'मुखरस्य भावः मौखर्यम्' - मुखर से बना है यहाँ मौखर्य का अर्थ निष्प्रयोज्य भाषिता से है। आज आर्य परिवारीय हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में मुखर शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है। वह स्पष्टभाषी या वाग्मी के अर्थ में है। भाषाशास्त्र के अनुसार यह अर्थोत्कर्षमूलक परिवर्तन का उदाहरण है।

यहाँ 'भिञ्जा' (भिध्या) शब्द प्रयुक्त हुआ है, उस संदर्भ में ज्ञातव्य है कि मूलतः यह अभिध्या शब्द है, जिसका तात्पर्य 'लोभ' से है। भाषा विज्ञान की मुखसुख प्रवृत्तिमूलक संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया का उदाहरण है, जिसमें किसी शब्द का लोप हो जाता है।

यहाँ 'अ' का लोप होकर भिध्या शेष रहता है। यह अवशिष्टांश भी पूर्ण शब्द के रूप में प्रयुक्त है।

कल्पस्थिति के छह प्रकार

छव्विहा कप्पट्टिई पण्णत्ता, तंजहा - सामाइयसंजयकप्पट्टिई, छेओवट्टावणिय-संजयकप्पट्टिई, णिव्विसमाणकप्पट्टिई, णिव्विट्टुकाइयकप्पट्टिई, जिणकप्पट्टिई, थेरकप्पट्टिई ॥२०॥ त्ति वेमि।

॥बिहक्कप्पे छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥६॥

भावार्थ - २०. छह प्रकार की कल्पस्थिति - साधु आचार की मर्यादा प्रतिपादित की गई है -

१. सामायिक चारित्र विषयक मर्यादाएँ,
२. छेदोपस्थापनीय चारित्र विषयक मर्यादाएँ,
३. परिहारविशुद्धि चारित्र में अवस्थित रहने वाले भिक्षु की मर्यादाएँ,
४. परिहारविशुद्धि चारित्र को आसेवित कर चुके भिक्षुओं की मर्यादाएँ,
५. साधना हेतु गच्छ से बहिर्वर्ती भिक्षुओं की मर्यादाएँ,
६. गच्छस्थित भिक्षुओं की मर्यादाएँ।

विवेचन - इस सूत्र में साध्याचार के छह प्रकार के कल्पों की मर्यादाओं का उल्लेख है। प्रथम कल्प सामायिक चारित्र है।

१. सामायिक चारित्र - 'समो रागद्वेषरहितभावः - ज्ञानदर्शनचाटित्रलक्षणभावः तस्याऽऽयः प्राप्तिः।' सम का अर्थ राग द्वेष रहित भाव है। दूसरे शब्दों में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना है। आय का तात्पर्य प्राप्ति है। जहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप आराधना की प्राप्ति होती है, सावद्य का सर्वथा त्याग होता है, उसे सामायिक चारित्र कहते हैं।

इत्वरिक और यावत्कथिक (यावज्जीविक) के रूप में इसके दो भेद हैं।

(अ) इत्वरिक - पंचमहाव्रतारोपण की पूर्वस्थितिगत सामायिक चारित्र इत्वरिक संज्ञक है।

(ब) यावत्कथिक (यावज्जीविक) - महाव्रतों के सविस्तार आरोपण के अनन्तर जीवनभर के लिए सामायिक चारित्र स्थायित्व प्राप्त करता है। इसीलिए वह यावत्कथिक कहा जाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि महाव्रतारोपण रूप यावज्जीविक कल्पस्थिति मध्यम तीर्थकरों के शासनकाल में होती है।

दो भेदों की स्थिति प्रथम एवं अंतिम तीर्थकरों के शासनकाल में होती है। मध्यम (दूसरे से तेवीसवें तक) तीर्थकरों के शासनकाल में यह भेदस्थिति नहीं होती क्योंकि सर्वसावद्य योग वरिति के अनन्तर वहाँ पुनः महाव्रतारोपण नहीं कराया जाता।

२. छेदोपस्थापनीय संयतकल्पस्थिति - महाव्रतों की विस्तार पूर्वक आरोपण (बड़ी दीक्षा) तथा महाव्रतों में दोष लगने पर पूर्ववर्ती दीक्षापर्याय का छेदन कर पुनः महाव्रतारोपण छेदोपस्थापनीय चारित्र है। यह द्विविध है -

(अ) **निरतिचार** - अपने नवदीक्षित मुनि तथा पार्श्वपरंपरानुवर्ती चातुर्याम धारक मुनियों में पुनः महाव्रतारोपण।

(ब) **सात्तिचार** - संयम में दोष लगने पर दीक्षा छेदपूर्वक पुनः महाव्रतारोपण।

३. निर्विशमान कल्पस्थिति - परिहार विशुद्धि रूप तप करने में संलग्न मुनियों की समाचारी या आचार मर्यादा निर्विशमान कल्पस्थिति कही जाती है।

४. निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति - जिस साधु ने परिहार विशुद्धि संज्ञक चारित्र को आसेवित - संपन्न कर लिया हो, उसके लिए मर्यादित कल्पस्थिति निर्विष्टकायिक कल्पस्थिति है।

५. जिनकल्पस्थिति - विशिष्ट तपश्चरण हेतु जो साधु गण से बाहर रहकर साधना करते हैं, उनकी विहित मर्यादाएँ जिनकल्पस्थिति कही जाती हैं।

६. स्थविर कल्पस्थिति - गण के भीतर आचार्य एवं उपाध्याय आदि के अनुशासन में रहते हुए संयमनिरत साधुओं के लिए परिकल्पित समाचारी स्थविर कल्पस्थिति है।

इन भिन्न-भिन्न साध्वाचार रूप कल्पों में उन-उन साधनाक्रमों के अनुरूप नियमों का वैविध्य होता है किन्तु सभी का लक्ष्य साधना को बल देना तथा मोक्षमार्ग की दिशा में स्वयं को संस्फूर्त बनाना है।

इस प्रकार बृहत्कल्प सूत्र संपन्न होता है।

॥ बृहत्कल्प सूत्र का छठा उद्देशक समाप्त ॥

॥ बिहक्कप्पसुत्तं समत्तं - बृहत्कल्प सूत्र समाप्त ॥

व्यवहार सूत्र

पढमो उद्देशओ - प्रथम उद्देशक

कुटिलता सहित एवं कुटिलता रहित आलोचना : प्रायश्चित्त

जे भिक्खू मासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ १ ॥

जे भिक्खू दोमासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं ॥ २ ॥

जे भिक्खू तेमासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥ ३ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥ ४ ॥

जे भिक्खू पंचमासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥ ५ ॥

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ ६ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि मासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं ॥ ७ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि दोमासियं, परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं ॥ ८ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि तेमासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स तेमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं ॥ ९ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं परिहारद्वुणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा,

अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं ॥१०॥

जे भिक्खू बहुसो वि पंचमासियं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं, पलिउंचिय आलोएमाणस्स छम्मासियं ॥ ११ ॥

तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १२ ॥

जे भिक्खू मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १३ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि मासियं वा बहुसो वि दोमासियं वा बहुसो वि तेमासियं वा बहुसो वि चाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स मासियं वा दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स दोमासियं वा तेमासियं वा चाउम्मासियं वा पंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १४ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १५ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा बहुसो वि साइरेगचाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा बहुसो वि साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणस्स चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा, पलिउंचिय आलोएमाणस्स

पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा छम्मासियं वा, तेण परं पलिउंचिए वा अपलिउंचिए वा ते चेव छम्मासा ॥ १६ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारद्वाणाणं अण्णयरं परिहारद्वाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया, पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, अपलिउंचिए अपलिउंचियं, अपलिउंचिए पलिउंचियं, पलिउंचिए अपलिउंचियं, पलिउंचिए पलिउंचियं, (अपलिउंचिए अपलिउंचियं) आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्टवणाए पट्टविए णिव्विसमाणे पडिसेवेइ से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ १७ ॥

जे भिक्खू चाउम्मासियं वा साइरेगचाउम्मासियं वा पंचमासियं वा साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारद्वाणाणं अण्णयरं परिहारद्वाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, पलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया, पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, अपलिउंचिए अपलिउंचियं, अपलिउंचिए पलिउंचियं, पलिउंचिए अपलिउंचियं, पलिउंचिए पलिउंचियं (पलिउंचिए पलिउंचियं) आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्टवणाए पट्टविए णिव्विसमाणे पडिसेवेइ से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ १८ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा बहुसो वि साइरेगचाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा बहुसो वि साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारद्वाणाणं अण्णयरं परिहारद्वाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, अपलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया, पुव्विं पडिसेवियं पुव्विं आलोइयं, पुव्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं

पुर्व्विं आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, अपलिउंचिए अपलिउंचियं, अपलिउंचिए पलिउंचियं, पलिउंचिए अपलिउंचियं, पलिउंचिए पलिउंचियं आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्टवणाए पट्टविए णिव्विसमाणे पडिसेवेइ से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ १९ ॥

जे भिक्खू बहुसो वि चाउम्मासियं वा बहुसो वि साइरेगचाउम्मासियं वा बहुसो वि पंचमासियं वा बहुसो वि साइरेगपंचमासियं वा एएसिं परिहारट्टाणाणं अण्णयरं परिहारट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा, पलिउंचिय आलोएमाणे ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं, ठविए वि पडिसेवित्ता से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया, पुर्व्विं पडिसेवियं, पुर्व्विं आलोइयं पुर्व्विं पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पुर्व्विं आलोइयं, पच्छा पडिसेवियं पच्छा आलोइयं, अपलिउंचिए अपलिउंचियं अपलिउंचिए पलिउंचियं, पलिउंचिए अपलिउंचियं, पलिउंचिए पलिउंचियं, आलोएमाणस्स सव्वमेयं सकयं साहणिय जे एयाए पट्टवणाए पट्टविए णिव्विसमाणे पडिसेवेइ से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ २० ॥

कठिन शब्दार्थ - परिहारट्टाणं - परिहार स्थान - दोषात्मक स्थितियाँ, पडिसेवित्ता - प्रतिसेवन कर, आलोएज्जा - आलोचना करे, अपलिउंचिय - कुटिलता या कपट रहित, पलिउंचिय - कुटिलता या कपट सहित, दोमासियं - द्वैमासिक - दो महीनों का, तेमासियं - त्रैमासिक - तीन महीनों का, चाउम्मासियं - चातुर्मासिक - चार महीनों का, पंचमासियं - पंचमासिक - पांच महीनों का, छम्मासियं - षट्मासिक - छह महीनों का, बहुसो - बहुत बार - बार-बार, एएसिं - इनका, अण्णयरं - अन्यतर - किसी एक का, साइरेग - सातिरेक - अधिक, ठवणिज्जं - स्थापनीय - स्थापित करे, ठवइत्ता - स्थापित करके, करणिज्जं - करणीय - करना चाहिए, वेयावडियं - वैयावृत्य, ठविए - स्थापित करे, वि - अपि - भी, कसिणे - कृत्स्न - समग्र, तत्थेव - उसी प्रकार या उसमें, आरुहेयव्वे - आरोहित करे - सम्मिलित करे, सिया - स्यात्, पुर्व्विं - पहले, पच्छा - पश्चात् - पीछे, सव्वमेयं - समस्त, सकयं - स्वकृत - अपने द्वारा किए हुए, साहणिय - संहत कर - मिलाकर, एयाए - इसके साथ, पट्टवणाए - प्रस्थापित करे - सम्मिलित करे, पट्टविए - प्रस्थापित कर - सम्मिलित कर, णिव्विसमाणे - संप्रविष्ट होता हुआ - अन्तिम प्रायश्चित्त - तप करता हुआ।

भावार्थ - १. जो भिक्षु मासिक - एक महीने के परिहार स्थान का (एक बार) प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से - अकुटिलता पूर्वक आलोचना करे तो उसे एक मास का प्रायश्चित्त आता है तथा यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

२. जो भिक्षु द्वैमासिक - दो महीनों के परिहार स्थान का (एक बार) प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे द्वैमासिक प्रायश्चित्त आता है और यदि वह माया या प्रवंचना पूर्वक आलोचना करे तो उसे तीन मास का प्रायश्चित्त आता है।

३. जो भिक्षु त्रैमासिक परिहार स्थान का (एक बार) प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे त्रैमासिक - तीन महीनों का प्रायश्चित्त आता है और यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे चातुर्मासिक - चार महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

४. जो भिक्षु चातुर्मासिक - चार महीनों के परिहार स्थान का (एक बार) प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उस चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है एवं यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे पंचमासिक - पाँच महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

५. जो भिक्षु पाँच महीनों के परिहार स्थान का (एक बार) प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे पाँच महीनों का प्रायश्चित्त आता है तथा यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे छह महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

६. उसके उपरान्त निष्कपट भाव से या कपट पूर्वक (एक बार) आलोचना करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

७. जो भिक्षु एक मासिक परिहार स्थान का बहुत बार प्रतिसेवन कर माया रहित भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे एक मासिक प्रायश्चित्त आता है और यदि वह माया सहित आलोचना करे तो उसे दो मास का प्रायश्चित्त आता है।

८. जो भिक्षु द्वैमासिक परिहार स्थान का बहुत बार प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे दो महीनों का प्रायश्चित्त आता है तथा यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे तीन महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

९. जो भिक्षु त्रैमासिक परिहार स्थान का बहुत बार प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे तीन महीनों का प्रायश्चित्त आता है एवं यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे चार महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

१०. जो भिक्षु चातुर्मासिक परिहार स्थान का बहुत बार प्रतिसेवन कर कपट रहित भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे चार महीनों का प्रायश्चित्त आता है और यदि वह कपट पूर्वक भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे पांच महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

११. जो भिक्षु पंचमासिक परिहार स्थान का बहुत बार प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे पांच महीनों का प्रायश्चित्त आता है तथा यदि वह कपट पूर्वक उसकी आलोचना करे तो उसे छह महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

१२. उसके उपरान्त निष्कपट भाव से या कपट पूर्वक बहुत बार आलोचना करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१३. जो भिक्षु एक मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक या पंचमासिक परिहार स्थानों का अथवा इनमें से किसी एक का (एक बार) प्रतिसेवन कर निष्कपट भाव से उसकी आलोचना करे तो उसे एक मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक या पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक या छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

उसके उपरान्त निष्कपट भाव से या कपट पूर्वक (एक बार) आलोचना करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१४. जो भिक्षु एक मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक या पंचमासिक परिहार स्थानों का अथवा इनमें से किसी एक का बहुत बार प्रतिसेवन कर उसकी निष्कपट भाव से आलोचना करे तो उसे एक मासिक, द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक या पंचमासिक प्रायश्चित्त आता है और यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे द्वैमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, पंचमासिक या छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

उसके उपरान्त निष्कपट भाव से या कपट पूर्वक बहुत बार आलोचना करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१५. जो भिक्षु चार महीनों या चार महीनों से अधिक का या पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक का अथवा इनमें से किसी एक परिहार स्थान की (एक बार) निश्छल भाव से आलोचना करे तो उसे चार महीनों या चार महीनों से अधिक का या पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक का प्रायश्चित्त आता है तथा यदि वह कपट पूर्वक उसकी आलोचना करे तो उसे पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक का या छह महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

उसके उपरान्त निष्कपट भाव से या कपट पूर्वक (एक बार) आलोचना करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१६. जो भिक्षु चार महीनों या चार महीनों से अधिक का या पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक का अथवा इनमें से किसी एक परिहार स्थान का बहुत बार प्रतिसेवन कर उसकी निष्कपट भाव से आलोचना करे तो उसे चार महीनों या चार महीनों से अधिक का अथवा पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक का प्रायश्चित्त आता है एवं यदि वह कपट पूर्वक आलोचना करे तो उसे पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक का या छह महीनों का प्रायश्चित्त आता है।

उसके उपरान्त निष्कपट भाव से या कपट पूर्वक बहुत बार आलोचना करने पर वही छह मासिक प्रायश्चित्त आता है।

१७. जो भिक्षु चार महीनों या चार महीनों से अधिक या पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक अथवा इनमें से किसी एक परिहारस्थानों की (एक बार) आलोचना करे, तो वह निष्कपट भाव से आलोचना करता हुआ स्थापनीय - आसेवित - प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित करके उसकी समुचित वैयावृत्य करे।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में इस प्रकार आरोहित - सम्मिलित कर देना चाहिए -

१. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पूर्व - पहले आलोचना की हो।
२. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पश्चात् - पीछे आलोचना की हो।
३. पश्चात् - पीछे प्रतिसेवित दोष की पूर्व - पहले आलोचना की हो।
४. पश्चात् - पीछे प्रतिसेवित दोष की पश्चात् - पीछे आलोचना की हो।
५. निष्कपट भाव से आलोचना करने का संकल्प कर निष्कपट भाव से आलोचना की हो।
६. निष्कपट भाव से आलोचना करने का संकल्प कर कपट पूर्वक आलोचना की हो।
७. कपट सहित भाव से आलोचना करने का संकल्प कर कपट रहित भाव से आलोचना की हो।
८. कपट सहित भाव से आलोचना करने का संकल्प कर कपट सहित भाव से आलोचना की हो।

उपर्युक्त भंगों में से किसी भी प्रकार से आलोचना करने पर उसके समस्त स्वकृत दोष के प्रायश्चित्त को पूर्व प्रायश्चित्त में संहत - सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित होकर फिर किसी प्रकार का दोष प्रतिसेवन करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में आरोपित - सम्मिलित कर देना चाहिए।

१८. जो भिक्षु चार महीनों या चार महीनों से अधिक या पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक अथवा इनमें से किसी एक परिहार स्थान की (एक बार) प्रतिसेवना कर आलोचना करे, वह माया पूर्वक आलोचना करता हुआ स्थापनीय - आसेवित - प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित करके उसकी समुचित वैयावृत्य करे।

यदि वह परिहार-तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में इस प्रकार आरोहित - सम्मिलित कर देना चाहिए -

१. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पूर्व आलोचना की हो।
२. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पश्चात् आलोचना की हो।
३. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की पूर्व आलोचना की हो।
४. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की पश्चात् आलोचना की हो।
५. कपट रहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट रहित आलोचना की हो।
६. कपट रहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट सहित आलोचना की हो।
७. कपट सहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट रहित आलोचना की हो।
८. कपट सहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट सहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग के अनुरूप आलोचना करने पर उसके समस्त स्वकृत दोष के प्रायश्चित्त को पूर्व प्रायश्चित्त में संहत - सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित होकर फिर किसी प्रकार का दोष प्रतिसेवन करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में आरोपित - सम्मिलित कर देना चाहिए।

१९. जो भिक्षु चार महीनों या चार महीनों से अधिक या पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक अथवा इनमें से किसी एक परिहार स्थान की बहुत बार प्रतिसेवना कर आलोचना करे, वह निष्कपट भाव से आलोचना करता हुआ स्थापनीय - आसेवित - प्रतिसेवना के अनुसार प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित करके उसकी समुचित वैयावृत्य करे।

यदि वह परिहार तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में इस प्रकार आरोहित - सम्मिलित कर देना चाहिए -

१. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पूर्व आलोचना की हो।
२. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पश्चात् आलोचना की हो।
३. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की पूर्व आलोचना की हो।
४. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की पश्चात् आलोचना की हो।
५. निष्कपट भाव से आलोचना करने का संकल्प कर निष्कपट भाव से आलोचना की हो।
६. निष्कपट भाव से आलोचना करने का संकल्प कर कपट पूर्वक आलोचना की हो।
७. कपट सहित भाव से आलोचना करने का संकल्प कर कपट रहित भाव से आलोचना की हो।
८. कपट सहित भाव से आलोचना करने का संकल्प कर कपट सहित भाव से आलोचना की हो।

उपर्युक्त भंगों में से किसी भी प्रकार के भंग के अनुरूप आलोचना करने पर उसके समस्त स्वकृत दोष के प्रायश्चित्त को पूर्व प्रायश्चित्त में संहत - सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित होकर फिर किसी का दोष प्रतिसेवन करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में आरोपित - सम्मिलित कर देना चाहिए।

२०. जो भिक्षु चार महीनों या चार महीनों से अधिक या पांच महीनों या पांच महीनों से अधिक अथवा इनमें से किसी एक परिहारस्थान की बहुत बार प्रतिसेवना कर आलोचना करे, वह माया पूर्वक आलोचना करता हुआ स्थापनीय - आसेवित - प्रतिसेवना के अनुसार परिहार तप में स्थापित करके उसकी समुचित वैयावृत्य करे।

यदि वह परिहार-तप में स्थापित होने पर भी किसी प्रकार की प्रतिसेवना करे तो उसका सम्पूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में इस प्रकार आरोहित - सम्मिलित कर देना चाहिए :-

१. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पूर्व आलोचना की हो।
२. पूर्व प्रतिसेवित दोष की पश्चात् आलोचना की हो।
३. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की पूर्व आलोचना की हो।
४. पश्चात् प्रतिसेवित दोष की पश्चात् आलोचना की हो।
५. कपट रहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट रहित आलोचना की हो।
६. कपट रहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट सहित आलोचना की हो।
७. कपट सहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट रहित आलोचना की हो।

८. कपट सहित आलोचना करने का संकल्प कर कपट सहित आलोचना की हो।

इनमें से किसी भी प्रकार के भंग के अनुरूप आलोचना करने पर उसके समस्त स्वकृत दोष के प्रायश्चित्त को पूर्व प्रायश्चित्त में संहत - सम्मिलित कर देना चाहिए।

जो इस प्रायश्चित्त रूप परिहार-तप में स्थापित होकर फिर किसी प्रकार का दोष प्रतिसेवन करे तो उसका संपूर्ण प्रायश्चित्त पूर्व प्रायश्चित्त में आरोपित - सम्मिलित कर देना चाहिए।

विवेचन - इस सूत्र के अन्तर्गत 'परिहारद्वयं' पद में प्रयुक्त परिहार शब्द 'परि' उपसर्ग तथा 'हृ' धातु के योग से बना है। 'परिह्रियते - परित्यज्यते गुरुसमीपे गत्वा यः, स परिहारः।' अर्थात् गुरु के समीप जाकर जिसका त्याग किया जाता है, उसे परिहार कहा जाता है। यों इसका अर्थ पाप या दोष है। परिहार-स्थान का तात्पर्य पाप के स्थान या हेतु हैं। इस सूत्र में पाप-स्थानों या दोषों का प्रतिसेवन हो जाने पर उनकी आलोचना, प्रायश्चित्त इत्यादि के संदर्भ में विभिन्न प्रकार से विस्तृत विवेचन किया गया है।

विविध भंगों के साथ किए गए इस विवेचन का अभिप्राय यह है कि भिक्षु अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में प्रतिसेवित दोषों का प्रायश्चित्त कर अपनी आत्मा को सदैव उज्ज्वल, निर्मल बनाए रखने की दिशा में प्रयत्नशील रहे।

इस सूत्र में प्रतिसेवित पाप-स्थानों की माया-रहित और माया-सहित रूप में आलोचना करने का जो प्रसंग आया है, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बड़ी सूक्ष्मता लिए हुए है।

सहज ही प्रश्न उपस्थित होता है कि दोषों के प्रतिसेवित होने पर एक साधु, जिसके जीवन का परम लक्ष्य मोक्ष है, मायापूर्वक आलोचना क्यों करे?

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि साधु साधना-पथ का पथिक है, साधक है, सिद्ध नहीं है। जब तक सिद्धत्व प्राप्त नहीं हो जाता, साधना परम सिद्धि तक नहीं पहुँच जाती, तब तक मानवीय दुर्बलतावश ऐसे प्रसंग बनते रहते हैं, जो साधना की उज्ज्वलता को यत्किंचित् धूमिल बनाते हैं। साधक उस धूमिलता को आत्मबल द्वारा उज्ज्वलता में परिवर्तित करता जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में मायापूर्वक आलोचना करने का यही आशय है कि लोकैषणा, कीर्ति या प्रदर्शन का भाव जब साधक के मन में उभर आता है तब उस द्वारा की जाती दोष प्रतिसेवना की आलोचना भी उससे प्रभावित होती है। उसके साथ एषणामूलक माया आदि अवाञ्छित तत्त्व मिलते जाते हैं। माया-रहित और माया-सहित आलोचना के प्रायश्चित्त का जो काल-

भेद इस सूत्र में बताया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मायारहित होकर की जाने वाली आलोचना ही भिक्षु के लिए उपादेय है।

यहाँ इतना और जान लेना चाहिए कि प्रतिसेवित दोष की जो आलोचना की जाती है, उसमें कोई अन्तर नहीं होता किन्तु आलोचना करने के साथ तद्गत भावों में उज्वलता - अनुज्वलता की दृष्टि से तारतम्य होता है। यहाँ जो मायापूर्वक आलोचना करने का वर्णन हुआ है, वह मानसिक कलमषता का सूचक है।

पारिहारिकों तथा अपारिहारिकों का पारस्परिक व्यवहार

बहवे पारिहारिया बहवे अपारिहारिया इच्छेज्जा एगयओ अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेएत्तए, णो णं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेएत्तए, कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेएत्तए, थेरा य णं से वियरेज्जा एव णं कप्पइ एगयओ अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेएत्तए, थेरा य णं से णो वियरेज्जा एव णं णो कप्पइ एगयओ अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेएत्तए, जो णं थेरेहिं अविइण्णे अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेइए, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ २१ ॥

कठिन शब्दार्थ - इच्छेज्जा - इच्छा करे, एगयओ - एक साथ, अभिणिसेज्जं - रहना, अभिणिसीहियं - बैठना, चेएत्तए - करना - क्रियान्वित करना, अणापुच्छित्ता - बिना पूछे, आपुच्छित्ता - पूछ कर, थेरा - स्थविर, वियरेज्जा - अनुज्ञा दें, संतरा छेए - मर्यादा के उल्लंघन से दीक्षा-छेद, परिहारे वा - परिहार रूप तप विशेष।

भावार्थ - २१. बहुत से पारिहारिक तथा अपारिहारिक भिक्षु यदि एक साथ रहना या बैठना चाहें तो स्थविर को पूछे बिना उन्हें एक साथ रहना एवं बैठना नहीं कल्पता। स्थविर को पूछकर उन्हें एक साथ रहना तथा बैठना कल्पता है।

स्थविर यदि उन्हें वैसा करने की आज्ञा दें तो उन्हें एक साथ रहना एवं बैठना कल्पता है। स्थविर यदि उन्हें वैसा करने की आज्ञा न दें तो उन्हें एक साथ रहना तथा बैठना नहीं कल्पता।

जो स्थविरों द्वारा आज्ञा न दिए जाने पर भी एक साथ रहें या बैठें तो उन्हें मर्यादा उल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या परिहार रूप तप विशेष का प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - परिहार, तपश्चरण का एक विशेष प्रकार है, जो दोषों के सम्मार्जन हेतु किया जाता है। बृहत्कल्प सूत्र के चतुर्थ उद्देशक में परिहार-तप के विषय में संक्षेप में चर्चा हुई है। निशीथ सूत्र के चौथे और बीसवें उद्देशक में इस संबंध में विस्तार से वर्णन है।

‘परिहारे - परिहाररूपे तपसि संलग्नः पारिहारिकः।’ जो भिक्षु परिहार-तप में संलग्न होता है, उसे पारिहारिक कहा जाता है। संघ में रहते हुए तथा संघ से बाहर एकाकी रहते हुए - यों दोनों प्रकार से इस तप की विधि है। इन दोनों पद्धतियों के अपने विशेष आशय हैं। जहाँ साथ में रहते हुए यह तप किया जाता है, वहाँ अन्य साधुओं को वैसा देखकर दोष सेवन न करने की विशेष प्रेरणा प्राप्त होती है। जहाँ संघ से बाहर रहते हुए यह तप किया जाता है, वहाँ पारिहारिक भिक्षु द्वारा विशेष रूप से तपपूर्वक निर्जरा करते हुए आत्मशुद्धि करने का अभिप्रेत है।

परिहार-तप में संलग्न भिक्षु की संघ में रहते हुए भी भिक्षाचर्या, बैठना, उठना, सोना, खाना-पीना आदि अपारिहारिक साधुओं से पृथक् होता है, केवल वह संघ में सम्मिलित होता है। वैसी स्थिति में यदि परिहार-तप में संलग्न भिक्षु तथा अपारिहारिक भिक्षु एक साथ उठना-बैठना चाहें तो वे स्थविरो की आज्ञा के बिना वैसा नहीं कर सकते। यदि करते हैं तो वह दोष है।

वर्तमान काल में परिहार-तप विच्छिन्न समझा जाता है। अतः पारिहारिक बिना विसंभोगिक किये ही यथाशक्ति तप वहन करता है। अर्थात् शक्ति हो, तो एकान्तर रूप तप वहन करता है, अन्यथा उतने छुटकर उपवास किये जाते हैं। आज तो यही प्रथा है।

परिहार-तप निरत भिक्षु का वैयावृत्य हेतु विहार

परिहारकप्पड्ढिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा, कप्पड्ढे से एगराडयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, णो से कप्पड्ढे तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पड्ढे से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए तंसि च णं कारणंसि णिड्डियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पड्ढे एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पड्ढे परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ २२ ॥

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य णो सरेज्जा, कप्पइ से णिव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसिं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, णो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि णिट्ठियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ २३ ॥

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेज्जा, थेरा य से सरेज्जा वा णो सरेज्जा वा कप्पइ से णिव्विसमाणस्स एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, णो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि णिट्ठियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ २४ ॥

कठिन शब्दार्थ - परिहारकप्पट्टिए - परिहारकल्पस्थित - परिहार-तप में निरत, वेयावडियाए - वैयावृत्य - सेवा के लिए, गच्छेज्जा - जाए, सरेज्जा - स्मरण रखे, एगराइयाए पडिमाए - एक रात्रिक प्रतिमा द्वारा - एक-एक रात रुकता हुआ, जण्णं जण्णं दिसं - जिस-जिस दिशा में, अण्णे - अन्य - दूसरे, साहम्मिया - साधर्मिक - रुग्ण साधु, तण्णं तण्णं दिसं - उस-उस दिशा को, उवलित्तए - आश्रित करे - जाए, तत्थ - वहाँ, विहारवत्तियं - विहरण - विचरण हेतु, वत्थए - रहना - टिकना, कारणवत्तियं-रुग्णता आदि के कारण से, तंसि कारणंसि - उस कारण के, णिट्ठियंसि - मिट जाने पर - समाप्त हो जाने पर, परो - अन्य - वैद्य आदि अन्य व्यक्ति, वएज्जा - कहे, वसाहि - रहो - ठहरो, अज्जो - आर्य, एगरायं - एक रात, दुरायं - दो रात, एगरायाओ - एक रात से, दुरायाओ - दो रात से।

भावार्थ - २२. परिहार-तप में निरत भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) यदि रुग्ण स्थविरों-साधुओं की सेवा हेतु बाहर - अन्यत्र जाए, स्थविरों ने उसे परिहार-तप छोड़ने की अनुमति

दी है, यह स्मरण रखे। तदनुसार उसे मार्ग में एक-एक रात रुकना कल्पता है। आगे जिस-जिस दिशा में रुग्ण साधु हो, उस-उस दिशा में वह आगे बढ़ता जाए।

उसे विहरण - विचरण हेतु ठहरना नहीं कल्पता किन्तु रुग्णता आदि के कारण उसे वहाँ - मार्ग में, ग्रामादि में रहना कल्पता है। उस कारण के समाप्त हो जाने पर, वैद्य आदि कोई अन्य व्यक्ति कहे कि हे आर्य! एक रात या दो रात यहाँ और ठहरो, ऐसा होने पर उसे एक रात या दो रात ठहरना कल्पता है। एक रात से या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता। यदि वह वहाँ एक या दो रात से अधिक ठहरता है तो उसे मर्यादोल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

२३. परिहार-तप में निरत भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्य रुग्ण स्थविरों - साधुओं की सेवा के लिए अन्यत्र जाए तो स्थविरों ने उसे परिहार-तप छोड़ने की अनुमति नहीं दी है, यह स्मरण रखे। तदनुसार उसे परिहार-तप में संप्रविष्ट - संलग्न रहते हुए मार्ग में एक-एक रात रुकना कल्पता है। जिस-जिस दिशा में रुग्ण साधु हों, उस-उस दिशा में वह आगे बढ़ता जाए।

उसे विहरण - विचरण हेतु ठहरना नहीं कल्पता किन्तु रुग्णता आदि के कारण उसे वहाँ - मार्ग में, ग्रामादि में रहना कल्पता है। उस कारण के समाप्त हो जाने पर, वैद्य आदि कोई अन्य व्यक्ति कहे कि हे आर्य! एक रात या दो रात यहाँ और ठहरो, ऐसा होने पर उसे एक रात या दो रात ठहरना कल्पता है। एक रात से या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता। यदि वह वहाँ एक या दो रात से अधिक ठहरता है तो उसे मर्यादोल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या परिहार तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

२४. परिहार-तप में निरत भिक्षु (स्थविर की आज्ञा से) अन्य रुग्ण स्थविरों - साधुओं की सेवा हेतु अन्यत्र जाए, स्थविरों ने उसे परिहार-तप छोड़ने की अनुमति दी हो या नहीं दी हो, अर्थात् हाँ या ना कुछ भी नहीं बोले हों, उसे (यदि शक्ति हो तो) परिहार-तप में संप्रविष्ट - संलग्न रहते हुए मार्ग में एक-एक रात रुकना कल्पता है। जिस-जिस दिशा में रुग्ण साधु हो, उस-उस दिशा में वह आगे बढ़ता जाए।

उसे विहरण - विचरण हेतु ठहरना नहीं कल्पता किन्तु रुग्णता आदि के कारण से उसे वहाँ - मार्ग में, ग्रामादि में रहना कल्पता है। उस कारण के समाप्त हो जाने पर, वैद्य आदि कोई अन्य व्यक्ति कहे कि हे आर्य! एक रात या दो रात यहाँ और ठहरो, ऐसा होने पर उसे एक रात या दो रात ठहरना कल्पता है। एक रात से या दो रात से अधिक ठहरना नहीं

कल्पता। यदि वह वहाँ एक या दो रात से अधिक ठहरता है तो उसे मर्यादोल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - रुग्ण साधु की सेवा - परिचर्या का बहुत महत्त्व है, क्योंकि साधु के न कोई परिवार होता है, न कोई मित्र संबंधी ही होते हैं। प्रव्रजित या दीक्षित होते ही समस्त सांसारिक संबंध छूट जाते हैं, साधु जीवन में गृहस्थ से शारीरिक सेवा लेने का निषेध है। क्योंकि इससे राग, मोह, आसक्ति आदि का बढ़ना आशंकित है। साधु ही साधु की सेवा कर सकता है। यहाँ परिहार-तप निरत भिक्षु के रुग्ण साधुओं की सेवा हेतु जाने के विधिक्रम का वर्णन किया गया है।

“**णत्थि पंथसमा जरा**” के अनुसार मार्ग पर पैदल चलना बहुत कठिन है। युवा भी वृद्ध की तरह परिश्रान्त हो जाता है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए आगमकार ने यहाँ सेवा हेतु जाने वाले परिहार-तप निरत भिक्षु की तीन स्थितियों का वर्णन किया है। स्थविर जब देखते हैं कि भिक्षु दैहिक दृष्टि से स्वस्थ और सशक्त नहीं है तो उसे मार्ग में परिहार-तप छोड़ने की अनुमति प्रदान करते हैं। जब उन्हें लगता है कि भिक्षु सशक्त और परिपुष्ट है तो वे उसे परिहार-तप छोड़ने की अनुमति नहीं देते। तदनुसार वह परिहार-तप चालू रखता है।

तीसरी स्थिति वह है, जहाँ स्थविर न तो परिहार-तप छोड़ने की बात कहते हैं और न ही यथास्थिति रखने की बात कहते हैं, वे पारिहारिक भिक्षु के विवेक पर छोड़ देते हैं। उस स्थिति में यदि भिक्षु स्वयं को तप चालू रखने में समर्थ समझे तो तप चालू रखे।

मार्ग में अधिक न रूकने की बात कही गई है, उसका आशय यह है कि रुग्ण व्यक्ति का क्षण-क्षण निकलना बहुत कठिन होता है। उसे अविलम्ब सेवा की आवश्यकता होती है। अत एव तदर्थ गमनोद्यत भिक्षु का एक ही लक्ष्य रहे कि वह यथाशीघ्र अपनी मंजिल पर पहुँचकर रुग्ण साधु की सेवा में लग जाए।

“**वित्तो धम्म माहिए**” विवेक में ही धर्म है, जैन दर्शन की यह मान्यता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वहाँ प्रत्येक विषय पर ऐकान्तिक दृष्टि से विचार नहीं किया जाता, अनेकान्त दृष्टिपूर्वक, समन्वय पूर्वक चिन्तन किया जाता है। यही कारण है कि इस सूत्र में एक रात से अधिक न ठहरने की बात कहते हुए भी यह विधान किया गया है कि जाने वाला साधु स्वयं बीमार हो जाए अथवा वैसा ही कोई अनिवार्य कारण उत्पन्न हो जाए तो वह एक-दो रात से

अधिक भी रुक सकता है। कारण के दूर होने पर भी कोई चिकित्सक आदि योग्य व्यक्ति कहे तो एक-दो रात और रुक सकता है। वैसी स्थितियाँ न होने पर रुकना दोष युक्त है।

एकाकी विहरणशील का गण में पुनरागमन

जे भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥ २५ ॥

गणावच्छेइए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥ २६ ॥

आयरियउवज्झाए य गणाओ अवक्कम्म एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥ २७ ॥

कठिन शब्दार्थ - गणाओ - गण से, अवक्कम्म - अवक्रान्त होकर - निकल कर, एगल्लविहारपडिमं - एकाकी - विहार प्रतिमा, उवसंपज्जित्ताणं - उपसंपन्न कर - स्वीकार कर या धारण कर, विहरेज्जा - विहरण करे, दोच्चं पि - दुबारा भी - पुनरपि, तमेव - उसी, विहरित्तए - रहना चाहे, पुणो - पुनः, पडिक्कमेज्जा - प्रतिक्रमण करे, छेयपरिहारस्स- दीक्षा-छेद या परिहार-तप का, उवट्ठाएज्जा - उपस्थापित हो - स्वीकार करे, गणावच्छेइए- गणावच्छेदक, एवं - इसी प्रकार, आयरियउवज्झाए - आचार्य, उपाध्याय।

भावार्थ - २५. यदि कोई भिक्षु गण से पृथक् होकर एकाकी विहारचर्या स्वीकार कर विचरणशील रहे और बाद में वह उसी गण में पुनः (वापस) सम्मिलित होकर रहना चाहे तो वह पूर्वावस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का जो प्रायश्चित्त दे तो उसे वह अंगीकार करे।

२६. यदि कोई गणावच्छेदक गण से पृथक् होकर एकाकी विहारचर्या स्वीकार कर विचरणशील रहे और बाद में वह पुनः उसी गण में वापस सम्मिलित होकर रहना चाहे तो

वह पूर्वावस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का जो प्रायश्चित्त दे तो उसे वह अंगीकार करे।

२७. इसी प्रकार यदि कोई आचार्य, उपाध्याय गण से पृथक् होकर एकाकी विहारचर्या स्वीकार कर विचरणशील रहे तथा बाद में वह पुनः उसी गण में वापस सम्मिलित होकर रहना चाहे तो वह पूर्वावस्था की पूर्ण आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का जो प्रायश्चित्त दे, उसे अंगीकार करे।

विवेचन - 'शब्दाः कामदुघा' के अनुसार शब्दों के प्रसंग, प्रयोजन, भाषा-शास्त्रीय विधि-विधान इत्यादि के कारण अनेक अर्थ होते हैं। कोश, व्याकरण एवं भाषा-विज्ञान द्वारा वे निर्णीत होते हैं। यहाँ 'एगल्लविहारपडिमं' पद में प्रयुक्त 'पडिमं' शब्द प्रतिमा के अर्थ में नहीं है, चर्या के अर्थ में है।

सामान्यतः यह विधान है कि आर्हती दीक्षा में प्रव्रजित भिक्षु-संघ में रहता हुआ चारित्राराधना करे। संयम पालन की दृष्टि से वैसा करना उसके लिए उपयोगी होता है किन्तु शास्त्रों में दो परिस्थितियों की ऐसी चर्चा है जहाँ साधु संघ से पृथक् होकर एकाकी विहरणशील होता है। उनमें पहली स्थिति को अपरिस्थितिक कहा गया है क्योंकि वह किसी परिस्थिति विशेष के कारण नहीं बनती। प्रतिमाओं की आराधना, उत्कृष्ट साधना हेतु भिक्षु आचार्य के आदेश से उसे स्वीकार करता है। अत एव गण से पृथक् रहता हुआ भी वह आचार्य संपदा में ही परिगणित होता है। अपनी साधना को परिसंपन्न कर वह ससम्मान पुनः गण में सम्मिलित हो जाता है।

दूसरी स्थिति सपरिस्थितिक कही गई है, जो परिस्थिति विशेष के कारण उत्पन्न होती है। शारीरिक-मानसिक कारण, प्रकृति की विषमता - असहिष्णुता एवं संयम परिपालन में अनुकूल सहयोगी का अभाव इत्यादि हेतुओं से जो साधु संघ से पृथक् होकर एकाकी विहरणशील हो जाता है, वह गण का अंग या गण में सम्मिलित नहीं माना जाता। वैसा साधु यदि पुनः गण में आना चाहे तो वह गण के आचार्य के सम्मुख उपस्थित होकर गण से पृथक् रहने के समय ज्ञात-अज्ञात रूप में हुए दोषों का पूर्णतः आलोचन, प्रतिक्रमण करे। आचार्य उसे सुनकर दीक्षा-छेद या तप विशेष का जो प्रायश्चित्त उसे दें, वह उसे स्वीकार करे। वैसा करने पर वह गण में पुनः सम्मिलित किया जाता है।

पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द विहरणशील आदि का गण में पुनरागमन

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म पासत्थविहारं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्टाएज्जा ॥ २८ ॥

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म अहाछंदविहारं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्टाएज्जा ॥ २९ ॥

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म कुसीलविहारं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्टाएज्जा ॥ ३० ॥

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म ओसण्णविहारं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्टाएज्जा ॥ ३१ ॥

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म संसत्तविहारं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, अत्थि या इत्थ सेसे, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्टाएज्जा ॥ ३२-१ ॥

कठिन शब्दार्थ - पासत्थविहारं - ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में पार्श्वस्थ - पुरुषार्थ रहित आचरण, अहाछंदविहारं - स्वच्छन्द - मनमाने रूप में चलते रहने का उपक्रम, कुसीलविहारं - कुत्सित शील युक्त - आगम विरुद्ध, समितिगुप्ति विहीन व्यवहार, ओसण्णविहारं - संयम का अनुसरण करने में अवसाद - कष्टानुभव, संसत्तविहारं - संयमविपरीताचरणशील जनों में आसक्तता, तदनुरूप व्यवहार।

भावार्थ - २८. यदि भिक्षु गण से पृथक् होकर पार्श्वस्थ विहारचर्या अपना कर विचरण करे और फिर वह दुबारा गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे, यदि उसमें चारित्र कुछ भी शेष रहा हो तो वह पूर्वावस्था की संपूर्ण रूप से आलोचना, प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का प्रायश्चित्त दें, उसे (वह) स्वीकार करे।

२९. यदि भिक्षु गण से पृथक् होकर स्वच्छन्द विहारचर्या अपना कर विचरण करे तथा फिर वह दुबारा गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे, यदि उसमें चारित्र कुछ भी शेष रहा हो तो वह पूर्वावस्था की संपूर्ण रूप से आलोचना, प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का प्रायश्चित्त दें, उसे (वह) स्वीकार करे।

३०. यदि भिक्षु गण से पृथक् होकर कुत्सित विहारचर्या अपनाकर विचरण करे एवं फिर वह दुबारा गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे, यदि उसमें चारित्र कुछ भी शेष रहा हो तो वह पूर्वावस्था की संपूर्ण रूप से आलोचना, प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का प्रायश्चित्त दें, उसे (वह) स्वीकार करे।

३१. यदि भिक्षु गण से पृथक् होकर अवसादपूर्ण विहारचर्या अपनाकर विचरण करे और फिर वह दुबारा गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे, यदि उसमें चारित्र कुछ भी शेष रहा हो तो वह पूर्वावस्था की संपूर्ण रूप से आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का जो प्रायश्चित्त दें, उसे (वह) स्वीकार करे।

३२-१. यदि भिक्षु गण से पृथक् होकर आसक्तिपूर्ण विहारचर्या अपनाकर विचरण करे तथा फिर वह दुबारा गण में सम्मिलित होकर रहना चाहे, यदि उसमें चारित्र कुछ भी शेष रहा हो तो वह पूर्वावस्था की संपूर्ण रूप से आलोचना एवं प्रतिक्रमण करे, जिस पर आचार्य उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का जो प्रायश्चित्त दें, उसे (वह) स्वीकार करे।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में पाँच प्रकार के भिक्षुओं का वर्णन है, जो संयम-साधना में दुर्बल, अनुत्साहित, उदासीन या अवसन्न होते हैं। इस कारण वे गण से पृथक् हो जाते हैं। ऐसा सब होने पर भी वे चारित्र या संयम से सर्वथा रहित नहीं होते, कुछ न कुछ संयमानुकूल आचरण करते रहते हैं। इन पाँचों में पहली कोटि में वे आते हैं, जो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्रमूलक मोक्षमार्ग में अनुरत तो नहीं होते किन्तु उसके समीप होते हैं अर्थात् यत्किंचित् उनका पालन करते हैं। इसीलिए उन्हें पार्श्वस्थ कहा गया है। क्योंकि पार्श्व का अर्थ पास या समीप है।

संयम-साधना अनुशासन पर आधृत है। वहाँ मनमानापन नहीं चलता। दूसरी कोटि में वैसे ही साधु आते हैं, जिनका आचरण अनुशासन, नियमानुवर्तिता आदि के प्रतिकूल होता है। छन्द शब्द के गण या मात्रायुक्त कविता, प्रसन्नता, वंचना, प्रसादन तथा इच्छा आदि अनेक

अर्थ हैं। यहाँ 'मन में जैसा आए वैसा करने' के अर्थ में प्रयुक्त है। स्वच्छन्द भिक्षु अपने मनमाने व्यवहार के कारण कदम-कदम पर स्वलित होता रहता है।

'कुशील' दोषपूर्ण व्यवहारचर्या के अर्थ में है। यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि जो साधु एषणापूर्ति, कीर्ति, ख्याति आदि हेतु मन्त्र-तंत्र, टोना-टोटका, निमित्त-कथन, भविष्यवाणी आदि करता है, वह सब कुशील सेवन में समाविष्ट है।

यहाँ आए हुए अवसन्न के मूल में अवसाद शब्द है। अवसाद शब्द 'अव' उपसर्ग तथा 'सद्' धातु के योग से बना है। "अव - समन्तात् सीदति - दुःखमनुभवति येन स अवसादः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार किसी कार्य को करने में कष्ट या खेद का अनुभव करना अवसाद है। जो भिक्षु व्रत पालन में दुःख मानता है, वह उनका भलीभाँति अनुसरण नहीं कर सकता।

उसी प्रकार जो संयम के प्रतिकूल आचरण करने वालों में आसक्त रहता है, उनसे मेलजोल रखता है, वह उन जैसे ही संयम रहित चर्या में अनुरत रहने लगता है।

इन माँचों ही कोटियों में आने वाले साधु संयम का अपलाप तो करते हैं, उसका पूर्णरूप से पालन तो नहीं करते किन्तु वे सर्वथा असंयमी नहीं हो जाते, अंशतः उनमें संयमाराधना बची रहती है, वही उनकी पुनः संघ में आने की पात्रता है। यदि पूर्णतः संयम के प्रतिकूल आचरण करने लगते हैं तो गण में आने का प्रश्न ही नहीं रह जाता।

उसी पात्रता के कारण वे दोषानुरजित पूर्वावस्था का आलोचन, प्रतिक्रमण कर, आचार्य द्वारा निर्देशित प्रायश्चित्त कर गण में आने के अधिकारी होते हैं।

अन्य लिंग-ग्रहण के अनन्तर पुनरागमन

भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म परपासंडपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्ताए, णत्थि णं तस्स तप्पत्तियं केइ छेए वा परिहारे वा णण्णत्थ एगाए आलोयणाए ॥ ३२-२ ॥

कठिन शब्दार्थ - परपासंडपडिमं - अन्य संप्रदाय या मत का लिंग या वेश, तप्पत्तियं - तत्प्रत्येक - अन्य लिंग या वेश ग्रहण करने से संबद्ध, णण्णत्थ - नान्यत्र - अन्य या और नहीं।

भावार्थ - ३२-२. जो भिक्षु गण से पृथक् होकर (किसी अपरिहार्य कारणवश) किसी अन्य संप्रदाय या मत विशेष का वेश धारण कर विहरण करे तथा बाद में उसी गण में पुनः

अपना वास्तविक लिंग स्वीकार कर गण में आकर रहना चाहे तो उसे केवल आलोचना के अतिरिक्त अन्य लिंग ग्रहण करने का दीक्षा-छेद या तप विशेष का प्रायश्चित्त नहीं आता।

विवेचन - इस सूत्र में परपाषंड शब्द का प्रयोग जैनेतर संप्रदायों या मतवादों के लिए हुआ है, जिनके अपने-अपने विभिन्न प्रकार के लिंग या वेश होते हैं। यदि कोई भिक्षु असह्य उपद्रवों से उद्विग्न होकर सतत संयम-रक्षा हेतु गण से पृथक् हो जाए तथा आर्हत धर्म के विपरीत राज्य आदि से उत्पन्न विघ्नोत्पादक कारणों से बचने के लिए किसी दूसरे संप्रदाय का वेश स्वीकार कर विहरण करें, वैसी स्थितियों के समाप्त हो जाने पर यदि वह, जैसा सूत्र में उल्लेख हुआ है, पुनः अपना परम्परागत वेश अंगीकार कर गण में रहना चाहे तो उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष का प्रायश्चित्त नहीं आता। केवल पूर्वावस्था की आलोचना ही करनी पड़ती है, क्योंकि उसका भाव-संयम सुरक्षित होता है।

उस स्थिति में, जहाँ कोई भिक्षु कषायादिवश गण से पृथक् होकर अन्य वेश स्वीकार करे तथा पुनः गण में आना चाहे तो उस पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता क्योंकि वह मूलतः दोषी होता है, उसे दीक्षा-छेद या तप विशेष के प्रायश्चित्त के अनन्तर ही गण में सम्मिलित किया जाता है।

संयम परित्याग के पश्चात् पुनः गण में आगमन

भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म ओहावेज्जा, से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्ताए, णत्थि णं तस्स केइ छेए वा परिहारे वा णणत्थ एगाए सेहोवट्ठावणियाए* ॥ ३३ ॥

कठिन शब्दार्थ - ओहावेज्जा - अवधावन करे - पंचमहाव्रतों से पराङ्मुख हो जाए, सेहोवट्ठावणियाए - छेदोपस्थापनीय - नव दीक्षा।

भावार्थ - ३३. यदि कोई भिक्षु गण से पृथक् होकर पंचमहाव्रतमूलक संयम का परित्याग कर दे और वह पुनः गण में आकर संयमी साधु के रूप में रहना चाहे तो उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र या नव दीक्षा को स्वीकार करना होता है। दीक्षा-छेद या तप विशेष का प्रायश्चित्त उसे नहीं आता।

विवेचन - जैन आगमों में चारित्र के पाँच भेद माने गए हैं - १. सामायिक चारित्र,

* पाठान्तर - छेओवट्ठावणियाए

२. छेदोपस्थापनीय चारित्र, ३. परिहारविशुद्धि चारित्र, ४. सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र एवं ५. यथाख्यात चारित्र।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो रूप हैं। 'सर्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' - समस्त सावद्य योगों का प्रत्याख्यान - परित्याग करता हूँ, इस प्रतिज्ञात्मक घोषणा के साथ मुमुक्षु जो सर्व सावद्य त्याग रूप चारित्र ग्रहण करता है, उसे सामायिक चारित्र कहा जाता है। लोक भाषा में वह छोटी दीक्षा के रूप में प्रसिद्ध है।

दीक्षा लेने के सातवें दिन या अधिक से अधिक छह मास पश्चात् साधक में पाँच महाव्रतों का विभक्त रूप में आरोपण किया जाता है। उसे निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र या बड़ी दीक्षा कहते हैं।

छेदोपस्थापनीय चारित्र का दूसरा रूप यह है - प्रथम ली हुई दीक्षा में यदि मूलतः दोष आ जाए, महाव्रत विराधित हो जाए तो उसका छेदन कर साधक को सर्वथा नए रूप में दीक्षा दी जाती है। उसका पिछला दीक्षा-पर्याय समाप्त हो जाता है। इसे 'सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' कहते हैं। यह आठवें मूल प्रायश्चित्त के नाम से भी कहा जाता है।

इस सूत्र में इसी अर्थ में छेदोपस्थापनीय का प्रयोग हुआ है। जब नई दीक्षा गृहीत की जाती है तो पूर्ववर्ती दीक्षा-पर्याय का सर्वथा विच्छेद हो जाना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। उसमें 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः - हाथी के पैर में सभी पैर समा जाते हैं' के अनुसार सभी प्रायश्चित्त सर्वथा समाविष्ट हो जाते हैं।

आलोचना-क्रम

भिक्षू य अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवित्ता इच्छेज्जा आलोएत्तए, जत्थेव अप्पणो आयरियउवज्जाए पासेज्जा, तेसंतियं * आलोएज्जा पडिक्कमेज्जा णिंदेज्जा गरहेज्जा विउट्टेज्जा विसोहेज्जा अकरणयाए अब्भुट्टेज्जा अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा ॥ ३४ ॥

णो चेव अप्पणो आयरियउवज्जाए पासेज्जा, जत्थेव संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं तस्संतियं आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा ॥ ३५ ॥

णो चेव णं संभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं जत्थेव अण्णसंभोइयं साहम्मियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतियं आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा ॥ ३६ ॥

* पाठान्तर - 'तस्संतियं' या 'तस्संतिए'

णो चेव णं अण्णसंभोइयं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं जत्थेव सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, तस्संतियं आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जा ॥ ३७-१ ॥

णो चेव णं सारूवियं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, कप्पइ से तस्संतिए आलोएत्तए वा पडिवक्कमेत्तए वा जाव पायच्छित्तं पडिवज्जेत्तए वा ॥ ३७-२ ॥

णो चेव णं समणोवासगं पच्छाकडं पासेज्जा बहुस्सुयं बब्भागमं, जत्थेव समभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, कप्पइ से तस्संतिए आलोएत्तए वा पडिवक्कमेत्तए वा जाव पायच्छित्तं पडिवज्जेत्तए वा ॥ ३८ ॥

णो चेव समभावियाइं चेइयाइं पासेज्जा, बहिया गामस्स वा णगरस्स वा णिगमस्स वा रायहाणीए वा खेडस्स वा कब्बडस्स वा मडंबस्स वा पट्टणस्स वा दोणमुहस्स वा आसमस्स वा संवाहस्स वा संणिवेसस्स वा पाईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वएज्जा-एवइया मे अवरहा, एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो। अरहंताणं सिद्धाणं अंतिए आलोएज्जा जाव पडिवज्जेज्जासि ॥ ३९ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ ववहारस्स पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ १ ॥

कठिन शब्दार्थ - अकिच्चट्टाणं - अकृत्य स्थान - न करने योग्य दोष, पासेज्जा - देखे, तेसंतियं - उनके समीप, पडिवक्कमेज्जा - प्रतिक्रमण करे - दोषों से प्रतिक्रान्त हो, णिंदेज्जा - निंदा करे, गरहेज्जा - गर्हा करे - जुगुप्सा करे, विउट्टेज्जा - व्यावृत्त बने - प्रतिनिवृत्त हो, विसोहेज्जा - विशोधित करे - आत्मा को शुद्ध बनाए, अकरणयाए - न करने योग्य कर्म से - दोष से, अब्भुट्टेज्जा - अभ्युत्थित बने - ऊँचा उठे, अहारियं - यथायोग्य, तवोक्कम्मं - तपःक्रम - तपस्या, पायच्छित्तं - प्रायश्चित्त, पडिवज्जेज्जा - स्वीकार करे, संभोइयं - साम्भोगिक - समान सामाचारिक - समान समाचारीयुक्त, बहुस्सुयं-बहुश्रुत - शास्त्रज्ञ या शास्त्रों के विशेष ज्ञाता, बब्भागमं - बहुआगम - अनेक आगमों के वेत्ता, जाव - यावत्, अण्णसंभोइयं - अन्य सांभोगिक - असमान समाचारी युक्त, सारूवियं-सारूपिक - अपने समान वेशादि युक्त, समणोवासगं - श्रमणोपासक - श्रावक, पच्छाकडं-पश्चात्कृत - साधुत्व छोड़कर गृहस्थ बना हुआ, समभावियाइं - सम्यग्भावित - जिन वचन

में आस्था युक्त, चेइयाइं - चैत्य - सम्यक् ज्ञान एवं भाव युक्त गृहस्थ, बहिया - बाहर, गामस्स - गाँव के, णगरस्स - नगर के, णिगमस्स - निगम के - अधिकांशतः व्यापारियों के निवास स्थान के - व्यापार केन्द्र के, रायहाणीए - राजधानी के, खेडस्स - मिट्टी के परकोटे से घिरी हुई बस्ती के, कब्बडस्स - कर्बट के - छोटे शहर या कस्बों के, मडंबस्स - दूर तक (चारों तरफ ढाई-ढाई कोश तक) गाँव रहित बस्ती के, पट्टणस्स - पत्तन के - जहाँ सभी प्रकार की सामग्रियाँ प्राप्य हों, वैसे नगर के, द्रोणमुहस्स - द्रोणमुख के - जलमार्ग एवं स्थल मार्ग युक्त शहर के, आसमस्स - आश्रम के - तापसों के आवास स्थान के, संवाहस्स - संबाध के - खेती करने वाले कृषक दूसरी जगह खेती करके पर्वत आदि विषम स्थानों पर रहते हो ऐसे स्थान के, संणिवेसस्स - सन्निवेश के - सेना की छावनी के, पाईणाभिमुहे - पूर्व दिशा की ओर मुख किए हुए, उदीणाभिमुहे - उत्तर दिशा की ओर मुख किए हुए, करयलपरिग्गहियं - करतल परिगृहीत - हाथ जोड़े हुए, सिरसावत्तं - सिर पर धुमाते हुए, मत्थए - मस्तक पर, अंजलिं कट्टु - अंजलि करके, एवं - इस प्रकार, वएज्जा - बोले, एवइया - इतने, अवराहा - अपराध, एवइक्खुत्तो - इतनी बार किए, अहं - मैंने, अवरद्धो - अपराध युक्त, अरहंताणं - अर्हन्त भगवन्तों के, सिद्धाणं - सिद्ध भगवन्तों के, अंतिए - समीप - समक्ष।

भावार्थ - ३४. भिक्षु किसी अकृत्य स्थान का - दोष का प्रतिसेवन कर उसकी आलोचना करना चाहे तो वह जहाँ अपने आचार्य या उपाध्याय को देखे, उनके समक्ष उपस्थित होकर आलोचना करे, प्रतिक्रमण करे, निंदा करे, गर्हा करे, व्यावृत्ति करे - प्रतिनिवृत्ति करे, विशुद्धि करे, अकरणीय - नहीं करने योग्य - दोष से अपने को ऊँचा उठाये एवं यथायोग्य तपःक्रम, प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

३५. यदि अपने आचार्य या उपाध्याय को न देखे, वह प्राप्त न हो तो जहाँ वह अपने बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता, सांभोगिक, साधर्मिक भिक्षु को देखे तो उसके समीप आलोचना करे यावत् तपःक्रम, प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

३६. यदि बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता, सांभोगिक, साधर्मिक भिक्षु प्राप्त न हो तो जहाँ वह बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता, अन्य सांभोगिक, साधर्मिक भिक्षु को देखे, उसके समीप आलोचना करे यावत् तपःक्रम, प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

३७-१. यदि बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता, अन्य सांभोगिक, साधर्मिक भिक्षु प्राप्त न हो तो

जहाँ वह बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता, अपने सारूपिक - समान वेश एवं समान आलोचना करनेच्छुक मुनि को देखे तो उसके समीप आलोचना करे यावत् तपःक्रम, प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

३७-२. यदि बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता, सारूपिक भिक्षु प्राप्त न हो तो वह वैसे बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता श्रमणोपासक को देखे, जो पहले साधु था, फिर गृहस्थ हो गया हो तो उसे उसके समक्ष आलोचना करना, प्रतिक्रमण करना यावत् प्रायश्चित्त स्वीकार करना कल्पता है।

३८. यदि वैसे बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता, साधुत्व छोड़कर गृहस्थ बना हुआ श्रमणोपासक प्राप्त न हो तो जहाँ भी सम्यक्-भावित - जिन-वचन में आस्थायुक्त ज्ञानी गृहस्थ मिले, उनके समक्ष उसे आलोचना, प्रतिक्रमण कर यावत् प्रायश्चित्त स्वीकार करना कल्पता है।

३९. यदि संभावित ज्ञानी गृहस्थ न मिले तो गाँव, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आश्रम, संबाध या सन्निवेश के बाहर पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर, वह हाथ जोड़कर उन्हें सिर पर घुमाता हुआ ललाट पर अंजलि बांधे इस प्रकार बोले - मेरे इतने अपराध, दोष हैं, मैंने इतनी बार ये अपराध किए हैं, वैसे करता हुआ वह अर्हन्त भगवन्तों, सिद्ध भगवन्तों के साक्ष्य से आलोचना करे यावत् प्रायश्चित्त स्वीकार करे।

विवेचन - सर्वसावद्ययोगत्यागी पंचमहाव्रतधारी भिक्षु का सदैव यह भाव तथा प्रयत्न रहता है कि वह निर्दोषतया संयमपथ पर चलता रहे। ऐसा होते हुए भी कदाचन भिक्षु के मन में अन्यथा भाव आता है तो उस द्वारा अकरणीय - न करने योग्य, दोषपूर्ण कार्य हो जाते हैं। तब वह झट संभलकर यथावस्थित हो जाए, अपने द्वारा जो दोष सेवन हुआ है, उसके लिए वह आलोचना करे, यथानिर्दिष्ट प्रायश्चित्त करे।

आलोचना एवं प्रायश्चित्त किसी के साक्ष्य में हो, यह परम आवश्यक है। उससे आत्म-निर्मलता, विशुद्धि फलित होती है। संयम में अविचलता, स्थिरता आती है।

इन सूत्रों में आलोचना एवं प्रायश्चित्त करने का जो विशेष क्रम बतलाया गया है, उसी के अनुसार आलोचना तथा प्रायश्चित्त किया जाना चाहिए। व्यतिक्रम - विपरीत क्रम से वैसे करना निषिद्ध है, दोषपूर्ण है। इस क्रम के अनुसार जब कोई भी व्यक्ति प्राप्त न हो तो अन्ततः अर्हन्त और सिद्ध भगवन्तों के साक्ष्य से आलोचना एवं प्रायश्चित्त करने का विधान है, जो साधक के लिए आत्मस्थ तथा संयम-निष्ठ बने रहने की दृष्टि से वस्तुतः अतीव महत्त्वपूर्ण है।

॥ व्यवहार सूत्र का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

विइओ उद्देसओ - द्वितीय उद्देशक

विहरणशील साधर्मिकों के लिए परिहार-तप का विधान

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवेत्ता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ ४० ॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, दो वि ते अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवेत्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता एगे णिव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि णिव्विसेज्जा ॥ ४१ ॥

बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवेत्ता आलोएज्जा, ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ ४२ ॥

बहवे साहम्मिया एगयओ विहरंति, सब्बे वि ते अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवेत्ता आलोएज्जा, एगं तत्थ कप्पागं ठवइत्ता अवसेसा णिव्विसेज्जा, अह पच्छा से वि णिव्विसेज्जा ॥ ४३ ॥

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू गिलायमाणे अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवेत्ता आलोएज्जा, से य संथरेज्जा ठवणिज्जं ठवइत्ता करणिज्जं वेयावडियं ॥ ४४ ॥

से य णो संथरेज्जा अणुपरिहारिणं करणिज्जं वेयावडियं, से य संते बले अणुपरिहारिणं कीरमाणं वेयावडियं साइजेज्जा, से वि कसिणे तत्थेव आरुहेयव्वे सिया ॥ ४५ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगयओ - एक साथ, कप्पागं - कल्पाक - अनुशास्ता या अग्रणी, णिव्विसेज्जा - परिहार-तप में सन्निविष्ट - संलग्न रहे, अह - अथ - तदनन्तर, से वि - वह भी, सब्बे - सब, अवसेसा - बाकी के, गिलायमाणे - रुग्ण होने पर, संथरेज्जा - समर्थ हो, अणुपरिहारिणं - आनुपरिहारिक, कीरमाणं - क्रीयमाण - की जाती हुई, साइजेज्जा - अनुमोदित करे।

भावार्थ - ४०. दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरण करते हों तथा यदि उनमें से कोई

एक भिक्षु अकृत्यस्थान - दोष का प्रतिसेवन कर, उसकी आलोचना करे तो सहवर्ती दूसरा भिक्षु उसे प्रायश्चित्त तप में स्थापित कर उसकी वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या करे।

४१. दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरण करते हों तथा दोनों ही भिक्षु यदि किसी अकृत्यस्थान - दोष का प्रतिसेवन कर उसकी आलोचना करना चाहे तो दोनों में से किसी एक को कल्पाक - अनुशासक या अग्रणी के रूप में स्थापित करके स्वयं प्रायश्चित्त तप में सन्निविष्ट - संलग्न रहे। उसके पश्चात् वह कल्पाक भी प्रायश्चित्त रूप तप स्वीकार करे - वहन करे।

४२. बहुत से साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरण कर रहे हों तथा उनमें से यदि कोई एक भिक्षु अकृत्यस्थान - दोष का प्रतिसेवन कर उसकी आलोचना करे तो (उन भिक्षुओं में जो मुख्य हो, वह) उसे प्रायश्चित्त तप में स्थापित करे, संलग्न करे तथा अन्य उसकी सेवा - परिचर्या करें।

४३. बहुत से साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरण कर रहे हों और यदि सभी भिक्षु किसी अकृत्यस्थान - दोष का प्रतिसेवन कर उसकी आलोचना करते हों तो वे अपने में से किसी एक को अग्रणी स्थापित कर अन्य सब परिहार-तप में सन्निविष्ट हो जाएँ - लग जाएँ। उसके पश्चात् वह अग्रणी भी परिहार रूप तप का संवहन करे।

४४. परिहारकल्प में - तदरूप प्रायश्चित्त तप में संलग्न भिक्षु रुग्ण होने पर यदि किसी अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन कर उसकी आलोचना करे - (उस स्थिति में)

यदि वह परिहार-तप करने में समर्थ - सक्षम हो तो (आचार्य या प्रमुख स्थविर) उसे परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त में स्थापित करें तथा उसकी आवश्यक सेवा-परिचर्या करे।

४५. यदि वह परिहार-तप करने में समर्थ न हो तो (आचार्य या प्रमुख स्थविर) उसकी वैयावृत्य करवाएँ - उसके वैयावृत्य का दायित्व किसी अनुपारिहारिक भिक्षु को सौंपें।

यदि वह पारिहारिक भिक्षु समर्थ होते हुए भी अनुपारिहारिक भिक्षु द्वारा की जाती सेवा को स्वीकार करे तो उसका भी सारा प्रायश्चित्त वह (आचार्य या प्रमुख स्थविर) पूर्ण प्रायश्चित्त में आरोपित करे।

विवेचन - प्रथम उद्देशक के अन्त में परिहार-तप आचार्य आदि के साक्ष्य में किए जाने का विवेचन हुआ है। यहाँ साधर्मिक भिक्षु, जो पृथक् विहरणशील हो, उन द्वारा परिहार-तप

किए जाने के संबंध में मार्गदर्शन दिया गया है। परिहार-तप अपने साधर्मिक साधु के निर्देशन या देखरेख में हो, यह अपेक्षित है। पारिहारिक भिक्षु के वैयावृत्य की व्यवस्था भी आवश्यक है। इसीलिए यहाँ इस संबंध में विस्तार से स्पष्टीकरण किया गया है।

दो या दो से अधिक भिक्षु विहरणशील हों, उनमें से किसी एक द्वारा या सभी द्वारा अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन हो जाने पर परिहार-तप संवहन और वैयावृत्य की व्यवस्था किस प्रकार रहे, इन सूत्रों में इसका विशद निरूपण है।

यहाँ जो वर्णित हुआ है, उसमें एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। रुग्ण साधु के लिए, जो परिहार-तप को वहन करने में सक्षम न हो, उसकी अनुकूलता की दृष्टि से वैयावृत्य की व्यवस्था का विधान है। किन्तु सक्षम होते हुए भी जो वैयावृत्य को स्वीकार करे, आनुपारिहारिक साधु से यदि सेवा लेवे तो यह दोषयुक्त है। उसका और प्रायश्चित्त आता है, जो उसके परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त में आरोपित - योजित कर दिया जाता है।

पारिहारिक (प्रायश्चित्त वहन करने वाला) यदि सक्षम हो, तब तो अपना काम उसे ही करना चाहिए एवं वस्त्र, पात्र आदि भी अलग ही रखने चाहिए। विद्यमान परिस्थिति से उसे आहार आदि लाकर दिये जाने की परम्परा है। स्वयं सक्षम नहीं होने पर अनुपारिहारिक (सेवा करने वाले) के द्वारा उसकी हर वैयावृत्य की जाती है।

इसका आशय यह है कि तपःसाधना में दैहिक अनुकूलता की दृष्टि से भिक्षु में जरा भी अन्यथा भाव न आए - आसक्ति उत्पन्न न हो, क्योंकि संयम-साधना का पथ तो शुद्ध, निर्मल और सर्वथा वंचना रहित है।

रुग्ण भिक्षुओं को गण से बहिर्गत करने का निषेध

परिहारकप्पट्टियं भिक्षुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ४६ ॥

अणवट्टुप्पं भिक्षुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ४७ ॥

पारंचियं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ४८ ॥

खित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ४९ ॥

दित्तचित्तं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ५० ॥

जक्खाइट्ठं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ५१ ॥

उम्मायपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ५२ ॥

उवसग्गपत्तं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ५३ ॥

साहिगरणं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ५४ ॥

सपाघच्छित्तं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्तए,
अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा
तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टवियव्वे सिया ॥ ५५ ॥

भत्तपाणपडियाइविखत्तं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स

णिज्जूहित्त्वे, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टुवियव्वे सिया ॥ ५६ ॥

अट्टुजायं भिक्खुं गिलायमाणं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स णिज्जूहित्त्वे, अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं जाव तओ रोगायंकाओ विप्पमुक्को, तओ पच्छा तस्स अहालहुसए णामं ववहारे पट्टुवियव्वे सिया ॥ ५७ ॥

कठिन शब्दार्थ - णिज्जूहित्त्वे - निर्यूहित - गण से निर्गत, अगिलाए - ग्लानि रहित भाव से, रोगायंकाओ - रोगांतक से - रोग के प्रभाव से, विप्पमुक्को - विप्रमुक्त - विमुक्त या रहित, अहालहुसए - यथालघुशः - अत्यन्त अल्प - बहुत थोड़ा, ववहारे - व्यवहार में - प्रायश्चित्त में, पट्टुवियव्वे - प्रस्थापित करे, अणवट्टुप्यं - अनवस्थाप्य - नवम प्रायश्चित्त संवाहक, पारंचियं - पारंचित - दशम प्रायश्चित्त संवाहक, खित्तचित्तं - क्षिप्तचित्त - जिसका चित्त संतुलित न हो, ठिकाने न हो, दित्तचित्तं - दीप्तचित्त - जिसका चित्त उत्तेजित हो, जक्खाइट्टं - यक्षाविष्ट - प्रेतादि बाधा युक्त, उम्मायपत्तं - उन्मादप्राप्त - पागलपन की बाधा से युक्त, उवसग्गपत्तं - उपसर्ग प्राप्त - देव, मनुष्य या तिर्यंच द्वारा उत्पादित संकट युक्त, साहिगरणं - साधिकरण - कलह युक्त, सपायच्छित्तं - सप्रायश्चित्त - प्रायश्चित्त युक्त, भत्तपाणपडियाइक्खित्तं - आहार-पानी का परित्यागी, अट्टुजायं - अर्थजात - प्रयोजन विशेष या आकांक्षायुक्त।

भावार्थ - ४६. परिहारकल्पस्थित - परिहार-तप मूलक प्रायश्चित्त में स्थित भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए - बीमारी से पीड़ित हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए - छूट न जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प - बहुत कम प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

४७. अनवस्थाप्य - नवम प्रायश्चित्त संवाहक भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए - बीमारी से पीड़ित हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए - छूट न जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प - बहुत कम प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

४८. पारंशित - दशम प्रायश्चित्त संवाहक भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

४९. क्षिप्तचित्त भिक्षु यदि बीमारी से पीड़ित हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता, किन्तु जब तक वह रोग से पूरी तरह छूट न जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा-परिचर्या करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे बहुत कम प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५०. दीप्तचित्त भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए, तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५१. यक्षाविष्ट भिक्षु यदि बीमारी से पीड़ित हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से पूरी तरह छूट न जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा-परिचर्या करनी चाहिए यावत् पश्चात् उसे बहुत कम प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५२. उन्मादप्राप्त भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५३. उपसर्गप्राप्त भिक्षु यदि बीमारी से पीड़ित हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से पूरी तरह छूट न जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा-परिचर्या करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे बहुत कम प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५४. साधिकरण - कलहयुक्त भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए, तब

— तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५५. सप्रायश्चित्त भिक्षु यदि बीमारी से पीड़ित हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से पूरी तरह छूट न जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से सेवा-परिचर्या करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे बहुत कम प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५६. भक्त-पान परित्यागी भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

५७. अर्थजात - शिष्य प्राप्ति, पद लिप्सा आदि किसी इच्छा से व्याकुल बना हुआ भिक्षु यदि रोगग्रस्त हो जाए - बीमारी से पीड़ित हो जाए तो गणावच्छेदक को उसे गण से पृथक् करना नहीं कल्पता है, किन्तु जब तक वह रोग से विप्रमुक्त न हो जाए - छूट न जाए, तब तक उसकी अग्लानभाव से वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या करनी चाहिए यावत् पश्चात् गणावच्छेदक उसे अत्यल्प - बहुत कम प्रायश्चित्त में प्रस्थापित करे।

विवेचन - जैन दर्शन अनेकान्तवादी विचारधारा पर आश्रित है। वहाँ किसी भी विषय में आग्रहपूर्ण दृष्टिकोण स्वीकृत नहीं है। विभिन्न अपेक्षाओं को भलीभाँति देखते हुए किसी भी कार्य का निर्णय करना वहाँ अभीष्ट है। इसी को स्याद्वाद पद्धति कहा जाता है। आचार-मर्यादाओं का भी इसी के अनुरूप विधान किया गया है।

इस सूत्र में जिन बारह प्रकार के भिक्षुओं का वर्णन किया गया है, वे भिन्न-भिन्न प्रकार के बाधक हेतुओं के कारण असंतुलित मनोदशायुक्त हैं। जब व्यक्ति का मानस असंतुलित होता है, तब उसे उचित-अनुचित का प्रायः ध्यान नहीं रहता। इसलिए उसके साथ वैसा व्यवहार करना असमीचीन है, जैसा एक स्वस्थ मनोदशायुक्त व्यक्ति के साथ किया जाता है। अत एव गणावच्छेदक वैसी स्थिति में भिक्षु को गण से पृथक् न करे, ऐसा इनमें प्रतिपादन हुआ है।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यहाँ वैयावृत्य या सेवा-परिचर्या की है। गृहत्यागी भिक्षु के साथी भिक्षु ही प्रारिवारिकजन हैं। अस्वस्थता में एक-दूसरे की सेवा करना उनका परम कर्तव्य है।

यही कारण है कि इन सूत्रों में रोगग्रस्त भिक्षुओं की सेवा करने का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। सेवा का कार्य बहुत कठिन है। सेवा करने वाले में धैर्य, स्थिरता और त्याग का भाव होना चाहिए। सेवा को वह पवित्र कार्य मानता हुआ उसमें अभिरुचिशील रहे। इसीलिए इन सूत्रों में अग्लानभाव से सेवा करने का जो कथन किया गया है, उसका यही आशय है। बीमार को देखकर मन में घृणा नहीं होनी चाहिए। मन में यदि घृणा या ग्लानि उत्पन्न हो जाती है तो सेवा हो नहीं सकती। इसीलिए कहा गया है -

‘सेवाधर्मो परमगहनो योगिनामप्यगम्यः’ - सेवा का कार्य बड़ा गहन है। योगियों के लिए भी यह अगम्य है। अर्थात् योग साधना सरल है, भलीभाँति सेवा करना तो उससे भी कहीं कठिन है।

जैन धर्म में वैयावृत्य का बहुत महत्त्व है। निर्जरा के बारह भेदों में नौवां वैयावृत्य है। शुद्ध भावपूर्वक, रुचिपूर्वक वैयावृत्य करने से कर्मों की निर्जरा होती है।

अनवस्थाप्य एवं पारंचित भिक्षु का संयमोपस्थापन

अणवद्वुप्यं भिक्खुं अगिहिभूयं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥ ५८ ॥

अणवद्वुप्यं भिक्खुं गिहिभूयं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥ ५९ ॥

पारंचियं भिक्खुं अगिहिभूयं णो कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥ ६० ॥

पारंचियं भिक्खुं गिहिभूयं कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए ॥ ६१ ॥

अणवद्वुप्यं भिक्खुं पारंचियं वा भिक्खुं अगिहिभूयं वा गिहिभूयं वा कप्पइ तस्स गणावच्छेइयस्स उवट्ठावेत्तए, जहा तस्स गणस्स पत्तियं सिया ॥ ६२ ॥

कठिन शब्दार्थ - अगिहिभूयं - अगृहीभूत - गृही या गृहस्थ का वेश धारण कराए बिना, उवट्ठावेत्तए - संयम में उपस्थापित करना, गिहिभूयं - गृहीभूत - गृही या गृहस्थ का वेश, पत्तियं - प्रत्यय - प्रतिष्ठा या हित, सिया - स्यात् - हो।

भावार्थ - ५८. अनवस्थाप्य भिक्षु को गृहस्थ का वेश धारण कराए बिना पुनः संयम में उपस्थापित करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता।

५९. अनवस्थाप्य भिक्षु को गृहस्थ का वेश धारण कराके पुनः संयम में उपस्थापित करना गणावच्छेदक को कल्पता है।

६०. पारंचित भिक्षु को गृहस्थ का वेश धारण कराए बिना पुनः संयम में उपस्थापित करना गणावच्छेदक को नहीं कल्पता।

६१. पारंचित भिक्षु को गृहस्थ का वेश धारण कराके पुनः संयम में उपस्थापित करना गणावच्छेदक को कल्पता है।

६२. गण की प्रतिष्ठा या हित की संभावना देखते हुए अनवस्थाप्य या पारंचित भिक्षु को परिस्थितिवश गृहस्थ का वेश धारण कराए बिना या करवा कर भी गणावच्छेदक को पुनः उन्हें संयम में उपस्थापित करना कल्पता है।

विवेचन - जैन शास्त्रों के विधानानुसार अनवस्थाप्य एवं पारंचित भिक्षु को कम से कम छह मास का तथा अधिक से अधिक बारह वर्ष का विशिष्ट तप रूप प्रायश्चित्त दिया जाता है। प्रायश्चित्त रूप तप के परिपूर्ण हो जाने पर उसे एक बार गृही वेश स्वीकार करवा कर फिर संयम में उपस्थापित किया जाता है - छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार कराया जाता है। यह सामान्य विधि है।

जहाँ गण की प्रतिष्ठा, महिमा आदि की वृद्धि की संभावना हो, गण का विशेष हित, उन्नयन साधित होता हों तो तप समाप्ति के पश्चात् गृहस्थ का वेश धारण कराये बिना भी भिक्षु को छेदोपस्थापनीय चारित्र स्वीकार कराया जा सकता है।

अकृत्यसेवन : आक्षेप : निर्णयविधि

दो साहम्मिया एगओ विहरंति, एगे तत्थ अण्णयरं अकिच्चट्टाणं पडिसेवित्ता आलोएज्जा - अहं णं भंते! अमुएणं साहुणा सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पडिसेवी, से य पुच्छियव्वे किं पडिसेवी? से य वएज्जा-पडिसेवी परिहारपत्ते, से य वएज्जा - णो पडिसेवी, णो परिहारपत्ते, जं से पमाणं वयइ से पमाणोओ घेयव्वे, से किमाहु भंते? सच्चपइण्णा ववहारा ॥ ६३ ॥

कठिन शब्दार्थ - भंते - हे भगवन्!, अमुएणं साहुणा सद्धिं - अमुक साधु के साथ, इमम्मि कारणम्मि - इस कारण से, पडिसेवी - प्रतिसेवी - सेवन करने वाला, पुच्छियव्वे - पूछना चाहिए, परिहारपत्ते - परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र, जं - यदि, से - वह, पमाणं - प्रमाण - सबूत, वयइ - बोलता है - कहता है, पमाणोओ -

प्रमाणपूर्वक, घेयव्ये - गृहीतव्य - निर्णय करना चाहिए, किमाहु - किस कारण से कहते हैं, सच्चपड़णणा - सत्यप्रतिज्ञ, व्यवहारा - व्यवहार।

भावार्थ - ६३. दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विहरण करते हों, उनमें से एक भिक्षु किसी अकृत्यस्थान का प्रतिसेवन कर उसकी आलोचना करे -

हे भगवन्! मैंने अमुक भिक्षु के साथ अमुक कारण से दोष सेवन किया है। (उसके द्वारा यों कहे जाने पर) दूसरे साधु से पूछना चाहिए -

क्या तुम प्रतिसेवी हो?

वह यदि कहे - मैं दोष प्रतिसेवी हूँ तो वह परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

यदि वह कहे - मैं दोष प्रतिसेवी नहीं हूँ तो वह परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता।-

जो वह प्रमाण प्रस्तुत करे - उसके अनुसार निर्णय करना चाहिए।

हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

सत्य प्रतिज्ञ - सत्यव्रती भिक्षुओं के कथन पर व्यवहार - प्रायश्चित्त का निर्णय निर्भर करता है।

विवेचन - इस सूत्र में दो सहचारी भिक्षुओं की चर्चा है। उन दो में से एक दोष-प्रतिसेवन कर उसकी आलोचना करता हुआ यदि ऐसा कहे कि मैंने अमुक - (सहचारी) भिक्षु के साथ अमुक कारण से दोष-प्रतिसेवन किया है। उसके यों कहने पर प्रायश्चित्त देने वाले भिक्षु को बिना प्रमाण के यह नहीं मानना चाहिए कि जिस भिक्षु का वह नाम ले रहा है, वह दोष-प्रतिसेवी है। क्योंकि ईर्ष्यावश दूसरे को नीचा दिखाने के लिए भी, लांछित करने के लिए भी ऐसा आरोप लगाया जा सकता है।

एक भिक्षु संयममय साधना का पथिक होता है। उसमें ईर्ष्या-द्वेष नहीं होना चाहिए, दूसरे पर मिथ्या आरोप नहीं लगाना चाहिए, किन्तु मानसिक विकृतिवश कदाचन ऐसा आशंकित है। ऐसा होने पर दूसरे भिक्षु से पूछे बिना निर्णय नहीं किया जाना चाहिए। उस द्वारा दिये गए प्रमाण आदि को सुनना चाहिए। वह दृढ़तापूर्वक जो बात कहे, उस पर ध्यान देना चाहिए क्योंकि वह भी सत्य महाव्रत का पालक होता है, सरासर मिथ्याभाषी नहीं हो सकता। यों पूरी तरह सोच-समझकर उसके दोषी या अदोषी होने का निर्णय किया जाना चाहिए। यह न्याय का मार्ग है।

संयम त्यागने के इरादे से बहिर्गमन : पुनरागमन

भिक्षु य गणाओ अवक्कम्म ओहाणुप्पेही वज्जेज्जा, से य (आहच्च) अणोहाइए इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे विवाए समुप्पज्जित्था - इमं भो! जाणइ किं पडिसेवी? से य पुच्छियव्वे, किं पडिसेवी? से य वएज्जा-पडिसेवी, परिहारपत्ते, से य वएज्जा-णो पडिसेवी, णो परिहारपत्ते, जं से पमाणं वयइ से पमाणाओ घेयव्वे, से किमाहु भंते? सच्चपइण्णा ववहारा ॥ ६४ ॥

कठिन शब्दार्थ - ओहाणुप्पेही - अवधावनानुप्रेक्षी - संयम को त्यागने का इरादा लिए हुए, वज्जेज्जा - चला जाए, आहच्च - संयम से नहीं हटा हुआ, अणोहाइए - अनवधावित-संयम से अपृथक्भूत, इमेयारूवे - इस प्रकार का, विवाए - विवाद, समुप्पज्जित्था - उत्पन्न हो जाए, इमं - इसको, भो - अरे (संबोधन), जाणह - जानते हैं।

भावार्थ - ६४. कोई भिक्षु संयम छोड़ने का इरादा लिए हुए गण से पृथक् हो जाए और वह संयम से अपृथक्भूत रहता हुआ - असंयम में नहीं जाता हुआ, पुनः उसी गण में आकर रहना चाहे तथा उसे वापस लेने के संबंध में स्थविरों में ऐसा विवाद उठ जाए एवं वे यों कहने लगे -

क्या आप जानते हैं कि इसने दोष का प्रतिसेवन किया है?

(तब उनका शास्त्रानुकूल यह मन्तव्य होता है -) उसी से पूछा जाए -

क्या तुम दोष प्रतिसेवी हो?

वह यदि कहे - मैं दोष प्रतिसेवी हूँ, तो वह परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

यदि वह कहे - मैं दोष प्रतिसेवी नहीं हूँ, तो वह परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र नहीं होता।

जो वह प्रमाण प्रस्तुत करे - उसके अनुसार निर्णय करना चाहिए।

हे भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है?

सत्य प्रतिज्ञ - सत्यव्रती भिक्षुओं के कथन पर व्यवहार - प्रायश्चित्त का निर्णय निर्भर करता है।

विवेचन - मन बड़ा चंचल है। व्रतनिष्ठ, संयमरत भिक्षु के मन में भी कभी संयम के प्रति अरुचि उत्पन्न हो सकती है। वैसा होने पर या मानसिक उद्वेगजनक किसी अन्य कारण

के होने पर भिक्षु गण से बहिर्गत हो जाता है, किन्तु ज्यों ही उसका मन स्वस्थ होता है, बुद्धि ठिकाने आती है तथा अपनी भूल का अहसास होता है, यदि वह असंयम का सेवन किए बिना वापस गण में आना चाहे तब गण के स्थविरो के सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसे गण में शामिल करने से पूर्व प्रायश्चित्त दिया जाए अथवा नहीं दिया जाए? यह विवाद भी खड़ा हो उठता है कि कौन जाने इसने दोष सेवन किया है या नहीं किया है?

वैसी स्थिति में शास्त्रीय विधानानुसार स्थविरो का अन्ततः यही चिन्तन रहता है कि इसी से पूछा जाए। यदि वह दोष-सेवन स्वीकार करे तो इसे प्रायश्चित्त का पात्र माना जाए एवं यदि वह दृढ़ता से कहे कि उसने कोई दोष-सेवन नहीं किया है तो वह प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता है। क्योंकि जीवन-भर के लिए महाव्रत के रूप में सत्य को स्वीकार करने वाले पर ऐसा विश्वास करना असमीचीन नहीं होता।

एकपाक्षिक भिक्षु के लिए पद विधान

एगपक्खियस्स भिक्खुस्स कप्पइ आयरियउवञ्जायाणं इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, जहा वा तस्स गणस्स पत्तियं सिया।। ६५ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगपक्खियस्स - एक पक्षीय के - एक ही आचार्य के पास दीक्षित एवं शिक्षित, इत्तरियं - इत्वरिक - अल्पकालिक, उद्दिसित्तए - उद्दिष्ट करना - मनोनीत करना, धारेत्तए - स्थापित करना, जहा - यथा - जैसे, पत्तियं - प्रत्यय-विश्वास।

भावार्थ - ६५. एक पक्षीय भिक्षु को अल्पकाल के लिए अथवा जीवनभर के लिए आचार्य या उपाध्याय के पद पर मनोनीत करना, स्थापित करना कल्पता है अथवा जिसमें गण की प्रतीति हो, जैसी विश्वसनीयता हो, हित दिखाई दे वैसा करणीय है।

विवेचन - प्रस्तुत सूत्र में अल्पकाल के लिए या जीवनभर के लिए आचार्य या उपाध्याय पद सौंपने के संबंध में वर्णन है।

आचार्य या उपाध्याय अल्पकाल के लिए किसी विशेष तप, अध्ययन, अध्यापन आदि किन्ही महत्त्वपूर्ण कारणों से अथवा किसी विशिष्ट रोग की चिकित्सा हेतु पदमुक्त रहना चाहे तो वे उतनी अवधि के लिए किसी योग्य भिक्षु को आचार्य या उपाध्याय पद पर नियुक्त करते हैं, उसे अल्पकालिक कहा जाता है।

अतिवृद्धता, दीर्घकालीन असाध्य रुग्णता, मृत्यु की निकटता का आभास अथवा जिनकल्प

आदि विशिष्ट साधना के कारण आचार्य या उपाध्याय जीवनभर के लिए योग्य भिक्षु को पद पर मनोनीत करते हैं।

सूत्र में मनोनीत किए जाने योग्य भिक्षु की चर्चा करते हुए एकपाक्षिक विशेषण का उल्लेख हुआ है। “एकः प्रव्रज्यारूपः श्रुतरूपः पक्षीयस्य स एकपाक्षिकः।” पक्ष शब्द यहाँ जीवन के परमलक्ष्यमूलक विशिष्ट कार्य का द्योतक है। “ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः” ज्ञान और क्रिया की आराधना से मोक्ष की सिद्धि होती है। ज्ञान, आगमों तथा शास्त्रों के श्रवण से, पठन से एवं अध्ययन से प्राप्त होता है, उसे श्रुत कहा जाता है।

क्रिया का तात्पर्य संयम या आध्यात्मिक साधनामूलक प्रवृत्तियों से है, जिनका प्रारम्भ प्रव्रज्या या दीक्षा से होता है। यहाँ प्रव्रज्या और श्रुत को दो पक्षों के रूप में स्वीकार किया गया है।

यहाँ एक पाक्षिक का तात्पर्य उस भिक्षु से है, जिसने एक ही आचार्य या गुरु से प्रव्रज्या स्वीकार की हो, उन्हीं से आगम-वाचना ली हो, श्रुताध्ययन किया हो।

भाष्यकार ने इस संबंध में प्रतिपादन किया है -

१. जिसने एक गुरु के पास ही आगम-वाचना ग्रहण की हो अथवा जिसका सूत्र - ज्ञान तथा अर्थ ज्ञान आचार्य आदि के सदृश हो, वह श्रुत से एकपाक्षिक कहा जाता है।
२. जो एक ही कुल, गण या संघ में प्रव्रजित होकर स्थिरतापूर्वक रहा हो, वह प्रव्रज्या में एकपाक्षिक कहा जाता है ॥

इस परिभाषा के अनुसार निम्नांकित चार भंग बनते हैं -

१. प्रव्रज्या तथा श्रुत से एक पाक्षिक।
२. प्रव्रज्या से एकपाक्षिक किन्तु श्रुत से नहीं।
३. श्रुत से एकपाक्षिक किन्तु प्रव्रज्या से नहीं।
४. न प्रव्रज्या से एकपाक्षिक और न श्रुत से ही एकपाक्षिक।

इन चारों भंगों में प्रथम भंगवर्ती भिक्षु ही पद के योग्य होता है, क्योंकि वह पूर्ववर्ती आचार्य या उपाध्याय के व्यक्तित्व, कृतित्व, साधना एवं विद्या का साक्षात् अनुभव लिए हुए होता है। इसलिए वह दायित्व-निर्वाह में सर्वथा समर्थ होता है।

॥ दुविहो य एगपक्खी, पवज्ज सुए य होई नायव्वो।

सुत्तम्मि एगवायण, पवज्जाए कुलिच्चादी॥ - - व्यव.भाष्य, गा. ३२५।

पारिहारिक-अपारिहाहिक भिक्षुओं का आहार विषयक पारस्परिक व्यवहार

बहवे परिहारिया बहवे अपरिहारिया इच्छेजा एगयओ एगमासं वा दुमासं वा तिमासं वा चउमासं वा पंचमासं वा छम्मासं वा वत्थाए, ते अण्णमण्णं संभुंजंति अण्णमण्णं णो संभुंजंति.....मासंते तओ पच्छा सव्वे वि एगयओ संभुंजंति ॥ ६६ ॥

परिहारकप्पट्टियस्स भिक्खुस्स णो कप्पइ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पदाउं वा, थेरा य णं वएज्जा-इमं ता अज्जो! तुमं एएसिं देहि वा अणुप्पएहि वा, एवं से कप्पइ दाउं वा अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से लेवं अणुजाणावेत्तए, अणुजाणह भंते! लेवाए? एवं से कप्पइ लेवं समासेवित्तए ॥ ६७ ॥

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू सएणं पडिग्गहेणं बहिया अप्पणो वेयावडियाए गच्छेजा, थेरा य णं वएज्जा-पडिग्गाहेहि अज्जो! अहं पि भोक्खामि वा माहामि वा, एवं से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए, तत्थ णो कप्पइ अपरिहारिएणं परिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि वा सयंसि वा पलासगंसि वा सयंसि वा कमढगंसिक्क वा सयंसि वा खुव्वगंसि वा पाणिंसि वा उद्धट्टु उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा, एस कप्पो अपरिहारियस्स परिहारियाओ ॥ ६८ ॥

परिहारकप्पट्टिए भिक्खू थेराणं पडिग्गहएणं बहिया थेराणं वेयावडियाए गच्छेजा, थेरा य णं वएज्जा-पडिग्गाहे अज्जो ! तुमं पि पच्छा भोक्खसि वा पाहिसि वा, एवं से कप्पइ पडिग्गाहित्तए, तत्थ णो कप्पइ परिहारिएणं अपरिहारियस्स पडिग्गहंसि असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा भोत्तए वा पायए वा, कप्पइ से सयंसि वा पडिग्गहंसि वा, सयंसि पलासगंसि वा, सयंसि कमढगंसिक्क वा, सयंसि वा खुव्वगंसि वा, पाणिंसि वा उद्धट्टु उद्धट्टु भोत्तए वा पायए वा, एस कप्पो परिहारियस्स अपरिहारियाओ ॥ ६९ ॥
त्ति-बेमि ॥

॥ व्यवहारस्स बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥ २ ॥

कठिन शब्दार्थ - वत्थए - वास करना - रहना, अण्णमण्णं - अन्योन्य - परस्पर, संभुंजंति - आहार करते हैं, मासंते - मास के अन्त में - छह मास के तप और एक मास के पारणे के बाद, असणं - चावल, गेहूँ आदि अन्न से तैयार किए गए भोज्य पदार्थ, पाणं - अचित्त जल, खाइमं - खादिम - अन्न वर्जित शुष्क फल मेवा आदि, साइमं - स्वादिम - सुपारी, लौंग, इलायची आदि, दाउं - देना, अणुप्पदाउं - अनुप्रदान करना - पुनः देना, देहि - देदो, लेवं - लेप - घृत, दूध आदि विगय पदार्थ, अणुजाणावेत्तए - अनुज्ञा या आज्ञा देने के लिए, अणुजाणह - अनुज्ञा या आज्ञा दें, समासेवित्तए - आसेवित्त करना - काम में लेना, सएणं - अपने, पडिग्गहेणं - प्रतिगृहीत करना - लेना, भोक्खामि-खाऊंगा, पाहामि - पीऊंगा, भोत्तए - भुक्त करना - सेवन करना, पायए - पीना - पान करना, सयंसि - स्वकीय(स्वयं के), पलासगंसि - पलाशक - मात्रक, कमढगंसि - कमंडल में(जलपात्र में), खुव्वगंसि - दोनों संपुटित हाथों में (खोबे में), पाणिंसि - हाथ (एक हाथ की पसली में) में, उद्धट्टु - उद्धृत कर - उठाकर, भोत्तए - भुक्त करना - खाना, पायए - पीना, एस - यह, कप्पो - कल्प - मर्यादा विधान।

भावार्थ - ६६. बहुत से पारिहारिक तथा बहुत से अपारिहारिक भिक्षु यदि एक, दो, तीन, चार, पाँच, या छह मास तक एक साथ रहना चाहें तो वे अन्योन्य - परस्पर भोजन कर सकते हैं। अर्थात् पारिहारिक पारिहारिकों के साथ और अपारिहारिक अपारिहारिकों के साथ भोजन कर सकते हैं, किन्तु पारिहारिक भिक्षु अपारिहारिकों के साथ भोजन नहीं कर सकते हैं। वे (पारिहारिक और अपारिहारिक भिक्षु) छह मास के तप और एक मास के पारणे का समय व्यतीत हो जाने पर एक साथ भोजन कर सकते हैं।

६७. परिहारकल्प स्थित भिक्षु को (अपारिहारिक भिक्षु द्वारा) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि चतुर्विध आहार प्रदान किया जाना - देना या अनुप्रदान किया जाना - आमंत्रित करके देना नहीं कल्पता।

स्थविर यदि कहे - हे आर्य! तुम इन पारिहारिक भिक्षुओं को यह आहार प्रदान करो या अनुप्रदान करो तो ऐसा कहने पर उसे पारिहारिक भिक्षु को आहार प्रदान करना या अनुप्रदान करना कल्पता है।

परिहारकल्प स्थित भिक्षु यदि घी, दूध आदि विगय पदार्थ लेना चाहें तो उसे स्थविर से इसकी अनुज्ञा लेना कल्पता है।

वह स्थविर से निवेदन करे - हे भगवन्! मुझे विगय पदार्थ लेने की आज्ञा प्रदान करें।
इस प्रकार - स्थविर की अनुज्ञा प्राप्त होने के बाद उसे विगय पदार्थ लेना, सेवन करना कल्पता है।

६८. परिहारकल्पस्थित भिक्षु अपने पात्र लेकर बाहर अपने वैयावृत्य - आहार-पानी आदि लेने हेतु जाए और उसे स्थविर यदि कहे -

आर्य! मेरे योग्य आहार-पानी लेते आना। मैं भी खाना-पीना करूंगा।

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के निमित्त आहार-पानी लाना कल्पता है।

वहाँ अपारिहारिक (स्थविर) को पारिहारिक भिक्षु के पात्र में से अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, खाना, पीना नहीं कल्पता किन्तु उसे अपने पात्र में, पलाशक में, कमंडलु में, अपने करतलपुट में या हाथ में ले लेकर खाना-पीना कल्पता है।

यह अपारिहारिक भिक्षु का पारिहारिक भिक्षु के साथ कल्प या आचार विधान है।

६९. परिहारकल्पस्थित भिक्षु स्थविर के पात्रों को लेकर उनके निमित्त आहार-पानी लेने जाए तब स्थविर उसे ऐसा कहे - हे आर्य! तुम अपने लिए भी आहार-पानी साथ में लेते आना और बाद में खा-पी लेना।

ऐसा कहने पर उसे स्थविर के पात्रों में अपने लिए भी आहार-पानी लाना कल्पता है।

वहाँ अपारिहारिक (स्थविर) के पात्र में से पारिहारिक भिक्षु को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, खाना, पीना नहीं कल्पता, किन्तु उसे अपने ही पात्र, पलाशक, कमंडलु, करतलपुट या एक हाथ में ले-लेकर खाना, पीना कल्पता है।

यह पारिहारिक भिक्षु का अपारिहारिक के साथ कल्प या आचार विधान है।

विवेचन - 'आचारः प्रथमो धर्मः' जीवन में आचार ही पहला या मुख्य धर्म है। यदि आचार शास्त्रानुमोदित, धर्मनिष्ठ, संयमनिष्ठ न हो तो चाहे व्यक्ति कितना ही ज्ञानी हो, आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता। व्रत, तपश्चरण आदि के साथ-साथ दैनंदिन जीवनचर्या भी आध्यात्मिक दृष्टि से सुव्यवस्थित हो यह वांछित है।

सांसारिक माया-मोह-त्यागी, अहिंसक, अपरिग्रही भिक्षुओं के जीवन में तो आचार का सर्वोपरि स्थान है। उनके जीवन का हर कदम आचार विषयक सुव्यवस्था में जुड़ा होता है। इस सूत्र में पारिहारिक और अपारिहारिक भिक्षुओं के एक साथ रहने तथा आहार-पानी लाने,

उसका सेवन करने इत्यादि के सम्बन्ध में जो व्यवस्थाएं दी गई हैं, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों ही प्रकार के भिक्षुओं के ये कार्य उपर्युक्त मर्यादाओं के साथ न हों तो उन्हें अपने संयममय जीवन के सन्निर्वाह में कदाचन यत्किंचित् प्रतिकूलता का भी अनुभव हो सकता है। संयम आध्यात्मिक दृष्टि से एक अमूल्य रत्न है, जिसका अत्यधिक जागरूकता के साथ संरक्षण किया जाना चाहिए। रहन-सहन विषयक, आहार-पानी विषयक मर्यादाएं इसी भाव की द्योतक हैं।

उपर्युक्त सूत्रों में - **पडिग्गह, कर्मडलु एवं पलाशक** (मात्रक) के रूप में तीन पात्रों का उल्लेख तो हुआ ही है। **पडिग्गह** शब्द से आहार एवं व्यंजन के लिए दो पात्रों का ग्रहण किया जाता है। जैसा कि भगवती सूत्र शतक २ उद्देशक ५ में गौतम स्वामी के वर्णन में - '**भायणाई पडिलेहेइ**' शब्द आया है। टीकाकार ने इसकी बहुवचन में संस्कृत छाया की है। इत्यादि कारणों से सम्भवतः टब्बों में 'मात्रक' को छोड़कर आहार पानी के लिए तीन पात्रों का उल्लेख गणना युक्त के लिए हुआ है। जो उपर्युक्त आधारों से संगत ही प्रतीत होता है। यदि आहार पानी के लिए एक ही पात्र माना जायेगा तो उस पात्र की लेख शुद्धि भी (पानी और आहार शामिल हो जाने से) संभव नहीं हो सकेगी, जो आगम दृष्टि से संगत भी नहीं है। अतः आहार आदि के लिए तीन और एक पात्र बाहर के लिए कुल मिलाकर चार पात्र गणना युक्त में और इनसे अधिक रखना गणना अतिरिक्त में समझना चाहिए।

॥ व्यवहार सूत्र का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥



तइओ उद्वेसओ - तृतीय उद्वेशक

गणधारक - गणाग्रणी भिक्षु-विषयक विधान

भिक्षू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए, भगवं च से अपलिच्छण्णे)ए, एवं णो से कप्पइ गणं धारेत्तए, भगवं च से पलिच्छण्णे, एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए ॥ ७० ॥

भिक्षू य इच्छेज्जा गणं धारेत्तए णो से कप्पइ थैरे अणापुच्छित्ता गणं धारेत्तए, कप्पइ से थैरे आपुच्छित्ता गणं धारेत्तए, थैरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ गणं धारेत्तए थैरा य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ गणं धारेत्तए, जणं थैरेहिं अविइण्णं गणं धारेज्जा, से संतरा छेओ वा परिहारो वा (साहम्मिया उट्टाए विहरंति णत्थि णं तेसिं केइ छेओ वा परिहारो वा) ॥ ७१ ॥

कठिन शब्दार्थ - धारेत्तए - धारण करना, भगवं - भगवान्, अपलिच्छण्णे - अपरिच्छन्न - आचारांग आदि छेद पर्यन्त सूत्र ज्ञान रहित, पलिच्छण्णे - परिच्छन्न - आचारांग आदि छेद पर्यन्त सूत्र ज्ञान युक्त, वियरेज्जा - अनुज्ञा या अनुमति दें, अविइण्णं - अनुमति या अनुज्ञा न दिए जाने पर, संतरा - मर्यादा का उल्लंघन, उट्टाए - उत्थापित - उसकी अधीनता - प्रमुखता में संचरणशील।

भावार्थ - ७०. कोई भिक्षु गण को धारण करना चाहे - गणाग्रणी या संघाटक प्रमुख का दायित्व - अधिकार प्राप्त करना चाहे, यदि वह आचारांग आदि सूत्र ज्ञान से रहित हो तो उसे ऐसा करना नहीं कल्पता। यदि वह आचारांग आदि सूत्र ज्ञान से युक्त हो - सुयोग्य हो तो उसे गणाग्रणी या संघाटक प्रमुख का दायित्व लेना कल्पता है।

७१. आचारांग आदि सूत्र ज्ञान युक्त, सुयोग्य भिक्षु गण को धारण करना चाहे तो स्थविरों को पूछे बिना - उनकी अनुमति - अनुज्ञा प्राप्त किए बिना गण को धारण करना नहीं कल्पता।

स्थविरों को पूछ कर - उनकी अनुमति - अनुज्ञा प्राप्त करके ही गण को धारण करना कल्पता है। स्थविर यदि उसे अनुमति प्रदान करें - दें तो उसे गण को धारण करना कल्पता है और स्थविर यदि अनुमति नहीं दें तो गण को धारण करना नहीं कल्पता।

यदि कोई भिक्षु स्थविरों की अनुमति प्राप्त किए बिना ही गण को धारण करे तो यह मर्यादा का उल्लंघन है। इससे दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है। [जो साधर्मिक भिक्षु उसके निर्देशन में विहरणशील होते हैं उनको दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता।]

विवेचन - इन सूत्रों में गण या संघाटक का आधिपत्य - प्रामुख्य प्राप्त करने के संदर्भ में वर्णन हुआ है।

इस प्रसंग में 'भगवत् - भगवान्, अपलिच्छण्णे - अप्रतिच्छन्न, पलिच्छण्णे-प्रतिच्छन्न' शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। भगवान् शब्द 'भग' एवं 'मत्तुप्' प्रत्यय के योग से बना है। 'भग' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जिनमें उत्कर्ष, वैराग्य, ज्ञान, चरित्र एवं मोक्ष आदि भी हैं। भगवान् शब्द इन्हीं विशेषताओं का संवाहक है। इसका भिक्षु के विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। मुमुक्षु - मोक्षार्थी भिक्षु में ये विशेषताएं होती ही हैं।

प्रतिच्छन्न शब्द परिच्छेद से बना है। परिच्छेद मुख्यतः आगम श्रुत का द्योतक है। गण का अधिपति या अग्रणी आचारांग आदि छेद सूत्र पर्यन्त आगमों का ज्ञाता हो, यह आवश्यक है, क्योंकि गण, समूह या संघाटक का नेतृत्व करने वाले में वैसी योग्यता का होना अपेक्षित है।

आगम ज्ञान आदि की विशेषता के बावजूद 'थेरे' - स्थविरों की अनुमति या अनुज्ञा प्राप्त करने का जो उल्लेख हुआ है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। वयोवृद्ध, पर्यायवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध भिक्षुओं को स्थविर कहा जाता है। वे बड़े अनुभवी होते हैं। साधना, आचार-मर्यादा, व्यवस्था, व्यवहार आदि का उन्हें बहुत ज्ञान होता है। अतः आगम ज्ञान आदि की दृष्टि से योग्य होते हुए भी स्थविरों की अनुमति के बिना गण या समुदाय का आधिपत्य प्राप्त करने का यहाँ निषेध या परिवर्जन किया गया है। वैसा करना दोष युक्त माना गया है।

एक बात यहाँ और भी महत्त्वपूर्ण है। दोष की भांगिता केवल उसी भिक्षु पर आती है, जो स्थविरों को पूछे बिना - उनकी अनुज्ञा पाए बिना गण का प्रमुख बनता है। उसके निर्देशन में विहरणशील भिक्षु दोषी नहीं माने जाते, क्योंकि उस भिक्षु के निर्णय में उनका कोई साथ नहीं होता। वे तो साधु-मर्यादा के अनुरूप संयम-साधना में गतिशील होते हैं।

उपाध्याय, आचार्य एवं गणावच्छेदक पद-विषयक योग्यताएं

तिवासपरियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिण्णायारे असबलायारे असंकिलिद्धायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहण्णेणं आयारपकप्पधरे कप्पइ उवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ ७२ ॥

सच्चेव णं से तिवासपरियाए समणे णिग्गंथे णो आयारकुसले णो संजमकुसले णो पवयणकुसले णो पण्णत्तिकुसले णो संगहकुसले णो उवग्गहकुसले खयायारे भिण्णायारे सबलायारे संकिलिद्धायारे अप्पसुए अप्पागमे णो कप्पइ उवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ ७३ ॥

पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिण्णायारे असबलायारे असंकिलिद्धायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहण्णेणं द(स)साकप्पववहारधरे कप्पइ आयरियउवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ ७४ ॥

सच्चेव णं से पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे णो आयारकुसले णो संजमकुसले णो पवयणकुसले णो पण्णत्तिकुसले णो संगहकुसले णो उवग्गहकुसले खयायारे भिण्णायारे सबलायारे संकिलिद्धायारे अप्पसुए अप्पागमे णो कप्पइ आयरियउवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ ७५ ॥

अट्टुवासपरियाए समणे णिग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संगहकुसले उवग्गहकुसले अक्खयायारे अभिण्णायारे असबलायारे असंकिलिद्धायारे बहुस्सुए बब्भागमे जहण्णेणं ठाणसमवायधरे कप्पइ आयरियत्ताए जाव गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए ॥ ७६ ॥

सच्चेव णं से अट्टुवासपरियाए समणे णिग्गंथे णो आयारकुसले णो संजमकुसले णो पवयणकुसले णो पण्णत्तिकुसले णो संगहकुसले णो उवग्गहकुसले खयायारे भिण्णायारे सबलायारे संकिलिद्धायारे अप्पसुए अप्पागमे णो कप्पइ आयरियत्ताए जाव गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए ॥ ७७ ॥

कठिन शब्दार्थ - तिवासपरियाए - तीन वर्ष के दीक्षा पर्याय से युक्त, **आयार कुसले** - आचार कुशल - ज्ञान आदि पंच आचार-दक्ष, **संजमकुसले** - संयम कुशल - संयम के परिपालन में निपुण - समर्थ, **पवयणकुसले** - प्रवचन कुशल - जिन-वाणी में निष्णात, विशिष्ट ज्ञाता, उपदेष्टा, **पण्णत्तिकुसले** - प्रज्ञप्तिकुशल - स्व समय-परसमय - वेत्ता - स्व-पर-शास्त्रज्ञाता, **संग्रहकुसले** - संग्रहकुशल - द्रव्यसंग्रह या आहार-उपधि आदि में तथा भाव संग्रह - सूत्रार्थ में कुशल या सुयोग्य, **उवग्गहकुसले** - उपग्रहकुशल - आश्रय प्रदान करने में सक्षम, **अक्खयायारे** - अक्षताचार - अक्षत या अखण्डित आचार युक्त, **अभिण्णायारे** - अभिन्नाचार - अतिचार रहित शुद्धाचार युक्त, **असबलायारे** - अशबलाचार-दोष वर्जित आचार युक्त, **असंक्लिद्धायारे** - असंक्लिष्टाचार - इहलोक-परलोक-विषयक आशंसा (आकांक्षा) रहित, **जहण्णोणं** - जघन्यतः - जघन्य रूप में, **आयारपकप्पधरे** - आचार प्रकल्पधर - आचारांग सूत्र एवं निशीथ सूत्र का अध्येता, **उवज्जायत्ताए** - उपाध्यायतया - उपाध्याय के रूप में, **उद्दिसित्ताए** - उद्दिष्ट - निर्दिष्ट या नियुक्त करना, **अप्पसुए** - अल्पश्रुत - श्रुतज्ञान में अल्पज्ञ, **अप्पागमे** - अल्पागम - आगम ज्ञान में अल्पज्ञ, **समणो** - श्रमण - संयमाराधना रूप तपश्चरणशील भिक्षु, **णिग्गंथे** - निर्ग्रन्थ - धन-धान्य, वैभव आदि बाह्य कषाय तथा मिथ्यात्व आदि आन्तरिक बन्धनों से निकला हुआ या छूटा हुआ, **पंचवासपरियाए** - पांच वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त, **दसाकप्पववहारधरे** - दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र का ज्ञाता, **आयरियउवज्जायत्ताए** - आचार्योपाध्यायतया - आचार्य या उपाध्याय के रूप में, **अट्टवासपरियाए** - आठ वर्ष के दीक्षा पर्याय से युक्त, **ठाणसमवायधरे** - स्थानांग एवं समवायांग सूत्र का ज्ञाता, **गणावच्छेइयत्ताए** - गणावच्छेदकतया - गणावच्छेदक के रूप में।

भावार्थ - ७२. तीन वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण, निर्ग्रन्थ, जो आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल, उपग्रहकुशल, अक्षताचार, अभिन्नाचार, अशबलाचार, असंक्लिष्टाचार, बहुश्रुतज्ञ, बहुआगमज्ञ तथा जघन्यतः आचारांग एवं निशीथ सूत्र का ज्ञाता हो, उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त - मनोनीत करना कल्पता है।

७३. वह त्रिवर्षीय दीक्षा पर्याय युक्त श्रमण, निर्ग्रन्थ यदि आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल एवं उपग्रह कुशल न हो, जो क्षताचार भिन्नाचार, शबलाचार, संक्लिष्टाचार सहित हो, अल्पश्रुतज्ञ, अल्पआगमज्ञ हो तो उसे उपाध्याय पद पर नियुक्त - मनोनीत करना नहीं कल्पता।

७४. पांच वर्ष के दीक्षा पर्याय से युक्त श्रमण, निर्ग्रन्थ, जो आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल, उपग्रहकुशल, अक्षताचार, अभिन्नाचार, अशबलाचार, असंक्लिष्टाचार, बहुश्रुतज्ञ, बहुआगमज्ञ तथा जघन्यतः दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र का ज्ञाता हो, उसे आचार्य या उपाध्याय पद पर नियुक्त - मनोनीत करना कल्पता है।

७५. वह पंचवर्षीय दीक्षा पर्याय युक्त श्रमण, निर्ग्रन्थ यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह तथा उपग्रह में कुशल न हो, जो क्षताचार, भिन्नाचार, शबलाचार एवं संक्लिष्टाचार सहित हो, अल्पश्रुतज्ञ और अल्पआगमज्ञ हो तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद पर नियुक्त - मनोनीत करना नहीं कल्पता।

७६. आठ वर्ष के दीक्षा पर्याय से युक्त श्रमण, निर्ग्रन्थ, जो आचारकुशल, संयमकुशल, प्रवचनकुशल, प्रज्ञप्तिकुशल, संग्रहकुशल, उपग्रहकुशल, अक्षताचार, अभिन्नाचार, अशबलाचार, असंक्लिष्टाचार, बहुश्रुतज्ञ, बहुआगमज्ञ तथा जघन्यतः स्थानांग एवं समवायांग सूत्र का ज्ञाता हो, उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक के पद पर नियुक्त - मनोनीत करना कल्पता है।

७७. वह अष्टवर्षीय दीक्षा पर्याय युक्त श्रमण, निर्ग्रन्थ यदि आचार, संयम, प्रवचन, प्रज्ञप्ति, संग्रह और उपग्रह में कुशल न हो, जो क्षताचार, भिन्नाचार, शबलाचार तथा संक्लिष्टाचार सहित हो, अल्पश्रुतज्ञ एवं अल्प आगमज्ञ हो तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक के पद पर नियुक्त - मनोनीत करना नहीं कल्पता।

विवेचन - गण या संघ में भिक्षुओं को ज्ञानाराधना, चारित्र्याराधना, संयम का उत्तरोत्तर संवर्धन, अध्यात्मोपयोगी दैनंदिन चर्या का भलीभाँति निर्वाह, भिक्षु संघ की आध्यात्मिक दृष्टि से समुन्नति इत्यादि हेतु संघ में अनेक पदों की व्यवस्था की गई है। उनमें उपाध्याय, आचार्य एवं गणावच्छेदक के पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

उपाध्याय, भिक्षुओं को आगमों की वाचना देते हैं - शुद्ध पाठ सिखलाते हैं।

आगम अर्थ-प्रधान होने के साथ-साथ शब्द-प्रधान भी हैं, क्योंकि तीर्थंकरों द्वारा अर्थ रूप में भाषित धर्मदेशना का गण या शब्द रूप में संकलन करते हैं। यह आवश्यक माना गया कि आगमों की शब्द संरचना सर्वथा अपरिवर्तित रहे, सर्वथा शुद्ध बनी रहे। इतिहास से यह सिद्ध है कि इस दृष्टि से समय-समय पर जैन भिक्षु संघ में आगमों की वाचनाएँ हुई हैं, जिनमें दूर-दूर के आगमवेत्ता भिक्षु सम्मिलित हुए। आगमों का समवेत रूप में पाठ किया, पाठ का समन्वय किया। इस प्रकार तीन वाचनाओं का उल्लेख प्राप्त होता है -

भगवान् महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में आचार्य स्थूलभद्र के निर्देशन में प्रथम आगम वाचना हुई।

वीर निर्वाण के ८२७-८४० वर्षों के मध्य आचार्य स्कन्दिल के निर्देशन में मथुरा में दूसरी बार आगम वाचना हुई। इसे माथुरी वाचना कहा जाता है। लगभग उसी समय वलभी(सौराष्ट्र) में आचार्य नागार्जुन के निर्देशन में भी वाचना हुई।

एक ही समय के आस-पास दो वाचनाओं के होने का ऐसा कारण संभावित जान पड़ता है कि दूरवर्ती भिक्षुओं को मथुरा पहुँचने में असुविधा हुई हो, अत एव वलभी में वाचना आयोजित की गई हो। मथुरा और वलभी - ये दोनों ही उस समय जैन धर्म के मुख्य केन्द्र थे। मथुरा और वलभी की वाचनाएँ द्वितीय वाचना के अन्तर्गत हैं।

वीर निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् वलभी में आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण के निर्देशन में तृतीय आगम वाचना हुई।

तब तक आगम कंठस्थ परंपरा से ही सुरक्षित थे। तब यह सोचकर कि स्मरण शक्ति का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है, आगमों का लिपिबद्ध किया जाना निश्चित हुआ। तदनुसार आगम ताड़पत्र, भोजपत्र, कागज आदि पर लिपिबद्ध हुए।

आगम पाठ को अपरिवर्तित और शुद्ध आचरण की दृष्टि से सर्वथा निर्दोष बनाए रखने के लिए वाचनाओं के रूप में जो प्रयत्न हुआ, वह वास्तव में बड़ा महत्त्वपूर्ण था। उपाध्याय के रूप में प्रथम पद का मनोनयन आगमों की शुद्ध पाठ परंपरा को सुरक्षित रखने हेतु है।

आचार्य गण के अधिपति या स्वामी होते हैं। वे तीर्थंकर देव के प्रतिनिधि माने जाते हैं। भिक्षुओं को आगमों की अर्थ वाचना देते हैं। भिक्षुओं के संयम जीवितव्य के निर्वाह में प्रेरक, उद्बोधक और सहायक होते हैं।

गणावच्छेदक अवस्था में, दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ, वरिष्ठ या वृद्ध होते हैं। धार्मिक अनुष्ठान, गणपरंपरा, व्यवस्था आदि सूक्ष्म एवं व्यापक अनुभव, व्यावहारिक ज्ञान, धीरता, गंभीरता आदि से युक्त होते हैं। वे गण की चिन्ता करते हैं, गण की सर्वतोमुखी उन्नति का, प्रभावना का ध्यान रखते हैं, तदर्थ प्रयत्नशील रहते हैं। अनुभव विशिष्टता की दृष्टि से इस पद की योग्यता हेतु उनके लिए कम से कम आठ वर्ष का दीक्षा-पर्याय आवश्यक माना गया है।

इन तीनों ही पदों के लिए उपर्युक्त सूत्रों में जिन गुणों की चर्चा की गई है, वे शुद्ध

आचार, विशद ज्ञान, धर्म प्रभावना, संयम प्रकर्ष, धर्मोपदेश में नैपुण्य, त्याग-वैराग्यमय व्यक्तित्व, अखण्ड, अभग्न व्रतपालकता इत्यादि से संबंधित है। ये ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनसे साधक का व्यक्तित्व और कृतित्व आध्यात्मिक दृष्टि से उज्ज्वल, निर्मल, ओजस्वी, वर्चस्वी और तेजस्वी होता है। जिनमें ये विशेषताएँ होती हैं, वे बड़ी ही कुशलता और सफलता के साथ अपने पदों का दायित्व सम्भाल सकते हैं।

इन सभी विशेषताओं में सबसे मुख्य आचारशीलता है। यही कारण है कि आचारकुशल का यहाँ प्रथम विशेषण के रूप में प्रयोग हुआ है। ज्ञानाचार और विनयाचार के रूप में आचार के मुख्य दो भेद बतलाए गए हैं। स्वाध्याय के लिए जो-जो उचित काल बतलाए गए हैं, उनमें आगम सूत्रों का अध्ययन, अनुशीलन, आवर्तन करना, अपने ज्ञान आदि को अधिकाधिक निर्मल बनाना, गुरुजन का बहुमान करना ज्ञानाचार है।

रत्नाधिक - ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य रूप रत्नत्रय में जो अधिक हों, ऊँचे हों - दीक्षा-पर्याय में बड़े हों, उनका आदर करना, उनके आगमन पर खड़े होना, उन्हें आसन आदि देना, प्रणमन करना, प्रतिलेखन के अनन्तर आचार्य के समीप आकर उनसे निवेदन करना कि हे भगवन्! आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? वे जैसी आज्ञा दें, रुचिपूर्वक वैसा कार्य करना विनयाचार है।

ये दो तो आचार के विशिष्ट पहलू हैं। सामान्यतः संयमानुप्राणित आचार विषयक अन्यान्य सभी पक्षों का रुचिपूर्वक, योग्यतापूर्वक पालन करना आचार कुशलता में समाविष्ट है।

अल्पदीक्षा-पर्याय युक्त भिक्षु के संबंध में पद-विषयक विधान

णिरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ तद्विवसं आयरियउवञ्जायत्ताए उद्विसित्तए, से किमाहु भंते! अत्थि णं श्रेराणं तहारूवाणि कुलाणि कडाणि पत्तियाणि थेजाणि वेसासियाणि संमयाणि सम्मुडकराणि अणुमयाणि बहुमयाणि भवंति, तेहिं कडेहिं तेहिं पत्तिएहिं तेहिं थेजेहिं तेहिं वेसासिएहिं तेहिं संमएहिं तेहिं सम्मुडकरेहिं तेहिं अणुमएहिं तेहिं बहुमएहिं जं से णिरुद्धपरियाए समणे णिग्गंथे कप्पइ आयरियउवञ्जायत्ताए उद्विसित्तए तद्विवसं ॥ ७८ ॥

णिरुद्धवासपरियाए समणे णिगंग्थे कप्पइ आयरियउवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए समुच्छेयकप्पंसि, तस्स णं आयारपकप्पस्स देसे अवट्टिए, से य अहिज्जिस्सामित्ति अहिज्जेज्जा, एवं से कप्पइ आयरियउवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए, से य अहिज्जिस्सामित्ति णो अहिज्जेज्जा, एवं से णो कप्पइ आयरियउवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ ७९ ॥

कठिन शब्दार्थ - णिरुद्धपरियाए - निरुद्धपर्याय - अत्यंत अल्प संयम पर्याय अर्थात् दीक्षा के प्रथम दिन, तद्विवसं - उसी दिन, तहारूवाणि - तथारूप - वैसे या उस प्रकार के, कुलाणि - कुल - वंश, कडाणि - कृत - सत्कृतियुक्त, पत्तियाणि - प्रतीतियोग्य, शेज्जाणि - स्थिरतायुक्त, वेसासियाणि - विश्वसनीय - विश्वास योग्य, संमयाणि - सम्मत - सम्मान या प्रतिष्ठा युक्त, सम्मुइकराणि - समुदित - प्रमुदित करने वाले, अणुमयाणि - अनुमत - धार्मिक अनुकूलता युक्त, बहुमयाणि - बहुमत - अनेक जनों द्वारा मान्य, भवंति - होते हैं, तेहिं - उन, णिरुद्धवासपरियाए - निरुद्धवर्षपर्याय - अल्पवर्षीय दीक्षा-पर्याय युक्त, समुच्छेयकप्पंसि - समुच्छेदकल्प - उसके आचार-कल्प का अध्ययन करना कुछ अवशिष्ट हो, देसे - अंशतः, अहिज्जिस्सामित्ति - अध्ययन पूरा कर लूंगा, अहिज्जेज्जा - अध्ययन पूर्ण कर ले।

भावार्थ - ७८. निरुद्धपर्याय - अत्यंत अल्प संयम पर्याय अर्थात् दीक्षा के प्रथम दिन श्रमण, निर्ग्रन्थ को उसी दिन, जिस दिन उसने दीक्षा ली हो, आचार्य या उपाध्याय का पद देना कल्पता है।

हे भगवन्! ऐसा क्यों कहा जाता है?

स्थविरो के तथारूप सत्कृतियुक्त, प्रतीति योग्य, स्थिरता युक्त, विश्वसनीय, सम्मत, प्रमोदकारक, अनुमत - धार्मिक अनुकूलता युक्त, बहुमत - बहुजन सम्मानित कुल होते हैं, उन सत्कृतिमय, प्रतीति योग्य, स्थिरतायुक्त, विश्वसनीय, सम्मत, प्रमोदकारक, अनुमत - धार्मिक अनुकूलता युक्त, बहुमत - बहुजन सम्मानित कुलों से दीक्षित निरुद्ध पर्याय श्रमण, निर्ग्रन्थ को उसी दिन आचार्य या उपाध्याय का पद देना कल्पता है।

७९. निरुद्ध वर्ष पर्याय श्रमण, निर्ग्रन्थ को, जिसके आचार कल्प का अध्ययन करना कुछ अवशिष्ट हो और वह यह संकल्प करे कि मैं अवशिष्ट अध्ययन पूर्ण कर लूंगा, तदनुसार पूर्ण कर ले तो उसे आचार्य या उपाध्याय का पद देना कल्पता है।

यदि वह - मैं अवशेष अध्ययन पूरा कर लूंगा, ऐसा संकल्प कर उसे पूर्ण न कर सके तो उसे आचार्य या उपाध्याय पद देना नहीं कल्पता।

विवेचन - पिछले सूत्रों में उपाध्याय तथा आचार्य आदि को मनोनीत या नियुक्त करने के संबंध में जो चर्चा आई है, वह उत्सर्ग मार्ग से संबंधित है। इन दो सूत्रों में उस संबंध में जो वर्णन हुआ है, वह अपवाद मार्ग से संबंधित है।

यदि आचार्य या उपाध्याय का अकस्मात् स्वर्गवास हो जाए, तब तक वे उत्तराधिकार संबंधी निर्णय न कर सके हों तथा गण में कोई वैसा श्रमण, निर्ग्रन्थ दृष्टिगोचर न हो, जो आचार्य या उपाध्याय पद का दायित्व वहन करने में समर्थ हो। वैसी स्थिति में निरुद्ध पर्याय भिक्षु को, जो उसी दिन दीक्षित हुआ हो, आचार्य या उपाध्याय पद सौंपा जा सकता है। किन्तु वैसा भिक्षु किसी ऐसे कुल का होना चाहिए, जो अपनी धार्मिकता, शालीनता, प्रतिष्ठा, बहुजन सम्मानिता, गुणानुकूलता इत्यादि में उत्तम या श्रेष्ठ हो।

यहाँ कुल विशेष का कथन करने का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति जैसे विख्यात, उच्च एवं मान्य कुलों से आते हैं, उनमें सहज ही दायित्व बोध का भाव होता है, उनमें वंश परंपरा से तथा आनुवंशिकतया अनुशासन, व्यवस्था, मर्यादा आदि का निर्वाह करने एवं कराने का संस्कार विद्यमान होता है। इसलिए उनसे आशा की जाती है कि वे अपने दायित्व का भलीभाँति निर्वाह कर पाएँगे। किन्तु उन्हें आचार-कल्प का अध्ययन आवश्यक है। यदि वे पूरा करने का संकल्प कर उसे पूरा कर लेते हैं तो उन्हें पदासीन करना कल्प्य है।

साधु-साध्वी को आचार्य आदि के निर्देशन में रहने का परिवर्जन

णाम्गंथस्स णं णवडडहरतरुणस्स आयरियउवञ्जाए वी(सुं)संभेज्जा, णो से कप्पइ अणायरियउवञ्जायस्स होत्तए, कप्पइ से पुक्खं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ पच्छा उवञ्जायं, से किमाहु भंते! दुसंगहिए समणे णाम्गंथे, तंजहा - आयरिएणं उवञ्जाएण य ॥ ८० ॥

णाम्गंथीए णं णवडडहरतरुणीए आयरियउवञ्जाए प(वि)वत्तिणी य वीसंभेज्जा, णो से कप्पइ अणायरियउवञ्जाइयाए अपवत्तिणीए होत्तए, कप्पइ से पुक्खं आयरियं उद्दिसावेत्ता तओ उवञ्जायं तओ पच्छा पवत्तिणिं, से किमाहु भंते ! तिसंगहिया समणी णाम्गंथी, तंजहा-आयरिएणं उवञ्जाएणं पवत्तिणीए य ॥ ८१ ॥

कठिन शब्दार्थ - णवडहरतरुणस्स - नवदीक्षित बालक या युवक का, वीसंभेज्जा-मृत्यु को प्राप्त हो जाए, होत्तए - होना - रहना, पुव्वं - पूर्व, उद्दिसावेत्ता - निश्रा - आश्रय लेकर, दुसंग्हिए - द्विसंगृहीत - दो द्वारा निर्देशित, णिग्गंथीए - साध्वी, णवडहरतरुणीए - नवदीक्षित, बालिका या युवती, प्रवत्तिणी य - प्रवर्तिनी के, तिसंग्हिया-त्रिसंगृहीत - तीन द्वारा निर्देशित।

भावार्थ - ८०. नवदीक्षित, बालक या युवा निर्ग्रन्थ - भिक्षु को आचार्य या उपाध्याय के दिवंगत हो जाने पर, आचार्य या उपाध्याय के बिना रहना नहीं कल्पता।

उसे पहले आचार्य के तथा बाद में उपाध्याय के नेश्राय - अधीनत्व में या निर्देशन में रहना कल्पता है।

हे भगवन्! ऐसा क्यों कहा जाता है - ऐसा कहने का क्या आशय है ?

श्रमण, निर्ग्रन्थ आचार्य और उपाध्याय इन दो के निर्देशन में ही रहते हैं।

८१. नवदीक्षित बालिका या युवती निर्ग्रन्थी - साध्वी को आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी का स्वर्गवास हो जाने पर उसे आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी के बिना रहना नहीं कल्पता।

उसे पहले आचार्य के, तत्पश्चात् उपाध्याय के और तदनन्तर प्रवर्तिनी के निश्रय - अधीनत्व या निर्देशन में रहना कल्पता है।

हे भगवन्! ऐसा क्यों कहा जाता है - ऐसा कहने का क्या आशय है ?

श्रमणी, निर्ग्रन्थी आचार्य, उपाध्याय और प्रवर्तिनी - इन तीन के निर्देशन में रहती है।

विवेचन - जीवन में किसी भी क्षेत्र में अनुभव का बहुत महत्व है। अनुभव से व्यक्ति परिपक्व बनता है। परिपक्वता से जीवन में स्थिरता आती है, क्योंकि अनुभवजन्य परिपक्वता से व्यक्ति जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखता है। अत एव वह किसी भी स्थिति में अस्थिर नहीं होता, दृढ़ बना रहता है।

इस सूत्र में कहा गया है - नवदीक्षित बालक या अल्पवयस्क साधु को आचार्य और उपाध्याय के निर्देशन में रहना आवश्यक है। क्योंकि उन्हें तब तक जीवन का विशेष अनुभव प्राप्त नहीं होता। आचार्य आदि बड़ों की छत्र-छाया में रहते हुए वे अपने साधनामय जीवन में सुविधा पूर्वक अग्रसर होते रहते हैं। चारित्राराधना और ज्ञानाराधना में वे उत्तरोत्तर विकासशील रहते हैं।

नवदीक्षित, अल्पवयस्क या तरुणावस्था में विद्यमान साध्वी के लिए आचार्य, उपाध्याय के अतिरिक्त प्रवर्तिनी के निर्देशन में रहने का जो उल्लेख किया गया है, वह विशेष

महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि साध्वियाँ, आचार्य और उपाध्याय की छत्र-छाया में रहने के साथ-साथ प्रवर्तिनी की निकटस्थता में रहती हैं, उनके सान्निध्य में रहती हैं।

भाष्यकार ने नवदीक्षित आदि का विश्लेषण करते हुए उल्लेख किया है कि जिसके तीन वर्ष का दीक्षा-पर्याय होता है, उसे नवदीक्षित कहा जाता है।

चार वर्ष से लेकर सोलह वर्ष की आयु पर्यन्त व्यक्ति डहर - बाल कहा जाता है। 'डहर' देशी शब्द है। लोक भाषा में यह बालक के लिए प्रयुक्त होता रहा है।

सोलह वर्ष की आयु के अनन्तर चालीस वर्ष की आयु पर्यन्त व्यक्ति तरुण कहा जाता है।

व्यवहार सूत्र के उद्देशक ३ के ११-१२वें सूत्र के आधार पर कुछ लोगों का मानना है कि- "बिना आचार्य उपाध्याय से साधुओं को रहना नहीं कल्पता है।" किंतु ऐसा अर्थ करना संगत प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि उन सूत्रों में तो नव (तीन वर्ष से कम दीक्षा पर्याय वाले) डहर (१६ वर्ष से कम उम्र वाले) तथा तरुण (६० वर्ष से कम उम्र वाले) को आचार्य उपाध्याय के बिना रहना नहीं कल्पता है

(साधु के लिए -

“तिवरिसो होइ णवो, आसोलसगंतु डहरगं बैति।

चत्ता सत्तरुण मज्झिमो, सेसओ थेरो ॥४८ ॥

साध्वियों के लिए -

“तिवरिसा होई णवा अठारसिया डहरिया होई।

तरुणी खलु जा जुवइ, चउरो दसमा य पुव्वुत्ता ॥४९ ॥

व्यवहार भाष्य गाथा”)

उन्हें पहले आचार्य और बाद में उपाध्याय बनाना और साध्वियों को आचार्य उपाध्याय के बाद प्रवर्तिनी बनाना आवश्यक है। आगमकार तो नव, डहर, तरुण साधुओं वाली संप्रदाय के लिए ही आचार्य, उपाध्याय की आवश्यकता मानते हैं, सबके लिए नहीं। जो लोग इन सूत्रों के आधार से ही “बिना आचार्य रहना नहीं कल्पता है, एवं प्रायश्चित्त आता है” ऐसा मानते हैं। उन्हें स्वयं की मान्यतानुसार “बिना उपाध्याय एवं साध्वियों को बिना प्रवर्तिनी से रहना भी नहीं कल्पता है” ऐसा भी इन्हीं सूत्रों से मानना पड़ेगा। क्योंकि सूत्र में तो तीनों पदों के लिए समान रूप से उल्लेख हुआ है। एक (आचार्य) पद के लिए नयी कल्पना मानना और शेष (उपाध्याय, प्रवर्तिनी) पदों की तरफ दुर्लक्ष्य करना स्वयं की मान्यतानुसार इन सूत्रों के साथ न्याय नहीं है।

आगमों में अनुशास्ता के रूप में आचार्य, उपाध्याय की तरह स्थविरों का भी उल्लेख हुआ है। कहीं-कहीं पर तो आगमों में आचार्य उपाध्याय से भी स्थविरों की विशिष्टता बताई गई है। ठाणांग सूत्र ठाणा ३ उद्देशक ४ में - "गुरु की अपेक्षा तीन प्रत्यनीक (विरोध एवं दुर्व्यवहार करने वाले) बताये गये हैं। जिसमें आचार्य प्रत्यनीक, उपाध्याय प्रत्यनीक की तरह स्थविर प्रत्यनीक भी बताया है। इससे स्पष्ट होता है कि "आगमकार स्थविरों को भी आचार्य उपाध्याय के समान कोटि का एवं अनुशास्ता तथा गुरु मानते हैं" व्यवहार सूत्र उद्देशक ३ में बताया है कि - "कम से कम आचारांग, निशीथ सूत्र को जानने वाले, ३ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले साधु को उपाध्याय, दो अंग चार छेद जानने वाले ५ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले योग्य साधु को आचार्य एवं चार अंग, चार छेद जानने वाले आठ वर्ष की दीक्षा पर्याय वाले योग्य साधु को स्थविरादि पद दिये जा सकते हैं।" इत्यादि आगमपाठों से यह निर्विवाद सिद्ध है कि आचार्य उपाध्याय से स्थविर की योग्यता अधिक होती है। ऐसे स्थविरों वाले गच्छ को आचार्य, उपाध्याय की आवश्यकता नहीं रहती है तथा प्रायश्चित्त भी नहीं आता है।

उनहत्तर वर्ष तक का प्रौढ कहा जाता है। सत्तर से आगे की वय वाले स्थविर - वृद्ध कहे जाते हैं*। स्थानांग आदि आगमों के अनुसार तो ६० वर्ष की उम्र से स्थविर कहा जाता है।

अब्रह्मचर्य-सेवी को पद देने के संदर्भ में विधि-निषेध

भिक्षू य गणाओ अवक्कम मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णिण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्टियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विकारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८२ ॥

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं अणिक्खवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए

* तिवरिसो होइ नवो, आसोलसगं तु डहरण बेत्ति।

तरुणो चत्तालीसो, सत्तरि उण मज्झिमो, थेरओ सेसो ॥ - भाष्य गाथा २२० एवं टीका

तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८३ ॥

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं णिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णिण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, तिहिं संवच्छेरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्टियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विकारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८४ ॥

आयरियउवज्जाए आयरियउवज्जायत्तं अणिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८५ ॥

आयरियउवज्जाए आयरियउवज्जायत्तं णिक्खिवित्ता मेहुणधम्मं पडिसेवेज्जा, तिण्णिण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, तिहिं संवच्छेरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पट्टियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विकारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८६ ॥

कठिन शब्दार्थ - गणाओ - गण से, मेहुणधम्मं - अब्रह्मचर्य, तिण्णिण - तीन, संवच्छराणि - वर्ष, तप्पत्तियं - उस कारण से, आयरियत्तं - आचार्यत्व - आचार्य पद, उद्दिसित्तए - उद्दिष्ट करना - देना, धारेत्तए - धारण करना, गणावच्छेइयत्तं - गणावच्छेदित्व-गणावच्छेदक पद, तिहिं - तीन, वीइक्कंतेहिं - व्यतिक्रान्त - व्यतीत हो जाने पर, चउत्थगंसि-चौथे वर्ष में, पट्टियंसि - प्रविष्ट होने पर, ठियस्स - ब्रह्मचर्य में स्थित, उवसंतस्स - उपशान्त, उवरयस्स - उपरंत - विषय-वासना से रहित, पडिविरयस्स - प्रतिविरत - अब्रह्मचर्य से सर्वथा पृथक्, णिव्विकारस्स - निर्विकार - विकार रहित, अणिक्खिवित्ता - गण से निष्क्रान्त न होकर - पृथक् न होकर, जावज्जीवाए - यावज्जीवन - जीवन पर्यन्त।

भावार्थ - ८२. साधु यदि गण से पृथक् होकर अब्रह्मचर्य का सेवन करे तो उस कारण से उसे तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना तथा धारण करना नहीं कल्पता।

तीन वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर चौथे वर्ष में प्रविष्ट हो जाने पर यदि वह ब्रह्मचर्य में स्थित, उपशान्त - वासना विरहित, अब्रह्मचर्य से सर्वथा उपरत, प्रतिविरत तथा विकार शून्य हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना एवं धारण करना कल्पता है।

८३. गणावच्छेदक, गणावच्छेदक के पद पर रहता हुआ, गण से पृथक् न होता हुआ अब्रह्मचर्य का सेवन करे तो उस कारण से उसे जीवनभर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना तथा धारण करना नहीं कल्पता।

८४. गणावच्छेदक यदि गणावच्छेदक पद से निष्क्रान्त हो कर - हट कर, पृथक् हो कर अब्रह्मचर्य का सेवन करे तो उस कारण से उसे तीन वर्ष तक आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना एवं धारण करना नहीं कल्पता।

तीन वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर, चौथे वर्ष में प्रविष्ट हो जाने पर यदि वह ब्रह्मचर्य में स्थित, उपशान्त - वासना विरहित, अब्रह्मचर्य से सर्वथा उपरत, प्रतिविरत और विकार शून्य हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना तथा धारण करना कल्पता है।

८५. आचार्य और उपाध्याय यदि आचार्य तथा उपाध्याय पद से निष्क्रान्त हुए बिना - हटे बिना, पृथक् हुए बिना अब्रह्मचर्य का सेवन करे तो उस कारण से उनको यावज्जीवन - जीवनभर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना एवं धारण करना नहीं कल्पता।

८६. आचार्य तथा उपाध्याय यदि आचार्य पद और उपाध्याय पद से निष्क्रान्त होकर - हट कर अब्रह्मचर्य का सेवन करें तो उस कारण से उन्हें तीन वर्ष पर्यन्त आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना और धारण करना नहीं कल्पता।

तीन वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर, चौथे वर्ष में प्रविष्ट हो जाने पर यदि वे ब्रह्मचर्य में स्थित, उपशान्त - वासना विरहित, अब्रह्मचर्य से सर्वथा उपरत, प्रतिविरत एवं विकार शून्य हो जाएं तो उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना तथा धारण करना कल्पता है।

विवेचन - साधु के पांचों ही महाव्रत महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु उनमें भी ब्रह्मचर्य पालन पर बहुत जो दिया गया है। क्योंकि उसमें सर्वथा स्थिर और अविचल रहते हुए साधनारत रहना बड़े आत्मबल पर निर्भर है। प्राणी के जीवन में 'काम' का आकर्षण दुर्निवार है। उसे जीतने के लिए बड़े ही अन्तः-पराक्रम की आवश्यकता होती है। नीतिकार ने इस संबंध में लिखा है -

***मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित् प्रमत्तमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥***

अर्थात् कई ऐसे व्यक्ति हैं जो मदोन्मत्त हाथी के मस्तक को चीर डालने में समर्थ हैं, कुछेक ऐसे भी पुरुष हैं जो सिंहों का भी वध करने में सक्षम होते हैं, किन्तु बलवानों के समक्ष बहुत जोर देकर - डंके की चोट कहता हूँ कि कामदेव के दर्प-अहंकार का दलन करने वाले, उसको जीतने वाले शौर्यशाली पुरुष विरले ही हैं।

यद्यपि साधु, आचार्य, उपाध्याय तथा गणावच्छेदक आदि सभी संयमी पुरुष पाँचों महाव्रतों का भलीभाँति पालन करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु यदि कभी मन में दुर्बलता आ जाने पर विषय-सेवन का प्रसंग बन जाए तो वे पदों के लिए अयोग्य हो जाते हैं। उसी विषय में यहाँ विवेचन किया गया है।

अब्रह्मचर्य सेवन का पाप हो जाए - पद पर रहते हुए या न रहते हुए हो जाए, उस संबंध में क्या-क्या करणीय है, इस सूत्र में वर्णन किया गया है।

आचार्य आदि पद पर रहते हुए यदि वैसा दुष्कर्म हो जाए तो वे जीवन भर के लिए पुनः उस पद पर आने की योग्यता खो देते हैं।

यदि गण से, पद से निष्क्रान्त होकर वैसा पाप करते हैं और शास्त्र विहित प्रायश्चित्त कर विकारशून्य, शुद्ध हो जाएं तो तीन वर्ष के अनन्तर उस पद के योग्य माने गए हैं।

जहाँ तक हो, एक संयमी साधक के जीवन में ऐसे पतन का प्रसंग कदापि न आए, किन्तु यदि आ जाए तो वह झट उससे संभल जाए, उस पाप का प्रायश्चित्त द्वारा प्रक्षालन करे तो उसका पुनः उत्थान हो जाता है।

जैन आगमों में इसीसे विविध पापों के प्रायश्चित्तों का विधान है, जिनके कारण साधना-पथ से च्युत या पतित साधक को पुनः उसमें आने का अवसर प्राप्त होता है।

आचार्य एवं उपाध्याय के संबंध में पहले यथाप्रसंग विवेचन किया जा चुका है। गणावच्छेदक के विषय में विशेष रूप से यहाँ ज्ञातव्य है -

गणावच्छेदक पद का संबंध विशेषतः व्यवस्था से है। संघ के सदस्यों का संयम

जीवितव्य स्वस्थ एवं कुशल बना रहें, साधु जीवन के निर्वाह हेतु अपेक्षित उपकरण साधु-समुदाय को निरवद्य रूप में मिलते रहें इत्यादि संघीय आवश्यकताओं की पूर्ति का उत्तरदायित्व या कर्तव्य गणावच्छेदक का होता है। उनके संबंध में लिखा है -

जो संघ को सहारा देने, उसे दृढ बनाए रखने अथवा संघ के श्रमणों की संयम-यात्रा के सम्यक् निर्वाह के लिए उपधि - श्रमण जीवन के लिए आवश्यक सामग्री की गवेषणा करने के निमित्त विहार करते हैं - पर्यटन करते हैं, प्रयत्नशील रहते हैं, वे गणावच्छेदक होते हैं*।

श्रामण्य-निर्वाह के लिए अपेक्षित साधन सामग्री के आकलन, तत्संबंधी व्यवस्था आदि की दृष्टि से गणावच्छेदक के पद का बहुत बड़ा महत्त्व है। गणावच्छेदक द्वारा आवश्यक उपकरण जुटाने का उत्तरदायित्व सम्हाल लिए जाने से आचार्य को संघ-व्यवस्था संबंधी अन्यान्य कर्मों की संपन्नता में समय देने की अधिक अनुकूलता प्राप्त रहती है।

संयम को छोड़कर जाने वाले के लिए पद-विषयक विधि-निषेध

भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म ओहायइ, तिण्ण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पड्डियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विकारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८७ ॥

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं अणिविक्खवित्ता ओहाएज्जा जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८८ ॥

गणावच्छेइए गणावच्छेइयत्तं णिविक्खवित्ता ओहाएज्जा, तिण्ण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पड्डियंसि ठियस्स उवसंतस्स

* गणस्यावच्छेदो विभागोऽशोऽस्यास्तीति ।

यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायवोपधिमार्गणादि निमित्तं विहरति ॥

- स्थानांग सूत्र, स्थान ४, उद्देशक ३ (वृत्ति)

उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विकारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ८९ ॥

आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं अणिव्विखवित्ता ओहाएज्जा, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ९० ॥

आयरियउवज्झाए आयरियउवज्झायत्तं णिव्विखवित्ता ओहाएज्जा, तिण्णिण संवच्छराणि तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, तिहिं संवच्छरेहिं वीइक्कंतेहिं चउत्थगंसि संवच्छरंसि पडियंसि ठियस्स उवसंतस्स उवरयस्स पडिविरयस्स णिव्विकारस्स एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ९१ ॥

कठिन शब्दार्थ - ओहायइ - चला जाता है, ओहाएज्जा - चला जाए।

भावार्थ - ८७. जो साधु गण से निकल कर चला जाता है तो उसे तीन वर्ष तक आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता है।

तीन वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर चौथे वर्ष में प्रविष्ट हो जाने पर यदि वह संयम में स्थित, उपशान्त, असंयम से उपरत, प्रतिविरत एवं विकार रहित हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना कल्पता है।

८८. 'गणावच्छेदक' गणावच्छेदक पद से निष्क्रान्त - पृथक् हुए बिना यदि संयम का उल्लंघन करे तो जीवनभर के लिए उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

८९. 'गणावच्छेदक' गणावच्छेदक पद से निष्क्रान्त होकर - हटकर यदि संयम से हट जाए तो उस कारण उसको तीन वर्ष तक आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

तीन वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर चौथे वर्ष में प्रविष्ट हो जाने पर यदि वह संयम में स्थित, उपशान्त, असंयम से उपरत, प्रतिविरत तथा विकार शून्य हो जाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना कल्पता है।

१०. आचार्य और उपाध्याय, आचार्य तथा उपाध्याय पद से पृथक् हुए बिना यदि संयम का उल्लंघन करें तो उस कारण उन्हें जीवनभर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

११. आचार्य तथा उपाध्याय, आचार्य और उपाध्याय पद से पृथक् होकर यदि संयम से हट जाए तो उस कारण उन्हें तीन वर्ष तक आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

तीन वर्ष व्यतीत होने के अनन्तर चौथे वर्ष में प्रविष्ट हो जाने पर यदि वे संयम में स्थित, उपशान्त, असंयम से उपरत, प्रतिविरत एवं विकार रहित हो जाएं तो उन्हें आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना कल्पता है।

विवेचन - पिछले सूत्रों में अब्रह्मचर्य-सेवी साधु, आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक के प्रायश्चित्त पूर्वक पुनः पद प्राप्त करने अथवा आजीवन पद के लिए अयोग्य माने जाने के संबंध में चर्चा आई है।

उपर्युक्त (इन)सूत्रों में संयम त्याग कर जाने वाले अथवा संमयी वेश में रहते हुए संयम का उल्लंघन करने वाले भिक्षु तथा आचार्य आदि के संबंध में पुनः पद प्राप्ति योग्य होने अथवा यावज्जीवन पद के लिए अयोग्य माने जाने के विषय में वर्णन हुआ है।

साधु के बाने (वेश) में रहते हुए अथवा आचार्य आदि पद पर रहते हुए असाधुत्व (अब्रह्म) का सेवन करना बहुत बड़ा दोष, पाप माना गया है। वैसा करने वाला साधु के पवित्र वेश को कलंकित करता है। साधु वेश के प्रति अश्रद्धा पैदा करता है, वैसा व्यक्ति जीवन भर के लिए पद योग्य नहीं होता। किन्तु जो साधुत्व से पृथक् होकर, साधु वेश त्याग कर असंयम का सेवन करे तो वह अपराधी या दोषी तो है, किन्तु साधु के वेश में रहकर साधुत्व का उल्लंघन करने वाले जितना दोषी नहीं है। इसलिए अपेक्षित प्रायश्चित्त पूर्वक, दोष रहित - विकार शून्य होने के अनन्तर तीन वर्ष के बाद उसे पद योग्य माना गया है।

पापसेवी बहुश्रुतों के लिए पद नियुक्ति का निषेध

भिव्खू य बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १२ ॥

गणावच्छेदए बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ९३ ॥

आयरियउवज्जाए बहुस्सुए बब्भागमे बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी, जावज्जीवाए तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए ॥ ९४ ॥

बहवे भिक्खुणो बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ९५ ॥

बहवे गणावच्छेइया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ९६ ॥

बहवे आयरियउवज्जाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ९७ ॥

बहवे भिक्खुणो बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरियउवज्जाया बहुस्सुया बब्भागमा बहुसो बहुसु आगाढागाढेसु कारणेसु माई मुसावाई असुई पावजीवी, जावज्जीवाए तेसिं तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ ९८ ॥ त्ति वेपि ॥ ववहारस्स तइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३ ॥

कठिन शब्दार्थ - बहुसो - बहुत बार, बहुसु - बहुत से, आगाढागाढेसु - प्रगाढ़ या विवादास्पद कारणों के होने पर, माई - मायावी - माया या छल युक्त, मुसावाई - असत्यभाषी, असुई - अशुचि - अपवित्र, पावजीवी - पापजीवी - पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाला, तस्स - उसको, उसके लिए, तेसिं - उनको या उनके लिए।

भावार्थ - ९२. बहुश्रुत - विशिष्ट ज्ञानी, बहुआगमज्ञ - अनेक आगमों का वेत्ता भिक्षु अनेक बार प्रगाढ़ विवादास्पद अनेक कारणों के होने पर यदि माया, मृषावाद एवं अपवित्रता

युक्त आचरण करें, पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करें तो इन कारणों से उसे जीवन भर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

९३. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ गणावच्छेदक अनेक बार प्रगाढ विवादास्पद अनेक कारणों के होने पर, माया, मृषावाद तथा अपवित्रता युक्त आचरण करें, पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करें तो इन कारणों से उसे यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना और धारण करना नहीं कल्पता।

९४. बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता आचार्य या उपाध्याय अनेक बार प्रगाढ विवादास्पद अनेक कारणों के होने पर माया, मृषावाद और अपवित्रता युक्त आचरण करे, पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करें तो इन कारणों से उन्हें जीवनभर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना एवं धारण करना नहीं कल्पता।

९५. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ बहुत से भिक्षु अनेक बार प्रगाढ विवादास्पद अनेक कारणों के होने पर माया, मृषावाद एवं अपवित्रता युक्त आचरण करें, पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करे तो इन कारणों से उन्हें यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना तथा धारण करना नहीं कल्पता।

९६. बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता बहुत से गणावच्छेदक अनेक बार प्रगाढ विवादास्पद अनेक कारणों के होने पर माया, मृषावाद तथा अपवित्रता युक्त आचरण करें, पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करें तो इन कारणों से उन्हें जीवन भर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना और धारण करना नहीं कल्पता।

९७. बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ बहुत से आचार्य या उपाध्याय अनेक बार प्रगाढ विवादास्पद अनेक कारणों के होने पर माया, मृषावाद और अपवित्रता युक्त आचरण करें, पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करें तो इन कारणों से उन्हें यावज्जीवन आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना एवं धारण करना नहीं कल्पता।

९८. बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता बहुत से भिक्षु, गणावच्छेदक, आचार्य या उपाध्याय अनेक बार प्रगाढ विवादास्पद अनेक कारणों के होने पर माया, मृषावाद एवं अपवित्रता युक्त आचरण करें, पापाचरण पूर्वक जीवन व्यतीत करें तो इन कारणों से उन्हें जीवन भर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना तथा धारण करना नहीं कल्पता।

विवेचन - जैसा पहले विवेचित हुआ है - “ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः” - ज्ञान और क्रिया - चरित्र की शुद्ध आराधना से मोक्ष प्राप्त होता है। यह जैन दर्शन का सिद्धान्त है। ज्ञान के साथ-साथ शास्त्रानुरूप शुद्ध, निरवद्य क्रिया का होना परम आवश्यक है। यदि ज्ञान के साथ सत् क्रिया का योग नहीं होता तो उस ज्ञान की सार्थकता नहीं मानी जाती, वह ज्ञान भार रूप होता है।

यहाँ ऐसे भिक्षुओं, गणावच्छेदकों, आचार्यों या उपाध्यायों को उद्दिष्ट कर वर्णन किया गया है, जो आगम ज्ञान एवं शास्त्र ज्ञान में तो बहुत बड़े-चढ़े होते हैं, किन्तु किन्हीं विवादास्पद कारणों का सहारा लेकर माया - छल प्रवचन, असत्य तथा अन्यान्य प्रकार के सावद्य आचरण का सेवन करते हैं। ऐसा करना उनके महाव्रतमय जीवन को दोषपूर्ण बनाता है। चाहे वे तर्क, युक्ति आदि के बल से अपने कार्यों को दोष रहित सिद्ध करने का प्रयास भले ही करें किन्तु दोष तो दोष ही हैं। विशिष्ट ज्ञानी होते हुए भी वैसे व्यक्ति आचार्य, उपाध्याय यावत् गणावच्छेदक पद के लिए अयोग्य माने गए हैं। क्योंकि इन पदों पर वे ही भिक्षु शोभित होते हैं, जो विशिष्ट ज्ञानी होने के साथ-साथ उत्कृष्ट क्रियावान् होते हैं क्योंकि उनका जीवन उनके अनुयायी या सहवर्ती साधुओं के लिए आदर्श होता है। वे माया, मृषा अशुचिता एवं पापवृत्ति से सर्वथा अछूते रहें, दूर रहें, यह परम आवश्यक है।

॥ व्यवहार सूत्र का तृतीय उद्देशक समाप्त ॥



चउत्थो उद्देशओ - चतुर्थ उद्देशक

आचार्य आदि के सहवर्ती निर्ग्रन्थों की संख्या

णो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स एगाणियस्स हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १९ ॥

कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पबिइयस्स हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १०० ॥

णो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पबिइयस्स हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १०१ ॥

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १०२ ॥

णो कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पबिइयस्स वासावासं वत्थए ॥ १०३ ॥

कप्पइ आयरियउवज्झायस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥ १०४ ॥

णो कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पतइयस्स वासावासं वत्थए ॥ १०५ ॥

कप्पइ गणावच्छेइयस्स अप्पचउत्थस्स वासावासं वत्थए ॥ १०६ ॥

से गामंसि वा णगरंसि वा णिगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संणिवेसंसि वा बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पबिइयाणं बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पतइयाणं कप्पइ हेमंतगिम्हासु चारए अणमण्णं णिस्साए ॥ १०७ ॥

से गामंसि वा णगरंसि वा णिगमंसि वा रायहाणीए वा खेडंसि वा कब्बडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा दोणमुहंसि वा आसमंसि वा संवाहंसि वा संणिवेसंसि वा बहूणं आयरियउवज्झायाणं अप्पतइयाणं बहूणं गणावच्छेइयाणं अप्पचउत्थाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अणमण्णं णिस्साए ॥ १०८ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगाणियस्स - एकाकी - अकेले को, हेमंत गिम्हासु - हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में, चारए - विचरण - विहार करना, अप्पबिइयस्स - आत्मद्वितीय - अपने सहित दो के रूप में अथवा अपने अतिरिक्त एक अन्य भिक्षु के साथ, अप्पतइयस्स - आत्मतृतीय - अपने सहित तीन के रूप में अथवा अपने अतिरिक्त अन्य दो भिक्षुओं के साथ वासावासं - वर्षावास - वर्षाकाल, वत्थए - वास करना - रहना, अप्पचउत्थस्स - आत्म-चतुर्थ - अपने सहित चार के रूप में या अपने अतिरिक्त तीन अन्य भिक्षुओं के साथ, बहूणं - बहुत को, अणमण्णं - अन्योन्य - अपने-अपने, णिस्साए - नेश्राय।

भावार्थ - १९. हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में आचार्य अथवा उपाध्याय को एकाकी विहार करना - विचरना नहीं कल्पता।

१००. हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में आचार्य अथवा उपाध्याय को अपने सहित दो साधुओं के रूप में - अपने अतिरिक्त एक और साधु साथ लिए हुए विहार करना कल्पता है।

१०१. हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को आत्मद्वितीय - अपने सहित दो के रूप में विहार करना नहीं कल्पता।

१०२. हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदक को अपने सहित तीन साधुओं के रूप में - अपने अतिरिक्त अन्य दो अन्य साधुओं को साथ लिए हुए विहार करना कल्पता है।

१०३. वर्षा ऋतु में आचार्य अथवा उपाध्याय को अपने सहित दो साधुओं के रूप में - अपने अतिरिक्त एक अन्य साधु को साथ लिए हुए वास करना - रहना नहीं कल्पता।

१०४. वर्षा ऋतु में आचार्य या उपाध्याय को आत्मतृतीय - अपने सहित तीन साधुओं के रूप में अथवा अपने अतिरिक्त अन्य दो साधुओं का साथ लिए हुए वास करना कल्पता है।

१०५. वर्षा ऋतु में गणावच्छेदक को आत्मतृतीय - अपने सहित तीन साधुओं के रूप में वास करना नहीं कल्पता।

१०६. वर्षा ऋतु में गणावच्छेदक को आत्मचतुर्थ - अपने सहित चार साधुओं के रूप में अथवा अपने अतिरिक्त तीन अन्य साधुओं को साथ लिए हुए वास करना कल्पता है।

१०७. हेमन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में अनेक आचार्यों अथवा उपाध्यायों को अपनी नेश्राय के एक-एक साधु को साथ लिए हुए तथा अनेक गणावच्छेदकों को अपनी नेश्राय के दो-दो साधुओं को साथ लिए हुए ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट, मडंब, पत्तन, द्रोणमुख, आश्रम, संबाध और सन्निवेश में विहार करना कल्पता है।

१०८. वर्षा ऋतु में अनेक आचार्यों अथवा उपाध्यायों को अपनी नेश्राय के दो-दो साधुओं को साथ लिए हुए और अनेक गणावच्छेदकों को अपनी नेश्राय के तीन-तीन साधुओं को साथ लिए हुए ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, खेट, कर्बट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, आश्रम, संबाध एवं सन्निवेश में वास करना - रहना कल्पता है।

विवेचन - भारतीय ज्योतिष में एक वर्ष को - १. वसन्त - चैत्र-वैशाख, २. ग्रीष्म - ज्येष्ठ-आषाढ ३. प्रावृद्ध - वर्षा - श्रावण-भाद्रपद, ४. शरद् - आश्विन-कार्तिक, ५. हेमन्त -

मार्गशीर्ष-पौष एवं ६. शिशिर - माघ-फाल्गुन - इन छह ऋतुओं में विभक्त किया गया है। प्रत्येक ऋतु को दो-दो मास का माना गया है।

इन छहों ऋतुओं को संक्षेप में - १. ग्रीष्म - चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठ-आषाढ, २. प्रावृट् - वर्षा - श्रावण-भाद्रपद-आश्विन-कार्तिक तथा ३. हेमन्त - मार्गशीर्ष-पौष-माघ-फाल्गुन-इन तीन ऋतुओं में बांटा गया है।

इन सूत्रों में इसी पद्धति को अपनाकर वर्णन किया गया है।

सामान्यतः साधु गण या संघ में आचार्य आदि के नेतृत्व में एकाधिक रूप में - बहुत से एक साथ रहते हुए संयमाराधना, तपश्चरण एवं विहार आदि करते हैं। किसी भी साधु को सामान्यतः एकाकी विहार करने का, वर्षावास में रहने का आदेश नहीं है। अभिग्रह, प्रतिमा, जिनकल्प इत्यादि में ही उत्कृष्ट तप, आराधना आदि के लक्ष्य से साधु को एकाकी विहार करने तथा रहने का विधान है। अपने तपोमूलक आध्यात्मिक साधना-क्रम में वे अकेले रह सकते हैं।

आचार्य, उपाध्याय और गणावच्छेदक के लिए किसी भी कारण से एकाकी विहार करना एवं रहना कल्पानुगत नहीं माना गया है।

इन तीनों पदों का श्रमण संघ में बहुत महत्त्व है। चारित्राराधना, श्रुताराधना तथा संघ-व्यवस्था इन्हीं के आधार पर टिकी हुई है। इनके पदों की गरिमा, प्रतिष्ठा एवं सम्मान को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु आचार्यों या उपाध्यायों के साथ कम से कम एक-एक साधु तथा गणावच्छेदकों के साथ कम से कम दो-दो साधुओं का रहना आवश्यक है। यदि अधिक रहें तो और भी उत्तम है।

गणावच्छेदक के साथ आचार्य एवं उपाध्याय की अपेक्षा एक साधु अधिक रखने का जो विधान किया गया है, उसका तात्पर्य गणावच्छेदक के व्यवस्थामूलक कार्यों का आधिक्य है।

संयोगवश एक ही स्थान पर अनेक संघों या गणों के आचार्यों, उपाध्यायों एवं गणावच्छेदकों का आगमन, प्रवास हो तब वे अपनी-अपनी नेत्राय के साधुओं को ही अपने साथ रखें। ऐसा इसलिए कहा गया है कि अपनी-अपनी नेत्राय के साधु अपने-अपने आचार्यों, उपाध्यायों या गणावच्छेदकों की मानसिकता से परिचित होते हैं, उनका व्यवहार सदा अनुकूल तथा साताकारी रहता है।

समूह-प्रमुख भिक्षु का निधन होने पर सहवर्ती भिक्षुओं का कर्तव्य

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू यं जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से य आहच्च वीसंभेज्जा, अत्थि या इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे कप्पइ से उवसंपज्जियव्वे, णत्थि या इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे, तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दि(सिं)सं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, णो कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि णिट्ठियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ १०९ ॥

वासावासं पज्जोसविए भिक्खू यं जं पुरओ कट्टु विहरेज्जा से य आहच्च वीसंभेज्जा, अत्थि या इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे से उवसंपज्जियव्वे, णत्थि या इत्थ अण्णे केइ उवसंपज्जणारिहे, तस्स अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ से एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अण्णे साहम्मिया विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, णो से कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ से तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि णिट्ठियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जो ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं से कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो से कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ११० ॥

कठिन शब्दार्थ - गामाणुगामं - ग्रामानुग्राम - एक गांव से दूसरे गांव की ओर, दूइज्जमाणे - विहार करते हुए, पुरओ - अग्र - आगे, कट्टु - करके, आहच्च - कदाचित् आयु क्षय होने पर, वीसंभेज्जा - देह त्याग कर दे, अत्थि - है या हो, इत्थ - वहाँ, अण्णे - दूसरा, केइ - कोई, उवसंपज्जणारिहे - पद योग्य - आचारांग एवं निशीथ आदि का ज्ञाता, उवसंपज्जियव्वे - अग्रणी पद पर स्थापित करना चाहिए, णत्थि - न हो, अप्पणो - अपना, कप्पाए - आचार कल्प का अध्ययन, असमत्ते - असमाप्त - पूरा न किया हो, एगराइयाए पडिमाए - एक सन्निक प्रतिमा द्वारा - एक-एक रात मार्ग में रुकते हुए, साहम्मिया - साधर्मिक भिक्षु, विहारवत्तियं - विहरण के उद्देश्य से, वत्थए - ठहरना,

कारणवन्त्तियं - रुग्णता आदि विशेष कारण से, **तंसि कारणंसि** - उस रोग आदि कारण के, **णिट्टियंसि** - मिट जाने पर, **संतरा** - अपने द्वारा किए गए अपराध या दोष के कारण, **पज्जोसविए** - प्रवास करता हुआ - रहता हुआ भिक्षु।

भावार्थ - १०९. ग्रामानुग्राम विहार करता हुआ भिक्षु, जिसे अग्रणी मानकर चले, यदि उस (अग्रणी) का देहावसान हो जाए तो अवशिष्ट भिक्षुओं में जो भिक्षु पद योग्य हो, उसे अग्रणी के रूप में मनोनीत करे।

यदि अन्य कोई भिक्षु उस पद के योग्य न हो और उसने स्वयं आचारकल्प का अध्ययन समाप्त न किया हो तो उसे रास्ते में एक-एक रात रुकते हुए, जिस-जिस दिशा में अन्य साधर्मिक भिक्षु विहरणशील हों उस-उस दिशा में जाना कल्पता है।

रास्ते में उसे विहरार्थ - धर्म-प्रसार आदि हेतु प्रवास करना - रुकना नहीं कल्पता।

यदि बीमारी आदि कोई कारण हो जाए तो उसे अधिक ठहरना कल्पता है।

उस कारण के समाप्त हो जाने पर यदि चिकित्सक आदि कोई विशिष्ट व्यक्ति कहे कि आर्य! एक या दो रात और ठहरो तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता।

जो उसके बाद भी एक या दो रात से अधिक ठहरता है, वह स्वकृत अपराध - मर्यादोल्लंघन के कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का भागी होता है।

११०. वर्षावास में प्रवासित - रहा हुआ भिक्षु, जिसे अग्रगण्य - प्रमुख मानकर रह रहा हो, यदि उसका देहावसान हो जाए तो अवशिष्ट भिक्षुओं में जो भिक्षु पद योग्य हो, उसे अग्रणी के रूप में मनोनीत करे।

यदि अन्य कोई भिक्षु उस पद के योग्य न हो तथा उसने स्वयं आचारकल्प का अध्ययन समाप्त न किया हो तो उसे रास्ते में एक-एक रात रुकते हुए, जिस-जिस दिशा में अन्य साधर्मिक भिक्षु विहरणशील हों, उस-उस दिशा में जाना कल्पता है।

रास्ते में उसे विहरार्थ - धर्म-प्रसार आदि हेतु प्रवास करना - रुकना नहीं कल्पता।

यदि बीमारी आदि कोई कारण हो जाए तो उसे अधिक ठहरना कल्पता है।

उस कारण के समाप्त हो जाने पर यदि चिकित्सक आदि कोई विशिष्ट व्यक्ति कहे कि आर्य! एक या दो रात और ठहरो तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है, किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता।

जो उसके बाद भी एक या दो रात से अधिक ठहरता है, वह मर्यादोल्लंघन रूप दोष के कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का पात्र होता है।

विवेचन - भिक्षु आगम मर्यादानुसार एकाधिक भिक्षुओं के समुदाय के रूप में विहरणशील होते हैं। उस समुदाय को संघाटक कहा जाता है। संघाटक में एक अग्रगण्य होता है, जिसे आचारांग एवं निशीथ आदि सूत्रों का ज्ञाता होना आवश्यक है। संघाटकपति या अग्रणी के नेतृत्व में भिक्षु विहार करते हैं, चातुर्मासिक प्रवास करते हैं। अग्रणी का होना नितान्त आवश्यक माना गया है, क्योंकि विशेषज्ञ, सुयोग्य प्रमुख भिक्षु के नेतृत्व में आचार, साधना, तपश्चरण आदि सभी कार्य समीचीन रूप में चलते हैं, इसलिए इन सूत्रों में अग्रणी का निधन हो जाने पर, जब तक दूसरा सुयोग्य अग्रणी प्रस्थापित या मनोनीत न हो, भिक्षु को अपनी विहार यात्रा में एक रात से अधिक कहीं रुकना नहीं कल्पता। जहाँ अन्य साधर्मिक भिक्षु हों, उस और रास्ते में एक-एक रात रुकते हुए जाना कल्पता है।

जैन दर्शन अनेकान्तवाद पर आश्रित है। वहाँ किसी भी बात को एकान्तिक रूप में गृहीत नहीं किया जाता, विभिन्न अपेक्षाओं को दृष्टिगत रखते हुए विधान किया जाता है, कार्य-निर्णय किया जाता है। इसीलिए इन सूत्रों में यह प्रतिपादन किया गया है कि रुग्णता आदि अनिवार्य कारण हो तो अधिक भी रुका जा सकता है, किन्तु कारण के सर्वथा अपगत हो जाने पर रुकना अपराध है, क्योंकि वैसा करने में धार्मिक मर्यादा का उल्लंघन होता है।

रोग ग्रस्त आचार्य आदि द्वारा पद-निर्देश : करणीयता

आयरियउवज्जाए गिलायमाणे अण्णयरं वएज्जा अज्जो ! ममंसि णं कालगयंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे, से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे से य णो समुक्कसणारिहे णो समुक्कसियव्वे, अत्थि या इत्थि अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से समुक्कसियव्वे, णत्थि या इत्थि अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे, तंसि च णं समुक्कडुंसि परो वएज्जा - दुस्समुक्कडुं ते अज्जो ! णिक्खिवाहि, तस्स णं णिक्खिवामाणस्स णत्थि केइ छेए वा परिहारे वा जे साहम्मिया अहाकप्पेणं णो उट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तिं छेए वा परिहारे वा ॥ १११ ॥

कठिन शब्दार्थ - गिलायमाणे - रोग आदि से ग्लान - पीड़ित, ममंसि कालगयंसि समाणंसि - मेरे कालगत हो जाने पर - दिवंगत हो जाने पर, अयं - यह या इसे,

समुक्कसियव्वे - समुक्कष्ट - पदासीन किया जाए, समुक्कसणारिहे - पदासीन करने योग्य, समुक्कडुंसि - पदासीन किए जाने पर, दुस्समुक्कडुं - दुःसमुक्कष्ट - औचित्य रहित, णिकिखवाहि - पद-त्याग कर दो, णिकिखवमाणस्स - पद-त्याग करता हुआ, अहाकप्पेणं - यथाकल्प - कल्प के अनुसार, उट्ठाए - उत्थापित करे - पद-त्याग के लिए कहे, सव्वेसिं तेसिं - उन सबको।

भावार्थ - १११. रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय किसी एक - विशिष्ट भिक्षु से कहे कि आर्य! मेरा देहावसान हो जाने पर इसको - अमुक भिक्षु को मेरे पद पर मनोनीत - समासीन कर देना।

वह यदि पद के योग्य हो तो उसे पद पर स्थापित करना चाहिए। यदि उसमें पदानुरूप योग्यता न हो तो उसे पद पर स्थापित नहीं करना चाहिए।

वहाँ भिक्षु संघ में यदि कोई दूसरा भिक्षु पद के योग्य हो तो उसे पदासीन करना चाहिए।

यदि भिक्षु संघ में दूसरा कोई पद के योग्य न हो तो उसी (जिसके लिए आचार्य आदि ने निर्देश किया हो) को पद पर नियुक्त करना चाहिए।

उसके पदासीन किए जाने पर कोई दूसरा भिक्षु (स्थविर, विज्ञ) कहे कि आर्य! तुम इस पद के लिए योग्य नहीं हो, इसलिए पद का त्याग कर दो।

ऐसा कहे जाने पर पद का त्याग करता हुआ वह भिक्षु दीक्षा-छेद या परिहार तप रूप प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता।

जो साधर्मिक - संघ में सहवर्ती साधु कल्पानुसार उसे पद-त्याग के लिए न कहें तो वे सभी उस कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

विवेचन - सामान्यतः जैन भिक्षु संघ में आचार्य या उपाध्याय ही दैहिक एवं मानसिक स्वस्थता की स्थिति में अपने उत्तराधिकारी निर्णीत करने के अधिकारी होते हैं।

इस सूत्र में आचार्य या उपाध्याय द्वारा रुग्णावस्था में अपने मरणोपरान्त अमुक को अपने पद पर नियुक्त किए जाने का प्रतिपादन है।

यदि यथेष्ट आत्म-स्थिरता न हो तो रुग्णावस्था में शरीर के साथ-साथ मन भी यत्किंचित् अस्वस्थ हो जाता है। उस समय जो भी निर्णय किया जाता है, वह सर्वथा यथार्थ हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसीलिए इस सूत्र में आचार्य द्वारा निर्दिष्ट भिक्षु को, यदि वह वास्तव

में पद के योग्य हो तभी उसे पदासीन करने का विधान किया गया है। वैसा न होने पर पद के लिए अन्य योग्य भिक्षु के चयन का निर्देश किया गया है।

वैसी योग्यता से संपन्न अन्य भिक्षु प्राप्त न हो तो काम चलाने के लिए आचार्य द्वारा निर्दिष्ट भिक्षु को ही पदासीन करने का उल्लेख है। किन्तु आगे चलकर बात फिर योग्यता या गुण निष्पन्नता पर ही आ टिकती है। यदि संघ के किसी सुयोग्य स्थविर भिक्षु को ऐसा प्रतीत हो कि आचार्य या उपाध्याय पद पर मनोनीत व्यक्ति अयोग्य है तो वह उसे पद-त्याग करने की बात कहने का अधिकारी है। वैसी स्थिति में यदि पदासीन भिक्षु पद का त्याग कर देता है तो यह उचित ही है, वैसा करना मर्यादा भंग नहीं है।

यदि पदासीन भिक्षु को अयोग्य समझते हुए भी सहवर्ती भिक्षु उससे पद-त्याग का कथन नहीं करते तो वे दोषी हैं, प्रायश्चित्त के भागी हैं।

सारे वर्णन का सार यह है कि जैन धर्म में आचार एवं श्रुत मूलक गुणों की ही प्रधानता है, गुण ही मुख्य हैं, व्यक्ति नहीं।

संयम त्याग कर जाते हुए आचार्य आदि द्वारा पद-निर्देश : करणीयता

आयरियउवज्झाए ओहायमाणे अण्णयरं वएज्जा-अज्जो ! ममंसि णं ओहावियंसि समाणंसि अयं समुक्कसियव्वे, से य समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, से य णो समुक्कसणारिहे णो समुक्कसियव्वे, अत्थि या इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे समुक्कसियव्वे, णत्थि या इत्थ अण्णे केइ समुक्कसणारिहे से चेव समुक्कसियव्वे, तंसि च णं समुक्कट्ठंसि परो वएज्जा-दुस्समुक्कट्ठं ते अज्जो ! णिक्खिवाहि, तस्स णं णिक्खिवामाणस्स णत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जे साहम्मिया अहाकप्पेणं णो उट्ठाए विहरंति सव्वेसिं तेसिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ ११२ ॥

कठिन शब्दार्थ - ओहायमाणे - मोहवश या परीषहादिवश संयम का त्याग कर जाता हुआ, ओहावियंसि समाणंसि - संयम त्याग कर चले जाने पर।

भावार्थ - ११२. मोह या रोग आदि के कारण संयम का त्याग कर जाते हुए आचार्य या उपाध्याय किसी एक-विशिष्ट भिक्षु को कहे कि मेरे चले जाने पर इसको - अमुक को मेरे पद पर मनोनीत - प्रस्थापित कर देना।

वह यदि पद के योग्य हो तो उसे पद पर स्थापित करना चाहिए। यदि उसमें पदानुरूप योग्यता न हो तो उसे पद स्थापित नहीं करना चाहिए।

वहाँ भिक्षु संघ में यदि कोई दूसरा भिक्षु पद के योग्य हो तो उसे पदासीन करना चाहिए।

यदि भिक्षु संघ में दूसरा कोई पद के योग्य न हो तो उसी (जिसके लिए आचार्य आदि ने निर्देश किया हो) को पद पर नियुक्त करना चाहिए।

उसके पदासीन किए जाने पर कोई दूसरा भिक्षु (स्थविर, विज्ञ) कहे कि आर्य! तुम इस पद के लिए योग्य नहीं हो, इसलिए पद का त्याग कर दो।

ऐसा कहे जाने पर पद का त्याग करता हुआ वह भिक्षु दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का भागी नहीं होता।

जो साधर्मिक - संघ में सहवर्ती साधु कल्पानुसार उसे पद-त्याग के लिए न कहें तो वे सभी उस कारण दीक्षा-छेद या परिहार - तप रूप प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

विवेचन - पिछले सूत्र में जिस प्रकार ग्लान या रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय द्वारा अपनी मृत्यु के पश्चात् साधु विशेष को - अमुक साधु को अपने पद पर नियुक्त करने का कथन किया गया है, उसी प्रकार इस सूत्र में उन आचार्य या उपाध्याय द्वारा जो मोह, रोग, परीषह इत्यादि के कारण संयम का त्याग कर जा रहे हों, अपने चले जाने के बाद अपने पद पर अमुक भिक्षु को नियुक्त करने का निर्देश दिया गया है।

संयम का त्याग कर जाने वाले आचार्य या उपाध्याय की मनोदशा भी सर्वथा स्वस्थ हो यह संभावित नहीं है। अत एव उनका चिन्तन निर्णय सर्वथा आदेय हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए उनके कथन पर विवेक तथा गुणावगुणपरीक्षण पूर्वक ही ध्यान दिया जाना, कार्य किया जाना उचित है। जैसी स्थितियों का वर्णन पिछले सूत्र में है, लगभग वैसी ही स्थितियाँ इस सूत्र में भी हैं। अन्तर केवल ग्लानत्व और संयम त्याग का है।

उपस्थापन विधि

आयरियउवज्झाए सरमाणे परं चउरायपंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं णो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि या इत्थि से केइ माणणिज्जे कप्पाए, णत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा, णत्थि या इत्थि से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ११३ ॥

आयरियउवज्झाए असरमाणे परं चउरायपंचरायाओ कप्पागं भिक्खुं णो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि या इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, णत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा, णत्थि या इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ११४ ॥

आयरियउवज्झाए सरमाणे वा असरमाणे वा परं दसरायकप्पाओ कप्पागं भिक्खुं णो उवट्ठावेइ कप्पाए, अत्थि या इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, णत्थि से केइ छेए वा परिहारे वा, णत्थि या इत्थ से केइ माणणिज्जे कप्पाए, संवच्छरं तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा उवज्झायत्तं वा पवत्तयत्तं वा थेरत्तं वा गणित्तं वा गणहरत्तं वा गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए ॥ ११५ ॥

कठिन शब्दार्थ - सरमाणे - स्मरण होते हुए भी, परं - आगे या अधिक, चउरायपंचरायाओ - चार-पाँच रात से, कप्पागं - कल्पाक - छेदोपस्थापनीय चारित्र या बड़ी दीक्षा के योग्य, उवट्ठावेइ - उपस्थापित करे - बड़ी दीक्षा दे, माणणिज्जे - माननीय-आदरणीय या पूजनीय, अत्थि - है, या - और, असरमाणे - स्मरण न हो, दसरायकप्पाओ - दस रात का समय बीत जाने पर भी, संवच्छरं - संवत्सर - वर्ष, आयरियत्तं - आचार्यत्व - आचार्य पद, उवज्झायत्तं - उपाध्यायत्व - उपाध्याय पद, पवत्तयत्तं - प्रवर्तकत्व - प्रवर्तक पद, थेरत्तं - स्थविरत्व - स्थविर पद, गणित्तं - गणित्व - गणी पद, गणहरत्तं - गणधरत्व - गणधर पद, गणावच्छेइयत्तं - गणावच्छेदकत्व - गणावच्छेदक पद, उद्दिसित्तए - उद्दिष्ट करना - देना।

भावार्थ - ११३. आचार्य या उपाध्याय स्मरण होने पर भी बड़ी दीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पाँच रात का समय बीत जाने पर भी छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थापित न करें - बड़ी-दीक्षा न दें, यदि तब उस बड़ी दीक्षा योग्य भिक्षु के कोई पूज्य पुरुष - पिता, पितृव्य (चाचा), ज्येष्ठ भ्राता आदि के बड़ी दीक्षा होने में देर हो तब आचार्य या उपाध्याय को दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता।

यदि बड़ी दीक्षा योग्य भिक्षु के कोई पूज्य - आदरणीय पुरुष वैसी स्थिति में न हो तब आचार्य या उपाध्याय को चार-पाँच रात बीत जाने पर भी बड़ी दीक्षा न देने पर दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

११४. आचार्य अथवा उपाध्याय स्मरण न रहने पर बड़ी दीक्षा के योग्य भिक्षु को चार-पाँच रात का समय बीत जाने पर भी छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थापित न करें - बड़ी दीक्षा न दें, यदि तब उस बड़ी दीक्षा योग्य भिक्षु के कोई पूज्य पुरुष - पिता, पितृव्य, ज्येष्ठ भ्राता आदि के बड़ी दीक्षा होने में देर हो तब आचार्य या उपाध्याय को दीक्षा छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता।

यदि बड़ी दीक्षा योग्य भिक्षु के कोई पूज्य - आदरणीय पुरुष वैसी स्थिति में न हों तब आचार्य अथवा उपाध्याय को चार-पाँच रात बीत जाने पर भी बड़ी दीक्षा न देने पर दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

११५. आचार्य अथवा उपाध्याय स्मरण होते या स्मरण न होते हुए भी दस रात(रात-दिन) का समय व्यतीत हो जाने पर भी बड़ी दीक्षा योग्य भिक्षु को दीक्षा न दें, यदि तब उस बड़ी दीक्षा योग्य भिक्षु के माननीय - पूजनीय पुरुष की बड़ी दीक्षा होने में विलम्ब हो तो आचार्य अथवा उपाध्याय को दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता।

यदि बड़ी दीक्षा के योग्य भिक्षु के कोई पूज्य पुरुष के बड़ी दीक्षा योग्य होने का प्रसंग न होने पर आचार्य या उपाध्याय को दस रात्रि का उल्लंघन करने के कारण एक वर्ष तक आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर या गणावच्छेदक पद पर अधिष्ठित होने योग्य नहीं रहते।

विवेचन - प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के शासनकाल में सामायिक चारित्र फिर छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थापित करने का - दीक्षित करने का क्रम रहा है। सामायिक चारित्र को छोटी दीक्षा तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र को बड़ी दीक्षा कहा जाता है। सामायिक चारित्र के लिए न्यूनतम काल-मर्यादा सातवें दिन तथा अधिकतम छह मास की है।

नवदीक्षित को अर्थ एवं विधि सहित सम्पूर्ण आवश्यक सूत्र का कंठस्थीकरण, षट्जीवनिकाय, पंचसमिति आदि का सामान्य ज्ञान, दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययनों का अर्थ सहित वाचना पूर्वक कंठाग्रता तथा प्रतिलेखन आदि दैनिक क्रियायों का अभ्यास - इतना हो जाने पर कल्पाक या बड़ी दीक्षा के योग्य कहा जाता है।

आचार्य और उपाध्याय का यह कर्तव्य है कि बड़ी दीक्षा के योग्य हो जाने पर उसको चार-पाँच रात के भीतर बड़ी दीक्षा दे दें। वैसा न करने पर वे प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

वहाँ एक विकल्प रखा गया है। छेदोपस्थापनीय चारित्र योग्य भिक्षु के पिता आदि पूज्यजन दीक्षार्थी या दीक्षित हों तथा उनके बड़ी दीक्षा योग्य होने में विलम्ब हो तो कल्पाक को छह मास तक बड़ी दीक्षा न देने पर भी आचार्य या उपाध्याय को प्रायश्चित्त नहीं आता।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी होने कारण निश्चय और व्यवहार दोनों नयों को लेकर चलता है। यहाँ व्यवहार नय की अपेक्षा से निरूपण हुआ है। यदि पुत्र की बड़ी दीक्षा पहले हो जाए तथा पिता की बड़ी दीक्षा बाद में हो तो दीक्षा पर्याय की ज्येष्ठता के कारण पुत्र को पिता द्वारा नित्यप्रति वंदन किया जाना अपेक्षित है। तत्त्वतः इस वंदन-व्यवहार में कोई दोष नहीं है। क्योंकि वंदन तो संयम रूप गुणनिष्पन्नता को है, व्यक्ति को नहीं, किन्तु व्यवहार में बाप, बेटे को वंदन -नमन करे, यह समीचीन नहीं लगता। अतः निश्चय के साथ-साथ व्यवहार दृष्टि भी अनुसरणीय है।

इस सूत्र में आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणी, गणधर एवं गणावच्छेदक पदों का उल्लेख हुआ है। आचार्य, उपाध्याय तथा गणावच्छेदक विषयक वर्णन पहले यथाप्रसंग आ चुका है। यहाँ उनके अतिरिक्त अन्य पदों का विवेचन इस प्रकार है -

प्रवर्तक - आचार्य के बहुविध उत्तरदायित्वों के सम्यक् निर्वहण में सुविधा रहे, धर्म-संघ उत्तरोत्तर उन्नति करता जाए, श्रमणवृन्द श्रामण्य के परिपालन और विकास में गतिशील रहें, इस हेतु अन्य पदों के साथ प्रवर्तक का भी विशेष पद प्रतिष्ठित किया गया। प्रवर्तक पद का विश्लेषण करते हुए लिखा है -

तप संयमयोगेषु, योग्यं योहि प्रवर्तयेत्।

निवर्तयेद्योग्यं च, गणचिन्ती प्रवर्तकः॥ - धर्म संग्रह, अधिकार-३, गाथा १४३

प्रवर्तक गण या श्रमण-संघ की चिन्ता करते हैं अर्थात् वे उसकी गतिविधि का ध्यान रखते हैं। वे जिन श्रमणों को तप, संयम तथा प्रशस्त योगमूलक अन्यान्य सत्प्रवृत्तियों में योग्य पाते हैं, उन्हें उनमें प्रवृत्त या उत्प्रेरित करते हैं। मूलतः तो सभी श्रमण श्रामण्य का निर्वाह करते ही हैं पर रुचि की भिन्नता के कारण किन्हीं का तप की ओर अधिक झुकाव होता है, कई शास्त्रानुशीलन में अधिक रस लेते हैं, कई संयम के दूसरे पहलुओं की ओर अधिक आकृष्ट रहते हैं। रुचि के कारण किसी विशेष प्रवृत्ति की ओर श्रमण का उत्साह हो सकता है पर हर किसी को अपनी यथार्थ स्थिति का भलीभाँति ज्ञान हो, यह आवश्यक नहीं। अति उत्साह के कारण कभी-कभी अपनी क्षमता को आंक पाना भी कठिन होता है। ऐसी

परिस्थिति में प्रवर्तक का यह कर्तव्य है कि जिनको जिस प्रवृत्ति के लिए योग्य मानते हों, उन्हें वे उस ओर प्रेरित और प्रवृत्त करें। जो उन्हें जिस प्रवृत्ति के सम्यक् निर्वाह में योग्य न जान पड़े, उन्हें वे उस ओर से निवृत्त करें। साधक के लिए इस प्रकार के पथ-निर्देशक का होना परम आवश्यक है। इससे उसकी शक्ति और पुरुषार्थ का समीचीन उपयोग होता है। ऐसा न होने से कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं। उदाहरणार्थ - कोई श्रमण अति उत्साह के कारण अपने को उग्र तपस्या में लगाये, पर कल्पना कीजिये, उसकी दैहिक क्षमता इस प्रकार की न हो, स्वास्थ्य अनुकूल न हो, मानसिक स्थिरता कम हो तो वह अपने प्रयत्न में जैसा सोचता है, चाहता है, सफल नहीं हो पाता। उसका उत्साह टूट जाता है, वह अपने को शायद हीन भी मानने लगता है। अत एव प्रवर्तक, जिनमें ज्ञान, अनुभव तथा अनुठी सूझबूझ होती है, का दायित्व होता है कि वे श्रमणों को उनकी योग्यता के अनुरूप उत्कर्ष के विभिन्न मार्गों पर गतिशील होने में प्रवृत्त करें, जो उचित न प्रतीत हों, उनसे निवृत्त करें।

उक्त तथ्य को स्पष्ट करते हुए और भी कहा गया है -

तवसंजमनियमेसु, जो जुग्गो तत्थ तं पवेत्तई।

असूह य नियतंती, गणतत्तिल्लो पवतीओ॥

तपः संयमयोगेषु मध्ये यो यत्न योग्यस्तं तत्र प्रवर्तयन्ति, असहाश्च।

असमर्थाश्च निवर्तयन्ति। एवं गणतृप्ति प्रवृत्ताः प्रवर्तिनः॥

संयम, तप आदि के आचरण में जो धैर्य और सहिष्णुता चाहिए, जिनमें वह होती है, वे ही उसका सम्यक् अनुष्ठान कर सकते हैं। जिनमें वैसी सहनशीलता और दृढता नहीं होती, उनका उस पर टिके रहना संभव नहीं होता। प्रवर्तक का यह काम है कि किस श्रमण को किस ओर प्रवृत्त करे, कहाँ से निवृत्त करे। गण को तृप्त-तुष्ट-उल्लसित करने में प्रवर्तक सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

स्थविर - जैन संघ में स्थविर का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्थानांग सूत्र ☆ में दश प्रकार के स्थविर बतलाये गये हैं, जिनमें से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेषतः श्रमण जीवन से है। स्थविर का सामान्य अर्थ प्रौढ या

● व्यवहार भाष्य, उद्देशक १, गाथा ३४०

☆ स्थानांग सूत्र, स्थान १० सूत्र ७६१

वृद्ध है। जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते हैं, वे जाति-स्थविर^० कहे जाते हैं। स्थानांग वृत्ति में उनके लिए साठ वर्ष की आयु का संकेत किया गया है।

जो श्रुत-समवाय आदि अंग, आगम व शास्त्र के पारगामी होते हैं, वे श्रुत-स्थविर [◆] कहे जाते हैं। उनके लिए आयु की इयत्ता का निबन्ध नहीं है। वे छोटी आयु के भी हो सकते हैं।

पर्याय-स्थविर[●] वे होते हैं, जिनका दीक्षाकाल लम्बा होता है। इनके लिए बीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का वृत्तिकार ने उल्लेख किया है।

जिनकी आयु परिपक्व होती है, उन्हें जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। वे जीवन में बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं अतः वे विपरीत परिस्थिति में भी विचलित नहीं होते, वे स्थिर बने रहते हैं। स्थविर शब्द स्थिरता का भी द्योतक है।

जिनका शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे भी अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्त्व के परिज्ञाता होते हैं। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन में आध्यात्मिक स्थिरता और दृढता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय, संयम-जीवितव्य लम्बा होता है, उनके जीवन में धार्मिक परिपक्वता, चारित्रिक बल एवं आत्म-ओज सहज ही प्रस्फुटित हो जाता है।

इस प्रकार के जीवन के धनी श्रमणों की अपनी गरिमा है। वे दृढधर्मा होते हैं और संघ के श्रमणों को धर्म में, साधना में, संयम में स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवचनसारोद्धार (द्वार-२) में कहा गया है -

“प्रवर्तितव्यापाटान् संयमयोगेषु सीदतः साधून् ज्ञानादिषु।

ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः।”

जो साधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होने लगते हैं, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन में कष्ट का अनुभव करते हैं, ऐहिक और पारलौकिक हानि या दुःख

● जातिस्थविराः - षष्टिवर्ष-प्रमाणजन्मपर्याया।

- स्थानांग सूत्र, स्थान १० सूत्र ७६१ वृत्ति

◆ श्रुतस्थविराः - समवायाङ्ग धारिणः।

- स्थानांग सूत्र, स्थान १० सूत्र ७६१ वृत्ति

● पर्यायस्थविराः - विशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्या पर्यायवन्तः।

- स्थानांग सूत्र, स्थान १० सूत्र ७६१ वृत्ति

दिखलाकर उन्हें जो श्रमण-जीवन में स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहे जाते हैं। वे स्वयं उज्ज्वल चारित्र्य के धनी होते हैं, अतः उनके प्रेरणा-वचन, प्रयत्न प्रायः निष्फल नहीं होते।

स्थविर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि स्थविर संविग्न-मोक्ष के अभिलाषी, मार्दवित, अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी और धर्मप्रिय होते हैं। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य की आराधना में उपादेय अनुष्ठानों को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन में अस्थिर बनता है, वे (स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य की याद दिलाते हैं। पतनोन्मुख श्रमणों को वे ऐहिक और पारलौकिक अधःपतन दिखला कर मोक्ष के मार्ग में स्थिर करते हैं*।

इसी आशय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है -

तेन व्यापारितेष्वर्थे - ध्वनगाराशच सीदतः।

स्थिरीकरोति सच्छक्तिः, स्थविरो भवतीह सः ॥

- धर्मसंग्रह, अधिकार ३ गाथा ७३

तप, संयम, श्रुताराधना तथा आत्म-साधना आदि श्रमण-जीवन के उन्नायक कार्य, जो संघ-प्रवर्तक द्वारा श्रमणों के लिए नियोजित किये जाते हैं, में जो श्रमण अस्थिर हो जाते हैं, इनका अनुसरण करने में जो कष्ट मानते हैं या इनका पालन करना जिनको अप्रिय लगता है, भाता नहीं, उन्हें जो आत्मशक्ति-सम्पन्न दृढचेता श्रमण उक्त अनुष्ठेय कार्यों में दृढ बनता है, वह स्थविर कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि संयम-जीवन जो श्रामण्य का अपरिहार्य अंग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते हैं। संघ में उनकी बहुत प्रतिष्ठा तथा साख होती है। अवसर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बातें सुझा सकते हैं, जिन पर उन्हें (आचार्य को) भी गौर करना होता है।

* संविग्नो मद्द्विओ, पियधम्मो नाणदंसण चरित्तैः।

जे अट्टे परि हायइ, सातो ते हवई थेरो ॥

यः संविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दवितः संज्ञातमार्दविकः। (१)

प्रियधर्मा एकान्तवल्लभः संयमानुष्ठानो, यो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु मध्य यानर्थानुपादेयानुष्ठानविशेषान् परिहापयति हानिं नयति तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः सीदमानान्साधून् ऐहिकाऽऽमुष्मिकापायप्रदर्शनतां मोक्षमार्गं स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः।

- अभिधान राजेन्द्र, भाग-४, पृष्ठ २३८६-८७

संक्षेप में, सार यह है कि स्थविर संयम में स्वयं अविचल-स्थितिशील होते और संघ के सदस्यों को वैसा बने रहने के लिए उत्प्रेरित करते रहते हैं।

गणी - गणी का सामान्य अर्थ गण या साधु-समुदाय का अधिपति है। अतः आचार्य के लिए भी इस शब्द का प्रयोग देखने में आता है। परन्तु यहाँ यह एक विशिष्ट अर्थ को लिए हुए हैं। संघ में जो अप्रतिम विद्वान, बहुश्रुत श्रमण होता था, उसे गणी का पद दिया जाता था। गणी के संबंध में लिखा है -

अस्य पाश्वर्षे आचार्याः सूत्रद्वयमभ्यस्यन्ति*।

अर्थात् आचार्य उनके पास सूत्र आदि का अभ्यास करते हैं।

यद्यपि आचार्य का स्थान संघ में सर्वोच्च होता है। उनमें आचार पालने, पलवाने, संघ के श्रमणों को अनुशासन में रखने, उनको तत्त्व-ज्ञान देने, उनका परिरक्षण तथा विकास करते रहने की असाधारण क्षमता होती है। उनके व्यक्तित्व में सर्वातिशायि ओज तथा प्रभाव होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि संघगत श्रमणों में वे सबसे अधिक विद्वान एवं अध्येता हों। गणी में इस कोटि की ज्ञानात्मक विशेषता होती है। फलस्वरूप वे आचार्य को भी वाचना दे सकते हैं।

इससे यह भी स्पष्ट है कि आचार्य-पद केवल विद्वत्ता के आधार पर नहीं दिया जाता। विद्या जीवन का एक पक्ष है। उसके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष हैं। जिनके बिना जीवन में समग्रता नहीं आती। आचार्य के व्यक्तित्व में वैसी समग्रता होनी चाहिए, जिससे जीवन के सब अंग परिपूरित लगे। यह सब होने पर भी आचार्य को यदि शास्त्राध्ययन की और अपेक्षा हो तो वे गणी से शास्त्राभ्यास करें। आचार्य जैसे उच्च पद पर अधिष्ठित व्यक्ति एक अन्य साधु से अध्ययन करें, इसमें क्या उनकी गरिमा नहीं मिटती - आचार्य ऐसा विचार नहीं करते। वे गुणग्राही तथा उच्च संस्कारी होते हैं, अतः जो-जो उन्हें आवश्यक लगता है, वे उन विषयों को गणी से पढते हैं। यह कितनी स्वस्थ तथा सुखावह परंपरा है कि आचार्य भी विशिष्ट ज्ञानी से ज्ञानार्जन करते नहीं हिचकते। ज्ञान और ज्ञानी के सत्कार का यह अनुकरणीय प्रसंग है।

* कल्प सुबोधिका, कल्प-९

गणधर - गणधर का शाब्दिक अर्थ गण या श्रमण-संघ को धारण करने वाला, गण का अधिपति या स्वामी होता है। आवश्यक ☆ वृत्ति में अनुत्तर ज्ञान, दर्शन आदि गुणों के गण - समूह को धारण करने वाले गणधर कहे गये हैं।

आगम-वाङ्मय में गणधर शब्द मुख्यतः दो अर्थों में प्रयुक्त है।

तीर्थकर के प्रमुख शिष्य, जो उन (तीर्थकर) द्वारा प्ररूपित तत्त्व-ज्ञान का द्वादशांगी के रूप में संग्रथन करते हैं, उनके धर्म-संघ के विभिन्न गणों की देख-रेख करते हैं, अपने-अपने गण के श्रमणों को आगम-वाचना देते हैं, गणधर कहे जाते हैं। अनुयोगद्वारा सूत्र में भाव-प्रमाण के अन्तर्गत ज्ञान गुण के आगम ❖ नामक प्रमाण-भेद में बताया गया है कि गणधरों के सूत्र आत्मगम्य होते हैं।

तीर्थकरों के वर्णन-क्रम में उनकी अन्यान्य धर्म-संपदाओं के साथ-साथ उनके गणधरों का भी यथाप्रसंग उल्लेख हुआ है। तीर्थकरों के सान्निध्य में गणधरों की जैसी परंपरा वर्णित है, वह सार्वदिक नहीं है। तीर्थकरों के पश्चात् अथवा दो तीर्थकरों के अन्तर्वर्ती काल में गणधर नहीं होते। अतः उदाहरणार्थ गौतम, सुधर्मा आदि के लिए जो गणधर शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह गणधर के शाब्दिक या सामान्य अर्थ में अप्रयोज्य है।

गणधर का दूसरा अर्थ, जैसा कि स्थानांग ❖ वृत्ति में लिखा गया है, आर्याओं या साध्वियों को प्रतिजागृत रखने वाला अर्थात् उनके संयम-जीवन के सम्यक् निर्वहण में सदा प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं आध्यात्मिक सहयोग करने वाला श्रमण 'गणधर' कहा जाता है।

आर्या-प्रतिजागरक के अर्थ में प्रयुक्त गणधर शब्द से प्रकट होता है कि संघ में श्रमणी-वृन्द की समीचीन व्यवस्था, विकास, अध्यात्म-साधना में उत्तरोत्तर प्रगति इत्यादि पर पूरा ध्यान दिया जाता था। यही कारण है कि उनकी देख-रेख और मार्गदर्शन के कार्य को इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया कि एक विशिष्ट श्रमण के मनोनयन में इस पहलू को भी ध्यान में रखा जाता था।

☆ अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधराः। - आवश्यकनियुक्ति गाथा १०६२ वृत्ति

❖ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम - इन चार प्रमाणों का वहाँ वर्णन हुआ है।

❖ आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः समयप्रसिद्धः। - स्थानांग सूत्र ४.३.३२३ वृत्ति

अध्ययनार्थ अन्य गण में गए भिक्षु की भाषा

भिक्षू य गणाओ अवक्कम्म अण्णं गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा, तं च केइ साहम्मिए पासित्ता वएज्जा-कं अज्जो ! उवसंपज्जित्ताणं विहरसि ? जे तत्थ सक्खराइणिए तं वएज्जा, अह भंते ! कस्स कप्पाए ? जे तत्थ सक्खबहुस्सुए तं वएज्जा, जं वा से भगवं वक्खइ तस्स आणाउववायवयणणिहेसे चिट्ठिस्सामि ॥ ११६ ॥

कठिन शब्दार्थ - गणाओ - (किसी एक) गण से, अण्णं - अन्य - दूसरे, उवसंपज्जित्ताणं - उपसंपद्यमान - निःश्रय (निश्रा) प्राप्त किए हुए, पासित्ता - देखकर - मिलकर, सक्खराइणिए - सर्वरत्नाधिक - दीक्षा-पर्याय में सबसे ज्येष्ठ, अह - अथ - इसके अतिरिक्त, कप्पाए - कल्प में - बहुश्रुत भिक्षु के अध्ययन निर्देशन में, सक्खबहुस्सुए - सबमें बहुश्रुत - सर्वाधिक श्रुतज्ञ, वक्खइ - कहे, आणा - आज्ञा, उववाय - उपपात - सान्निध्य, वयणणिहेसे - वचन निर्देश, चिट्ठिस्सामि - स्थित रहूंगा।

भावार्थ - ११६. यदि कोई भिक्षु विशेष अध्ययन हेतु अपने गण से अवक्रान्त होकर - अपना गण छोड़कर दूसरे गण की उपसंपदा - सान्निध्य स्वीकार कर विचरण करे और यदि उसे अपना साधर्मिक - पूर्ववर्ती गण का सहवर्ती भिक्षु देखे या मिले तथा उससे पूछे -

आर्य! आप किसके निःश्रय में विचरण करते हैं ?

तब वह उस गण में, दीक्षा-पर्याय में जो सबसे बड़े हों, उनका नाम ले - कथन करे।

वह साधर्मिक भिक्षु यदि उसे पुनः पूछे - हे भगवन्! आप किस बहुश्रुत के निर्देशन - सान्निध्य में रह रहे हैं, अध्ययनरत हैं ?

तब वह उस गण में, जो सबसे अधिक बहुश्रुतज्ञ हों, विद्वान् हों, उनका नाम ले और कहे कि मैं उन्हीं भगवन्त - पूज्य मुनिवर की आज्ञा, सान्निध्य तथा वचन निर्देश में रहूंगा अर्थात् जैसा वे कहेंगे, करूंगा।

विवेचन - सावद्य-प्रत्याख्यान एवं महाव्रत-पालन की दृष्टि से सभी भिक्षु सामान्य रूप से तुल्य या सदृश होते हैं। श्रुतानुशीलन या ज्ञानार्जन का संबंध ज्ञानावरण के क्षयोपशम से है। अतः श्रुतज्ञता या विद्वत्ता में भिक्षुओं में अन्तर होना स्वाभाविक है, क्योंकि सभी के ज्ञानावरण का क्षयोपशम एक जैसा नहीं होता। उसमें तरतमता रहती है।

भिक्षु जीवन में चारित्राराधना के साथ-साथ ज्ञानाराधना का भी बड़ा महत्त्व है। उज्ज्वल

चारित्र के साथ यदि प्रशस्त ज्ञान हो तो चारित्र और अधिक दीप्त, शोभित होता है। वैसे भिक्षु जन-जन में धर्म-प्रसार, अध्यात्म-प्रभावना के द्वारा लोक-कल्याण का महान् कार्य कर सकते हैं।

यदि किसी गण में रहते हुए जिज्ञासु, विशिष्ट ज्ञानार्थी, श्रुतार्थी भिक्षु को ऐसा प्रतीत हो कि किसी अन्य गण में बहुश्रुत, विशिष्ट श्रुतधर या उत्कृष्ट विद्वान् भिक्षु हैं तो वह उच्च अध्ययन हेतु अपने गण को छोड़कर दूसरे गण में जा सकता है, उसकी उपसंपदा या निःश्रय में रह सकता है।

यदि किसी भिक्षु ने वैसा किया हो, ज्ञानवृद्धि हेतु अन्य गण में रह रहा हो तो यह आवश्यक है कि उसकी निष्ठा, श्रद्धा उस गण के साथ जुड़ी रहे। उस गण में जो सर्वोत्तम रत्नाधिक हो, दीक्षा-पर्याय में सबसे बड़े हों, उनके निःश्रय या आध्यात्मिक नेतृत्व को वह आदरपूर्वक स्वीकार किए रहे।

उस गण में जो सबसे अधिक श्रुतज्ञ हों, सबसे बड़े विद्वान् हों, उनके निर्देशन में, सान्निध्य में, ज्ञानानुशीलन में अभिरत रहे, उनके वचनों का सर्वथा अनुसरण करे।

इस सूत्र में अपने पूर्ववर्ती गण के साधर्मिक भिक्षु द्वारा पूछे गए प्रश्नों के श्रुताध्यायी भिक्षु द्वारा जो उत्तर दिए गए हैं, वे उसके ऐसे ही श्रद्धामय एवं निष्ठामूलक भाव के सूचक हैं।

सम्मिलित विहरण-गमन-विषयक विधि-निषेध

बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिणिचारियं चारए, णो णं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयओ अभिणिचारियं चारए, कप्पइ णं थेरे आपुच्छित्ता एगयओ अभिणिचारियं चारए, थेरा य से वियरेज्जा ए(वं)वणं कप्पइ एगयओ अभिणिचारियं चारए, थेरा य से णो वियरेज्जा एव णं णो कप्पइ एगयओ अभिणिचारियं चारए, जं तत्थ थेरेहिं अविइण्णे अभिणिचारियं चरंति, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ ११७ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगयओ - एक साथ, अभिणिचारियं - अभिनिचारिका - एक साथ मिलकर चलना, जाना, चारए - चले - आचरण करे, एवं - इस प्रकार, अविइण्णे - अनुज्ञात - अनुज्ञा दिये जाने पर, वियरेज्जा - आज्ञा प्रदान करे।

भावार्थ - ११७. बहुत से साधर्मिक - एक गणवर्ती भिक्षु यदि एक साथ मिलकर कहीं जाना चाहें तो स्थविरों को पूछे बिना - उनकी अनुज्ञा प्राप्त किए बिना उनको वैसा करना नहीं कल्पता।

स्थविरों को पूछकर - उनकी आज्ञा प्राप्त कर उनको एक साथ जाना कल्पता है।

स्थविर यदि उन्हें आज्ञा प्रदान करें तो वे एक साथ मिलकर जाएं।

स्थविर यदि उन्हें आज्ञा न दें तो एक साथ मिलकर न जाएं।

स्थविरों द्वारा आज्ञा न दिए जाने पर यदि वे एक साथ मिलकर जाएं तो उन्हें दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इस सूत्र में अभिनिचारिका शब्द का विशेष रूप से प्रयोग आया है। अभिनिचारिका का अभिप्राय - एक साथ मिलकर विचरण करना, प्रवास करना, जाना या चलना है। यहाँ यह शब्द विशेष उद्देश्य से कई साधुओं के एक साथ मिलकर किसी विशेष उद्देश्य से कहीं जाने के अर्थ में है।

धारणा से तो उपरोक्त अर्थ किया जाता है। भाष्य में अन्य प्रकार से अर्थ भी किया है। वह इस प्रकार है -

जैसे कोई आचार्य या उपाध्याय मासकल्प में कहीं प्रवास कर रहे हों। उनके सान्निध्यवर्ती साधुओं में कतिपय ऐसे हों, जो रोग, तप विशेष आदि के कारण कृष, दुर्बल हो गए हों, शारीरिक स्वस्थता, स्वास्थ्य लाभ एवं शक्ति की दृष्टि से उन्हें दुग्ध आदि विगय पदार्थों की आवश्यकता हो, पास में ही कोई गोपालकों की बस्ती हो और वे दूध आदि लेने हेतु जाना चाहें तो वे स्थविरों की आज्ञा से ही जा सकते हैं। स्थविर आज्ञा न दें तब वे न जाएं। आज्ञा न देने के बावजूद यदि वे जाते हैं तो यह मर्यादा भंग है, दोष है, जिसके लिए उन्हें दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

यहाँ प्रतिपादित विधि-निषेध का आशय अनुशासन से जुड़ा हुआ है। भिक्षुओं का प्रत्येक कार्य अनुशासित रूप में हो। आचार्य, उपाध्याय एवं स्थविर आदि बड़ों के आदेशानुरूप हो, यह आवश्यक है। क्योंकि ये महापुरुष लाभ-अलाभ आदि सभी स्थितियों के मर्मज्ञ होते हैं। वे स्थिति की निरापदता, अनुकूलता आदि देखकर ही आज्ञा देते हैं। तदनुसार करना गण एवं जाने वाले भिक्षुओं के हित में ही होता है।

चारिका प्रविष्ट-निवृत्त भिक्षु-विषयक निरूपण

चरियापविट्टे भिक्षू जाव चउरायपंचरायाओ थैरे पासेज्जा, सच्चैव आलोयणा सच्चैव पडिक्कमणा सच्चैव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे ॥११८॥

चरियापविट्टे भिक्षू परं चउरायपंचरायाओ थैरे पासेज्जा, पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा, भिक्षुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि ओग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया, अणुजाणह भंते ! मिओग्गहं अहालंदं धुवं णितियं णिच्छइयं वेउट्ठियं, तओ पच्छा कायसंफासं ॥ ११९ ॥

चरियाणियट्टे भिक्षू जाव चउरायपंचरायाओ थैरे पासेज्जा, सच्चैव आलोयणा सच्चैव पडिक्कमणा सच्चैव ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे ॥१२०॥

चरियाणियट्टे भिक्षू परं चउरायपंचरायाओ थैरे पासेज्जा, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा, भिक्षुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि ओग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया - अणुजाणह भंते ! मिओग्गहं अहालंदं धुवं णितियं णिच्छइयं वेउट्ठियं, तओ पच्छा कायसंफासं ॥ १२१ ॥

कठिन शब्दार्थ - चरियापविट्टे - चारिका प्रविष्ट - स्थविरों की आज्ञा के बिना विहार आदि के लिए अन्यत्र गया हुआ, सच्चैव - सा चैव - और वही, ओग्गहस्स - अवग्रह, पुव्वाणुण्णवणा - पुर्वानुज्ञापना, चिट्ठइ - रहती है, अहालंदं - यथाकाल - कल्पानुगत कार्य, अवि - भी, पुणो - पुनः - फिर, छेयपरिहारस्स - दीक्षा-छेद एवं परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त, उवट्ठाएज्जा - उपस्थापित करे, परं - बाद में, भिक्षुभावस्स - भिक्षु भाव - संयम के, अट्ठाए - प्रयोजन के लिए, दोच्चं पि - दूसरी बार, अणुण्णवेयव्वे- अनुज्ञापनीय - आज्ञा लेने योग्य, सिया - हो, मिओग्गहं - मित - परिमित अवग्रह, धुवं - ध्रुव, णितियं - नित्य, णिच्छइयं - निश्चित, वेउट्ठियं - व्यावर्तित होना - प्रतिदिन करते रहना, कायसंफासं - कायसंस्पर्श - चरणस्पर्श, चरियाणियट्टे - चारिकानिवृत्त।

भावार्थ - ११८. चारिका प्रविष्ट भिक्षु चार-पाँच रात तक की अवधि में स्थविरों को देखे, उनसे मिले तो उस भिक्षु द्वारा क्रियमाण आलोचना, प्रतिक्रमण वही - पुर्वानुरूप रहते हैं

तथा उसका अवग्रह भी पुर्वानुज्ञापित रहता है। उसका यथाकाल - कल्प पर्यन्त क्रियाशील रहना पुर्वानुज्ञापित होता है।

११९. चारिका प्रविष्ट भिक्षु चार-पाँच रात के पश्चात् स्थविरो को देखे - मिले तो वह पुनः आलोचना करे, पुनः प्रतिक्रमण करे एवं पुनः दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त में उपस्थापित हो।

संयम की रक्षा के लिए वह दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञा प्राप्त करे। उसे स्थविरो को संबोधित कर यों कहना कल्पता है - हे भगवन्! मुझे मित - परिमित या नियमानुबद्ध अवग्रह, यथाकाल - यथाकल्प कार्य तथा शाश्वत, नित्य, निश्चित आचार प्रवण क्रियाओं में व्यावर्तित होने की, उन्हें यथाविधि सदा करते रहने की अनुज्ञा दें।

१२०. चारिका निवृत्त भिक्षु चार-पाँच रात तक की अवधि के अन्तर्गत स्थविरो को देखे, उनसे मिले तो उस भिक्षु द्वारा क्रीयमाण आलोचना, प्रतिक्रमण वही - पुर्वानुरूप रहते हैं और उसका अवग्रह भी पुर्वानुज्ञापित रहता है। उसका यथाकाल - कल्प पर्यन्त क्रियाशील रहना पुर्वानुज्ञापित होता है।

१२१. चारिका निवृत्त भिक्षु चार-पाँच रात की अवधि के पश्चात् स्थविरो को देखे - मिले तो वह पुनः आलोचना करे, पुनः प्रतिक्रमण करे तथा पुनः दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त में उपस्थापित हो।

संयम की रक्षा के लिए वह दूसरी बार अवग्रह की अनुज्ञा प्राप्त करे। उसे स्थविरो को संबोधित कर यों कहना कल्पता है - हे भगवन्! मुझे मित - परिमित या नियमानुबद्ध अवग्रह, यथाकाल - यथाकल्प कार्य तथा शाश्वत, नित्य, निश्चित आचार प्रवण क्रियाओं में व्यावर्तित होने की उन्हें यथाविधि सदा करते रहने की अनुज्ञा दें।

विवेचन - इन सूत्रों में चारिका प्रविष्ट और चारिका निवृत्त भिक्षु के दो प्रकार के व्यवहार का वर्णन है। यदि वह चार-पाँच रात के अन्तर्गत ही स्थविरो से मिलता है तो उसके आलोचना प्रतिक्रमण आदि चारित्र-विषयक दैनिक क्रियोपक्रम पूर्ववत् रहते हैं। अवग्रह-विषयक अनुज्ञा भी पुर्वानुरूप होती है, क्योंकि उसकी भावना विपर्ययस्थ नहीं होती। किन्तु चार-पाँच रात्रि तक जो स्थविरो से नहीं मिलता, उसकी भावना में विपर्यास की आशंका रहती है। उसी कारण उसे दीक्षा-छेद या परिहार तप रूप प्रायश्चित्त में उपस्थापित होना कहा गया है। साथ ही साथ स्थविरो से उसे पुनः अनुज्ञा प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है।

इसका सारांश यह है कि जैन श्रमणों की आचार-पद्धति बहुत सूक्ष्म है। वहाँ आन्तरिक भावना तथा बाह्य क्रिया दोनों की शुद्धता अपेक्षित है। बाह्य क्रिया में आन्तरिक भावना परिलक्षित होती है। भाव जितने उज्वल, निर्मल और पवित्र होंगे, बाहरी क्रियाओं में भी उतनी ही नियमितता, पवित्रता और समीचीनता रहेगी।

व्रताराधना और संयताचरण में जरा भी विपर्यास न हो पाए, इस ओर तत्परता सर्वथा आवश्यक है। यदि विपर्यास आशंकित हो तो उसका प्रायश्चित्त द्वारा परिशोधन एवं परिमार्जन अपरिहार्य है। इन सूत्रों से ये भाव व्यक्त होते हैं।

शैक्ष एवं रत्नाधिक का पारस्परिक व्यवहार

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तंजहा - सेहे य राइणिए य, तत्थ सेहतराए पलिच्छणणे, राइणिए अपलिच्छणणे, सेहतराएणं राइणिए उवसंपज्जियव्वे, भिक्खोववायं च दलयइ कप्पागं ॥ १२२ ॥

दो साहम्मिया एगयओ विहरंति, तंजहा - सेहे य राइणिए य, तत्थ राइणिए पलिच्छणणे, सेहतराए अपलिच्छणणे, इच्छा राइणिए सेहतरागं उवसंपज्जइ इच्छा णो उवसंपज्जइ, इच्छा भिक्खोववायं दलयइ कप्पागं इच्छा णो दलयइ कप्पागं ॥ १२३ ॥

कठिन शब्दार्थ - सेहे - शैक्ष - अल्प दीक्षा-पर्याय युक्त, राइणिए - रत्नाधिक - ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना में - दीक्षा-पर्याय में अधिक या ज्येष्ठ, पलिच्छणणे - शिष्य परिवार युक्त, उवसंपज्जियव्वे - उपसंपदा में - निर्देशन में रहे, भिक्खोववायं - भिक्षा एवं उपपात या भिक्षोपपात - आहार, सन्निधि सेवन, विनय वैयावृत्य आदि, दलयइ - देता है - दे।

भावार्थ - १२२. दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ और कनिष्ठ - अल्पकाल दीक्षित - ऐसे दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरते हों, उनमें यदि अल्प दीक्षा पर्याय युक्त भिक्षु शिष्य परिवार संपन्न हो - अनेक शिष्य युक्त हो और ज्येष्ठ भिक्षु शिष्य परिवार संपन्न न हो तो वह दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ भिक्षु की उपसंपदा में रहे, उसके लिए आहार लाकर दे, उसका सान्निध्य प्राप्त करे - उसके प्रति विनयशील रहे, उसकी वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या करे।

१२३. दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ और कनिष्ठ - अल्पकाल दीक्षित - ऐसे दो साधर्मिक भिक्षु एक साथ विचरते हों, उनमें दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ भिक्षु यदि शिष्य परिवार सम्पन्न हो

तथा अल्पकाल दीक्षित भिक्षु शिष्य परिवार सम्पन्न न हो तो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ भिक्षु यदि चाहे तो अल्पकाल दीक्षित भिक्षु की उपसंपदा में रहे, न चाहे तो न रहे, यदि वह चाहे तो उसे भिक्षा लाकर दे और न चाहे तो न दे, यदि वह चाहे तो उसका विनय वैयावृत्य करे तथा न चाहे तो न करे।

विवेचन - जैन धर्म में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का स्थान सर्वोत्तम है। लौकिक जीवन में लोग हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम तथा लाल आदि को रत्न मानते हैं, उनका सर्वाधिक मूल्य समझते हैं। जैन धर्म अध्यात्म पर टिका हुआ है। वहाँ आत्मिक उज्वलता को ही सबसे ऊंचा स्थान प्राप्त है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना से जीवन का परम लक्ष्य - मोक्ष सिद्ध होता है। ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र - ये तीन आध्यात्मिक रत्न कहे गए हैं। महाव्रतात्मक संयम में दीक्षित होते ही ये तीनों रत्न प्राप्त हो जाते हैं।

“**रत्नैर्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपैर्विशिष्ट गुणै - रत्निकः - रत्नाधिकः।**” इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जो दीक्षा में बड़ा या दीर्घ काल दीक्षित होता है, उसे रत्नाधिक कहा गया है।

भिक्षु संघ में रत्नाधिक या दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ भिक्षु का अत्यन्त महत्त्व स्वीकार किया गया है। इसीलिए इन सूत्रों में उस भिक्षु को जो अल्प दीक्षा-पर्याय युक्त हो, बहुत से शिष्यों से परिवृत्त हो तो उसके लिए यह विधान किया गया है कि वह दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ भिक्षु की सब प्रकार से सेवा-परिचर्या करे, उसका निर्देशन स्वीकार करे, उसे आहार-पानी लाकर दे, उसका सान्निध्यसेवी रहे। ऐसा करना संयम को सम्मान देना है, जो शैक्ष या अल्पकालिक दीक्षित भिक्षु का आवश्यक कर्तव्य है।

दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ भिक्षु के लिए यह आवश्यक नहीं है, उनकी इच्छा पर निर्भर है, जैसा वह उचित समझे करे।

दीक्षा-ज्येष्ठ का अग्रणी-विषयक विधान

दो भिक्खुणो एगयओ विहरंति, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ ण्हं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ १२४ ॥

दो गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ ण्हं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ १२५ ॥

दो आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ ण्हं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ १२६ ॥

बहवे भिक्षुणो एगयओ विहरंति, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ ण्हं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ १२७ ॥

बहवे गणावच्छेइया एगयओ विहरंति, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ ण्हं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ १२८ ॥

बहवे आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ ण्हं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ १२९ ॥

बहवे भिक्षुणो बहवे गणावच्छेइया बहवे आयरियउवज्झाया एगयओ विहरंति, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए, कप्पइ ण्हं अहाराइणियाए अण्णमण्णं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥ १३० ॥ त्ति बेमि ॥

१. व्यवहारस्स चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥ ४ ॥

कठिन शब्दार्थ - उवसंपज्जित्ताणं - उपसंपन्न - समानाधिकार युक्त, अहाराइणियाए-यथारात्तिकता - रत्नाधिकता के अनुरूप।

भावार्थ - १२४. दो भिक्षु यदि एक साथ विहार करते हों - विचरते हों तो परस्पर एक-दूसरे को समानाधिकार संपन्न - बराबर मानकर विचरण करना नहीं कल्पता है, किन्तु दोनों में जो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हो, उसे उपसंपन्न - अधिकार सम्पन्न या अग्रणी मानकर विचरण करना कल्पता है।

१२५. दो गणावच्छेदक यदि एक साथ विहार करते हों - विचरते हों तो परस्पर एक-दूसरे को समानाधिकार सम्पन्न - बराबर मानकर विचरण करना नहीं कल्पता है, किन्तु दोनों में जो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हो, उसे उपसंपन्न - अधिकार संपन्न या अग्रणी मानकर विचरण करना कल्पता है।

१२६. दो आचार्य या उपाध्याय यदि एक साथ विहार करते हों तो परस्पर एक-दूसरे को समानाधिकार संपन्न मानकर विचरण करना नहीं कल्पता है, किन्तु उनमें जो दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हो, उसे उपसंपन्न - अधिकार संपन्न या अग्रणी मानकर विचरण करना कल्पता है।

१२७. बहुत से भिक्षु यदि एक साथ विचरते हों तो उन सबको अपने - अपने को उपसंपन्न - बराबर मानकर विचरण करना नहीं कल्पता, किन्तु उनमें जो दीक्षा पर्याय में ज्येष्ठ

हो - रत्नाधिक हो, उसे उपसंपन्न - अधिकार संपन्न या अग्रणी मानकर विचरण करना कल्पता है।

१२८. बहुत से गणावच्छेदक यदि एक साथ विहार करते हों - विचरते हों तो उन सबको अपने-अपने को उपसंपन्न - बराबर मानकर विचरण करना नहीं कल्पता, किन्तु उनमें जो रत्नाधिक हो - दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हो, उसे उपसंपन्न - अधिकार संपन्न या अग्रणी मानकर विचरण करना कल्पता है।

१२९. बहुत से आचार्य अथवा उपाध्याय यदि एक साथ विहार करते हों - विचरते हों तो उन सबको अपने-अपने को उपसंपन्न - समानाधिकार संपन्न या बराबर मानकर विचरण करना नहीं कल्पता, किन्तु उनमें जो रत्नाधिक हो - दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हो, उसे उपसंपन्न-अधिकार संपन्न या अग्रणी मानकर विचरण करना कल्पता है।

१३०. बहुत से भिक्षु, बहुत से गणावच्छेदक तथा बहुत से आचार्य या उपाध्याय यदि एक साथ विहार करते हों - विचरते हों तो उन सबको अपने-अपने को उपसंपन्न-समानाधिकार युक्त या बराबर मानकर विचरण करना नहीं कल्पता, किन्तु उनमें जो रत्नाधिक हो - दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हो, उसे उपसंपन्न - अधिकार सम्पन्न या अग्रणी मानकर विचरण करना कल्पता है।

विवेचन - जहाँ एक से अधिक - दो या बहुत से भिक्षुओं, गणावच्छेदकों, आचार्यों या उपाध्यायों के एक साथ विचरने का प्रसंग बने, वहाँ वे सभी अपने-अपने को समानाधिकार युक्त मानकर न चलें, क्योंकि जहाँ एक से अधिक हों, वहाँ किसी एक का नेतृत्व या निर्देशन मानकर चलना - विहरण करना आवश्यक है। इससे जीवन अनुशासन बद्ध, नियमित और व्यवस्थित रहता है, अन्यथा जीवन में स्वच्छन्दता का आना आशंकित है।

नेतृत्व या निर्देशन उन्हीं का स्वीकार किया जाए, जो रत्नाधिक हों - दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ हों। जैसा कि पहले यथाप्रसंग विवेचन किया गया है, जैन धर्म में ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की आराधना का - संयम जीवितव्य का सर्वाधिक महत्त्व है। उसी में आध्यात्मिक साधना की प्राण-प्रतिष्ठा है। अत एव दीक्षा ज्येष्ठता को ही प्रामुख्य या प्रमुखता का आधार माना गया है।

॥ व्यवहार सूत्र का चौथा उद्देशक समाप्त ॥

पंचमो उद्देशओ - पंचम उद्देशक

प्रवर्तिनी आदि के साथ विहरणशीला साधियों का संख्याक्रम

णो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पबिइयाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १३१ ॥

कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १३२ ॥

णो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पतइयाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १३३ ॥

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए हेमंतगिम्हासु चारए ॥ १३४ ॥

णो कप्पइ पवत्तिणीए अप्पतइयाए वासावासं वत्थए ॥ १३५ ॥

कप्पइ पवत्तिणीए अप्पचउत्थाए वासावासं वत्थए ॥ १३६ ॥

णो कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पचउत्थाए वासावासं वत्थए ॥ १३७ ॥

कप्पइ गणावच्छेइणीए अप्पपंचमाए वासावासं वत्थए ॥ १३८ ॥

से गामंसि वा णगरंसि वा णिगमंसि वा जाव रायहाणिसिं वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पतइयाणं बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पचउत्थाणं कप्पइ हेमंतगिम्हासु चारए अण्णमण्णं णी(णिरु)साए ॥ १३९ ॥

से गामंसि वा णगरंसि वा णिगमंसि वा जाव रायहाणिसिं वा बहूणं पवत्तिणीणं अप्पचउत्थाणं बहूणं गणावच्छेइणीणं अप्पपंचमाणं कप्पइ वासावासं वत्थए अण्णमण्णं णीसाए ॥ १४० ॥

कठिन शब्दार्थ - पवत्तिणीए - प्रवर्तिनी को, गणावच्छेइणीए - गणावच्छेदिनी को, बहूणं - बहुत सी, णीसाए - निःश्रय (निश्रा) ।

भावार्थ - १३१. हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी को अपने अतिरिक्त एक और साध्वी को साथ लिए अर्थात् दो के रूप में विचरण करना नहीं कल्पता ।

१३२. हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में प्रवर्तिनी को अपने अतिरिक्त दो अन्य साध्वियों को साथ लिए अर्थात् तीन के रूप में विचरण करना कल्पता है ।

१३३. हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को अपने अतिरिक्त दो अन्य साध्वियों को साथ लिए अर्थात् तीन के रूप में विचरण करना नहीं कल्पता ।

१३४. हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में गणावच्छेदिनी को अपने अतिरिक्त तीन और अन्य साध्वियों को साथ लिए अर्थात् चार के रूप में विचरण करना कल्पता है।

१३५. वर्षावास में - चातुर्मास्य में प्रवर्तिनी को अपने अतिरिक्त दो अन्य साध्वियों को साथ लिए अर्थात् तीन के रूप में वास करना - रहना नहीं कल्पता।

१३६. वर्षावास - चातुर्मास्य में प्रवर्तिनी को अपने अतिरिक्त तीन अन्य साध्वियों को साथ लिए अर्थात् चार के रूप में वास करना - रहना कल्पता है।

१३७. वर्षावास - चातुर्मास्य में गणावच्छेदिनी को अपने अतिरिक्त तीन अन्य साध्वियों को साथ लिए अर्थात् चार के रूप में वास करना - रहना नहीं कल्पता।

१३८. वर्षावास - चातुर्मास्य में गणावच्छेदिनी को अपने अतिरिक्त चार अन्य साध्वियों को साथ लिए अर्थात् पाँच के रूप में वास करना - रहना कल्पता है।

१३९. हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में ग्राम, नगर, निगम एवं राजधानी में बहुत-सी प्रवर्तिनियों को अपनी-अपनी निश्रा में दो-दो साध्वियों को साथ लिए हुए अर्थात् तीन के रूप में तथा बहुत सी गणावच्छेदिनियों को अपनी-अपनी निश्रा में तीन-तीन साध्वियों को लिए हुए अर्थात् चार-चार के रूप में विचरण करना कल्पता है।

१४०. वर्षावास में ग्राम, नगर, निगम यावत् राजधानी में बहुत-सी प्रवर्तिनियों को अपनी-अपनी निश्रा में तीन-तीन साध्वियों को लिए हुए तथा बहुत-सी गणावच्छेदिनियों को अपनी-अपनी निश्रा में चार-चार साध्वियों को लिए वास करना - रहना कल्पता है।

विवेचन - साधु-समुदाय में जिस प्रकार अनुशासन, व्यवस्था, विकास आदि की समीचीनता की दृष्टि से प्रवर्तक और गणावच्छेदक के पद हैं, उसी प्रकार साध्वी-समुदाय में प्रवर्तिनी एवं गणावच्छेदिनी के पद हैं। साधु समुदाय में प्रवर्तक और गणावच्छेदक का जो दायित्व है, वैसा ही साध्वी-समुदाय में प्रवर्तिनी तथा गणावच्छेदिनी का है।

इन सूत्रों में प्रवर्तिनी एवं गणावच्छेदिनी के विचरण तथा चातुर्मासिक प्रवास में सहवर्तिनी साध्वियों की संख्या के संबंध में निर्देश किया गया है। जहाँ सामान्य साध्वी को एक अन्य साध्वी को साथ लिए विचरने, चातुर्मासिक प्रवास करने का विधान है, वहाँ प्रवर्तिनी के लिए अपने अतिरिक्त दो अन्य साध्वियों को साथ लिए विचरने का तथा तीन अन्य साध्वियों को साथ लिए चातुर्मासिक प्रवास करने का विधान है। प्रवर्तिनी के पद के दायित्व और गरिमा की दृष्टि से ऐसा किया गया है।

गणावच्छेदिनी, प्रवर्तिनी के दायित्व-निर्वाह में विशेष सहायिका होती है। उसका कार्य क्षेत्र साध्वी संघ के संरक्षण, संवर्धन आदि की दृष्टि से गणावच्छेदक की तरह व्यापक होता है। वह प्रवर्तिनी के आदेशानुसार साध्वियों की व्यवस्था, वैयावृत्य, प्रायश्चित्त इत्यादि सभी कार्यों का पर्यवेक्षण करती है। अत एव प्रवर्तिनी की अपेक्षा गणावच्छेदिनी के विचरने में एवं चातुर्मासिक प्रवास में एक-एक अधिक साध्वी रखने का निर्देश किया गया है। इससे गणावच्छेदिनी को साध्वी-समुदाय का हित एवं उन्नयन करने में अपेक्षाकृत अनुकूलता रहती है।

व्यवहार सूत्र उद्देशक ३ के पहले दूसरे सूत्र एवं उद्देशक ४ के ११-१२वें सूत्र के अनुसार स्वतंत्र विचरने के लिए न्यूनतम तीन वर्ष की दीक्षा पर्याय एवं आचारांग, निशीथ की जानकारी समझी जाती है। आठवें ठाणे में आठ गुणों का धारक व्यक्ति ही एकल विहार पडिमा स्वीकार कर सकता है। इससे साधारणतया कम से कम दो साधु तो होने ही चाहिए। व्यवहार सूत्र के चौथे उद्देशक में जो आचार्य उपाध्याय के लिए शेषकाल में एकाकी विचरण का निषेध किया है। इसके फलितार्थ से जो शेष साधुओं का एकाकी विचरण सिद्ध होता है वह ठाणांग सूत्र के अनुसार साधारण नहीं समझ कर कारणिक समझना चाहिए। अर्थात् सेवा आदि के प्रसंगों पर साधु तो अकेला जा सकता है। किन्तु आचार्य उपाध्याय अकेले नहीं जा सकते। ऐसा इस सूत्र का अर्थ समझा जाता है। यही स्थिति ५वें उद्देशक में वर्णित प्रवर्तिनी के लिए भी समझी जाती है। अर्थात् साधारण साध्वियाँ सेवा आदि प्रसंगों पर दो जा सकती है। किन्तु प्रवर्तिनी सेवा आदि प्रसंगों पर भी दो रूप में नहीं जा सकती। इससे स्पष्ट हुआ कि - 'सेवा आदि कारणों के बिना साधारणतया तीन से कम साध्वियाँ नहीं विचर सकती है।'

संघाटकप्रमुखा का देहावसान होने पर साध्वी का विधान

गामाणुगामं दूइज्जमाणी णिगंथी य जं पुरओ काउं विहरइ सा आहच्च वीसंभेज्जा, अत्थि या इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियव्वा, णत्थि या इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ सा एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अण्णाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, णो सा कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ सा तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि णिट्ठियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जे ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं सा

कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो सा कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ, सा संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१४१॥

वासावासं पज्जोसविया णिगंथी य जं पुरओ काउं विहरइ सा आहच्च वीसंभेजा, अत्थि या इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा सा उवसंपज्जियच्चा, णत्थि या इत्थ काइ अण्णा उवसंपज्जणारिहा तीसे य अप्पणो कप्पाए असमत्ते कप्पइ सा एगराइयाए पडिमाए जण्णं जण्णं दिसं अण्णाओ साहम्मिणीओ विहरंति तण्णं तण्णं दिसं उवलित्तए, णो सा कप्पइ तत्थ विहारवत्तियं वत्थए, कप्पइ सा तत्थ कारणवत्तियं वत्थए, तंसि च णं कारणंसि णिद्धियंसि परो वएज्जा-वसाहि अज्जे ! एगरायं वा दुरायं वा, एवं सा कप्पइ एगरायं वा दुरायं वा वत्थए, णो सा कप्पइ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वत्थए, जं तत्थ परं एगरायाओ वा दुरायाओ वा वसइ, सा संतरा छेए वा परिहारे वा ॥१४२॥

कठिन शब्दार्थ - उवसंपज्जणारिहा - उपसंपन्नता - अग्रणी पद के योग्य, साहम्मिणीओ - साधर्मिणियाँ, अज्जे - हे आर्ये!

भावार्थ - १४१. ग्रामानुग्राम विहार करती हुई निर्ग्रन्थिनियाँ, जिसको अपनी प्रमुखा या अग्रणिणी मानकर विहार करती हों यदि अग्रणिणी का आयुक्षय होने से देहावसान हो जाए तो वहाँ अवशिष्ट अन्य निर्ग्रन्थिनी अग्रणिणी - प्रमुखा के पद योग्य हो तो उसे उस पद पर मनोनीत करना चाहिए।

यदि वहाँ अवशिष्ट अन्य साध्वी अग्रणिणी के पद योग्य न हो और अवशिष्ट साध्वी ने स्वयं भी अपना कल्प - निशीथ आदि का अध्ययन समाप्त न किया हो तो उसे मार्ग में एक-एक रात रुकते हुए जिस-जिस दिशा में अन्य साधर्मिणी साध्वियाँ विचरणशील हों उस-उस दिशा में जाए।

मार्ग में उसे विहारवर्तित्व - धर्म प्रसार आदि के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता।

इग्नता आदि किसी विवशतापूर्ण कारण के होने से ठहरना कल्पता है।

इग्नता आदि कारण के समाप्त होने पर यदि कोई चिकित्सक आदि विशिष्टजन कहें - हे आर्ये! एक या दो रात और ठहरो तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु

एक रात या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता। जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है, वह मर्यादोल्लंघन रूप दोष के कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त की भागिनी होती है।

१४२. वर्षावास में प्रवास करती हुई साध्वी, जिसको अग्रणिणी या प्रमुखा मानकर रह रही हो, उसका देहावसान हो जाए तो वहाँ अवशिष्ट अन्य साध्वी अग्रणिणी पद के योग्य हो तो उसे उस पद पर मनोनीत करना चाहिए।

यदि वहाँ अवशिष्ट अन्य साध्वी अग्रणिणी के पद योग्य न हो और अवशिष्ट साध्वी ने स्वयं भी अपना कल्प - निशीथ आदि का अध्ययन समाप्त न किया हो तो उसे मार्ग में एक-एक रात रुकते हुए जिस-जिस दिशा में अन्य साधर्मिणी साध्वियां विचरणशील हों, उस-उस दिशा में जाए।

मार्ग में उसे विहारवर्तित्व - धर्म-प्रसार आदि के लक्ष्य से ठहरना नहीं कल्पता।

रुग्णता आदि किसी विघ्नतापूर्ण कारण के होने से ठहरना कल्पता है।

रुग्णता आदि कारण के समाप्त होने पर यदि कोई चिकित्सक आदि विशिष्टजन कहें - हे आर्ये! एक या दो रात और ठहरो तो उसे एक या दो रात और ठहरना कल्पता है। किन्तु एक या दो रात से अधिक ठहरना नहीं कल्पता। जो साध्वी एक या दो रात से अधिक ठहरती है, वह मर्यादोल्लंघन रूप दोष के कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त की भागिनी होती है।

विवेचन - चौथे उद्देशक में ग्रामानुग्राम विहरणशील तथा वर्षावास में स्थित साधुओं के संदर्भ में अग्रणी-विषयक जो वर्णन आया है, वही वर्णन यहाँ ग्रामानुग्राम विहरणशील और वर्षावास में अवस्थित साध्वियों के संदर्भ में अग्रणिणी या अग्रगण्या के विषय में आया है। दोनों का आशय एक जैसा है।

प्रवर्तिनी द्वारा निर्देशित पद : करणीयता

पवत्तिणी य गिलायमाणी अण्णयरं वएज्जा-मए णं अज्जे ! कालगयाए समाणीए इयं समुक्कसियव्वा, सा य समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, सा य णो समुक्कसणारिहा णो समुक्कसियव्वा, अत्थि या इत्थ अण्णा काइ समुक्कसणारिहा सा समुक्कसियव्वा, णत्थि या इत्थ अण्णा काइ समुक्कसणारिहा सा चेव

समुक्कसियव्वा, ताए व णं समुक्कट्टाए परो वएज्जा-दुस्समुक्कट्टं ते अज्जे !
णिक्खिवाहि ताए णं णिक्खिवामाणेण एत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जाओ
साहम्मिणीओ अहाकप्पं णो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे
वा ॥ १४३ ॥

पवत्तिणी य ओहायमाणी अण्णयरं वएज्जा-मए णं अज्जे ! ओहावियाए समाणीए
इयं समुक्कसियव्वा, सा य समुक्कसणारिहा समुक्कसियव्वा, सा य णो
समुक्कसणारिहा णो समुक्कसियव्वा, अत्थि या इत्थ अण्णा काइ समुक्कसणारिहा
सा समुक्कसियव्वा, एत्थि या इत्थ अण्णा काइ समुक्कसणारिहा सा चेव
समुक्कसियव्वा, ताए व णं समुक्कट्टाए परो वएज्जादुस्समुक्कट्टं ते अज्जे !
णिक्खिवाहि ताए णं णिक्खिवामाणेण एत्थि केइ छेए वा परिहारे वा, जाओ
साहम्मिणीओ अहाकप्पं णो उट्ठाए विहरंति सव्वासिं तासिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे
वा ॥ १४४ ॥

भावार्थ - १४३. रोगग्रस्त प्रवर्तिनी किसी अन्य - विशिष्ट साध्वी से कहे - हे आर्ये!
मेरे कालगत हो जाने पर इस - अमुक साध्वी को मेरे पद पर प्रस्थापित कर देना।

यदि प्रवर्तिनी द्वारा निर्दिष्ट साध्वी उस पद पर मनोनीत किए जाने योग्य हो तो उसे
उस पद पर मनोनीत करना चाहिए।

यदि वह पद के योग्य न हो तो उसे पद पर मनोनीत नहीं करना चाहिए।

वहाँ - उस समुदाय में कोई दूसरी साध्वी पर के योग्य हो तो उसे पद पर स्थापित
करना चाहिए।

यदि दूसरी कोई साध्वी पद योग्य न हो तो उसी (प्रवर्तिनी द्वारा निर्दिष्ट) साध्वी को
पद पर प्रस्थापित करना चाहिए।

उसे पद पर स्थापित करने पर कोई अन्य स्थविरा (विज्ञा) साध्वी कहे - आर्ये! तुम
इस पद के योग्य नहीं हो, अतः इस पद से हट जाओ - पद का त्याग कर दो। ऐसा कहे
जाने पर वह (पद पर नियुक्त) साध्वी यदि पद को छोड़ देती है तो उसे दीक्षा-छेद या
परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता है।

साधर्मिक साध्वियाँ यदि उस (पद पर मनोनीत) साध्वी को पद से हटने का न कहे तो

वे साधर्मिक साध्वियाँ उस कारण से दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त की भागिनी होती हैं।

१४४. मोह या परीषहादिवश संयम का त्याग कर जाने वाली प्रवर्तिनी किसी अन्य - विशिष्ट साध्वी से कहे - हे आर्ये! मेरे संयम त्यागकर चले जाने पर इस - अमुक साध्वी को मेरे पद पर प्रस्थापित कर देना।

यदि प्रवर्तिनी द्वारा निर्दिष्ट साध्वी उस पद पर मनोनीत किए जाने योग्य हो तो उसे उस पद पर मनोनीत करना चाहिए।

यदि वह पद के योग्य न हो तो उसे पद पर मनोनीत नहीं करना चाहिए।

वहाँ - उस समुदाय में कोई दूसरी साध्वी पद के योग्य हो तो उसे पद पर स्थापित करना चाहिए।

यदि दूसरी कोई साध्वी पद योग्य न हो तो उसी (प्रवर्तिनी द्वारा निर्दिष्ट) साध्वी को पद पर प्रस्थापित करना चाहिए।

उसे पद पर स्थापित करने पर कोई अन्य स्थविरा (विज्ञा) साध्वी कहे - हे आर्ये! तुम इस पद के योग्य नहीं हो, अतः इस पद से हट जाओ - पद का त्याग कर दो। ऐसा कहे जाने पर वह (पद पर नियुक्त) साध्वी यदि पद को छोड़ देती है तो उसे दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता।

साधर्मिक साध्वियाँ यदि उस (पद पर मनोनीत) साध्वी को पद से हटने का न कहें तो साधर्मिक साध्वियाँ उस कारण से दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त की भागिनी होती हैं।

विवेचन - चतुर्थ उद्देशक में रोगग्रस्त आचार्य या उपाध्याय के द्वारा अपने देहावसान के पश्चात् तथा मोह, परीषहादिवश संयम त्याग कर जाने वाले आचार्य या उपाध्याय द्वारा अपने पद पर अन्य साधु को नियुक्त करने के संदर्भ में दिए गए निर्देश पर करणीयता के संबंध में जो वर्णन आया है, वैसा ही वर्णन यहाँ रोगग्रस्त प्रवर्तिनी द्वारा अपने मरणोपरान्त और मोह, परीषहादिवश संयम त्यागने के अनन्तर अन्य साध्वी को पद देने के विषय में करणीय के संबंध में विवेचन हुआ है।

दोनों का आशय एक ही है। पूर्वतन वर्णन का संबंध आचार्य या उपाध्याय से है, इस वर्णन का संबंध प्रवर्तिनी से है। मात्र इतना सा अन्तर है।

आचारप्रकल्प के भूल जाने पर पद-मनोनयन-विषयक प्रतिपादन

णिग्गंथस्स णवडहरतरुणस्स आयारपकप्पे णामं अञ्जयणे परिब्भट्टे सिया, से य पुच्छियव्वे, केण ते अज्जो ! कारणेणं आयारपकप्पे णामं अञ्जयणे परिब्भट्टे, किं आबाहेणं पमाएणं? से य वएज्जा-णो आबाहेणं पमाएणं, जावज्जीवं तस्स तप्पत्तियं णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, से य वएज्जा-आबाहेणं णो पमाएणं, से य संठवेस्सामीति संठवेज्जा, एवं से कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, से य संठवेस्सामीति णो संठवेज्जा, एवं से णो कप्पइ आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १४५ ॥

णिग्गंथीए (णं) णवडहरतरुणाए आयारपकप्पे णामं अञ्जयणे परिब्भट्टे सिया, सा य पुच्छियव्वा, केण भे कारणेणं आयारपकप्पे णामं अञ्जयणे परिब्भट्टे किं आबाहेणं पमाएणं? सा य वएज्जा - णो आबाहेणं पमाएणं, जावज्जीवं तीसे तप्पत्तियं णो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, सा य वएज्जा - आबाहेणं णो पमाएणं, सा य संठवेस्सामीति संठवेज्जा, एवं से कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, सा य संठवेस्सामीति णो संठवेज्जा, एवं से णो कप्पइ पवत्तिणित्तं वा गणावच्छेइणित्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १४६ ॥

कठिन शब्दार्थ - आयारपकप्पे - आचारप्रकल्प - आचारांग एवं निशीथ, अञ्जयणे - अध्ययन, परिब्भट्टे - परिभ्रष्ट - विस्मृत, आबाहेणं - किसी बाधक या विघ्नकारक कारण द्वारा, पमाएणं - प्रमाद द्वारा, संठवेस्सामि - संस्थापित कर लूंगा - स्मरण कर लूंगा, संठवेज्जा - स्मरण कर ले।

भावार्थ - १४५. नवदीक्षित-बाल-युवा भिक्षु को यदि आचारप्रकल्पाध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछा जाए -

हे आर्य! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प नामक अध्ययन को विस्मृत किए हुए हो - भूल गए हो, क्या किसी बाधक कारण से भूले हो या प्रमाद से भूले हो?

वह यदि कहे - बाधक कारण से नहीं, प्रमाद से विस्मृत हुआ है तो उस कारण से जीवनभर के लिए उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

वह यदि कहे - बाधक कारण से विस्मृत हुआ है, प्रमाद से नहीं। वह कहे कि अब मैं इसे पुनः स्मरण कर लूंगा, तदनुसार स्मरण कर ले तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना कल्पता है।

मैं पुनः याद कर लूंगा, ऐसा कहकर भी यदि वह याद न कर पाए तो उसे आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

१४६. नवदीक्षिता-बालिका-युवती साध्वी से यदि आचारप्रकल्पाध्ययन विस्मृत हो जाए तो उसे पूछा जाए -

हे आर्ये! तुम किस कारण से आचारप्रकल्प नामक अध्ययन को विस्मृत किए हुए हो - भूल गई हो, क्या किसी बाधक कारण से भूली हो या प्रमाद से भूली हो?

वह यदि कहे - बाधक कारण से नहीं, प्रमाद से विस्मृत हुआ है तो उस कारण से उसे जीवनभर के लिए प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी (गणावच्छेदिका) पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

वह यदि कहे - बाधक कारण से विस्मृत हुआ है, प्रमाद से नहीं। वह कहे कि अब मैं इसे पुनः स्मरण कर लूंगी, तदनुसार स्मरण कर ले तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिका पद देना, धारण करना कल्पता है।

मैं पुनः याद कर लूंगी, ऐसा कहकर भी वह याद न कर पाए तो उसे प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी पद देना, धारण करना नहीं कल्पता।

विवेचन - श्रमण-जीवन में, जैसा अनेक स्थानों पर वर्णन आया है, आचार की शुद्धता सर्वोपरी है। दैनन्दिन कार्यों में, सभी प्रवृत्तियों में असावद्य का वर्जन हो, शुद्धिचर्या का पालन हो। इसके लिए तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय तक आचारप्रकल्प को स्मरण - कंठस्थ कर लेना आवश्यक है।

आचारप्रकल्प के अन्तर्गत आचारांग सूत्र एवं निशीथसूत्र का समावेश है। इसमें साध्वाचार-विषयक विभिन्न प्रवृत्तियों का विवेचन, विश्लेषण है। संयमचर्या में राग-मोहादिवश कदापि कोई स्खलना न हो, दोष-व्याप्ति न हो, इस दिशा में प्रत्येक श्रमण-श्रमणी को जागरूक रहना अपेक्षित है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उन्हें आचारप्रकल्प भलीभाँति कण्ठस्थ रहे, जिससे प्रत्येक क्रिया में मार्गदर्शन प्राप्त होता रहे, शुद्धि व्याप्त रहे।

आचारप्रकल्प का विस्मृत हो जाना दोष है। इन सूत्रों में बाधक हेतु तथा प्रमाद के रूप में विस्मृति के दो कारणों का उल्लेख है। बाधक हेतु का तात्पर्य रुग्णता आदि ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें साधु-साध्वियों को सूत्र पाठ की आवृत्ति करने में कठिनाई होती है या आवृत्ति करना संभव नहीं होता, यह विवशतापूर्ण स्थिति है। आचारप्रकल्प को पुनः स्मरण - कण्ठस्थ करने का संकल्प कर, यथावत् रूप में स्मरण कर लेने से इस स्थिति का अपाकरण हो जाता है, कमी दूर हो जाती है।

प्रमाद का तात्पर्य अनवधानता, असावधानी या लापरवाही है, जो अक्षम्य अपराध है। इसीलिए वैसा व्यक्ति संघ में उच्च पदों का कभी अधिकारी नहीं हो सकता। यदि कोई साधु इस दोष का भागी हो तो वह जीवनभर के लिए आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद के योग्य नहीं होता। यदि साध्वियाँ इस दोष की भागिनी हों तो वह आजीवन प्रवर्तिनी या गणावच्छेदिनी (गणावच्छेदिका) पद की अधिकारिणी नहीं होतीं।

इन सूत्रों का आशय यह है कि जीवन में आचार के साथ-साथ ज्ञान भी आवश्यक है। ज्ञान को चक्षु एवं आचार को चरण कहा गया है। ज्ञान के आलोक में शुद्ध क्रिया उत्तरोत्तर गतिशीलता प्राप्त करती है। इसी कारण आचारप्रकल्प का अध्ययन, श्रमण-श्रमणियों को सर्वथा कण्ठाग्र, स्वायत्त रहे, यह आवश्यक है।

स्थविर हेतु आचारप्रकल्प की पुनरावृत्ति का विधान

शेराणं शेरभूमिपत्ताणं आचारपकप्पे णामं अज्झयणे परिब्भट्टे सिया, कप्पइ तेसिं संठवेत्ताण वा असंठवेत्ताण वा आयरियत्तं वा जाव गणावच्छेइयत्तं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १४७ ॥

शेराणं शेरभूमिपत्ताणं आचारपकप्पे णामं अज्झयणे परिब्भट्टे सिया, कप्पइ तेसिं संणिसण्णाण वा संतुयट्ठाण वा उत्ताणयाण वा पासिल्लयाण वा आचारपकप्पं णामं अज्झयणं दोच्चं पि तच्चं पि पडिपुच्छित्तए वा पडिसारेत्तए वा ॥ १४८ ॥

कठिन शब्दार्थ - शेरभूमिपत्ताणं - स्थविरभूमिप्राप्त - वृद्धावस्था युक्त, संठवेत्ताण-स्थापयितान - पुनः स्मरण, कण्ठस्थ करते हुए, संणिसण्णाण - सन्निधीधमान - बैठे हुए, संतुयट्ठाण - करवट लेते हुए या सोते हुए, उत्ताणयाण - उत्तानक - उत्तान आसन में सोये हुए या हृदय भाग को ऊपर कर सोये हुए, पासिल्लयाण - पार्श्वशयान - पार्श्व भाग से या

करवट के बल सोये हुए, दोच्चं पि तच्चं पि - दो-तीन बार, पडिपुच्छित्तए - परिपुच्छा करे - पूछे, पडिसारेत्तए - प्रतिसारना - पुनरावृत्ति करे।

भावार्थ - १४७. वृद्धावस्था प्राप्त स्थविरों को यदि आचारप्रकल्पाध्ययन विस्मृत हो जाए और यदि वे फिर उसे स्मरण कर पाए या न कर पाए तो भी उनको आचार्य यावत् गणावच्छेदक पद देना, धारण करना कल्पता है।

१४८. वृद्धावस्था प्राप्त स्थविरों को यदि आचारप्रकल्पाध्ययन विस्मृत हो जाए तो उन्हें बैठे हुए, करवट लेते हुए - सोते हुए, उत्तानासन में स्थित होते हुए, करवट के बल सोते हुए आचारप्रकल्प नामक अध्ययन को दो बार - तीन बार (आचार्य या उपाध्याय से) पूछना, पुनरावृत्त करना कल्पता है।

विवेचन - स्थविर शब्द का तात्पर्य अध्ययन, अनुभव, साधना आदि के अतिरिक्त मुख्यतः अवस्था के साथ जुड़ा हुआ है। भाष्यकार ने उनहत्तर (६९) वर्ष से ऊपर की आयु के भिक्षु को स्थविर बताया है। स्थानांग सूत्र एवं इसी (व्यवहार सूत्र) के दशम उद्देशक में उनसठ (५९) वर्ष से ऊपर की आयु के भिक्षु को स्थविर के रूप में परिभाषित किया गया है।

वृद्धावस्था में सामान्यतः स्मरणशक्ति कम हो जाती है तथा शरीर भी दुर्बल हो जाता है। वैसी स्थिति में स्थविरों को यदि आचार-प्रकल्प विस्मृत हो जाए तो भी उनका महत्त्व कम नहीं आंका जाता। वे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, गणावच्छेदक आदि पद के लिए योग्य माने जाते हैं।

यदि वे विस्मृत आचारप्रकल्पाध्ययन को पुनः स्मरण करें तो उनके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वे सुखासन आदि में बैठकर ही वैसा करें। वे बैठे हुए, सोए हुए, करवट लेते हुए आदि जैसी भी शारीरिक अनुकूलता हो, वैसी स्थिति में आचार्य या उपाध्याय से दो बार - तीन बार पूछते हुए आचारप्रकल्पाध्ययन की पुनरावृत्ति कर सकते हैं। यह आपवादिक विधान है।

पारस्परिक आलोचना-विषयक विधि-निषेध

जे णिगंथा या णिगंथीओ य संभोइया सिया, णो ण्हं कप्पइ अण्णमण्णस्स अंतिए आलोएत्तए, अत्थि या इत्थ ण्हं केइ आलोयणारिहे, कप्पइ ण्हं तस्स अंतिए आलोइत्तए, णत्थि या इत्थ ण्हं केइ आलोयणारिहे, एव ण्हं कप्पइ अण्णमण्णस्स अंतिए आलोएत्तए ॥ १४९ ॥

कठिन शब्दार्थ - संभोइया - सांभोगिक - उपधि आदि वस्तुओं के पारस्परिक

आदान-प्रदान के व्यवहार से संबद्ध, अंतिए - समीप, आलोयणारिहे - आलोचनाई - आलोचना सुनने योग्य।

भावार्थ - १४९. जो साधु-साध्वी परस्पर उपधि आदि के लेन-देन के व्यवहार से संबद्ध हों, उन्हें परस्पर एक दूसरे से आलोचना करना नहीं कल्पता।

यदि वहाँ (स्वपक्ष में) कोई आलोचना सुनने योग्य हो तो उसके समक्ष आलोचना करना कल्पता है।

यदि वहाँ (स्वपक्ष में) कोई आलोचना सुनने योग्य न हो तो उन्हें - साधु-साध्वियों को परस्पर आलोचना करना कल्पता है।

विवेचन - संयम के शुद्धिपूर्वक परिपालन, परिरक्षण के लिए जैन धर्म में आलोचना (आलोयणा) का विशेष रूप से विधान किया गया है। 'आ' उपसर्ग, 'लोच्' धातु तथा 'ल्युट्' प्रत्यय के योग से आलोचना शब्द निष्पन्न होता है। "आ - समन्तात्, लोच्यते-दृश्यते यत्र, सा आलोचना।" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जहाँ व्यापक रूप में सूक्ष्मतापूर्वक प्रेक्षण किया जाता है, अपने द्वारा प्रतिसेवित प्रवृत्तियों के गुणावगुण को परखा जाता है, अपनी कमियों का अंकन किया जाता है, उनके लिए मन ही मन खेद अनुभव किया जाता है, वह आलोचना है। साधक के लिए ऐसा करना परम आवश्यक है। क्योंकि ज्ञात-अज्ञात रूप में हुई त्रुटियों का इससे परिमार्जन होता है, दोषों का प्रक्षालन होता है। बहिर्भाव में गत आत्मा स्वभाव में प्रत्यागत होती है।

आलोचना में योग्य व्यक्ति का साक्ष्य आवश्यक माना गया है, क्योंकि ऐसा होने से पुनः बहिर्भाव में गमन की आशंका नहीं रहती। साधु-साध्वियों के पारस्परिक आलोचना-विषयक विधि-निषेध का जो यहाँ वर्णन किया गया है, वह नैश्चयिक और व्यावहारिक - दोनों दृष्टियों से बहुत उपयोगी है।

पारस्परिक सेवा-विषयक विधि-निषेध

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, णो एहं कप्पइ अण्णमण्णेणं वेयावच्चं कारवेत्तए, अत्थि याइं एहं केइ वेयावच्चकरे कप्पइ एहं तेणं वेयावच्चं कारवेत्तए, णत्थि याइं एहं केइ वेयावच्चकरे एव एहं कप्पइ अण्णमण्णेणं वेयावच्चं कारवेत्तए ॥ १५० ॥

कठिन शब्दार्थ - कारवेत्तए - कराना, वैयावच्चकरे - वैयावृत्य कर - सेवा-परिचर्या करने वाला या सेवा-परिचर्या करने वाली।

भावार्थ - १५०. जो साधु-साध्वी उपधि आदि वस्तुओं के परस्पर लेन-देन से संबद्ध हों उन्हें परस्पर सेवा-परिचर्या कराना नहीं कल्पता।

यदि अपने पक्ष में कोई सेवा-परिचर्या करने वाला साधु या सेवा-परिचर्या करने वाली साध्वी हो तो उसी से वैयावृत्य करवाना कल्पता है।

यदि अपने पक्ष में कोई वैयावृत्य करने वाला या करने वाली न हो तो उन्हें - साधु-साध्वियों को परस्पर एक-दूसरे से वैयावृत्य कराना कल्पता है।

विवेचन - यद्यपि साधु और साध्वियाँ अपना-अपना कार्य स्वयं अपने हाथों से ही करें, ऐसा विधान है। क्योंकि उनका जीवन स्वावलम्बिता एवं आत्म-निर्भरता पर अवस्थित होता है, किन्तु यदि शरीर में रुग्णता, अस्वस्थता या दुर्बलता आ जाए तो व्यक्ति के लिए अपने दैनन्दिन कार्य स्वयं कर पाना कठिन होता है, किसी अन्य से सहयोग या सेवा लेना आवश्यक होता है। इस संबंध में यहाँ जो वर्णन आया है, वह साधना की पवित्रता और व्यवहार की समीचीनता की दृष्टि से बड़ा उपादेय है।

साधुओं में यदि कोई साधु बीमार हो जाए, अपने रोजमर्रा के काम करने में अशक्त हो जाए तो वह साधुओं में से ही किसी से, जो सेवा करने में सक्षम हो, निपुण हो, सेवा ले, साध्वियों में से किसी से नहीं, क्योंकि ऐसा होने से पारस्परिक संपर्क और सामीप्य बढ़ता है, जो मोहोत्पत्ति का हेतु बन सकता है। लोक-व्यवहार में भी लिंगभेद के कारण यह समुचित प्रतीत नहीं होता।

यही बात साध्वियों पर भी लागू है। उनमें भी कोई अशक्त, अस्वस्थ हो जाए तो वह साध्वियों में से ही, जो सेवा करने में सक्षम हो, निपुण हो, उसी से सेवा ले साधु से नहीं।

यदि ऐसी स्थितियाँ न हों, स्वपक्ष में कोई ऐसा न हो, जो सेवा करने में दक्ष हो, निपुणतापूर्वक परिचर्या कर सके तो अपवाद के रूप में साधु-साध्वियों से वैयावृत्य करा सकते हैं तथा साध्वियाँ - साधुओं से वैयावृत्य करा सकती हैं।

सांप इस जाने पर उपचार-विषयक विधान

णिगंथं च णं राओ वा वियाले वा दीहपट्टो लूसेजा, इत्थी वा पुरिसस्स ओमावेजा
पुरिसो वा इत्थीए ओमावेजा, एवं से कप्पइ, एवं से चिद्धइ, परिहारं च से ण(णो)

पाउण्ड - एस कप्पे शेरकप्पियाणं, एवं से णो कप्पइ, एवं से णो चिट्ठइ, परिहारं च से पाउण्ड-एस कप्पे जिणकप्पियाणं ॥ १५१ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ व्यवहारस्स पंचमो उद्देशओ समत्तो ॥ ५ ॥

कठिन शब्दार्थ - राओ - रात्रि में, वियाले - विकाल में - संध्या समय में, दीहपट्टो - सर्प, लूसेज्जा - डस जाए, इत्थी - स्त्री, पुरिसस्स - पुरुष, ओमावेज्जा - अपमार्जित करे - उपचार करे, चिट्ठइ - स्थित होता है, पाउण्ड - प्राप्त करता है, शेरकप्पियाणं - स्थविरकल्पियों का, कप्पे - कल्प-आचार विधि या आचार मर्यादा, जिणकप्पियाणं - जिनकल्पियों का।

भावार्थ - १५१. यदि किसी साधु या साध्वी को रात में या संध्या समय में सांप काट ले तो स्त्री - साधु का तथा पुरुष साध्वी का औषधि या मंत्रादि द्वारा उपचार करे तो ऐसा करना उन्हें कल्पता है। ऐसी स्थिति में उनका साधुत्व यथावत् - शुद्ध या निर्दोष रहता है और वे परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त के भागी नहीं होते। यह स्थविरकल्पियों की आचार-विधि है।

जिनकल्पियों की आचार-विधि में ऐसा उपचार कराना नहीं कल्पता है। वैसा कराने से उन्हें परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - साधु-साध्वियों के शरीर को संयम का उपकरण माना गया है। वह आध्यात्मिक साधना, आत्मोपासना एवं व्रताराधना या साधन का माध्यम है। इसलिए उसका संरक्षण आवश्यक है।

सर्पदंश का यदि तत्काल उपचार न किया जाए तो सर्पदष्ट व्यक्ति की अतिशीघ्र मृत्यु हो सकती है। इसलिए अपवाद दृष्टि से यहाँ स्थविरकल्पी साधु को किसी स्त्री से और साध्वी को किसी पुरुष से उपचार कराना वर्जित नहीं है। वैसा कराने में उसे दोष नहीं लगता। उसका संयम यथावत् पवित्र तथा दोषशून्य बना रहता है। किन्तु जिनकल्प की साधना में यह स्वीकृत नहीं है। वहाँ यदि कोई ऐसा कराए तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है।

॥ व्यवहार सूत्र का पांचवां उद्देशक समाप्त ॥

छट्टो उद्देशओ - षष्ठ उद्देशक

स्वजनों के घर भिक्षा आदि हेतु जाने के संबंध में विधि-निषेध

भिक्षू य इच्छेज्जा णायविहं एत्तए, णो से कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता णायविहं एत्तए, कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता णायविहं एत्तए, थेरा य से वियरेज्जा, एवं से कप्पइ णायविहं एत्तए, थेरा य से णो वियरेज्जा, एवं से णो कप्पइ णायविहं एत्तए, जे तत्थ थेरेहिं अविइण्णे णायविहं एइ, से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ १५२ ॥

णो से कप्पइ अप्पसुयस्स अप्पागमस्स एगाणियस्स णायविहं एत्तए ॥ १५३ ॥

कप्पइ से जे तत्थ बहुस्सुए बब्भागमे तेण सद्धिं णायविहं एत्तए ॥ १५४ ॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे, कप्पइ से चाउलोदणे पडिग्गाहेत्तए, णो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिग्गाहेत्तए ॥ १५५ ॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिग्गाहेत्तए, णो से कप्पइ चाउलोदणे पडिग्गाहेत्तए ॥ १५६ ॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पुव्वाउत्ते कप्पइ से दो वि पडिग्गाहेत्तए ॥ १५७ ॥

तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ते णो से कप्पइ दो वि पडिग्गाहेत्तए ॥ १५८ ॥

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥ १५९ ॥

जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते णो से कप्पइ पडिग्गाहेत्तए ॥ १६० ॥

कठिन शब्दार्थ - णायविहं - ज्ञातविधि - माता-पिता, सास-ससुर आदि पारिवारिकजन, एत्तए - जाना, वियरेज्जा - आज्ञा दें, अविइण्णे - आज्ञा न दिये जाने पर, एगाणियस्स - एकाकी का - अकेले का, तेण - उसके, सद्धिं - साथ, तत्थ - वहाँ, पुव्वागमणेणं - आगमन से पूर्व, पुव्वाउत्ते - पहले रंधे हुए - पके हुए, चाउलोदणे - भात, पच्छाउत्ते - पश्चात् रंधी हुई, भिलिंगसूवे - मसूर आदि की दाल, पडिग्गाहेत्तए - प्रतिगृहीत करना - लेना।

भावार्थ - १५२. यदि भिक्षु अपने संसारपक्षीय माता-पिता, सास-ससुर आदि पारिवारिकजनों के यहाँ दर्शन देने, भिक्षा लेने आदि हेतु जाना चाहे तो स्थविरो को पूछे बिना उनके यहाँ जाना नहीं कल्पता।

स्थविरों को पूछ कर ही पारिवारिकजनों के यहाँ दर्शन देने, भिक्षा लेने आदि हेतु जाना कल्पता है।

स्थविर यदि आज्ञा प्रदान करें तो उन्हें पारिवारिकजनों के यहाँ जाना कल्पता है।

स्थविर यदि आज्ञा प्रदान न करें तो उन्हें पारिवारिकजनों के यहाँ जाना नहीं कल्पता।

स्थविरों की आज्ञा प्राप्त हुए बिना जो पारिवारिकजनों के यहाँ जाता है, उसे मर्यादोल्लंघन रूप दोष के कारण दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

१५३. अल्पश्रुत, अल्पआगम भिक्षु का एकाकी - अकेले पारिवारिकजनों के यहाँ जाना नहीं कल्पता।

१५४. बहुश्रुत, बहुआगमवेत्ता भिक्षु के साथ अपने पारिवारिकजनों के यहाँ जाना कल्पता है।

१५५. पारिवारिकजनों के यहाँ उसके - भिक्षु के जाने से पूर्व यदि चावल - भात रंधे हुए - पके हुए हों तथा दाल बाद में रंधी हो तो भिक्षु को चावल लेना कल्पता है, दाल लेना नहीं कल्पता।

१५६. भिक्षु के वहाँ जाने से पूर्व दाल रंधी हुई हो और चावल - भात बाद में रंधे हों तो उसको दाल लेना कल्पता है, चावल लेना नहीं कल्पता।

१५७. उसके वहाँ जाने से पूर्व दोनों ही - चावल एवं दाल, रंधे हुए हों तो उसे दोनों ही लेना कल्पता है।

१५८. दोनों ही - चावल तथा दाल, उसके वहाँ जाने के पश्चात् रंधे हों तो उसे दोनों ही लेना नहीं कल्पता।

१५९. उसके वहाँ जाने से पूर्व जो आहार पका हो, अग्निकाय से - चूल्हे से दूर रखा हो, उसे ही लेना कल्पता है।

१६०. उसके वहाँ जाने के पश्चात् जो आहार पका हो, चूल्हे आदि से दूर रखा हो तो उसे लेना नहीं कल्पता।

विवेचन - इन सूत्रों में भिक्षु (भिक्षु) शब्द के आग य (च) का प्रयोग हुआ है। 'च' शब्द और का वाचक है। व्याकरण में इसे संयोजक कहा जाता है। 'च' का प्रयोग होने के कारण इन सूत्रों में सूचित मर्यादाएँ भिक्षु - साधु के साथ-साथ भिक्षुणी - साध्वी पर भी

लागू होती हैं। वह भी भिक्षु की तरह सूचित मर्यादाओं का पालन करते हुए ही पारिवारिकजनों के यहाँ दर्शन देने, भिक्षा लेने आदि हेतु जा सकती हैं।

'ज्ञा' धातु के आगे 'क्त' प्रत्यय लगाने से 'ज्ञात' बनता है। "ज्ञायते येन - ज्ञापितो वा भवति कोऽपि येन स ज्ञातः।" जिसके द्वारा किसी की पहचान होती है, परिचय प्राप्त होता है, उसे ज्ञात कहा जाता है। पितृ कुल, श्वसुर कुल आदि के द्वारा व्यक्ति की पहचान होती है। इसलिए इन्हें ज्ञात कहा जाता है। अत एव ये पारिवारिक या कौटुम्बिक-जनों के सूचक हैं। उनके यहाँ दर्शन देने, भिक्षा लेने आदि प्रयोजनों से साधु या साध्वी के जाने के संबंध में इन सूत्रों में विधि-निषेध मूलक वर्णन है।

प्रत्येक साधु या साध्वी के लिए सामान्य रूप में यह मर्यादा है कि वे भिक्षा आदि हेतु कहीं भी जाएं, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर आदि की आज्ञा लेकर ही जाएं।

यदि वे अपने पारिवारिकजनों के यहाँ दर्शन देने, भिक्षा लेने आदि हेतु जाना चाहें तो उन्हें गच्छ प्रमुख, स्थविर आदि से विशेष रूप से आज्ञा लेना आवश्यक है।

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि यदि आवश्यकतावश घी, दूध, दही आदि विगय (विकृत - विकारोत्पादक पदार्थ) लेने हेतु जाना चाहें तो भी उन्हें गच्छप्रधान की विशेष रूप से आज्ञा लेनी होती है।

घी, दूध, दही आदि को विगय इसलिए कहा जाता है कि इनका अनावश्यक, निरन्तर, प्रचुर रूप में प्रतिसेवन करने से मनोविकारों की उत्पत्ति आशंकित है, इसलिए शारीरिक दुर्बलता, तपजनित क्षीणता एवं चिकित्सा में पथ्योपयोगिता आदि के कारण ही उनके लिए इनका सेवन विहित है।

श्रमण दीक्षा स्वीकार करने के पश्चात् साधु-साध्वी संसार से सर्वथा पृथक् हो जाते हैं। उनके सभी सांसारिक संबंध समाप्त हो जाते हैं। किन्तु फिर भी मानवीय प्रवृत्ति के कारण किन्हीं के मन में पारिवारिकजनों के निकट संपर्क से मोह उत्पन्न होने की आशंका संभावित है। इसी कारण इन सूत्रों में एकाकी साधु या एकाकिनी साध्वी को स्थविरों से विशेष रूप से आज्ञा लेकर ही जाना कल्पित कहा गया है। आज्ञा के बिना जाना कल्पविरुद्ध माना गया है।

अल्पश्रुत, अल्पागम साधु या साध्वी के लिए यह विधान किया गया है कि वे बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ साधु या साध्वी के साथ ही अपने पारिवारिकजनों के यहाँ जाएँ।

इन सूत्रों में आहार लेने के संबंध में जो विधि-निषेधमूलक वर्णन है, इसका संबंध खास

१०७ आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक पद के गरिमानुरूप विशेष विधान

तौर से औद्देशिक आहार-वर्जन के साथ जुड़ा है। औद्देशिक आहार लेना सावध है, क्योंकि मानसिक, वाचिक, कायिक तथा कृत, कारित, अनुमोदित रूप में साधु समस्त सावध कर्मों का त्याग किए हुए होते हैं। उनके उद्देश्य से जो आहार बना हो, उसमें अव्यक्त रूप में वे अनुमोदना के रूप में समाहित हो जाते हैं। जो आहार साधु या साध्वी के जाने से पूर्व पका हो, अग्निकाय से दूर रखा हो, वही साधु या साध्वी के लिए आदेय है, दूसरा नहीं। इस बात का साधु-साध्वी सदैव ध्यान रखें, जिससे उनका संयम निर्मल, उज्वल बना रहे।

आचार्य, उपाध्याय एवं गणावच्छेदक पद के गरिमानुरूप विशेष विधान

आयरियउवञ्जायस्स गणंसि पंच अइसेसा पणत्ता, तंजहा -

(१) आयरियउवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स पाए णिगिञ्जिय णिगिञ्जिय पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा णो अ(णा)इक्कमइ ॥ १६१ ॥

(२) आयरियउवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स उच्चारपासवणं विगिंचमाणे वा विसोहेमाणे वा णो अइक्कमइ ॥ १६२ ॥

(३) आयरियउवञ्जाए पभू वेयावडियं इच्छा करेज्जा इच्छा णो करेज्ज ॥ १६३ ॥

(४) आयरियउवञ्जाए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अइक्कमइ ॥ १६४ ॥

(५) आयरियउवञ्जाए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अइक्कमइ ॥ १६५ ॥

गणावच्छेइयस्स णं गणंसि दो अइसेसा पणत्ता, तंजहा -

(१) गणावच्छेइए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अइक्कमइ ॥ १६६ ॥

(२) गणावच्छेइए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अइक्कमइ ॥ १६७ ॥

कठिन शब्दार्थ - गणंसि - गण - गच्छ में, अइसेसा - अतिशेष - वैशिष्ट्य या अतिशय, पणत्ता - प्रतिपादित हुए हैं - कहे गए हैं, तंजहा - तद्यथा - वे इस प्रकार हैं, अंतो - भीतर, उवस्सयस्स - उपाश्रय - आवास स्थान के, पाए - पैरों को, णिगिञ्जिय -

णिगिञ्जिय - निगृहीत-निगृहीत कर - पकड़-पकड़ कर, पध्कोडेमाणे - प्रस्फोटित करते हुए - उनमें लगी धूल आदि को दूर करते हुए, पमज्जेमाणे - प्रमार्जित करते हुए - वस्त्र आदि से उन्हें पोंछते हुए, अइक्कमइ - अतिक्रम - उल्लंघन करता है, उच्चारपासवणं - मल-मूत्र, विगिंचमाणे - त्याग करते हुए, विसोहेमाणे - विशुद्धि करते हुए, पभू - प्रभु - समर्थ या शारीरिक सामर्थ्य अथवा शक्ति युक्त, वसमाणे - वास करते हुए, बाहिं - बाहर।

भावार्थ - १६१. गण में आचार्य और उपाध्याय के पांच अतिशेष - वैशिष्ट्य या अतिशय प्रतिपादित हुए हैं, वे इस प्रकार हैं -

(१) आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय के भीतर आए तब वे अपने पैरों को निगृहीत कर उनमें लगी धूल आदि को दूर करते हुए, वस्त्र आदि से पैरों को पोंछते हुए मर्यादा का अतिक्रमण - उल्लंघन नहीं करते।

१६२. (२) आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय के भीतर मल-मूत्र विसर्जित करें, विशुद्धि करें तो उन द्वारा ऐसा किया जाना मर्यादा का उल्लंघन नहीं माना जाता।

१६३. (३) आचार्य या उपाध्याय शारीरिक दृष्टि से समर्थ होते हुए भी यदि वैयावृत्य की - अन्य साधुओं से सेवा लेने की इच्छा करें या न करें अर्थात् इच्छा हो तो सेवा करवाएँ, इच्छा न हो तो सेवा न करवाएँ। ऐसा करते हुए वे मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते।

१६४. (४) आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय के भीतर एक रात या दो रात (एकाकी) प्रवास करते हुए मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते।

१६५. (५) आचार्य या उपाध्याय उपाश्रय के बाहर एक रात या दो रात (एकाकी) प्रवास करते हुए मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते।

१६६. गण में गणावच्छेदक के दो वैशिष्ट्य या अतिशय प्रतिपादित हुए हैं, वे इस प्रकार हैं -

(१) गणावच्छेदक उपाश्रय के भीतर एक रात या दो रात (एकाकी) प्रवास करते हुए मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते।

१६७. (२) गणावच्छेदक उपाश्रय के बाहर एक रात या दो रात (एकाकी) प्रवास करते हुए मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते।

विवेचन - गण या गच्छ में आचार्य और उपाध्याय का अत्यधिक महत्त्व है। संघ के संचालन में गच्छवर्ती साधुओं को आचार में मर्यादा एवं नियमों के अनुरूप गतिशील बनाए

रखने में निर्विघ्नतया आध्यात्मिक साधनामय जीवन में उत्तरोत्तर उन्नति-प्रवण बनाए रखने में आगमों का, शास्त्रों का विधिवत् ज्ञान कराने में ये दोनों ही महापुरुष सतत उद्यमशील रहते हैं। अत एव गण के समस्त साधुओं का इनके प्रति बहुमान एवं आदर होता है, जो सर्वथा उचित है।

इनके व्यक्तित्व की गरिमा, आन्तरिक तथा बाह्य दोनों रूप में उद्योतित रहे, इस हेतु आगमों में विविध रूप में इनके अतिशयों का वर्णन है।

इसी प्रकार गणावच्छेदक का भी गण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गण की सार-सम्वहल, सुव्यवस्था, समुन्नति तथा संवृद्धि करने में इनके भी अतिशयों का वर्णन है। गरिमा - महिमा की दृष्टि से आचार्य, उपाध्याय के बाद गणावच्छेदक का स्थान है।

इन सूत्रों में आचार्य एवं उपाध्याय के पांच अतिशयों का तथा गणावच्छेदक के दो अतिशयों का प्रतिपादन है, जिसमें उच्चार-प्रस्रवण-परित्याग तथा उपाश्रय में आवास के संदर्भ में उनको दी गई सम्मान पूर्ण सुविधाओं का उल्लेख है, जो भावार्थ से स्पष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि उन पदों के प्रति चतुर्विध संघ में अतिशय-गर्भित सम्मान का भाव रहे तथा पदासीन महापुरुषों के महत्त्वपूर्ण दायित्व निर्वाह में अत्यन्त व्यस्त जीवन में शास्त्रानुमोदित कतिपय अनुकूलताएं तथा सुविधाएं रहें।

अनधीतश्रुत भिक्षुओं के संवास-विषयक विधि-निषेध

से गार्मसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगणिक्खमणपवेसाए (उवस्सए) णो कप्पइ बहूणं अगडसुयाणं एगयओ वत्थए, अत्थि याइं ण्हं केइ आयारपकप्पधरे णत्थि याइं ण्हं केइ छेए वा परिहारे वा, णत्थि याइं ण्हं केइ आयारपकप्पधरे से संतरा छेए वा परिहारे वा ॥ १६८ ॥

से गार्मसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिणिव्वगडाए अभिणिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसणाए (उवस्सए) णो कप्पइ बहूणं वि अगडसुयाणं एगयओ वत्थए, अत्थि याइं ण्हं केइ आयारपकप्पधरे जे तत्तियं रयणिं संवसइ णत्थि याइं ण्हं केइ छेए वा परिहारे वा, णत्थि याइं ण्हं केइ आयारपकप्पधरे जे तत्तियं रयणिं संवसइ सव्वेसिं तेहिं तप्पत्तियं छेए वा परिहारे वा ॥ १६९ ॥

कठिन शब्दार्थ - एगवगडाए - एक प्राकार - परकोटे या चार दीवारी से युक्त, एगदुवाराए - एक द्वार - दरवाजे से युक्त, एगणिक्खमणपवेसाए - एक निष्क्रमण-प्रवेश युक्त - बाहर निकलने और भीतर आने के एक ही रास्ते वाले, बहूणं - बहुतों का, अगडसुयाणं - अकृतश्रुत - जिन्होंने श्रुत - आगम ज्ञान का अध्ययन न किया हो, अभिणिक्खगडाए - पृथक्-पृथक् अनेक प्राकार युक्त, अभिणिदुवाराए - पृथक्-पृथक् अनेक द्वार युक्त, अभिणिक्खमणपवेसणाए - पृथक्-पृथक् अनेक रास्तों से युक्त, तत्तियं-तीसरी, रयणिं - रात, संवसइ - संवास करते हों - प्रवास करता हों या रहते हों।

भावार्थ - १६८. बहुत से अनधीतश्रुत - अगीतार्थ भिक्षुओं को ग्राम यावत् राजधानी में एक प्राकार, एक द्वार, एक निष्क्रमण - प्रवेश मार्ग से युक्त उपाश्रय में एक साथ रहना नहीं कल्पता।

यदि उनमें कोई आचार प्रकल्पधर भिक्षु हो तो उनको वैसे उपाश्रय में एक साथ संवास करने से दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त नहीं आता।

यदि उनमें कोई आचार प्रकल्पधर भिक्षु न हो तो उनका वहाँ संवास करना मर्यादोल्लंघन दोष युक्त है, उसके कारण वे दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

१६९. ग्राम यावत् राजधानी में पृथक्-पृथक् अनेक प्राकार, अनेक द्वार तथा अनेक निष्क्रमण-प्रवेश मार्ग से युक्त उपाश्रय में बहुत से अगीतार्थ भिक्षुओं को एक साथ निवास करना - रहना नहीं कल्पता।

यदि कोई आचारप्रकल्पधर तृतीय रात्रि में उनके साथ आकर रहे तो वे दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त के भागी नहीं होते।

यदि कोई आचारप्रकल्पधर तृतीय रात्रि में भी उनके साथ आकर न रहे तो उनका वहाँ संवास करना मर्यादोल्लंघन दोष युक्त है, उनके कारण वे दीक्षा-छेद या परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त के भागी होते हैं।

विवेचन - भिक्षु-जीवन में चारित्राराधना के साथ-साथ ज्ञानाराधना भी आवश्यक है। ज्ञान चक्षु रूप है, चारित्र चरण रूप है। अत एव पृथक् विचरण करने वाले भिक्षुओं के लिए यह वांछित है कि वे आवश्यक, आचारांग एवं निशीथ सूत्र का अध्ययन किए हुए हों। इन सूत्रों में साध्वाचार का विभिन्न अपेक्षाओं के साथ वर्णन हुआ है। स्वलना या त्रुटि होने पर करणीय प्रायश्चित्त आदि का भी उनमें विस्तृत रूप में विधान है। उत्सर्ग मार्ग एवं अपवाद

मार्ग का भी विवेचन है। निर्दोष, निर्वद्य, विशुद्ध संयम का पालन करने के लिए इन आगमों का अध्ययन परम आवश्यक है। जो वैसा करते हैं उन्हें कृतश्रुत, अधीतश्रुत या गीतार्थ कहा जाता है। जो वैसा नहीं करते वे अकृतश्रुत, अनधीतश्रुत या अगीतार्थ कहे जाते हैं।

अगीतार्थ भिक्षुओं के एक प्राकार या अनेक प्राकार युक्त उपाश्रयों में संवास करने के संबंध में इन सूत्रों में निरूपण हुआ है। जिस उपाश्रय के एक ही प्राकार आदि हो तथा वहाँ संवास करने वाले भिक्षुओं में एक भी आचारप्रकल्पधर भिक्षु न हो तो वहाँ उनको एक रात भी रहना नहीं कल्पता। जहाँ अनेक प्राकार आदि युक्त उपाश्रय हो तथा तीसरी रात कोई आचारप्रकल्पधर भिक्षु आकर उनके साथ रहे तो उन्हें प्रायश्चित्त नहीं आता अर्थात् वैसे उपाश्रय में अधिक से अधिक दो रात रहना विहित है। तीसरी रात तभी रहना दोष रहित है, जब वहाँ कोई आचारप्रकल्पधर भिक्षु आकर उनके साथ रहें।

एक प्राकारादि युक्त उपाश्रय में आवागमन के एक ही मार्ग का होना तथा अनेक प्राकारादियुक्त उपाश्रयों में आवागमन के अनेक मार्गों का होना, वहाँ-वहाँ संवास करने वाले भिक्षुओं में जागरूकता या सावधानी पैदा करने की दृष्टि से क्रमशः न्यूनाधिक उपयोगिता लिए हुए है। अत एव भिक्षुओं के वहाँ संप्रवास में समय की मर्यादा में भिन्नता का उल्लेख है।

एकाकी भिक्षु के लिए वास-विषयक विधि-निषेध

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा अभिणिव्वगडाए अभिणिदुवाराए
अभिणिक्खमणपवेसणाए (उवस्सए) णो कप्पइ बहुसुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स
भिक्खुस्स वत्थए, किमंग-पुण अप्पागमस्स अप्पसुयस्स ? ॥ १७० ॥

से गामंसि वा जाव रायहाणिंसि वा एगवगडाए एगदुवाराए एगणिक्खमणपवेसाए
(उवस्सए) कप्पइ बहुसुयस्स बब्भागमस्स एगाणियस्स भिक्खुस्स वत्थए दुहओ कालं
भिक्खु-भावं पडिजागरमाणस्स ॥ १७१ ॥

कठिन शब्दार्थ - किमंग-पुण - फिर क्या, दुहओ कालं - दोनों समय, भिक्खुभावं
पडिजागरमाणस्स - संयम के प्रति जागरूक रहते हुए।

भावार्थ - १७०. ग्राम यावत् राजधानी में अनेक प्राकार, द्वार, निष्क्रमण प्रवेश मार्ग
युक्त उपाश्रय में बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु को एकाकी वास करना नहीं कल्पता तो फिर
अल्पश्रुत एवं अल्पागम भिक्षु की तो बात ही क्या है अर्थात् उसे तो कभी कल्पता ही नहीं।

१७१. ग्राम यावत् राजधानी में बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु को दोनों समय संयम के प्रति जागरूक रहते हुए एक प्राकार, द्वार एवं निष्क्रमण-प्रवेश मार्ग युक्त उपाश्रय में एकाकी प्रवास करना कल्पता है।

विवेचन - बहुश्रुतत्व एवं बहुआगमज्ञत्व का एक भिक्षु के जीवन में विशेष महत्त्व है। वैसा भिक्षु सावद्य के सतत वर्जन और संयम के परिशीलन में अल्पश्रुत और अल्पागम भिक्षु की अपेक्षा सहज ही अधिक जागरूक रहता है। विपरीत परिस्थिति में जहाँ अल्पश्रुत, अल्पागमज्ञ भिक्षु का विचलित हो जाना आशंकित है वहाँ बहुश्रुत - बहुआगमज्ञ भिक्षु वैसी स्थिति में अपेक्षाकृत अधिक स्थिर एवं अविचल रहता है।

उपर्युक्त दोनों सूत्रों में इसी आशय के अनुरूप एक प्राकारादि युक्त तथा अनेक प्राकारादि युक्त उपाश्रयों में बहुश्रुत, बहुआगमज्ञ भिक्षु के प्रवास के संबंध में विधान है, जिसका अभिप्राय भावार्थ से स्पष्ट है।

यदि कोई उपाश्रय एक ही प्राकार - परकोटे से घिरा हुआ हो, उसके एक द्वार एवं प्रवेश करने और निकलने का एक ही मार्ग हो तो वहाँ स्थित भिक्षु में यदि कोई मनोविकार उत्पन्न हो जाए तथा वह वहाँ किसी अनुचित कार्य में तत्पर होने लगे तो उपाश्रय में आते हुए किसी भी व्यक्ति पर उसकी दृष्टि तत्काल पड़ जाती है और वह अपने अनुचित कार्य को छिपाने में तत्काल सावधान हो जाता है। यह सावधानी अपने दोष को ढकने के लिए होती है, इसलिए पापपूर्ण है। इसी स्थिति के कारण एक प्राकार, एक द्वार एवं एक निष्क्रमण-प्रवेश के मार्ग से युक्त उपाश्रय में एकाकी रहना अधिक दोष पूर्ण बतलाया गया है।

जो उपाश्रय अनेक प्राकार, अनेक द्वार तथा अनेक निष्क्रमण-प्रवेश के मार्ग से युक्त हो, वहाँ विद्यमान मनोविकार युक्त भिक्षु यह सोचता हुआ कि न जाने कौन, किस मार्ग से आकर उसे देख ले, इस आशंका से वह अपनी प्रतिष्ठा मिटने के भय से अनुचित कार्य में संलग्न-तत्पर रहने में सशंक और भयभीत रहता है। इस प्रकार उसका बाह्य दृष्ट्या पाप से अपेक्षाकृत बचाव हो जाता है। इसलिए एक प्राकारादि युक्त उपाश्रय की अपेक्षा अनेक प्राकारादि युक्त उपाश्रय में दोष की कम संभावना है। इसी दृष्टिकोण को लिए हुए यहाँ विवेचन हुआ है।

यद्यपि भिक्षु सामान्यतः संयमाराधना में निश्चलभाव से तत्पर रहते ही हैं। किन्तु कदाचन मानवीय दुर्बलतावश कभी साधना-पथ से च्युत न हो जाए, अतः बाढ के आने से पहले ही बाँध बनाने जैसा यह सुरक्षामूलक कार्य है।

नीतिकार ने कहा है -

कासारे स्फुटिते जले प्रचलिते

पालिः कथं बध्यते।

अर्थात् तालाब के फूट जाने पर, जल के बहने लग जाने पर फिर पाल कैसे बांधी जा सकती है ?

इसका अभिप्राय यह है कि तालाब के फूटने तथा पानी के बहने लगने से पूर्व ही पाल बांधना सार्थक है। इसी प्रकार मानसिक विकृति एवं पतनोन्मुखता होने से पूर्व ही सावधानी रखने से संयम सम्यक् सुरक्षित रहता है।

शुक्रपात का प्रायश्चित्त

जत्थ एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हावेति तत्थ से समणे णिग्गंथे अण्णयरंसि
अचित्तंसि सोर्यंसि सुक्कपोग्गले णिग्घाएमाणे हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते आवज्जइ मासियं
परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ १७२ ॥

जत्थ एए बहवे इत्थीओ य पुरिसा य पण्हावेति तत्थ से समणे णिग्गंथे अण्णयरंसि
अचित्तंसि सोर्यंसि सुक्कपोग्गले णिग्घाएमाणे मेहुणपडिसेवणपत्ते आवज्जइ चाउम्मासियं
परिहारट्टाणं अणुग्घाइयं ॥ १७३ ॥

कठिन शब्दार्थ - जत्थ - जहाँ, एए - वे, इत्थीओ - स्त्रियाँ, पुरिसा - पुरुष,
पण्हावेति - प्रस्नुवन - मैथुन सेवन करते हों, तत्थ - वहाँ, अण्णयरंसि - अन्यतर -
दूसरे, अचित्तंसि - अचित्त - चेतना रहित, सोर्यंसि - प्रवाहित होते हुए - स्खलित होते
हुए, सुक्कपोग्गले - शुक्र-पुद्गल - वीर्य के पुद्गल (परमाणु-निचय), णिग्घाएमाणे -
निर्घातन - निष्कासन करता हुआ, हत्थकम्मपडिसेवणपत्ते - हस्तकर्म - हस्त मैथुन का
सेवन करता हुआ, आवज्जइ - प्राप्त करता है, मासियं - मासिक, परिहारट्टाणं - परिहार
स्थान, अणुग्घाइयं - अनुद्घातिक, मेहुणपडिसेवणपत्ते - मैथुन प्रतिसेवन का संकल्प
किए हुए।

भावार्थ - १७२. जहाँ बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष मैथुन सेवन करते हों, वहाँ यदि कोई
श्रमण निर्ग्रन्थ हस्तकर्म द्वारा अपने स्खलित होते हुए अचित्त वीर्य-पुद्गलों को निष्कासित
करता है, वह मासिक अनुद्घातिक(गुरु)परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त का भागी होता है।

१७३. जहाँ बहुत-सी स्त्रियाँ और पुरुष मैथुन सेवन करते हों, वहाँ यदि कोई श्रमण निर्ग्रन्थ मैथुन प्रतिसेवन का संकल्प किए हुए अपने स्खलित होते हुए अचित्त वीर्य-पुद्गलों को निष्कासित करता है तो उसे चातुर्मासिक अनुद्घातिक(गुरु)परिहार-तप रूप प्रायश्चित्त आता है।

विवेचन - इन सूत्रों में ब्रह्मचर्य-रक्षा को ध्यान में रखते हुए वैसे प्रसंगों को अपवारित, निवारित करने की प्रेरणा प्रदान की गई है, जो ब्रह्मचर्य महाव्रत को खण्डित करते हैं।

वैसे तो पांचों ही महाव्रत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, जिनके अनुपालन में प्रत्येक श्रमण-निर्ग्रन्थ सदा जागरूक रहता है। किन्तु उनमें भी ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन अत्यन्त दुर्गम, दुष्कर माना गया है। यदि आत्मस्थिरता, अन्तःशक्ति, संकल्प दृढता में जरा भी कमी आ जाए तो साधक अब्रह्मचर्यात्मक, मैथुनसेवनात्मक स्थितियों को परिवीक्षित कर स्वयं भी अप्राकृतिक कर्म, दूषित संकल्प आदि द्वारा वीर्य-पात रूप जघन्य कर्म कर डालता है। वैसा करना सर्वथा परित्याज्य, घृणास्पद एवं पापपूर्ण है और वैसा करने वाला तदनुरूप तीव्र, तीव्रतर प्रायश्चित्त का भागी होता है, जैसा इन सूत्रों में वर्णित हुआ है।

उपर्युक्त दोनों सूत्रों में जो प्रायश्चित्त का विधान किया गया है - वह मानसिक (वैचारिक) प्रतिसेवना की अपेक्षा से समझना चाहिए। कायिक प्रतिसेवना का तो आठवाँ "मूल" प्रायश्चित्त आता है।

जैन धर्म में ब्रह्मचर्य की अविचल साधना हेतु नव बाड़, दशम कोट आदि के रूप में परिरक्षण के विविध उपायों का बड़ा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। वह सब इसलिए है कि श्रमण निर्ग्रन्थ किसी भी प्रकार अब्रह्मचर्यमूलक पापपंक में पड़कर अपनी साधना को अपवित्र न बनाएँ।

वैदिक धर्म में भी ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। कहा गया है-
"मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्" अर्थात् वीर्य-पात - ब्रह्मचर्य से पतन-
 'मृत्यु' है तथा वीर्य-धारण - ब्रह्मचर्य का पूर्णरूपेण परिपालन 'जीवन' है।

बौद्ध धर्म में काम को 'मार' कहा गया है। **'मारयतीति मारः'** - जो मार डालता हो, साधनामय जीवन को विध्वस्त कर देता हो, वह मार - काम या अब्रह्मचर्य है। वहाँ अब्रह्मचर्य के परित्याग को 'मार विजय' कहा गया है।

सारांश यह है कि ब्रह्मचर्य से विचलित न होने का भाव श्रमण निर्ग्रन्थों में सदैव व्याप्त रहे, इस हेतु कष्ट साध्य प्रायश्चित्तों का प्रतिपादन कर उन्हें अब्रह्मचर्य की दिशा में जाने से निवारित करने का उद्देश्य यहाँ सन्निहित है।

अन्य गण से आगत सदोष साध्वी को गण में लेने का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिद्धायारचित्तं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता अणिंदावेत्ता अगग्गहावेत्ता अविउद्धवेत्ता अविस्सोहावेत्ता अकरणाए अणब्भुद्धवेत्ता अहारिहं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवद्धवेत्तए वा संभुजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १७४ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णिग्गंथं अण्णगणाओ आगयं खुयायारं जाव संकिलिद्धायारं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव अहारिहं पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता उवद्धवेत्तए वा संभुजित्तए वा संवसित्तए वा तस्स इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १७५ ॥

[कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिद्धायारचित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमावेत्ता णिंदावेत्ता अगग्गहावेत्ता विउद्धवेत्ता विस्सोहावेत्ता अकरणाए अब्भुद्धवेत्ता अहारिहं पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवद्धवेत्तए वा संभुजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा] त्ति बेमि ॥

॥ ववहारस्स छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ ६ ॥

कठिन शब्दार्थ - आगयं - आगत - आए हुए, खुयायारं - क्षताचार - खण्डित आचार युक्त, सबलायारं - शबलाचार - दोष रूप धर्म्बों से विकृत आचार युक्त, भिण्णायारं- भिन्नाचार - अयथावत् या विपरीत आचार युक्त, संकिलिद्धायारचित्तं - संक्लिष्टाचार चरित्त - क्रोध आदि कषायों से मलिन आचार युक्त, तस्स ठाणस्स - उस स्थान से - दोष पूर्ण आचरण से, अणालोयावेत्ता - आलोचना कराए बिना, अपडिक्कमावेत्ता - अप्रतिक्रान्त

● इदमपि सत्रं नोपलभ्यते क्वचिदाट्ठोष ।

कराए बिना - प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मस्थ कराए बिना, अणिंदावेत्ता - निंदा कराए बिना, अगर्हावेत्ता - गर्हा कराए बिना, अविउद्गावेत्ता - अतिचार से संबंध - विच्छेद कराए बिना - दूर कराए बिना, अविसोहावेत्ता - विशुद्धि कराए बिना, अकरणाए - न करने योग्य आचरण से, अणभुद्गावेत्ता - अनभ्युत्थापित कराए बिना, अर्थात् उसे पुनः न करने का दृढ़ संकल्प कराए बिना, अहारिहं - यथाई - यथायोग्य, पायच्छित्तं - प्रायश्चित्त, अपड्विज्जावेत्ता - स्वीकार कराए बिना, पुच्छित्तए - पृच्छा करना, वाएत्तए - वाचना देना, उवद्गावेत्तए - चारित्र में उपस्थापित करना, संभुजित्तए - उनके साथ साधु जीवनोचित उपधि आदि आवश्यक वस्तुओं के परस्पर लेन-देन का व्यवहार करना, संवसित्तए - साथ में रहना, इत्तरियं - इत्वरिक - अल्प काल के लिए, उद्विसित्तए - निर्देश करना।

भावार्थ - १७४-१७५. किसी गण के साधुओं और साध्वियों को, किसी अन्य गण से आई हुई क्षताचार, शबलाचार, भिन्नाचार एवं संक्लिष्टाचार युक्त साध्वी से आचरित दोषपूर्ण स्थान की आलोचना, प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा कराए बिना, अतिचार-दोष से संबंध-विच्छेद कराए बिना, विशुद्धि कराए बिना, न करने योग्य - दोष पूर्ण आचरण को भविष्य में पुनः न करने का दृढ़ संकल्प कराए बिना, यथायोग्य प्रायश्चित्त कराए बिना उसके साथ साधर्मिकोचित पृच्छा करना, उसे वाचना देना, चारित्र में उपस्थापित करना - अपने गण में सम्मिलित करना, स्वीकार करना, साधु जीवनोचित उपधि आदि वस्तुओं के लेन-देन आदि का आपस में व्यवहार करना, साथ में रहना, स्वल्प काल के लिए उसे दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना नहीं कल्पता।

खण्डित यावत् संक्लिष्ट आचार वाले अन्य गण से आये हुए निर्ग्रन्थ को सेवित दोष की आलोचना यावत् दोषानुरूप प्रायश्चित्त स्वीकार न करा ले तब तक निर्ग्रन्थ निर्ग्रन्थियों को उसे पुनः चारित्र में उपस्थापित करना उसके साथ साम्भोगिक व्यवहार करना और साथ में रखना नहीं कल्पता है तथा उसे अल्पकाल के लिए दिशा या अनुदिशा का निर्देश करना या धारण करना भी नहीं कल्पता है।

[किसी गण के साधुओं तथा साध्वियों को, किसी अन्य गण से आई हुई क्षताचार, शबलाचार, भिन्नाचार एवं संक्लिष्टाचार युक्त साध्वी से आचरित दोष पूर्ण स्थान की आलोचना, प्रतिक्रमण, निंदा, गर्हा कराकर, अतिचार-दोष से संबंध विच्छेद कराकर, विशुद्धि कराकर, अकरणीय - दोष पूर्ण आचरण को भविष्य में पुनः न करने का संकल्प कराकर, यथायोग्य

११७ अन्य गण से आगत सदोष साध्वी को गण में लेने का विधि-निषेध

प्रायश्चित्त कराकर उसके साथ साधर्मिकोचित पृच्छा करना, उसे वाचना देना, चारित्र में उपस्थापित करना - अपने गण में सम्मिलित करना, स्वीकार करना, साधु-जीवनोचित उपधि आदि वस्तुओं के लिए लेन-देन का आपस में व्यवहार करना, साथ में रहना, स्वल्प काल के लिए उसे दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना कल्पता है।]

विवेचन - जिस द्वारा आचार-विषयक दोष-सेवन हुआ हो, वैसी अन्य गण से आई हुई साध्वी को किसी अन्य गण के साधु और साध्वी उससे यथावत् आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि कराकर, दोष शुद्धि कराकर, आत्म-विशुद्धि कराकर पुनः वैसा कोई दोष आचरित न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कराकर ही गण में लें, यह कल्पनीय है। तभी उसके साथ साधर्मिकोचित पारस्परिक उपधि आदि वस्तुओं के लेन-देन के संबंध में व्यवहार किया जा सकता है। आलोचना, प्रायश्चित्त आदि कराए बिना उसे गण में स्वीकार करना अकल्प्य है।

जैसा कि विभिन्न प्रसंगों में व्याख्यात हुआ है, शुद्ध संयममय आचार में ही साधुत्व संप्रतिष्ठित है। आचार ही साधु-जीवन की मूल पूंजी है। अत एव उसका सदैव प्राणपण से परिरक्षण किया जाना चाहिए, किन्तु यदि कदाचन कभी आत्म-दौर्बल्यवश आचार-पालन में दोष या भूल हो जाए तो आलोचना, प्रायश्चित्त आदि द्वारा उस दोष का प्रक्षालन किए बिना, जीवन में कभी भी पुनः वैसा न करने की प्रतिज्ञा किए बिना पुनः साधुत्व में उपस्थापित होने की योग्यता घटित नहीं होती।

जिस प्रकार सोडे, साबुन आदि से धोने पर वस्त्र का मैल निकल जाता है, वह स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार आलोचना प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि से दोषों का प्रक्षालन, परिमार्जन होता है। इसी संदर्भ में इन सूत्रों में शबलाचार युक्त साध्वी के आलोचना, प्रतिक्रमण एवं प्रायश्चित्त आदि द्वारा विशुद्धिकरण का, साधुत्व में पुनः उपस्थापन का जो प्रसंग वर्णित हुआ है, वह विशुद्ध साध्वाचार की महिमा का ख्यापक है।

॥ व्यवहार सूत्र का छठा उद्देशक समाप्त ॥



सप्तमो उद्देशो - सप्तम उद्देशक

अन्य गण से आगत शबलाचार युक्त साध्वी को गण में लेने का विधि-निषेध

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, णो कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथे अणापुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिद्धायारचित्तं तस्स ठाणस्स अणालोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १७६ ॥

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, कप्पइ णिग्गंथीणं णिग्गंथे आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिद्धायारचित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १७७ ॥

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, कप्पइ णिग्गंथाणं णिग्गंथीओ आपुच्छित्ता वा अणापुच्छित्ता वा णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खुयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिद्धायारचित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता जाव पायच्छित्तं पडिवज्जावेत्ता पुच्छित्तए वा वाएत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संभुजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा, तं च णिग्गंथीओ णो इच्छेज्जा, सेवमेव णियं ठाणं ॥ १७८ ॥

कठिन शब्दार्थ - संभोइया - सांभोगिक - उपधि आदि वस्तुओं के लेन-देन के पारस्परिक व्यवहार से संबद्ध, सिया - हो, सेवमेव - स्वयमेव - खुद ही, ठाणं - स्थान - गण या गच्छ ।

भावार्थ - १७६. जो साधु एवं साध्वियाँ परस्पर उपधि आदि साधुजीवनोचित वस्तुओं के लेन-देन आदि के पारस्परिक व्यवहार से संबद्ध हों, किसी अन्य गण से आई हुई क्षताचार शबलाचार, भिन्नाचार एवं संक्लिष्टाचार युक्त साध्वी को वे स्वसंबद्ध साधुओं तथा साध्वियों

११९ अन्य गण से आगत शबलाचार युक्त साध्वी को गण में लेने का विधि-निषेध

को पूछे बिना, आचरित दोष पूर्ण स्थान की उससे आलोचना कराए बिना यावत् प्रायश्चित्त कराए बिना उसके साथ साधर्मिकोचित पृच्छा करना, उसे वाचना देना, चारित्र में उपस्थापित करना, साधुजीवनोचित उपधि आदि वस्तुओं के लेने-देने आदि का पारस्परिक व्यवहार करना, साथ में रहना, स्वल्पकाल के लिए उसे दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना नहीं कल्पता।

१७७. जो साधु और साध्वियाँ परस्पर उपधि आदि साधुजीवनोचित वस्तुओं के लेन-देन आदि पारस्परिक व्यवहार से संबद्ध हों, किसी अन्य गण से आई हुई क्षताचार, शबलाचार, भिन्नाचार एवं संक्लिष्टाचार युक्त साध्वी को वे स्वसंबद्ध साधुओं तथा साध्वियों को पूछकर उससे आचरित दोषपूर्ण स्थान की आलोचना कराकर यावत् प्रायश्चित्त कराकर उसके साथ साधर्मिकोचित पृच्छा करना, उसे वाचना देना, चारित्र में उपस्थापित करना, साधुजीवनोचित उपधि आदि वस्तुओं के लेन-देन आदि का पारस्परिक व्यवहार करना, साथ में रहना, स्वल्प काल के लिए उसे दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना कल्पता है।

१७८. जो साधु तथा साध्वियाँ परस्पर उपधि आदि साधुजीवनोचित वस्तुओं के लेन-देन आदि पारस्परिक व्यवहार से संबद्ध हों, किसी अन्य गण से आई हुई क्षताचार, शबलाचार, भिन्नाचार एवं संक्लिष्टाचार युक्त साध्वी को वे स्वसंबद्ध साधुओं तथा साध्वियों को पूछ कर या बिना पूछे उससे आचरित दोष पूर्ण स्थान की आलोचना यावत् प्रायश्चित्त कराकर उसके साथ साधर्मिकोचित पृच्छा करना, उसे वाचना देना, चारित्र में उपस्थापित करना, साधुजीवनोचित उपधि आदि वस्तुओं के लेन-देन आदि का पारस्परिक व्यवहार करना, साथ में रहना, स्वल्प काल के लिए उसे दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना कल्पता है।

यदि गण की साध्वियाँ उस साध्वी को अपने साथ न रखना चाहें तो वह साध्वी स्वयं ही वापस उस गण में चली जाए, जिससे वह आई हो।

विवेचन - जिस प्रकार छठे उद्देशक में सदोष आचार युक्त साध्वी के आलोचना, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित्त आदि द्वारा विशुद्धिकरण एवं साधुत्व में पुनः उपस्थापन का निरूपण हुआ है, उसी प्रकार यहाँ भी कुछ अपेक्षित भिन्नता के साथ वर्णन हुआ है। मूल आशय लगभग एक जैसा है।

इन सूत्रों में प्रयुक्त **संभोड्या** का संस्कृत रूप **सांभोगिक** है। सांभोगिक शब्द

संभोग से बना है। जैन आगमों में यह शब्द साधु-साध्वियों के उपधि आदि आवश्यक वस्तुओं के लेन-देन आदि के संबंध में प्रयुक्त हुआ है।

भाषा-शास्त्र (Linguistics) में शब्दों के अर्थात्कर्ष, अर्थोपकर्ष, अर्थविस्तार तथा अर्थ संकोच आदि के रूप में अर्थ परिवर्तन की विभिन्न दशाओं का उल्लेख है। काल-क्रम से जन-जन द्वारा परिवर्तित प्रयोग के आधार पर शब्दों के अर्थ बदलते जाते हैं। उदाहरणार्थ जुगुप्सा शब्द को लें 'गोप्तुमिच्छा जुगुप्सा'। कभी इस शब्द का अर्थ रक्षा करने की इच्छा था, जिसकी रक्षा की जाती है, सामान्यतः उसको गोपित कर - छिपाकर रखा जाता है। इसलिए आगे चलकर जुगुप्सा का अर्थ छिपाना हो गया और कालान्तर में बुरी या अशोभनीय बात को छिपाया जाता है, इस अभिप्राय को लेकर इस शब्द का अर्थ घृणा हो गया। आज इसी अर्थ में यह शब्द व्यवहृत है।

प्राकृत का **संभोय** - संभोग शब्द लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जैन साधु-साध्वियों के आवश्यक वस्तुओं के पारस्परिक लेन-देन आदि के व्यवहार के अर्थ में था। आज भी जैन साधु-साध्वी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग करते हैं। किन्तु लोक में इस (संभोग शब्द) का अर्थ काल-क्रम से बदलता-बदलता - 'स्त्री-पुरुष के यौन-संबंध' के अर्थ में आकर टिक गया। हिन्दी आदि आर्य परिवारगत आधुनिक भाषाओं में आज इसका इसी अर्थ में प्रयोग होता है। इसीलिए प्रस्तुत आगम में जहाँ संभोय के संज्ञा, तद्धित तथा क्रिया आदि के रूपों का प्रयोग हुआ है, वहाँ अनुवाद एवं विवेचन में संभोग शब्द नहीं दिया गया है। जैन परंपरा से अपरिचित हिन्दी भाषा-भाषी पाठकों में इससे भ्रान्ति पैदा हो सकती है।

संबंध-विच्छेद-विषयक विधि-निषेध

जे णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया, णो ण्हं कप्पइ (णिग्गंथाणं) पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, कप्पइ ण्हं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा-अहं णं अज्जो ! तुमाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पच्चक्खं संभोगं विसंभोगं करेमि, से य पडितप्पेज्जा एवं से णो कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, से य णो पडितप्पेज्जा एवं से कप्पइ पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ॥१७९॥

जे णिगंथा य णिगंथीओ य संभोइया सिया, णो ण्हं कप्पइ णिगंथीणं पच्चक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, कप्पइ ण्हं पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, जत्थेव ताओ अप्पणो आयरियउवञ्जाए पासेज्जा, तत्थेव एवं वएज्जा-अह णं भंते ! अमुगीए अज्जाए सद्धिं इमम्मि कारणम्मि पारोक्खं पाडिएक्कं संभोगं विसंभोगं करेमि, सा य से पडितप्पेज्जा एवं से णो कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए, सा य से णो पडितप्पेज्जा एवं से कप्पइ पारोक्खं पाडिएक्कं संभोइयं विसंभोगं करेत्तए ॥ १८० ॥

कठिन शब्दार्थ - पारोक्खं - परोक्ष - अनुपस्थित, पाडिएक्कं - प्रत्यक्ष, विसंभोगं- विसंभोग - पारस्परिक व्यवहार रहित, करेत्तए - करना, पच्चक्खं - प्रत्यक्ष, तुमाए सद्धिं - तुम्हारे साथ, इमम्मि कारणम्मि - इस कारण के होने पर, करेमि - करता हूँ, पडितप्पेज्जा- परिताप करे, अमुगीए अज्जाए सद्धिं - अमुक साध्वी के साथ।

भावार्थ - १७९. जो साधु और साध्वियाँ पारस्परिक आवश्यक वस्तु विषयक लेन-देन आदि के व्यवहार से संबद्ध हों, उनमें किसी साधु को परोक्ष में सांभोगिक पारस्परिक लेन-देन आदि के व्यवहार को बंद कर विसांभोगिक करना - सांभोगिक व्यवहार से बहिष्कृत करना नहीं कल्पता। किन्तु प्रत्यक्ष में सांभोगिक व्यवहार बंद कर, उसे विसांभोगिक करना कल्पता है।

जहाँ वे एक-दूसरे को देखें, मिलें तब इस प्रकार कहें कि हे आर्य! इस - अमुक कारण से मैं प्रत्यक्षतः तुम्हारे साथ सांभोगिक व्यवहार संबंध विच्छिन्न करता हूँ - तुम्हें विसांभोगिक करता हूँ।

इस प्रकार कहे जाने पर वह, जिसे विसांभोगिक किया जा रहा है, यदि परिताप - पश्चात्ताप करे तो प्रत्यक्षतः उसके साथ सांभोगिक व्यवहार बंद कर उसे विसांभोगिक करना नहीं कल्पता। यदि वह परिताप - पश्चात्ताप न करे तो प्रत्यक्षतः उसके साथ सांभोगिक व्यवहार बंद कर उसे विसांभोगिक करना कल्पता है।

१८०. जो साधु और साध्वियाँ सांभोगिक पारस्परिक व्यवहारोपपन्न हो तो किसी साध्वी को प्रत्यक्षतः पारस्परिक व्यवहार विच्छिन्न कर विसांभोगिक करना नहीं कल्पता। किन्तु परोक्ष रूप में पारस्परिक व्यवहार विच्छिन्न कर विसांभोगिक करना कल्पता है।

जहाँ वह (साध्वी) अपने आचार्य, उपाध्याय को देखे, उससे मिले तो ऐसा कहे - हे

भगवन्! मैं अमुक आर्या के साथ अमुक कारण से परोक्ष रूप में पारस्परिक व्यवहार बन्द कर उसे विसांभोगिका करती हूँ।

यदि वह (जिसे विसांभोगिका किया जा रहा हो) परिताप - पश्चात्ताप करे तो परोक्ष रूप में उसकी पारस्परिक व्यवहार संबद्धता बन्द कर उसे विसांभोगिका करना नहीं कल्पता। यदि वह परिताप - पश्चात्ताप न करे तो परोक्ष रूप में उसकी पारस्परिक व्यवहार-संबद्धता बन्द कर उसे विसांभोगिका करना कल्पता है।

विवेचन - इन सूत्रों में संभोग-विसंभोग - साधुओं एवं साध्वियों के पारस्परिक उपधि आदि आवश्यक वस्तुओं के लेन-देन आदि से संबद्ध दैनन्दिन व्यवहार के विषय में चर्चा हुई है।

यहाँ संबंध विच्छेद करने के संबंध में भिक्षु शब्द का प्रयोग हुआ है, जो वस्तुतः आचार्य या उपाध्याय आदि किसी पदवीधर भिक्षु का सूचक है। क्योंकि वे ही किसी साधु या साध्वी का संबंध विच्छेद करने के अधिकारी होते हैं।

यहाँ प्रत्यक्ष और परोक्ष - दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसका आशय यह है कि किसी कारण या दोष वश किसी साधु या साध्वी को पारस्परिक व्यवहार से बहिष्कृत करना हो तो उस द्वारा की गई त्रुटि पर प्रत्यक्षतः विचार-विमर्श का अवसर रहे, यह अपेक्षित है। परोक्ष में यदि किसी का संबंध विच्छिन्न किया जाता हो तो, जिसे दोषी माना गया हो, उसे अपनी ओर से दोष के संबंध में स्पष्टीकरण का अवसर ही प्राप्त नहीं होता।

एक और महत्त्वपूर्ण बात यहाँ यह कही गई है कि यदि कोई साधु या साध्वी अपने द्वारा आचरित दोष के लिए परिताप - पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त करे तो उसकी सांभोगिकता, पारस्परिक व्यवहार संबंधता कायम रखने योग्य होती है। इससे साधक या साधिका को दोष परिमार्जन पूर्वक साधनामय निरवद्य पथ पर आगे बढ़ने का उज्वल, पवित्र, संयममय जीवन जीने का अवसर प्राप्त होता है।

प्रव्रज्यादि - विषयक विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाणं णिग्गंथिं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा मुंडावेत्तए वा (सिक्खावेत्तए वा) सेहावेत्तए वा उवट्ठावेत्तए वा संवसित्तए वा संभुजित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १८१ ॥

कप्पइ णिगंग्थाणं णिगंग्थिं अण्णेसिं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा जाव संभुजित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उहिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १८२ ॥

णो कप्पइ णिगंग्थीणं णिगंग्थं अप्पणो अट्ठाए पव्वावेत्तए वा मुंडावेत्तए वा जाव उहिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १८३ ॥

कप्पइ णिगंग्थीणं णिगंग्थं णिगंग्थाणं अट्ठाए पव्वावेत्तए वा मुंडावेत्तए वा जाव उहिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १८४ ॥

कठिन शब्दार्थ - अप्पणो अट्ठाए - अपने प्रयोजन के लिए, पव्वावेत्तए - प्रव्रजित करना, मुंडावेत्तए - मुण्डित - लुंचित करना, (सिक्खावेत्तए) सेहावेत्तए - शिक्षित करना, उवट्ठावेत्तए - उपस्थापित करना, संवसित्तए - साथ में रहना, संभुजित्तए - साथ बैठकर भोजन करना, अण्णेसिं - अन्यो के लिए।

भावार्थ - १८१. साधुओं को किसी दीक्षार्थिनी महिला को अपने लिए - अपनी शिष्या साध्वी के रूप में प्रव्रजित - दीक्षित करना, मुण्डित करना, शिक्षित करना, चारित्र में पुनः उपस्थापित करना, उसके साथ निवास करना, साथ बैठकर आहार करना, स्वल्प काल के लिए दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना नहीं कल्पता।

१८२. साधुओं को किसी दीक्षार्थिनी महिला को औरों (आचार्य या उपाध्याय) के लिए साध्वी के रूप में प्रव्रजित करना यावत् साथ में बैठकर आहार करना, स्वल्प काल के लिए दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना कल्पता है।

१८३. साध्वियों को किसी दीक्षार्थी पुरुष को अपने लिए साधु के रूप में प्रव्रजित करना, मुण्डित करना यावत् दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना नहीं कल्पता।

१८४. साध्वियों को साधुओं के लिए किसी दीक्षार्थी पुरुष को साधु के रूप में प्रव्रजित करना, मुण्डित करना यावत् दिशा, अनुदिशा का निर्देश करना, धारण करना कल्पता है।

विवेचन - जैन भिक्षु संघ में सामान्यतः आचार्य अथवा उपाध्याय ही किसी दीक्षार्थी या दीक्षार्थिनी को दीक्षित करने के अधिकारी माने गए हैं। कोई साधु या साध्वी अपने लिए - अपने शिष्य या शिष्या के रूप में किसी को दीक्षित करने के अधिकारी नहीं होते। किन्तु विशेष परिस्थिति में कोई विशिष्ट आगमवेत्ता विद्वान् साधु आचार्य या उपाध्याय के आदेश से तथा आगमज्ञा, विदुषी साध्वी आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी के आदेश से दीक्षार्थी दीक्षार्थिनी

को दीक्षित कर सकते हैं। किन्तु वे उनको अपने शिष्य या शिष्या के रूप में दीक्षित नहीं करते वरन् आचार्य या उपाध्याय के शिष्य अथवा शिष्या के रूप में, उनके नाम से दीक्षित करते हैं।

जहाँ पर साधुओं का पहुँचना संभव नहीं हो तथा दीक्षा लेने वाला साध्वी के पिता पुत्रादि हो ऐसे परिस्थिति में साधुओं के लिए साध्वी उसे दीक्षित कर सकती है।

साधु, बहिन को स्वयं की शिष्या बनाने पर लोक व्यवहार में अटपटा (असहज) लगता है। लोग अनुचित संबंधादि की भी कल्पना कर सकते हैं। इत्यादि कारणों से स्वयं की शिष्याएं बनाने में उपर्युक्त बाधाएं आती हैं अतः दूसरे साधु-साध्वियों की शिष्या बनाने की विधि बताई है। पुरुष के लिए 'णिवर्ग्यस्स अट्टाए' एवं स्त्री के लिए 'अण्णस्स अट्टाए' बताया है। इससे यह समझा जाता है कि - साध्वी पुरुष को तो साधु के लिए ही दीक्षित कर सकती है। किन्तु साधु स्त्री को अपने से भिन्न साधु साध्वियों के लिए दीक्षित कर सकता है।

भिक्षु-संघ की अनुशासनबद्ध व्यवस्था की दृष्टि से ऐसा होना अत्यन्त उपयोगी है। पृथक्-पृथक् अपने-अपने शिष्य या शिष्याओं के रूप में किन्हीं को दीक्षित करने से गण में विशृंखलता आती है, अनुशासन में शिथिलता आती है। ऐसा होना संघ के विकास में हानिप्रद है।

इन सूत्रों में प्रव्रजित, मुण्डित, शिक्षित और चारित्र में पुनः उपस्थापित के रूप में जो वर्णन हुआ है, उनका अपना-अपना विशेष अर्थ है।

'व्रज्' धातु जाने के अर्थ में है। उसके पूर्व 'प्र' उपसर्ग लगाने से कृदन्त में प्रव्रज्या, प्रव्रजित आदि रूप बनते हैं। प्रव्रज्या का या प्रव्रजित होने का अभिप्राय संसार का त्याग कर संयम की दिशा में जाना, आत्म-प्रकर्ष की ओर अग्रसर होना है।

जब कोई दीक्षित होता है तो अपने सिर को मुण्डित करा लेता है। सिर पर थोड़े से बाल बाकी रखे जाते हैं, जिन्हें दीक्षा प्रदाता अपने हाथ से लुंचित करते हैं। उस दीक्षार्थी पुरुष का लोच आचार्य या उपाध्याय आदि पदासीन भिक्षु द्वारा या उनकी ओर से दीक्षित करने वाले भिक्षु द्वारा किया जाता है। महिला दीक्षार्थिनी का लोच प्रवर्तिनी द्वारा या उसकी ओर से दीक्षित करने वाली साध्वी द्वारा किया जाता है। इसे मुण्डन प्रक्रिया कहा जाता है।

शिक्षित करने का अर्थ ग्रहण और आसेवन शिक्षा के रूप में दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन तथा आचार प्रक्रिया, वस्त्र परिधान आदि का विधिवत् ज्ञान कराना है।

चारित्र में पुनः उपस्थापित का तात्पर्य छेदोपस्थापनीय चारित्र में स्थापित करना या बड़ी दीक्षा देना है। इस संदर्भ में पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है।

दूरवर्ती गुरु आदि के निर्देश के संदर्भ में विधि-निषेध

णो कप्पइ णिगंगंथीणं विइकिट्टियं दिसं वा अणुदिसं वा उहिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १८५ ॥

कप्पइ णिगंगंथाणं विइकिट्टियं दिसं वा अणुदिसं वा उहिसित्तए वा धारेत्तए वा ॥ १८६ ॥

कठिन शब्दार्थ - विइकिट्टियं - व्यतिकृष्टा - दूरवर्तिनी।

भावार्थ - १८५. साध्वियों को दूरवर्तिनी अपनी प्रवर्तिनी (गुरुणी) का निर्देश कर किसी को प्रव्रजित करना, दिशा निर्देश करना आदि नहीं कल्पता।

१८६. साधुओं को दूरवर्ती अपने आचार्य या उपाध्याय का निर्देश कर किसी को प्रव्रजित करना, दिशा निर्देश करना आदि कल्पता है।

विवेचन - पूर्व सूत्रों में प्रव्रज्या या दीक्षा देने के संबंध में विधि-निषेध मूलक वर्णन हुआ है। ये सूत्र एक प्रकार से पिछले सूत्रों के पूरक हैं, क्योंकि इनमें भी पिछले सूत्रों का विशदीकरण ही है।

साध्वियों के लिए विशेष रूप से यहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि - आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तिनी - ये दूरवर्ती हों तो उनका निर्देशन कर अथवा उनके नाम से किसी दीक्षार्थिनी को साध्वी के रूप में प्रव्रजित करना, दिशा निर्देश करना आदि अकल्प्य है।

साधुओं के लिए आचार्य, उपाध्याय आदि का निर्देश कर प्रव्रजित करना, दिशा निर्देश करना आदि कल्प्य है। ऐसा यहाँ बताया गया है।

साध्वी के लिए अकल्प्यता का कारण यह है - वह (प्रवर्तिनी के पास) स्वयं एकाकिनी जा नहीं सकती, प्रवर्तिनी आदि के अधिक दूर होने से उसे कोई पहुँचा नहीं सकते, लम्बे समय के अन्तराल से ऐसा भी आशंकित है, उसका भाव विपरिणमन हो जाए, वह अस्वस्थ हो जाए तथा उसकी गुरुणी रोगग्रस्त हो जाए या दिवंगत हो जाए - ये स्थितियाँ बाधक बन सकती हैं।

सामान्यतः साधुओं के लिए भी वही विधान है, जो साध्वियों के लिए है। किन्तु विशेष स्थिति में यदि साधु (दीक्षार्थी) बहुश्रुत, विवेकशील, विशिष्ट वैराग्य युक्त, स्वस्थ एवं धर्म-प्रसार की भावना से अभ्युपेत हो तो उसे आचार्य, उपाध्याय आदि का निर्देश कर प्रव्रजित करना आदि कल्प्य - विहित है, क्योंकि एकाकिनी साध्वी के लिए जो विपरीत स्थितियाँ आशंकित हैं, वे समर्थ सक्षम साधु के लिए कम संभावित हैं।

कलहोपशमन-विषयक विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए ॥ १८७ ॥

कप्पइ णिग्गंथीणं विइकिट्ठाइं पाहुडाइं विओसवेत्तए ॥ १८८ ॥

कठिन शब्दार्थ - पाहुडाइं - कठोर वचनादि जनित कलह, विओसवेत्तए - उपशान्त होना - क्षमायाचना करना।

भावार्थ - १८७. साधुओं में यदि कठोर वचन आदि बोलने से आपस में मनमुटाव हो जाए तो दूरवर्ती क्षेत्र में रहते हुए उन्हें उसे उपशान्त करना, जिनके साथ मनमुटाव हुआ हो, उन्हें उद्दिष्ट कर क्षमायाचना करना नहीं कल्पता।

१८८. यदि साध्वियों में परस्पर कलह - मनमुटाव हो जाए तो उन्हें दूरवर्ती क्षेत्र में रहते हुए भी उसे उपशान्त करना, जिनके साथ मनमुटाव हुआ हो, उन्हें उद्दिष्ट कर क्षमायाचना करना कल्पता है।

विवेचन - यद्यपि साधु-साध्वी सामान्यतः परस्पर आध्यात्मिक स्नेह एवं सामंजस्य के साथ रहते हैं, किन्तु कदाचन भावावेश या किसी कारण उत्तेजनावश परस्पर कठोर वचन बोलने आदि का प्रसंग बन जाए, मन में कलह या वैमनस्य का भाव उत्पन्न हो जाए तो उसे क्षमायाचना आदि द्वारा उपशान्त करना, अन्तःकरण को निर्मल बनाना आवश्यक है। क्योंकि संयमूलक आध्यात्मिक जीवन जीने वाले साधु-साध्वियों के लिए परस्पर मनमुटाव रखना कभी उचित नहीं होता।

इन सूत्रों में कलह या वैमनस्य को क्षमायाचना द्वारा उपशान्त करने के संबंध में साधुओं तथा साध्वियों के लिए भिन्न-भिन्न रूप में विधान किया गया है।

जिन साधुओं में परस्पर वैमनस्य उत्पन्न हुआ हो। उनमें से कोई कलह भाव को उपशान्त किए बिना ही विहार कर दूर चला जाए, यों जिनमें कलह उत्पन्न हुआ हो, वे दोनों

१२७ निषिद्ध काल में साधु-साध्वियों के लिए स्वाध्याय विषयक विधि-निषेध

ही परस्पर एक-दूसरे के परोक्षवर्ती हो जाएँ। वैसी स्थिति में दूरवर्ती साधु अपने स्थान से ही दूसरे साधु को, जिसके साथ मनमुटाव हुआ हो, उद्दिष्ट कर क्षमायाचना करें, यह विहित नहीं है। ऐसा करना नहीं कल्पता, क्योंकि दोनों सामने हों तभी क्षमायाचना भलीभाँति सार्थकता पाती है। उचित यह है, साधु दूरवर्ती स्थान में भी जाकर ही क्षमायाचना करे। क्योंकि साधु एकाकी विहार करते हुए वहाँ जाने में समर्थ होता है।

साध्वियों के लिए दूरवर्ती स्थान में सहयोगिनियों के बिना अकेले जाना संभव नहीं है। उन्हें वैसा करने में अनेक बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। अत एव उन द्वारा दूरवर्तीनी होते हुए भी एक-दूसरे को उद्दिष्ट कर क्षमायाचना करना, वैमनस्य या मनमुटाव को उपशान्त करना कल्पता है। यहाँ इतना अवश्य ज्ञातव्य है कि जिन साध्वियों के बीच परस्पर कटुता उत्पन्न हुई हो, वे निकटवर्ती स्थान में हों तो सहयोगिनियों के साथ, अपेक्षित व्यवस्था के साथ वहाँ जाकर ही क्षमायाचना करे।

निषिद्ध काल में साधु-साध्वियों के लिए स्वाध्याय विषयक विधि-निषेध

णो कप्पइ णिगंग्थाणं विइकिट्टए काले सज्झायं करेत्तए ॥ १८९ ॥

कप्पइ णिगंग्थीणं विइकिट्टए काले सज्झायं करेत्तए णिगंग्थिणस्साए ॥ १९० ॥

कठिन शब्दार्थ - विइकिट्टए काले - व्यतिकृष्ट - विपरीत या निषिद्ध काल में, सज्झायं - स्वाध्याय, करेत्तए - करना।

भावार्थ - १८९. साधुओं को निषिद्ध काल में उत्कालिक आगमों के, स्वाध्याय काल में कालिक आगमों का स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

१९०. साध्वियों को साधु की निश्रा में निषिद्ध काल में उत्कालिक आगमों के, स्वाध्याय काल में कालिक आगमों का स्वाध्याय करना कल्पता है।

विवेचन - जिन आगमों का जिस काल में स्वाध्याय करना विवर्जित अथवा निषिद्ध है, वह काल उन आगमों के लिए व्यतिकृष्ट काल कहा जाता है।

इन सूत्रों में व्यतिकृष्ट काल में आगमों के सूत्र पाठ के संदर्भ में साधु-साध्वियों के लिए विधि-निषेध का प्रतिपादन है।

साधुओं के लिए व्यतिकृष्ट काल में स्वाध्याय का निषेध है, किन्तु साध्वियों के लिए साधु की निश्रा में वैसा करने का निषेध नहीं है।

इन सूत्रों में व्यतिकृष्ट काल का जो निर्देश हुआ है, वह केवल दिन एवं रात के द्वितीय तथा तृतीय प्रहर का सूचक है। अर्थात् इन चारों प्रहरों में कालिक सूत्रों का स्वाध्याय निषिद्ध है।

यहाँ साध्वियों के लिए स्वाध्याय के संबंध में जो निषेध नहीं किया गया है, वह आपवादिक है।

आगमों के मूल पाठ की परम्परा अक्षुण्ण एवं अपरिवर्तित रहे, इस हेतु कभी-कभी प्रवर्तिनी एवं तत्सान्निध्यवर्तिनी साध्वियों को आचार्य या उपाध्याय को पाठ सुनाना आवश्यक होता है।

साधु-साध्वियों के लिए स्वाध्याय-अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय-विषयक विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा असज्झाइए सज्झायं करेत्तए ॥ १९१ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा सज्झाइए सज्झायं करेत्तए ॥ १९२ ॥

कठिन शब्दार्थ - असज्झाइए - अस्वाध्याय काल में, सज्झाइए - स्वाध्याय काल में।

भावार्थ - १९१. साधु-साध्वियों को अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना नहीं कल्पता।

१९२. साधु-साध्वियों को स्वाध्याय काल में स्वाध्याय करना कल्पता है।

विवेचन - इन सूत्रों में साधु-साध्वियों को स्वाध्याय काल में आगमों के स्वाध्याय करने का तथा अस्वाध्याय काल में स्वाध्याय न करने का निर्देश है।

जिनमें आगमों का स्वाध्याय किया जाना अविहित (निषिद्ध) है, वे स्थितियाँ अस्वाध्याय काल के अन्तर्गत आती हैं। उनमें से काल, औदारिक तथा आकाश से संबंधित स्थितियाँ क्रमशः बारह (१२), दस (१०) एवं दस (१०) हैं। इस प्रकार बत्तीस (३२) अस्वाध्याय काल माने गए हैं। इनसे रहित स्थितियाँ स्वाध्यायोपयोगी हैं। निशीथ सूत्र के उद्देशक १९ में स्वाध्याय-अस्वाध्याय आदि के संबंध में विस्तृत विवेचन है, जो वहाँ दृष्टव्य है।

दैनिक अस्वाध्यायावस्था में स्वाध्याय-विषयक विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करेत्तए,
कप्पइ ण्हं अण्णमण्णस्स वायणं दलइत्तए ॥ १९३ ॥

कठिनशब्दार्थ - अप्णो - अपना - स्वशरीर-विषयक, वायणं - वाचना, दलइत्ताए- देना।

भावार्थ - १९३. साधुओं तथा साध्वियों को स्वशरीर-विषयक अस्वाध्यायात्मक स्थिति होने पर स्वाध्याय करना नहीं कल्पता। किन्तु परस्पर वाचना देना कल्पता है।

विवेचन - पिछले सूत्रों के विवेचन में बत्तीस अस्वाध्याय कालात्मक स्थितियों का सूचन हुआ है, उनमें औदारिक का संबंध उन शारीरिक स्थितियों से हैं, जिनमें स्वाध्याय करना वर्जित है। इस सूत्र में स्वाध्याय प्रतिकूल दैहिक स्थितियों में स्वाध्याय का निषेध किया गया है। साधुओं के लिए उनकी देह में किसी व्रण या घाव से निरन्तर रिसते, निकलते पीप, मवाद या रुधिर की स्थिति यहाँ सूचित है। साध्वियों के लिए उपरोक्त कथा ऋतुधर्म या मासिक धर्म की स्थिति का संकेत है। इन दोनों ही प्रकार की स्थितियों में स्वाध्याय करने का निषेध किया गया है।

आगमों की वाचना का प्रसंग यहाँ अपवाद के रूप में विहित हुआ है। आगम-वाचना चल रही हो, उनमें सहभागी किन्हीं साधुओं के व्रण आदि से पीप, रुधिर आदि निरन्तर निकल रहा हो एवं सहभागिनी साध्वियों में कतिपय मासिक धर्म में हों, इन स्थितियों को देखकर यदि वाचना को रोक दिया जाए तो आगमों के अध्ययन में व्यवधान होता है तथा उनके अतिरिक्त अन्य साधु-साध्वियों के आगमाध्ययन में विघ्न होता है। क्योंकि जहाँ बहुत से साधु-साध्वी वाचना ले रहे हों, वहाँ किन्हीं-किन्हीं के ऐसी स्थितियों का होते रहना संभावित है। अतः उनके कारण वाचना का निषेध नहीं किया गया है। वाचना का कार्यक्रम सतत चलता रहे, मुख्य रूप से यहाँ यह उद्दिष्ट है।

सूत्र में अपने अस्वाध्याय में वाचना देने का विधान है तो भी वाचना देना और लेना दोनों ही समझ लेना चाहिए। क्योंकि वाचना न देने में जो अव्यवस्था संभव रहती है, उससे भी अधिक अव्यवस्था वाचना न लेने में हो जाती है और अपने अस्वाध्याय में श्रवण करने की अपेक्षा उच्चारण करना अधिक बाधक होता है। अतः वाचना देने की छूट में वाचना लेना तो स्वतः सिद्ध है। फिर भी भाष्योक्त रक्त आदि की शुद्धि करने एवं वस्त्रपट लगाने की विधि के पालन करने का ध्यान अवश्य रखना चाहिए।

साध्वी के लिए आचार्य-उपाध्याय पद-नियुक्ति-विषयक विधान

तिवासपरियाए समणे णिगंग्थे तीसं वासपरियाए समणीए णिगंग्थीए कप्पइ उवञ्जायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ १९४ ॥

पंचवासपरियाए समणे णिग्गंथे सद्विवासपरियाए सम्पणीए णिग्गंथीए कप्पइ आयरिय(ताए)उवज्जायत्ताए उद्दिसित्तए ॥ १९५ ॥

कठिन शब्दार्थ - तिवासपरियाए - तीन वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त, तीस वासपरियाए - तीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय से युक्त, पंचवासपरियाए - पाँच वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त, सद्विवासपरियाए - साठ वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त।

भावार्थ - १९४. तीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय से युक्त साध्वी को तीन वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त साधु को उपाध्याय के रूप में स्वीकार करना कल्पता है।

१९५. साठ वर्ष की दीक्षा-पर्याय से युक्त साध्वी को पाँच वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त साधु को आचार्य या उपाध्याय के रूप में स्वीकार करना कल्पता है।

विवेचन - इन सूत्रों के अनुसार उपाध्याय एवं आचार्य के नेतृत्व के बिना साध्वियों को रहना नहीं कल्पता। (यहाँ प्रवर्तिनी पद का भी अध्याहार माना जाना चाहिए।)

इस संबंध में विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है कि यदि साध्वी तीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय से युक्त की हो तो भी उसे उपाध्याय के निर्देशन में रहना आवश्यक है। उपाध्याय न हो - कालधर्म को प्राप्त हो गए हों, गण में कोई अन्य दीर्घ दीक्षा-पर्याय युक्त साधु न हो तो वह साध्वी तीन वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त साधु को भी उपाध्याय के रूप में स्वीकार करे।

साध्वी यदि साठ वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त हो तो उसके लिए पाँच वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त साधु भी आचार्य या उपाध्याय के रूप में स्वीकरणीय है।

यद्यपि दीक्षा-पर्याय का महत्त्व अवश्य है, किन्तु स्त्रीत्व के नाते उनके लिए आश्रय, संबल या संरक्षण आवश्यक है। अत एव यहाँ अल्प दीक्षा-पर्याय युक्त साधु को भी आचार्य या उपाध्याय के रूप में निर्देशक स्वीकार करने का विधान किया गया है। 'निराश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः।' नीतिकार की यह उक्ति यहाँ सार्थक घटित होती है।

तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को उपाध्याय बनाया जा सकता है। तीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय वाली साध्वी भी उसे अपने उपाध्याय के रूप में स्वीकार कर सकती है। यहाँ पर तीस वर्ष उपलक्षण है, इससे न्यूनाधिक पर्याय वाली साध्वी भी उसे अपना उपाध्याय स्वीकार कर सकती है। इसी तरह अगले सूत्र में आचार्य के लिये ५ वर्ष एवं ६० वर्ष का समझना। इन सूत्रों से 'साध्वी बिना साधु की नेश्राय से नहीं रह सकती है,' यह भी स्पष्ट होता है। इस प्रकार का भाव इस सूत्र का समझा जाता है।

१३१। मार्ग में मृत श्रमण के शरीर का परिष्ठापन तथा उपकरण-ग्रहण का विधान

मार्ग में मृत श्रमण के शरीर का परिष्ठापन तथा उपकरण-ग्रहण का विधान

गामाणुगामं दूइज्जमाणे भिक्खू य आहच्च वीसंभेज्जा तं च सरीरं केइ साहम्मिए
पासेज्जा, कप्पइ से तं सरीरं से ण सागारियमिति कट्टु थंडिले बहुफासुए
पडिलेहिता पमज्जिता परिद्वेत्तए, अत्थि या इत्थि केइ साहम्मियसंतिए उवगरणजाए
परिहरणारिहे, कप्पइ से सागारकडं गहाय दोच्चं पि ओगगहं अणुणवेत्ता परिहारं
परिहारेत्तए ॥ १९६ ॥

कठिन शब्दार्थ - सरीरं - देह, सागारियं - साकारिक - गृहस्थ, कट्टु - करके
(जानकर), थंडिले - स्थण्डिल - स्थान में, बहुफासुए - बहुप्रासुक - द्वीन्द्रियादि जीव
विवर्जित, पडिलेहिता - प्रतिलेखन कर, पमज्जिता - प्रमार्जन कर, परिद्वेत्तए - परिष्ठापन
करना - परठना, साहम्मियसंतिए - साधर्मिक श्रमण के, उवगरणजाए - उपकरण समूह -
उपधि आदि उपयोग में लेने की वस्तुएँ, परिहरणारिहे - परिहरणार्ह - उपयोग में लेने योग्य,
सागारकडं - सागारकृत - आगार के साथ, गहाय - गृहीत कर, अणुणवेत्ता - आज्ञा
प्राप्त कर, परिहारेत्तए - उपयोग में लेना।

भावार्थ - १९६. ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए यदि किसी साधु का अकस्मात् मार्ग में
देहावसान हो जाए और उसके शरीर को कोई साधर्मिक साधु देखे तथा यह जाने कि यहाँ
कोई गृहस्थ नहीं है तो साधु के मृत शरीर को एकान्त में अचित्त, अतीव प्रासुक - द्वीन्द्रियादि
जीव रहित स्थान में प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन कर परिष्ठापित करना - परठना उसे कल्पता है।

यदि उस मृत साधर्मिक साधु के उपयोग में लेने योग्य कोई उपकरण हो तो आगार के
साथ उन्हें गृहीत करना तथा आचार्य आदि की आज्ञा लेकर उपयोग में लेना कल्पता है।

विवेचन - बृहत्कल्प सूत्र के चतुर्थ उद्देशक में, उपाश्रय में कालधर्म को प्राप्त साधु के
मृत शरीर को परठने के संबंध में वर्णन हुआ है। यहाँ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मार्ग में
कालधर्म प्राप्त साधु के मृत शरीर के परठने के विषय में विवेचन है।

जैन धर्म अनेकान्तवाद की पृष्ठभूमि पर आधारित है, वहाँ किसी भी विषय को ऐकान्तिक
रूप में पकड़े रहना स्वीकृत नहीं है। वह निश्चय तथा व्यवहार - दोनों नयों के समन्वय को
स्वीकार करता है। अत एव नैश्चयिक एवं व्यावहारिक - दोनों दृष्टियों से आगमों में, शास्त्रों
में विविध विषयों का विश्लेषण हुआ है।

यद्यपि प्राणान्त हो जाने पर, आत्मा से वियुक्त - विरहित हो जाने पर तात्त्विक दृष्टि से शरीर का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, किन्तु उसका यथावत् परिष्ठापन हो, इसे भी ध्यान में रखा जाना आवश्यक है। यह परंपरा है कि साधु के मृत शरीर को साधर्मिक साधुओं के द्वारा व्युत्सर्जित कर दिए जाने के बाद गृहस्थ उसे संभाल लेते हैं और सभी लौकिक क्रियाएँ करते हैं, जो उनका सांसारिक कार्य है।

इस सूत्र में ऐसे प्रसंग का वर्णन है, यदि कोई एकाकी विहार करता हुआ साधु अकस्मात् मार्ग में दिवंगत हो जाए, वहाँ कोई गृहस्थ उपस्थित न हो, कोई साधर्मिक साधु संयोगवश वहाँ पहुँच जाए, उस स्थिति में वह उस मृत शरीर को यथाविधि अचित्त, सर्वथा प्रासुक स्थान में परिमार्जनपूर्वक परिष्ठापित करे, ऐसा कल्प्य है।

उस साधु की उपयोग में लेने योग्य कोई वस्तुएँ हो तो परठने वाला साधु आचार्य आदि के सम्मुख उपस्थापित करने के आगार के साथ उन्हें ग्रहण करे फिर आचार्य आदि को दिखलाए और वे जैसी भी आज्ञा दें, तदनुसार उन वस्तुओं को अथवा उनमें से कतिपय को उपयोग के लिए स्वीकार करे।

सूत्र में आये हुए 'ण सागारिय मिति कट्टु' शब्दों का अर्थ प्राचीन परम्परा(धारणा) से इस प्रकार किया जाता है - 'यूका आदि न हो इस प्रकार प्रतिलेखन करके'।

परिहरणीय शय्यातर-विषयक निरूपण

सागारियं उवस्सयं वक्कणं पउंजेज्जा, से य वक्कइयं वएज्जा-इमंमि य इमंमि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति, से सागारिए पारिहारिए, से य णो वएज्जा, वक्कइए वएज्जा से सागारिए पारिहारिए, दो वि ते वएज्जा दो वि सागारिय पारिहारिया ॥ १९७ ॥

सागारिए उवस्सयं विक्किणेज्जा, से य कइयं वएज्जा-इमंमि य इमंमि य ओवासे समणा णिग्गंथा परिवसंति, से सागारिए पारिहारिए, से य णो वएज्जा, कइए वएज्जा, से सागारिए पारिहारिए, दो वि ते वएज्जा, दो वि सागारिया पारिहारिया ॥ १९८ ॥

कठिन शब्दार्थ - उवस्सयं - उपाश्रय - रहने का मकान, वक्कणं - अवक्रय - कुछ समय के लिए किराये पर देना, पउंजेज्जा - प्रयुक्त करे - किराये पर दे, वक्कइयं - अवक्रयिक - किरायेदार को, ओवासे - स्थान में, इमंमि इमंमि - इस-इस में, परिवसंति - निवास करते हैं - रहते हैं, पारिहारिए - परिहार्य या परिहर्त्तव्य - छोड़ने योग्य, विक्किणेज्जा- विक्रय करे - बेचे, कइयं - क्रयी - क्रय करने वाला या खरीदने वाला।

भावार्थ - १९७. कोई गृहस्थ अपने स्थान को किराये पर दे और किरायेदार से कहे कि इस-इस स्थान में श्रमण-निर्ग्रन्थ निवास कर रहे हैं, तब वह गृहस्थ शय्यातर होता है और वह परिहार योग्य है - उसके यहाँ से श्रमण-निर्ग्रन्थ भिक्षा नहीं ले सकते।

वह - किराए पर देने वाला कुछ न बोले, अर्थात् उपेक्षा भाव दिखलाए, किराये पर लेने वाला ही बोले - कहे तो वह शय्यातर के रूप में परिहार्य है।

दोनों ही कहें - साधुओं को प्रवास की अनुज्ञा दें तो दोनों ही शय्यातर के रूप में परिहार्य हैं।

१९८. मकान मालिक गृहस्थ, अपना मकान बेचे और लेने वाले से कहे कि इस-इस स्थान पर श्रमण-निर्ग्रन्थ निवास कर रहे हैं तो वह मकान मालिक शय्यातर के रूप में परिहार्य है।

मकान बेचने वाला गृहस्थ कुछ न कहे, खरीददार कहे तो वह शय्यातर के रूप में परिहार्य है।

यदि विक्रेता और क्रेता दोनों ही कहें तो दोनों ही सागारिक के रूप में परिहार्य हैं।

विवेचन - विभिन्न दर्शनों या शास्त्रों के अपने कुछ प्रारिभाषिक शब्द होते हैं, तदनुसार उनका अपना विशेष अर्थ होता है। जैन आगमों में प्रयुक्त शय्यातर शब्द इसी प्रकार का है। साधुओं को रहने के लिए जो गृहस्थ अपना स्थान देता है, उसे 'शय्यातर' कहा जाता है।

“शय्याम् - शयन-आसन-निषीदनाद्युपयोगी स्थानं तरति - प्रापयतीति शय्यातरः।”
इस व्युत्पत्ति के अनुसार शय्या का अर्थ सोने, रहने, बैठने आदि के उपयोग में आने वाला स्थान या मकान है। इन सब कार्यों में सोने का - शयन या विश्राम करने का मुख्य स्थान है। इसीलिए इन्हें शय्या कहा गया है। अत एव जो साधुओं को निवास हेतु अपना स्थान देता है, वह शय्यातर के नाम से अभिहित होता है।

साधु शय्यातर की आज्ञा या स्वीकृति से ही उस द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिए गए स्थान में निवास करते हैं। इस प्रकार जिसके स्थान में वे निवास करते हैं, उसके यहाँ भिक्षा हेतु जाना उन्हें नहीं कल्पता। इसलिए शय्यातर को भिक्षा के संदर्भ में परिहार्य - परिहर्त्तव्य या छोड़ने योग्य कहा गया है। इसी अर्थ में इन सूत्रों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

शय्यातर के यहाँ भिक्षार्थ न जाने के संबंध में जो नियम रखा गया है, उसका बड़ा महत्त्वपूर्ण आशय है। शय्यातर अपना स्थान देकर साधुओं को उनके संयममय जीवन के निर्वाह में सहयोग करता है। वह उस द्वारा दी गई महत्त्वपूर्ण सेवा है। यद्यपि वह साधुओं को

भिक्षा देने में अभिरुचि रखता है, किन्तु फिर भी यह सोचते हुए कि कदाचन वह उसे कहीं भार रूप न लग जाए, इस मनोवैज्ञानिक चिन्तन के आधार पर यह मर्यादा या नियम रखना आवश्यक माना गया।

जैन दर्शन प्रत्येक विषय पर, चाहे वह तात्त्विक हो या व्यावहारिक, बड़ी गहराई से चिन्तन करता है। वहाँ सदैव यह जागरूकता रखी जाती है कि कहीं किसी भी चर्चा में, व्यवहार में कोई भी ऐसा प्रसंग न हो, जिससे इस दर्शन, धर्म या आचार संहिता में जरा भी न्यूनता प्रतीत हो। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्र ने इसे सर्वोदय तीर्थ कहा है अर्थात् यह वह आध्यात्मिक तीर्थ है, जिसमें सबके उदय, उत्थान, कल्याण या सुख का सन्निवेश है। इस संबंध में उनका निम्नांकित श्लोक पठनीय है -

सर्वान्तवद तद्गुणमुख्यकल्प,
सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनवद्यम्।
सर्वापदामन्तकटं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तदेव ॥

इन सूत्रों में मकानमालिक, मकान के किरायेदार एवं मकान के खरीददार आदि से संबंधित शय्यातर-विषयक प्रसंगों की चर्चा है, जिसका आशय भावार्थ से स्पष्ट है।

आवास स्थान में ठहरने के संबंध में आज्ञा-विधि

विहवधूया णायकुलवासिणी, सा वि यावि ओग्गहं अणुणवेयव्वा, किमंग-पुण
पिया वा भाया वा पुत्ते वा, से वि यावि ओग्गहे ओग्गेण्हयव्वे ॥ १९९ ॥

पहे वि ओग्गहं अणुणवेयव्वे ॥ २०० ॥

कठिन शब्दार्थ - विहवधूया - विधवा, दुहिता - पुत्री, णायकुलवासिणी - ज्ञातकुलवासिनी - पीहर (पितृ गृह) में रहने वाली, ओग्गहं अणुणवेयव्वे - स्थान की आज्ञा देने योग्य, पिया - पिता, भाया - भाई, पुत्ते - पुत्र, ओग्गहे ओग्गेण्हयव्वे - आज्ञा लिए जाने योग्य, पहे वि - मार्ग में भी।

भावार्थ - १९९. पिता के घर में रहने वाली विधवा पुत्री भी जब साधु-साध्वी को ठहरने के स्थान की आज्ञा देने योग्य है - वह आज्ञा दे सकती है तो पिता, भाई तथा पुत्र आदि की तो बात ही क्या, उनसे भी आज्ञा ली जा सकती है।

२००. मार्ग में भी ठहरने के स्थान की आज्ञा लेनी चाहिए।

विवेचन - जैन साधु को अनगार कहा जाता है। “**वास्तित अगारं - गृहं यस्य, स अनगारः**” अगार शब्द का अर्थ घर है। जिसके कोई अपना घर या आवास स्थान न हो, उसे अनगार कहा जाता है। साधु सर्वस्व-त्यागी होते हैं। वे अपरिग्रह महाव्रत के धारक होते हैं। किसी भी जमीन, जायदाद, मकान आदि पर उनका कोई स्वामित्व नहीं होता। वे जहाँ भी ठहरते हैं, गृहस्वामी या मकान मालिक की अनुज्ञा या स्वीकृति लेकर ही ठहरते हैं।

इन सूत्रों में साधु-साध्वियों द्वारा ठहरने के स्थान की आज्ञा लेने के संबंध में निरूपण है। गृहस्वामी या मकान मालिक अथवा उसका पिता या भाई अथवा पुत्र - ये साधु-साध्वियों को ठहरने के स्थान की आज्ञा देने के अधिकारी हैं।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि अविवाहिता पुत्री भी आज्ञा देने की अधिकारिणी है, किन्तु विवाहित हो जाने के पश्चात् उसका घर ससुराल हो जाता है। अतः पिता के घर में साधु-साध्वियों को ठहरने की आज्ञा देने का उसका अधिकार नहीं रहता। किन्तु वह विवाहिता पुत्री जिसके पति का देहावसान हो गया हो तथा जो पिता के घर में रहती हो, वह (विधवा) पुत्री भी अनुज्ञा दे सकती है। यहाँ इतना और जानना चाहिए कि कोई विवाहिता पुत्री किसी अपरिहार्य कारण से निरन्तर पिता के ही घर में रहती हो वह भी अनुज्ञा देने की अधिकारिणी है।

साधु या साध्वी विहार कर रहे हों, मार्ग में कहीं ठहरने की आवश्यकता हो जाए, मकान का कोई खुला परिसर आदि हो, छायादार वृक्ष के नीचे का स्थान हो तो आस-पास के लोगों से और वहाँ कोई भी न हो तो उधर से निकलने वाले राहगीरों से आज्ञा लेनी चाहिए। राहगीर भी न हो, अर्थात् आज्ञा देने वाला कोई भी न हो तो “शक्रेन्द्र भी आज्ञा है”, यों उच्चारित कर साधु-साध्वी वहाँ ठहर सकते हैं, किन्तु आज्ञा लिए बिना कहीं भी ठहरना अविहित है। यदि कहीं आज्ञा लेना भूल जाएं तो उसके लिए आलोचना - प्रतिक्रमण करना चाहिए।

आज्ञा लेने के संबंध में यहाँ जो इतना सूक्ष्म रूप में प्रतिपादन हुआ है, उसका आशय यह है कि साधु-साध्वियों के मन में क्षण-क्षण अपरिग्रह का प्रोज्ज्वलभाव उदित रहे।

राज-परिवर्तन की दशा में अनुज्ञा-विषयक विधान

से रज्जपरियट्टेसु संधडेसु अच्चोगडेसु अच्चोच्छिण्णोसु अपरपरिग्गहिएसु सच्चवेव ओग्गहस्स पुच्चाणुण्णवणा चिट्ठइ अहालंदमवि ओग्गहे ॥ २०१ ॥

से रज्जपरियट्टेसु असंथडेसु वोगडेसु वोच्छिण्णोसु परपरिगगहिएसु भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि ओग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया ॥ २०२ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ ववहारस्स सत्तमो उद्देशओ समत्तो ॥ ७ ॥

कठिन शब्दार्थ - रज्जपरियट्टेसु - राजपरावर्त या परिवर्तन होने पर - राजा की मृत्यु के पश्चात् नये राजा के अभिषिक्त होने पर, **संथडेसु** - संस्तृत - सम्यक् रूप में समर्थ होने पर, **अव्वोगडेसु** - अव्याकृत - व्याकृति या विभाग रहित होने पर, **अव्वोच्छिण्णोसु** - अव्यवच्छिन्न - व्यवच्छेद रहित या वशपरम्परानुगत रूप में चलते रहने पर, **अपरपरिगगहिएसु** - अपरपरिगृहीत - किसी अन्य राजा द्वारा परिगृहीत - अधिकृत न होने पर, **सच्चेव** - वही, **ओग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा** - पूर्वावग्रह - अनुज्ञापना - ठहरने, रहने, विचरने की पूर्व प्राप्त आज्ञा, **चिट्ठुइ** - स्थित - विद्यमान रहती है, **अह्वालंदं** - यथालंद - यावत् काल पर्यन्त, **अवि** - अपि - भी।

भावार्थ - २०१. यदि राजा की मृत्यु हो जाए, उसके स्थान पर राजकुमार आदि अन्य राजगृही पर बैठे, राज-सामर्थ्य या राज-सत्ता भलीभाँति चल रही हो, उनमें किसी प्रकार की व्याकृति, विभाग या विभाजन न हुआ हो, व्यवच्छेद रहित - वंशपरंपरानुगत अविच्छिन्न रूप में राज परंपरा चल रही हो, किसी अन्य आक्रान्ता या राजा द्वारा वह राज्य अधिकृत न हुआ हो तो जब तक ऐसा रहे, राज्य के स्वामी से, राजा से पूर्व गृहीत अनुज्ञा ही यथेष्ट है।

२०२. यदि राजा की मृत्यु हो जाए और जिन स्थितियों का पूर्व सूत्र में वर्णन हुआ है, वे सब परिवर्तित हो जाएँ, राजव्यवस्था सर्वथा विच्छिन्न हो जाए, राजकुल में विभक्त हो जाए या किसी आक्रान्ता द्वारा अधिकृत हो जाए तो संयममय जीवन के नियमों या मर्यादाओं के परिपालन की दृष्टि से पुनः उनसे, जिन द्वारा राज-सत्ता अधिकृत हो, अनुज्ञा लेनी चाहिए।

विवेचन - इन सूत्रों में साधुओं के लिए राज्य में विचरण हेतु राजाज्ञा लेने के संबंध में जो वर्णन हुआ है, वह राजतंत्रात्मक व्यवस्था से संबद्ध है, जो वंशपरंपरानुसार चलती थी। तदनुसार एक ही राजा राज्य का स्वामी या शासक होता था।

तब राजपरिवार के सदस्यों द्वारा किये जाने वाले विद्रोह, अन्य राजाओं द्वारा किये गए आक्रमण आदि प्रतिकूल स्थितियाँ संभावित थीं, जिनके कारण राजसत्ता में समय-समय पर परिवर्तन होता रहता था। वैसी बदलती हुई स्थितियों में साधु-साध्वियों को अनुज्ञा लेने के संबंध में किस विधि का अनुसरण करना चाहिए, इन सूत्रों में यह व्याख्यात हुआ है।

यदि किन्हीं साधु-साध्वियों ने वहाँ के राजा से उसके राज्य में विहार करने की अनुज्ञा प्राप्त की हो, उस राजा का निधन हो जाए, किन्तु राज-सत्ता आनुवंशिकता अनुरूप अव्यवच्छिन्न रहे तो मृत राजा के स्थान पर अभिषिक्त होने वाले नए राजा की पुनः आज्ञा लेना आवश्यक नहीं है, क्योंकि पूर्ववर्ती राजा की मूल व्यवस्था में, सत्ता में कोई अन्तर नहीं आया है।

यदि उपर्युक्त स्थिति न रहे, राज्य टुकड़ों में विभक्त हो जाए अथवा किसी आक्रमणकारी अन्य राजा के अधिकार में चला जाए, राजसत्ता इस प्रकार सर्वथा परिवर्तित हो जाए तो साधु-साध्वियों को अपनी संयमानुगत आचार संहिता या जीवनचर्या के परिपालन की दृष्टि से राज्य के जो नये शासक या स्वामी हुए हों, जिनके हाथ में राज्य-सत्ता आदि हो, उनसे अनुज्ञा प्राप्त करना अभीष्ट है।

सभी जैन संघों के साधु साध्वियों के विचरण करने की राजाज्ञा एक प्रमुख व्यक्ति के द्वारा प्राप्त कर ली जाए तो फिर पृथक्-पृथक् किसी भी संत सती को आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रहती है।

श्रमण-निर्ग्रन्थ सर्वथा निर्द्वन्द्व, प्रशान्त, आत्मोपासनारत तथा सांसारिक स्थितियों से सर्वथा अनासक्त, तटस्थ, अस्पृष्ट रहें, यह वांछित है। ऐसा करते हुए वे अपने जीवन के परम लक्ष्य की दिशा में सदा अग्रसर रहते हैं। इन सूत्रों का यह हार्द है।

आज युग बदल चुका है। राजतंत्र प्रायः समाप्त हो गया है। भारत वर्ष जो सैकड़ों राजाओं द्वारा शासित था, आज प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था से चल रहा है, कोई भी राजा नहीं है। राजा या जनता द्वारा निर्वाचित जन ही शासन करते हैं। अतः उपर्युक्त सूत्रों में सूचित मर्यादाओं का वर्तमान में कोई स्थान नहीं है। भारत के भिन्न-भिन्न राज्य, प्रदेश या प्रान्त प्रजातन्त्र द्वारा ही शासित हैं। जब तक यह प्रजातंत्र अविच्छिन्न चालू रहे तब तक पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं रहती है। तंत्र बदल जाने पर अर्थात् राजतंत्र या गणतंत्र हो जाने पर पुनः आज्ञा लेने की आवश्यकता रहती है।

संसार का अधिकांश भाग आज प्रजातंत्रात्मक प्रणाली द्वारा संचालित है। राजतंत्र बहुत ही कम स्थानों में विद्यमान है।

॥ व्यवहार सूत्र का सातवाँ उद्देशक समाप्त ॥

अट्टमो उद्देश्यो - अष्टम उद्देशक

साधुओं द्वारा शयन-स्थान-चयन-विधि

गाहा(गिह)उ(डु)दूपज्जोसविए, ताए गाहाए ताए पएसाए ताए उवासंतराए जमिणं जमिणं सेज्जासंधारगं लभेज्जा तमिणं तमिणं ममेव सिया, थेरा य से अणुजाणेज्जा, तस्सेव सिया, थेरा य से णो अणुजाणेज्जा, एवं से कप्पइ अहाराइणियाए सेज्जासंधारगं पडिग्गाहेत्ताए ॥ २०३ ॥

कठिन शब्दार्थ - गाहा - गाथा - गृह या घर, स्थान, उ(डु)दू(उऊ) - ऋतु - वर्षा ऋतु के अतिरिक्त हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु, पज्जोसविए - पर्युषित - ठहरने के लिए रहा हुआ, ताए - उस, गाहाए - घर में - घर के एक प्रकोष्ठ में, पएसाए - प्रदेश - विभाग में, उवासंतराए - अवकाशान्तर - दोनों के मध्यवर्ती स्थान में, जमिणं-जमिणं - जो - जो, सेज्जासंधारगं - शय्यासंस्कारक - शयन स्थान या पट्ट, सोने का आस्तरण, लभेज्जा - प्राप्त करे, तमिणं-तमिणं - उस-उस (स्थान को), ममेव - मेरे, अहाराइणियाए - यथारालिकता - ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की अधिकता या दीक्षा-ज्येष्ठता के अनुसार।

भावार्थ - २०३. हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु में कोई साधु किसी के घर में ठहरने हेतु रहा हो तो वह उस घर के किसी प्रकोष्ठ (कमरे) में, किसी विभाग में या दोनों के मध्यवर्ती स्थान में जो भी शयन स्थान अनुकूल प्रतीत हो "उसे मैं प्रतिगृहीत करूँ" ऐसा विचार करे।

यदि स्थविर उसे वैसा करने की - वहाँ शयन करने की अनुज्ञा प्रदान करे तो वह उस स्थान को शयन हेतु प्रतिगृहीत करे।

स्थविर यदि अनुज्ञा न दे तो उसे रत्नाधिकता - दीक्षा-ज्येष्ठता के क्रम से शयन-स्थान प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

विवेचन - प्राकृत में गाहा (गाथा) शब्द गृह - घर के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है। घर का स्वामी गाहावइ (गाथापति) शब्द द्वारा अभिहित हुआ है। उपासकदशांग सूत्र में भगवान् महावीर के आनंद आदि दश प्रमुख श्रावकों के लिए गाहावइ - गाथापति शब्द का प्रयोग हुआ है।

इसका एक अर्थ प्रशस्ति भी है। धन, धान्य, समृद्धि, वैभव आदि के कारण बड़ी प्रशस्ति का अधिकारी होने से भी एक संपन्न, समृद्ध गृहस्थ के लिए इस शब्द का प्रयोग टीकाकारों ने माना है।

गाहा - गाथा का प्राकृत में आर्या छन्द के लिए भी विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। यह छन्द प्राकृत में बहुत अधिक प्रयोग में आता रहा है। महाकवि हाल की गाहासतसई - गाथा सप्तशती प्राकृत वाङ्मय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। आर्या या गाथा छन्द का निर्माकित लक्षण है -

यस्याः पादे प्रथमे, द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।

अष्टादशद्वितीये, चतुर्थके पंचदशाऽऽर्या ॥

जिसके प्रथम तथा तृतीय चरण में बारह मात्राएँ होती हैं, द्वितीय चरण में अठारह मात्राएँ होती हैं एवं चतुर्थ चरण में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं, वह आर्या या गाथा छन्द कहा जाता है।

इस सूत्र में गाहा का प्रयोग गृह या निवास स्थान के अर्थ में हुआ है।

साधु प्रवास हेतु जहाँ रुके हों, वहाँ अपने लिए शयन-स्थान का चयन किस प्रकार करे, उसका विधिक्रम यहाँ बतलाया गया है। वे मनचाहे रूप में शयन-स्थान प्रतिगृहीत न करें, स्थविरों की आज्ञा से करें, ऐसी मर्यादा है। यदि किसी कारण वश स्थविरों की अनुज्ञा प्राप्त न हो तो फिर जो साधु ठहरे हुए हों, वे दीक्षा-ज्येष्ठता के क्रम से स्थान का चयन करें, अर्थात् जो दीक्षा में बड़े हों, पहले स्थान चयन का अवसर उन्हें रहे, आगे उसी क्रम से स्थान चयन होता जाए।

दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ होना अपने आप में विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उनका साधनाकाल लम्बा होता है। साधु-जीवन में साधना का सर्वोपरि महत्त्व है। अतः उनके प्रति प्रतिष्ठा, सम्मान, आदर तथा विनय का भाव सदैव रहे, उनको अपने से उच्च एवं वरिष्ठ माना जाए। इस सूत्र का यह निष्कर्ष है।

शय्यासंस्तारक - आनयन-विधि

से अहालहुसगं सेजासंधारगं गवेसेजा, जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिण्झ
जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा परिवहित्तए, एस मे हेमंतगिम्हासु भविस्सइ ॥२०४ ॥

से य अहालहुसगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा, जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा अब्धाणं परिवहित्तए, एस मे वासावासासु भविस्सइ ॥२०५ ॥

से अहालहुसगं सेज्जासंथारगं गवेसेज्जा जं चक्किया एगेणं हत्थेणं ओगिज्झ जाव एगाहं वा दुयाहं वा तियाहं वा चउयाहं वा पंचाहं वा दूरमवि अब्धाणं परिवहित्तए, एस मे, वुद्धावासासु भविस्सइ ॥ २०६ ॥

कठिन शब्दार्थ - अहालहुसगं - यथालघुस्वक - अपने लिए यथा संभव छोटे, गवेसेज्जा - गवेषणा करे, चक्किया - शक्त - समर्थ हो सके, एगेणं हत्थेणं - एक हाथ द्वारा, ओगिज्झ - ग्रहण करना - उठाना, एगाहं - एक विश्राम के लिए दुयाहं - दो विश्रामों के लिए, तियाहं - तीन विश्रामों के लिए, अब्धाणं - अध्वा - मार्ग, परिवहित्तए- परिवहन करना - ले जाना, भविस्सइ - होगा - उपयोग में आयेगा, वासावासासु - वर्षावास में, चउयाहं - चार विश्रामों के लिए, पंचाहं - पाँच विश्रामों के लिए, दूरमवि - दूर भी, वुद्धावासासु - वृद्धावास में - वृद्धावस्था में।

भावार्थ - २०४. साधु ऐसे हल्के शय्यासंस्तरक - शयन पट्ट या शयनास्तरण की गवेषणा करे, जिसे एक हाथ से अवगृहीत किया जा सके - उठाया जा सके यावत् एक, दो या तीन विश्रामों को लेकर जिस स्थान (समीपवर्ती बस्ती) में हो, वहाँ का रास्ता पार कर - वहाँ से चलकर इस लक्ष्य से कि यह मेरे लिए हेमन्त एवं ग्रीष्म ऋतु में उपयोग में आयेगा, लाया जा सकता है।

२०५. साधु ऐसे हल्के शय्यासंस्तरक की गवेषणा करे, जिसे एक हाथ से अवगृहीत किया जा सके, यावत् एक, दो या तीन विश्रामों को लेकर जिस स्थान समीपवर्ती बस्ती या निकटवर्ती अन्य बस्ती में हो, वहाँ का रास्ता पार कर, इस लक्ष्य से कि यह मेरे लिए वर्षावास में उपयोगी होगा, लाया जा सकता है।

२०६. साधु ऐसे हल्के शय्यासंस्तरक की गवेषणा करे, जिसे एक हाथ से अवगृहीत किया जा सके यावत् एक, दो, तीन, चार या पाँच विश्रामों को लेकर जिस स्थान - उसी समीपवर्ती बस्ती तथा दूर की बस्ती में हो, वहाँ से मार्ग पार कर चल कर, इस लक्ष्य से कि यह मेरे लिए वृद्धावास - स्थविरवास में उपयोगी होगा, लाया जा सकता है।

विवेचन - जैन साधु की दिनचर्या शुद्ध आचार संहिता के नियमों से परिबद्ध होती है। वे अपना प्रत्येक कार्य नियम, विधि और परम्परा के अनुसार निर्वह्य रूप में करते हैं।

इन सूत्रों में शय्यासंस्तारक - शयनपट्ट या शयनास्तरण लाने के विषय में विधान हुआ है।

साधु-साध्वी सदा यह ध्यान रखते हैं कि वे कोई भी अनावश्यक या भारी वस्तु अपने पास न रखे और प्रातिहारिक रूप में याचित, परिगृहीत ही करे।

साधु का जीवन जितना हल्का हो उतना ही उत्तम है। स्वावलम्बी होने के कारण साधु किसी भी गृहस्थ के यहाँ से किसी भी वस्तु के लाने-ले जाने में उसका (किसी भी गृहस्थ का) शारीरिक सहयोग नहीं ले सकते। वे स्वयं या अपने साधर्मिक साधुओं के सहयोग से ही किसी वस्तु को ला-लेजा सकते हैं। साधर्मिक साधु भी सदा प्राप्त नहीं रहते। अत एव इन सूत्रों में संकेत किया गया है कि पाट, बाजोट आदि जो भी वे लाएं, वे अत्यन्त हल्के हो, इतने हल्के कि इन्हें एक ही हाथ के सहारे लाया - ले जाया जा सके। इससे वे अनावश्यक श्रम से बचते हैं तथा जीवन सर्वथा निर्भर - हल्का बना रहता है।

एक हाथ से उठाने का आशय बीच में विश्राम हेतु भूमि पर नहीं रखते हुए ले जाना। एक हाथ से दूसरे हाथ में बदलते हुए ले जाने में बाधा नहीं है। भूमि पर रखे बिना दूसरे साधु के हाथ में देने में भी एक हाथ से उठाना ही गिना जाता है।

इन सूत्रों में हेमन्त या ग्रीष्म ऋतु तथा वर्षावास में जो काल-मर्यादा दी गई है, वृद्धावास या स्थविरावास में तदपेक्षया अधिक काल मर्यादा है। यह इसलिए है कि वैसा आवास दीर्घकालवर्ती होता है, क्योंकि स्थविर - वृद्ध साधु वार्धक्य के कारण शारीरिक अशक्तिवश विहार करने में समर्थ नहीं होते।

व्यवहार सूत्र के आठवें उद्देशक के दूसरे तीसरे सूत्र में शेषकाल एवं चातुर्मास के लिए शय्या संस्तारक लाने का विधान है। वह शय्या संस्तारक इतना हल्का होना चाहिए कि उसे एक हाथ में पकड़ कर उपाश्रय में लाया जा सके तथा मार्ग में भी तीन विश्रामों से अधिक विश्राम न लेने पड़े। यहाँ पर 'अहं' शब्द का धारणानुसार अर्थ - विश्राम किया जाता है और वह संगत भी है। यदि उस गाँव में शय्या संस्तारक न मिले तो दो कोस की सीमा के अन्दर आये हुए ग्रामादि से भी प्रातिहारिक शय्या संस्तारक ला सकता है किन्तु मार्ग में तीन विश्रामों से अधिक विश्राम न लेने पड़े इतना दूर ही वह ग्रामादि होना चाहिए।

भाष्य, टब्बा आदि में तो 'अहं' का अर्थ दिन किया जाता है। तदनुसार मार्ग में थकान आ जाने के कारण अर्धादि कोस, कोस में विश्रान्ति के लिए रात भर रुकना पड़े तो तीन दिन भी लग सकते हैं। इसे भी दो कोस की सीमा के भीतर ही समझना चाहिए। इन दोनों अर्थों में से 'अहं' का संगत अर्थ तो विश्राम ही लगता है।

चौथे सूत्र का अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिए। किन्तु वृद्धावस्था के कारण पाँच विश्रामों से शय्या संस्तारक ला सकता है। शेषकाल और चातुर्मास काल से वृद्धावास में विशेष रुकने की संभावना रहती है। अतः यहाँ पर पाँच विश्राम बताए गये हैं। शेषकाल और चातुर्मास काल में जितनी दूरी से शय्या संस्तारक लाया जाता है। वृद्धावास में उससे अधिक दूरी से भी ला सकता है। इसलिए यहाँ पर 'दूरमवि अद्धानां' ऐसा पाठ दिया है। किन्तु इसे भी दो कोस तक ही समझना चाहिए अर्थात् शेषकाल और चातुर्मास काल के लिए तो दो कोस के भीतर से और वृद्धावास के लिए दो कोस तक से शय्या संस्तारक ला सकता है।

एकाकी स्थविर के उपकरण रखने तथा भिक्षार्थ जाने का विधिक्रम

शेराणं शेरभूमिपत्ताणं कप्पइ दंडए वा भंडए वा छत्तए वा मत्तए वा लट्ठिया वा भिसे वा चेले वा चेलचिलिमिलिं वा चम्मे वा चम्मकोसे वा चम्मपलिच्छेयणाए वा अविरहिए ओवासे ठवेत्ता गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा पविसित्तए वा णिक्खमित्तए वा, कप्पइ ण्हं सणियट्टुचारीणं दोच्चं पि ओग्गहं अणुण्णवेत्ता परिहारं परिहरित्तए ॥ २०७ ॥

कठिन शब्दार्थ - शेरभूमिपत्ताणं - स्थविरत्व प्राप्त, दंडए - दण्ड, भंडए - भाण्ड, छत्तए - छत्र, मत्तए - मात्रक - मल-मूत्र एवं कप हेतु प्रयोजनीय पात्र, लट्ठिया - विहार में सहारे के रूप में प्रयोजनीय लाठी, भिसे - उपवेशनपट्टिका - सहारा लेकर बैठने के लिए प्रयोग में आने वाली काठ की पट्टिका, चेले - वस्त्र - देह ढकने के लिए काम में आने वाली चद्दर या पछेवड़ी, चेलचिलिमिलिं - चिलमिलिका - कपड़े का पर्दा, चम्मे - सुई द्वारा कपड़े के टांका लगाते समय अंगुली की रक्षा के लिए प्रयोग में लिया जाने वाला चमड़े का अंगुलियक, चम्मकोसे - जहाँ अधिक कांटे हों, वहाँ चलते समय कांटों से बचाव के लिए पैरों में प्रयोग में लिया जाने वाला चमड़े का आवरण, चम्मपलिच्छेयणाए - चर्मछेदनक-पतले चमड़े को काटने का लकड़ी का उपकरण - लपेटने का चमड़े का टुकड़ा, अविरहिए-

अविरहित, ओवासे - अवकाश - स्थान में, ठवेत्ता - स्थापित कर - रख कर, गाहावइकुलं-गाथापतिकुल - गृहस्थ के परिवार में, भत्ताए - आहार के लिए, णिक्खमित्तए - निकलने के लिए, संगियट्टुचारीणं - संनिवृत्ताचार - वापस लौटे हुए।

भावार्थ - २०७. स्थविरत्व प्राप्त - वार्धक्यगत स्थविरों को दण्ड, भाण्ड, छत्र, मात्रक, यष्टिका, बैठने में सहारा लेने की काष्ठ पट्टिका, पछेवड़ी, पर्दा लगाने का कपड़ा, चर्म, चर्म कोस एवं चर्मवेष्टनक अविरहित स्थान में रखकर अर्थात् किसी को सम्हलाकर गृहस्थ के परिवार में - घर में आहार-पानी के लिए प्रवेश करना, बाहर निकलना कल्पता है।

आहार-पानी आदि लेकर वापस लौटने पर, जिसे अपने उपयोग की वस्तुएं सम्हलाई थी, उससे पुनः आज्ञा प्राप्त कर, सूचित कर उन्हें लेना कल्पता है।

विवेचन - इस सूत्र में ऐसे अतिवृद्धावस्था प्राप्त साधुओं की चर्या के संबंध में वर्णन है, जो एकाकी विहरणशील हों।

इस सूत्र में जिन वस्तुओं का वर्णन किया गया है, साधु साधारणतः स्वस्थ और सशक्त अवस्था में उनका उपयोग नहीं करते, किन्तु वृद्धावस्था में शरीर दुर्बल हो जाता है। इसलिए साधु संयम में उपयोगी या साधनभूत होने के कारण शरीर की परिरक्षा की चिन्ता करता है। अत एव शारीरिक दुर्बलता की दृष्टि से जिन-जिन वस्तुओं की समय-समय पर आवश्यकता पड़ती है, उनको निरवद्य रूप में प्रतिगृहीत करना, उपयोग में लेना वृद्ध, अशक्त भिक्षु के लिए विहित है। यह वृद्धता, अशक्तता आदि को देखते हुए आपवादिक विधान है।

उपरोक्त सूत्र में आये हुए 'छत्र' शब्द का आशय इस प्रकार समझना चाहिए - सूर्य की तेज धूप से रक्षा करने के लिए आँखों पर कपड़े की पट्टी जैसे बांधने के उपकरण को यहाँ पर 'छत्र' समझना चाहिए। किन्तु वर्षा से बचाव के लिए रखे जाने वाले छाते को यहाँ नहीं समझना चाहिए।

ऐसे वृद्ध भिक्षु के लिए इस सूत्र में यह निर्देश किया गया है कि वह आहार-पानी के लिए जब गृहस्थों के यहाँ जाए तो इन वस्तुओं को सूनी न छोड़े, किसी को सम्हला कर जाए और वापस आने पर उसकी अनुज्ञा लेकर - उसको सूचित कर उन वस्तुओं को ले। वस्तुओं को यों ही छोड़ कर चले जाने से उनके तोड़-फोड़ की, चुराए जाने आदि की आशंका रहती है। व्यवस्थित जीवनचर्या बनाए रखने की दृष्टि से अपने उपकरण किसी की देखरेख में छोड़ कर जाना आवश्यक है।

संघादि के प्रयोजन से एवं दुष्कालादि के कारण सेवा में रहने वाले संतों को अन्यत्र भेज देने से स्थविर - जो कि वयोवृद्ध भी है - अकेले रहे हो, शरीर में साधारण समाधि होने के कारण जो आहार-पानी तो ला सकते हो, किन्तु सब भण्डोपकरण साथ में नहीं रख सकते हो तथा उपाश्रय के किवाड़ नहीं होने के कारण भण्डोपकरण बालकों आदि के द्वारा नष्ट किये जाने का भय हो, तो ऐसी स्थिति में वे स्थविर जहाँ पर हरदम लोग बने रहते हो वैसे उपाश्रय (घर) में अपने भण्डोपकरण रख कर तथा उन्हें संभला कर भिक्षा के लिए जावे और भिक्षा से निवृत्त होने के बाद वापिस अपने भण्डोपकरणों को उन गृहस्थों से पूछ कर लेवे, जिससे उनके ध्यान में रहे कि वे अपने भण्डोपकरण वापिस ले गये हैं। दंड, छत्र (वस्त्र अथवा पुट्टे आदि की पाटली, जिससे शीत तापादि की रक्षा की जा सके) चर्मादि (पाँव आदि में घाव आदि के पड़ जाने के कारण उस पर बांधने के लिए चर्मादि रखना पड़े) जो विशेष उपकरण बताये हैं, वे वृद्धतादि कारण से बताये गये हैं, ऐसा ध्यान में हैं।

वृद्ध स्थविर के लिए जिन वस्तुओं के प्रयोग की सुविधाएँ विहित हैं, उससे स्पष्ट है कि जैन-दर्शन किसी भी विषय में दुराग्रह या कट्टरता लिए हुए नहीं है। अपने मूल व्रतों की रक्षा करते हुए श्रमण निर्ग्रन्थों को विशेष परिस्थिति में जो सुविधाएँ दी गई हैं, उसका अभिप्राय उनके संयममय, तपोमय जीवन में सहयोग करना है। व्यवहारनय की दृष्टि से यह वास्तव में उपयोगी है। अनेकान्तवादी दर्शन की यही तो विशेषता है कि वहाँ किसी भी विषय का निर्णय ऐकान्तिक आग्रह के साथ नहीं किया जाता वरन् अपरिहार्य अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए निर्णय किया जाता है, जो संयम-जीवितव्य को पोषण प्रदान करता है।

शय्यासंस्कारक-विषयक विधि-निषेध : पुनःअनुज्ञा

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतिथं वा सेज्जासंथारगं दोच्चं पि ओग्गहं अणणुणवेत्ता बहिया णीहरित्तए ॥ २०८ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतिथं वा सेज्जासंथारगं दोच्चं पि ओग्गहं अणुणवेत्ता बहिया णीहरित्तए ॥ २०९ ॥

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतिथं वा सेज्जासंथारगं सब्बप्पणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणणुणवेत्ता अहिट्ठित्तए,

कप्यङ्गु णिगंग्थाण वा णिगंग्थीण वा पाडिहारियं वा सागारियसंतियं वा सेज्जासंथारंगं सव्वप्यणा अप्पिणित्ता दोच्चं पि ओग्गहं अणुण्णवेत्ता अहिट्टित्तए ॥ २१० ॥

कठिन शब्दार्थ - बहिया - बाहर, णीहरित्तए - निर्हत करना - ले जाना, सव्वप्यणा-सर्वात्मना - सब प्रकार से, अप्पिणित्ता - अर्पित कर - सौंप कर, अहिट्टित्तए - अधिष्ठित करना - लेना।

भावार्थ - २०८. साधुओं तथा साध्वियों को प्रातिहारिक रूप में गृहस्थ के यहाँ से, शय्यातर के यहाँ से लाए हुए शयनपट्ट आदि उनसे पुनः आज्ञा लिए बिना अन्यत्र ले जाना नहीं कल्पता।

२०९. साधुओं तथा साध्वियों को प्रातिहारिक रूप में गृहस्थ के यहाँ से, शय्यातर के यहाँ से लाए हुए शयनपट्ट आदि उनसे पुनः आज्ञा लेकर ही अन्यत्र ले जाना कल्पता है।

२१०. साधुओं तथा साध्वियों को प्रातिहारिक रूप में गृहस्थ के यहाँ से, शय्यातर के यहाँ से लाए हुए शयनपट्ट आदि उनको सर्वात्मना - सर्वथा सौंप देने के बाद पुनः उनकी अनुज्ञा लिए बिना अधिष्ठित करना, गृहीत करना नहीं कल्पता।

अनुज्ञा लेकर ही अधिष्ठित करना, उपयोग में लेना कल्पता है।

विवेचन - जैन साधुओं एवं साध्वियों का जीवन अपरिग्रह का जीवंत प्रतीक है। आवश्यक वस्तुएं वे गृहस्थों से याचित कर लेते हैं। वे दो प्रकार की हैं - एक तो वे हैं जो आहार-पानी या औषधि के रूप में ली जाती हैं। उनका भोजन, पथ्य आदि के रूप में उपयोग हो जाता है। दूसरी-पुस्तकें, शयनपट्ट, लेखिनी आदि ऐसी वस्तुएं हैं जो उपयोग में लेने के अनन्तर वापस लौटा दी जाती हैं। उन्हें प्रातिहारिक कहा जाता है। उनको आवश्यकतानुरूप साधु-साध्वी उपयोग में लेते हैं। ऐसा कहते हुए जरा भी उनके मन में उन वस्तुओं के प्रति आसक्ति न हो, इस संबंध में आगमों में कुछ विशेष विधि-निषेध है। उसी संदर्भ में इन सूत्रों में वर्णन है। यदि किसी साधु या साध्वी को प्रातिहारिक रूप में गृहीत की गई शयनपट्ट आदि वस्तु अपने उपाश्रय से - ठहरने के स्थान से आवश्यकतावश बाहर - कहीं दूसरी जगह ले जानी हो तो वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना उन्हें वैसा करना नहीं कल्पता। अनुज्ञा लेकर ही प्रातिहारिक वस्तु को बाहर ले जाना उन्हें कल्पता है। साधु साध्वियों में प्रातिहारिक वस्तुओं के प्रति सर्वथा अनासक्त भाव उज्जीवित रहे, इस दृष्टि से यह विधि-निषेध मूलक वर्णन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व से सर्वथा अलिप्त, अस्पृष्ट बने रहना साधु साध्वियों के लिए साधना में अविच्छिन्न रूप में गतिशील रहने की दृष्टि से आवश्यक है।

शय्यासंस्तारक प्रतिग्रहण-विषयक विधान

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हत्ता तओ पच्छा अणुण्णवेत्तए ॥ २११ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पुव्वामेव ओग्गहं अणुण्णवेत्ता तओ पच्छा ओगिण्हत्तए ॥ २१२ ॥

अह पुण एवं जाणेज्जा, इह खलु णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा णो सुलभे पाडिहारिए सेज्जा संथारए त्ति कट्टु एवं ण्हं कप्पइ पुव्वामेव ओग्गहं ओगिण्हत्ता तओ पच्छा अणुण्णवेत्तए, मा वहउ अज्जो! बिइयं ति वइ अणुलोमेणं अणुलोमेयव्वे सिया ॥ २१३ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुव्वामेव - पूर्व - पहले ही, तओ पच्छा - तत्पश्चात् - उसके बाद, ओगिण्हत्तए - अवगृहीत करना - लेना, अह पुण - अथ पुनः - फिर यदि, जाणेज्जा - जाने, णो सुलभे - सुख पूर्वक - आसानी से अप्राप्य, मा - नहीं, वहउ - बोलो, बिइयं - द्विघात - उपकार करने वाले के प्रति कठोर वचन बोलकर दो प्रकार का आघात करना, वइ अणुलोमेणं - अनुकूल वचन द्वारा, अणुलोमेयव्वे - अनुकूल बनाये।

भावार्थ - २११. साधु-साध्वियों को पहले शय्यासंस्तारक आदि ग्रहण करना और फिर उनके लिए स्वामी की आज्ञा लेना नहीं कल्पता।

२१२. साधु-साध्वियों को पहले शय्या संस्तारक आदि के संदर्भ में स्वामी से आज्ञा लेना तथा बाद में गृहीत करना कल्पता है।

२१३. यदि यह जानकारी में आए कि यहां साधु-साध्वियों को शय्यासंस्तारक सुविधापूर्वक प्राप्य नहीं है तो उन्हें पहले ही शय्यासंस्तारक गृहीत करना एवं बाद में स्वामी से आज्ञा लेना कल्पता है।

(यदि शय्यासंस्तारक को लेकर उसके मालिक और साधु के बीच कुछ तकरार हो जाए तथा साधु के मुंह से कोई कठोर वचन निकल पड़े तो आचार्य उससे कहे -) हे आर्य!

(जिसने तुम्हें शय्यासंस्कारक दिया, उसी के प्रति तुम कठोर वचन बोल रहे हो) तुम द्विविध अपराध-दुतरफी गलती कर रहे हो। इस प्रकार आचार्य शय्यासंस्कारक प्रदायक गृहस्थ को अनुकूल बनाये, संतोष कराए।

विवेचन - जैसा कि पहले विवेचन हुआ है, साधु रहने के स्थान का या पाट, ग्रन्थ, तृण, आस्तरण इत्यादि प्रातिहारिक वस्तुओं को गृहस्वामी की आज्ञा से ही स्वीकार करता है। आज्ञा के बिना स्वीकार करने से अस्तेय - अचौर्य महाव्रत व्याहत होता है। इस संदर्भ में इन सूत्रों में विशेष वर्णन है।

यदि बहुश्रुत, गीतार्थ साधु को कहीं निवास हेतु स्थान आदि प्राप्त होने में कठिनाई लगे, आज्ञा लेने में समय लगाने से कहीं स्थान आदि लेने में समय लगाने से कहीं स्थान आदि की प्राप्ति और दुर्लभ हो जाए तो स्वामी की आज्ञा के बिना ही स्थान एवं शय्यासंस्कारक गृहीत किया जा सकता है। किन्तु वैसा कर लेने के बाद यथाशीघ्र आज्ञा लेना आवश्यक है। वैसी स्थिति में यदि मकान मालिक और साधु के बीच कुछ कहासुनी हो जाए, आवेशवश साधु कोई कड़ी बात बोल दे तो आचार्य, प्रवर्तक या स्थविर जो भी साथ में बड़े हो, वे साधु को उपालम्भ देते हुए अनुकूल वचन द्वारा मकान मालिक को परितुष्ट करें।

जैन धर्म शान्ति एवं समन्वय के आदर्शों पर अधिष्ठित है। कलह, विवाद एवं संघर्ष से, जिनके कारण आत्मा सन्मार्ग से च्युत होती है, साधु सदैव पृथक् रहने का प्रयास करे, क्योंकि वह स्व-पर-कल्याण परायण जीवन का संवाहक होता है।

मार्ग-पतित उपकरण के ग्राहित्व के संदर्भ में विधान

णिग्गंथस्स णं गाहावड्कुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स अहालहुसए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया, तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा - इमे भे अज्जो ! किं परिण्णाए ? से य वएज्जा - परिण्णाए, तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया, से य वएज्जा - णो परिण्णाए, तं णो अप्पणा परिभुंजेज्जा णो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थंडिल्ले परिट्ठेयव्वे सिया ॥ २१४ ॥

णिग्गंथस्स णं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिव्खंतस्स अहालहुसए उवगरणजाए परिब्भट्ठे सिया, तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय

 जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा - इमे भे अज्जो ! किं परिण्णाए ? से
 य वएज्जा - परिण्णाए, तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया, से य वएज्जा-णो परिण्णाए,
 तं णो अप्पणा परिभुंजेज्जा णो अण्णमण्णस्स दावए एगंते बहुफासुए थंडिल्ले परिट्टुवेयव्वे
 सिया ॥ २१५ ॥

णिग्गंथस्स णं गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स अण्णयरे उवगरणजाए परिब्भट्टे सिया,
 तं च केइ साहम्मिए पासेज्जा, कप्पइ से सागारकडं गहाय दूरमवि अद्धाणं परिवहित्तए
 जत्थेव अण्णमण्णं पासेज्जा तत्थेव एवं वएज्जा - इमे भे अज्जो ! किं परिण्णाए ? से य
 वएज्जा-परिण्णाए, तस्सेव पडिणिज्जाएयव्वे सिया, से य वएज्जा - णो परिण्णाए, तं
 णो अप्पणा परिभुंजेज्जा णो अण्णमण्णस्स दावए, एगंते बहुफासुए थंडिल्ले परिट्टुवेयव्वे
 सिया ॥ २१६ ॥

कठिन शब्दार्थ - पिंडवायपडियाए - आहार-पानी लेने हेतु, अहालहुसए -
 यथालघुस्वक - अत्यन्त लघु या छोटा, परिब्भट्टे सिया - परिभ्रष्ट हो जाए - गिर जाए,
 सागारकडं - आगार सहित, गहाय - लेकर, परिण्णाए - परिज्ञात - जाना-पहचाना,
 पडिणिज्जाएयव्वे - प्रतिनिर्यातव्य - सौंपने योग्य या देने योग्य, परिभुंजेज्जा - उपयोग में
 ले, दावए - दे, अण्णमण्णस्स - अन्य किसी के, एगंते - एकान्त में, विचारभूमिं -
 विचारभूमि - उच्चारप्रस्रवण भूमि, विहारभूमिं - स्वाध्यायादि भूमि, अण्णयरे - अन्यत्र -
 कोई एक, दूरमवि अद्धाणं - दूर मार्ग तक।

भावार्थ - २१४. कोई साधु गृहस्थ के घर में आहार-पानी लेने हेतु प्रवेश करे और
 वहाँ यदि उसका कोई छोटा उपकरण गिर जाए, उस गिरे हुए उपकरण को कोई दूसरा
 साधर्मिक साधु देखे तो, 'जिसका यह उपकरण है, उसे मैं लौटा दूंगा,' इस आगार - अपवाद
 या विकल्प के साथ उसे गृहीत कर ले, लेले और जहाँ अन्य साधु को देखे - दूसरा कोई
 साधु मिले तो वह उसे कहे - हे आर्य! क्या इस उपकरण को आप पहचानते हैं?'

वह कहे - 'हाँ, मैं इसे पहचानता हूँ, अर्थात् यह मेरा ही है' तो वह उसे सौंप दे - देदे।

यदि वह कहे - मैं इसे नहीं पहचानता तो वह न तो स्वयं अपने लिए उसका उपयोग
 करे और न दूसरे को ही दे, किन्तु एकान्त में अतिप्रासुक भूमि में उसे परठ दे।

२१५. किसी साधु का विचारभूमि या विहारभूमि में जाते समय कोई छोटा उपकरण गिर

जाए, उस गिरे हुए उपकरण को कोई दूसरा साधर्मिक साधु देखे तो, 'जिसका यह उपकरण है, उसे मैं लौटा दूंगा,' इस आगार के साथ वह उसे ग्रहण कर ले और जहाँ अन्य साधु को देखे - दूसरा कोई साधु मिले तो वह उसे कहे - हे आर्य! क्या इस उपकरण को आप पहचानते हैं?

वह कहे - हाँ, मैं इसे पहचानता हूँ, अर्थात् यह मेरा ही है तो वह उसे सौंप दे।

यदि वह कहे - मैं इसे नहीं पहचानता तो वह न तो स्वयं अपने लिए उसका उपयोग करे तथा न दूसरे को ही दे, किन्तु एकान्त में अतिप्रासुक भूमि में उसे परठ दे।

२१६. किसी साधु का ग्रामानुग्राम विचरण करते समय कोई उपकरण गिर जाए तथा कोई दूसरा साधर्मिक साधु उस उपकरण को देखे तो उसको आगार के साथ गृहीत करना, दूर तक साथ लिए जाना कल्पता है और जहाँ अन्य साधु को देखे - दूसरा कोई साधु मिले तो वह उसे कहे - हे आर्य! क्या इस उपकरण को आप पहचानते हैं?

वह कहे - हाँ, मैं इसे पहचानता हूँ, अर्थात् यह मेरा ही है तो वह उसे सौंप दे।

यदि वह कहे - मैं इसे नहीं पहचानता तो वह न तो स्वयं अपने लिए उसका उपयोग करे और न दूसरे को ही दे, किन्तु एकान्त में, अतिप्रासुक भूमि में उसे परठ दे।

विवेचन - जैन साध्वाचार या आचार संहिता बहुत ही सूक्ष्म एवं व्यावहारिक है। संयममूलक चर्या में जरा भी त्रुटि न हो, इस ओर पूरा ध्यान रखते हुए मर्यादाओं या नियमोपनियमों का विधान किया गया है।

इन सूत्रों में इसी प्रकार का वर्णन है, जो साधु के निष्परिगृही और आसक्तिशून्य जीवन पर प्रकाश डालता है। भिक्षाचर्या, विचारभूमि या विहारभूमि गमन के प्रसंग में किसी साधु का यदा-कदा कोई बहुत छोटा उपकरण गिर सकता है। संयोगवश उधर से निकलते हुए किसी अन्य साधु की नजर में वह आ जाए तो वह उसकी उपेक्षा न करे। यह सोचते हुए कि जिसका यह है, उसे मैं लौटा दूंगा, उसे वह ले ले। पहचान और जाँचपूर्वक जिसका वह हो, उसे सौंप दे। यदि उस लघु उपकरण का कोई असली धारक न मिले तो उसे वह यथाविधि परिष्ठापित कर दे।

यदि ग्रामानुग्राम विहरण करते समय किसी साधु का कोई छोटा या बड़ा उपकरण मार्ग में गिर जाए, किसी दूसरे साधु को वह मिल जाए तो उस उपकरण की विशेष उपयोगिता देखता हुआ उसे दूर तक ले जाए। उसका सही धारक मिल जाए तो उसे जाँच-पहचान के बाद उसकी

लौटा दे। यदि सही धारक न मिल पाए तो उसे परठने के अतिरिक्त एक और विकल्प भी स्वीकृत है - आचार्य, उपाध्याय या प्रवर्तक आदि के समक्ष उसे प्रस्तुत करे, वे उसे उसके स्वयं के लिए या अन्य साधुओं के लिए उपयोग के संदर्भ में जैसी आज्ञा दें वैसा करे।

जैन साधुओं की सर्वथा व्यवस्थित, अनुशासित तथा आसक्तिशून्य जीवन-पद्धति का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

अतिरिक्त प्रतिग्रह परिवहनादि-विषयक विधान

कप्पइ णिगंथाण वा णिगंथीण वा अइरेगपडिग्गहं अण्णमण्णस्स अट्टाए दूरमवि अद्धाणं परिवहत्तए धरेत्तए वा परिग्गहित्तए वा, सो वा णं धारेस्सइ अहं वा णं धारेस्सामि अण्णो वा णं धारेस्सइ, णो से कप्पइ ते अणापुच्छिय अणामंतिय अण्णमण्णेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा, कप्पइ से ते आपुच्छिय आमंतिय अण्णमण्णेसिं दाउं वा अणुप्पदाउं वा ॥ २१७ ॥

कठिन शब्दार्थ - अइरेगपडिग्गहं - अतिरेक प्रतिग्रह - अतिरिक्त पात्र, वस्त्र आदि, परिवहत्तए - परिवहन करना - लिए जाना, धारेस्सइ - धारण करेगा, धारेस्सामि - धारण करूंगा, अणामंतिय - बिना मन्त्रणा - परामर्श के, दाउं - प्रदान करना, अणुप्पदाउं - अनुप्रदान करना।

भावार्थ - २१७. साधु-साध्वियों को किन्हीं दूसरे - आचार्य, उपाध्याय या साधु विशेष हेतु अतिरिक्त पात्र-वस्त्र आदि का दूर तक परिवहन करना - लिए जाना, धारण करना तथा प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

वह - अमुक इसे धारण करेगा, मैं धारण करूंगा अथवा कोई अन्य धारण करेगा, यों सोचते हुए जिनके निमित्त पात्र, वस्त्र आदि लिए हों, उनको पूछे बिना, उनसे परामर्श किए बिना दूसरों को देना, अनुप्रदान करना नहीं कल्पता।

उनसे पूछकर ही, उनके साथ परामर्श करके ही औरों को देना कल्पता है।

विवेचन - साधु-साध्वियों की आचार संहिता में दैनन्दिन जीवन के लिए अपेक्षित पात्र, वस्त्र आदि उपकरण रखने के संबंध में अपरिग्रह के आदर्श के अनुरूप इनके सीमाकरण या परिमाण की मर्यादा है, जो भिन्न-भिन्न गणों या गच्छों में देश, काल, क्षेत्रानुरूप विहित है। उतनी सीमा या परिमाण से अधिक प्रतिग्रह साधु-साध्वी नहीं रखते। किन्तु आचारानुमोदित

विशेष प्रयोजन तथा आवश्यकता आदि हेतु औरों को उद्दिष्ट कर पात्र, वस्त्र आदि मर्यादित सीमा से अधिक भी लेकर दूर तक जाया जा सकता है। परन्तु जिनको लक्षित या उद्दिष्ट कर वे लाए गए हों, उन्हीं को ही दिया जाए। उनसे पूछे बिना, परामर्श किए बिना औरों को न दिए जाएँ। यदि उनकी स्वीकृति हो तो औरों को दिए जा सकते हैं।

मर्यादित, नियमित संयमचर्यामूलक जीवन पद्धति का इस सूत्र में साक्षात् निदर्शन है।

इस सूत्र में प्रतिग्रह (पडिग्गह) शब्द का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। यह 'प्रति' उपसर्ग; 'ग्रह' धातु और 'अप्' प्रत्यय के योग से बना है। "प्रतिगृह्यते - प्रयोजनार्थं स्वीक्रियते धार्यते इति प्रतिग्रहः" - जिसे प्रयोजनवश ग्रहण किया जाता है, स्वीकार किया जाता है या धारण किया जाता है, उसे प्रतिग्रह कहा जाता है। वस्त्र, पात्र आदि वस्तुएँ प्रतिग्रह के अन्तर्गत आती हैं, जिन्हें जैन साधु-साध्वी सीमित, मर्यादित रूप में धारण करते हैं।

ऊनोदरी-विषयक परिमाणक्रम

अद्दु कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे अप्पाहारे, बार(दुवाल)स कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे अवड्डोमोयरिया, सोलस कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे दुभागपत्ते, चउवीसं कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे ओ(पत्तो)मोयरिया, एगतीसं कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे किंचूणोमोयरिया, बत्तीसं कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणे णिग्गंथे पमाणपत्ते, एत्तो एगेण वि कउले(घासे)णं ऊणगं आहारं आहारेमाणे समणे णिग्गंथे णो पकामभोइ-त्ति वत्तव्वं सिया ॥ २१८ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ ववहारस्स अद्दुमो उद्देसओ समत्तो ॥ ८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अद्दु - आठ, कुक्कुडिअंडप्पमाणमेत्ते - कुक्कुडिअण्डकप्रमाणमात्र-मुर्गी के अण्डे के तुल्य प्रमाण युक्त, कवले - कौर - ग्रास, आहारेमाणे - आहार करता हुआ - खाता हुआ, अप्पाहारे - अल्पाहार, बार(दुवाल)स - बारह, अवड्डोमोयरिया - अपार्थ ऊनोदरिका - कुछ अधिक अर्ध ऊनोदरिका, सोलस - सोलह, दुभागपत्ते - द्विभागप्राप्त - अर्ध ऊनोदरिका, चउवीसं - चौबीस, ओ(पत्तो)मोयरिया - अवप्राप्त

ऊनोदरिका - त्रिभाग प्राप्त ऊनोदरिका, एगतीसं - इकतीस, किंचूणोमोयरिया - किंचित् ऊन ऊनोदरिका- कुछ कम ऊनोदरिका, बत्तीसं - बत्तीस, प्रमाणपत्ते - प्रमाणप्राप्त, ऊणगं - ऊनक - कम, प्रकामभोज - प्रकामभोजी - अधिक खाने वाला; वत्तव्वं - कथन करने योग्य।

भावार्थ - २१८. मुर्गी के अण्डे के प्रमाण जितने आठ कौर आहार करता हुआ भिक्षु अल्पाहार - अल्पभोजी कहा जाता है।

मुर्गी के अण्डे के प्रमाण जितने बारह कौर आहार करता हुआ भिक्षु कुछ अधिक अर्ध ऊनोदरिका युक्त कहा जाता है।

मुर्गी के अण्डे के प्रमाण जितने सोलह कौर आहार करता हुआ भिक्षु द्विभागप्राप्त ($\frac{१}{२}$) आहारसेवी - अर्ध ऊनोदरिका युक्त कहा जाता है।

मुर्गी के अण्डे के प्रमाण जितने चौबीस कौर आहार करता हुआ भिक्षु अवप्राप्त ऊनोदरिका - त्रिभागप्राप्त ($\frac{१}{३}$) ऊनोदरिका युक्त कहा जाता है।

मुर्गी के अण्डे के प्रमाण जितने इकतीस कौर आहार करता हुआ भिक्षु किंचित् ऊन ऊनोदरिका - कुछ कम ऊनोदरिका युक्त कहा जाता है।

मुर्गी के अण्डे के प्रमाण जितने बत्तीस कौर आहार करता हुआ भिक्षु प्रमाणप्राप्त - परिमित आहारसेवी कहा जाता है।

इससे एक भी कौर कम आहार करने वाला भिक्षु प्रकामभोजी - यथेच्छभोजी अथवा अपरिमितभोजी नहीं कहा जाता।

विवेचन - “तपसा निर्जरा” संचित कर्म तप द्वारा निर्जीण होते हैं, झड़ते हैं, नष्ट होते हैं। इसलिए निर्जरा को भी तप के रूप में अभिहित किया गया है। निर्जरा के बारह भेद हैं -

१. अनशन, २. ऊनोदरी, ३. भिक्षाचरी, ४. रस-परित्याग, ५. कायक्लेश, ६. प्रतिसंलीनता, ७. प्रायश्चित्त, ८. विनय, ९. वैयावृत्य, १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान और १२. व्युत्सर्ग।

इनमें द्वितीय स्थान पर ऊनोदरी या ऊनोदरिका है। “अनमुदरं यस्यां सा ऊनोदरी, ऊनोदरिका वा” - जहाँ भोजन में पेट कुछ खाली रखा जाता है, अर्थात् प्रत्याख्यानपूर्वक

भूख से कम खाया जाता है, उसे ऊनोदरी या ऊनोदरिका तप कहा गया है। क्योंकि एक सीमा तक उसमें आहार-पानी का नियमन होता है तथा त्याग की भावना से आत्मोल्लासपूर्वक बुभुक्षा को सहन किया जाता है।

इस सूत्र में ऊनोदरी तप के संबंध में विवेचन है। इसके अनुसार बत्तीस कौर (ग्रास मुख में सुखपूर्वक समाने योग्य भोजनांश) व्यक्ति का परिपूर्ण आहार है। आहार करने में जिस परिमाण में कमी की जाती है, वह ऊनोदरी तप है। इसी का आठ, बारह, सोलह, चौबीस तथा इकत्तीस कौर परिमित गृहीत आहार के आधार पर विश्लेषण हुआ है, जो भावार्थ से स्पष्ट है।

सूत्र में कवल प्रमाण को स्पष्ट करने के लिए 'कुक्कुटिअंडकप्रमाण' ऐसा विशेषण लगाया गया है। इस विषय में व्याख्या ग्रन्थों में इस प्रकार स्पष्टीकरण किये गये हैं -

(१) 'निजकस्याहारस्य सदा योद्वात्रिशत्तयो भागो तत् कुक्कुटीप्रमाणे'- अपनी आहार की मात्रा का जो सदा बत्तीसवां भाग होता है वह कुक्कुटिअंडकप्रमाण अर्थात् उस दिन का कवल कहा जाता है।

(२) 'कुत्सिता कुटी कुक्कुटी शरीर मित्यर्थः। तस्याः शरीर रूपायाः कुक्कुटया अंडकमिव अंडकं-मुखं' अशुचिमय यह शरीर ही कुक्कुटी है उसका जो मुख है वह कुक्कुटी का अंडक कहा गया है।

(३) 'यावत्प्रमाणमात्रेण कवलेन मुखे प्रक्षिप्यमाणेव मुखं न विकृतं भवति तत्स्थलं कुक्कुट अंडक प्रमाणम्' - जितना बड़ा कवल मुख में रखने पर मुख विकृत न दिखे उतने प्रमाण का एक कवल समझना चाहिए। उस कवल के समावेश के लिए जो मुख का भीतरी आकार बनता है - उसे कुक्कुटी अंडक प्रमाण समझना चाहिए।

(४) 'अयमन्यः विकल्पः कुक्कुटं अंडकोपमे कवले' - अथवा कुक्कुटी के अंडे के प्रमाण जितना कवल, यह भी अर्थ का एक विकल्प है।

॥ व्यवहार सूत्र का आठवाँ उद्देशक समाप्त ॥

णवमो उद्देशओ - ढवम उद्देशक

शय्यातर के घर पर अन्यों के निमित्त निषयन

आहार-ग्रहण-विषयक विधि-निषेध

सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २१९ ॥

सागारियस्स आएसे अंतो वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२० ॥

सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२१ ॥

सागारियस्स आएसे बाहिं वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२२ ॥

सागारियस्स दासे वा पेसे वा भयए वा भइण्णए वा अंतो वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२३ ॥

सागारियस्स दासे वा पेसे वा भयए वा भइण्णए वा अंतो वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२४ ॥

सागारियस्स दासे वा पेसे वा भयए वा भइण्णए वा बाहिं वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे पाडिहारिए, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२५ ॥

सागारियस्स दासे वा पेसे वा भयए वा भइण्णए वा बाहिं वगडाए भुंजइ णिट्टिए णिसिट्ठे अपाडिहारिए, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२६ ॥

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२७ ॥

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए अंतो अभिणिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२८ ॥

१५५। शय्यातर के घर पर अन्यो के निमित्त निष्पन्न आहार-ग्रहण-विषयक विधि-निषेध

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं एगपयाए सागारियं
चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २२९ ॥

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स एगवगडाए बाहिं अभिणिपयाए सागारियं
चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३० ॥

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए
एगणिव्वखमणपवेसाए अंतो एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से
कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३१ ॥

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए
एगणिव्वखमणपवेसाए अंतो अभिणिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से
कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३२ ॥

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए
एगणिव्वखमणपवेसाए बाहिं एगपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से
कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३३ ॥

सागारियस्स णायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए एगदुवाराए
एगणिव्वखमणपवेसाए बाहिं अभिणिपयाए सागारियं चोवजीवइ, तम्हा दावए, णो से
कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३४ ॥

कठिन शब्दार्थ - आएसे - सत्कारपूर्वक आदिष्ट या आहूत - आमंत्रित संबंधीजन,
अंतोवगडाए - घर के भीतर, भुंजइ - भोजन करे, णिड्डिए - निष्ठा प्राप्त - सम्मान प्राप्त
मेहमान, णिसिद्धे - निसृष्ट - दिए हुए, बाहिं वगडाए - घर के बाहर, दासे - दास -
जन्म से मृत्यु पर्यन्त सेवा करने वाला, क्रीत सेवक, पेसे - प्रेष्य - कार्यवश ग्रामान्तर में प्रेषित
किए जाने - भेजे जाने हेतु नियुक्त नौकर, संदेशवाहक, भयए - भृत्य - कुछ समय के लिए
कीमत देकर रखा गया नौकर, भंइण्णए - भृतक - बहुत समय के लिए खरीदा गया नौकर,
णायए - स्वजन, एगपयाए - एक चूल्हे से या एक चूल्हे पर, चोवजीवइ - उपजीवति -
जीवन निर्वाह करता है, अभिणिपयाए - पृथक् चूल्हे से, एगदुवाराए - एक द्वार
से, एगणिव्वखमणपवेसाए - बाहर निकलने और भीतर आने के एक ही मार्ग से,
अभिणिव्वगडाए - ग्रहान्तरवर्ती विभाग।

भावार्थ - २१९. शय्यातर के यहाँ किसी ससम्मान आहूत - आमंत्रित संबंधी या मेहमान के लिए आहार बनाया गया हो, वह शय्यातर उसे प्रातिहारिक रूप में भोजनार्थ अर्पित करे और वह मेहमान शय्यातर के घर के भीतरी भाग में आहार करे, वैसी स्थिति में वह मेहमान भिक्षा के रूप में उस आहार में से साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२२०. शय्यातर के यहाँ किसी ससम्मान आमंत्रित मेहमान के लिए आहार बनाया गया हो, वह शय्यातर उसे अप्रातिहारिक रूप में भोजनार्थ अर्पित करे और वह मेहमान शय्यातर के घर के भीतरी भाग में आहार करे, वैसी स्थिति में वह मेहमान उस आहार में से साधु को भिक्षा के रूप में दे तो साधु को उसे लेना कल्पता है।

२२१. शय्यातर के यहाँ किसी ससम्मान आमंत्रित मेहमान के लिए आहार बनाया गया हो, वह शय्यातर उसे प्रातिहारिक रूप में भोजनार्थ अर्पित करे और वह मेहमान शय्यातर के घर के बाहरी भाग में आहार करे, वैसी स्थिति में वह उस आहार में से भिक्षा के रूप में साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२२२. शय्यातर के यहाँ किसी ससम्मान आमंत्रित मेहमान के लिए आहार बनाया गया हो, वह शय्यातर उसे अप्रातिहारिक रूप में भोजनार्थ अर्पित करे और वह मेहमान शय्यातर के घर के बाहरी भाग में आहार करे, वैसी स्थिति में वह उस आहार में से भिक्षा के रूप में साधु को दे तो साधु को उसे लेना कल्पता है।

२२३. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृत्य या भृतक के लिए आहार बनाया गया हो और वह शय्यातर उन्हें प्रातिहारिक रूप में खाने हेतु दे तथा वे घर के भीतरी भाग में आहार करें, वैसी स्थिति में वे किसी साधु को भिक्षा के रूप में उस आहार में से दें तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२२४. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृत्य या भृतक के लिए आहार बनाया गया हो और वह शय्यातर उन्हें अप्रातिहारिक रूप में खाने हेतु दे तथा वे घर के भीतरी भाग में आहार करें, वैसी स्थिति में उस आहार में से वे किसी साधु को भिक्षा के रूप में दें तो साधु को उसे लेना कल्पता है।

२२५. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृत्य या भृतक के लिए आहार बनाया गया हो और वह शय्यातर उन्हें प्रातिहारिक रूप में खाने हेतु दे तथा वे घर के बाहरी भाग में आहार

१५७ शय्यातर के घर पर अन्यों के निमित्त निष्पन्न आहार-ग्रहण-विषयक विधि-निषेध

करें, वैसी स्थिति में उस आहार में से वे किसी साधु को भिक्षा के रूप में दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२२६. शय्यातर के दास, प्रेष्य, भृत्य या भृतक के लिए आहार बनाया गया हो और वह शय्यातर उन्हें अप्रातिहारिक रूप में खाने हेतु दे तथा वे घर के बाहरी भाग में आहार करें, वैसी स्थिति में उस आहार में से वे किसी साधु को भिक्षा के रूप में दें तो साधु को उसे लेना कल्पता है।

२२७. शय्यातर का कोई स्वजन - पारिवारिक सदस्य या जातीय संबंधी उसी के घर में रहता हो और वह शय्यातर की सामग्री से ही उसी के चूल्हे पर अपने द्वारा बनाए गए आहार से जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२२८. शय्यातर का कोई स्वजन उसी के घर में रहता हो और वह शय्यातर की सामग्री से शय्यातर के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर अपने द्वारा बनाए गए आहार से जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२२९. शय्यातर का कोई स्वजन उसी के घर में रहता हो और वह उसके घर के बाहरी भाग में शय्यातर की सामग्री से ही उसी के चूल्हे पर अपने द्वारा बनाए गए आहार से जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२३०. शय्यातर का कोई स्वजन उसी के घर में रहता हो और वह उसके घर के बाहरी भाग में शय्यातर के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर उसी की सामग्री से ही बनाए गए आहार से जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२३१. शय्यातर का कोई स्वजन उसी के घर के पृथक् विभाग में रहता हो, जो बाहर जाने-आने के एक ही द्वार से घर से जुड़ा हो, वह घर के भीतर शय्यातर के ही चूल्हे पर उसी की सामग्री से आहार बनाकर जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२३२. शय्यातर का कोई स्वजन उसी के घर के पृथक् विभाग में रहता हो, जो बाहर जाने-आने के एक ही द्वार से घर से जुड़ा हो, वह घर के भीतर शय्यातर के चूल्हे से भिन्न

चूल्हे पर उसी की सामग्री से आहार बनाकर जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२३३. शय्यातर का कोई स्वजन उसी के घर के पृथक् विभाग में रहता हो, जो बाहर जाने-आने के एक ही द्वार से घर से जुड़ा हो, वह घर के बाहर शय्यातर के ही चूल्हे पर उसी की सामग्री से आहार बनाकर जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

२३४. शय्यातर का कोई स्वजन उसी के घर के पृथक् विभाग में रहता हो, जो बाहर जाने-आने के एक ही द्वार से घर से जुड़ा हो, वह घर के बाहर शय्यातर के चूल्हे से भिन्न चूल्हे पर उसी की सामग्री से आहार बनाकर जीवन निर्वाह करता हो। यदि वह उस आहार में से भिक्षार्थ साधु को दे तो साधु को उसे लेना नहीं कल्पता।

विवेचन - साधु-चर्या में भिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि यह दैनन्दिन आवश्यकताओं में सबसे मुख्य है। संयम के साधनभूत शरीर को निरवद्यता पूर्वक चलाना आवश्यक है। भिक्षा द्वारा ही इस आवश्यकता की पूर्ति होती है। भिक्षाचर्या सर्वथा अदूषित, संपूर्णतः शुद्ध हो, इस ओर अत्यन्त जागरूक रहना, प्रत्येक साधु-साध्वी के लिए आवश्यक है।

साधु-साध्वी उन्हीं का आहार पानी ले सकते हैं, जिनका भोज्य सामग्री से सीधा स्वामित्व या अधिकार जुड़ा हो। अनधिकारी से भिक्षा ग्रहण-करना दोष युक्त है।

एक गृहस्थ का जीवन पारिवारिक, स्वजातीय, सामाजिक आदि संबंधों के कारण अनेक लोगों से जुड़ा हुआ होता है। अनेक संबंधी, मित्र एवं परिचित आदि उसके यहाँ समय-समय पर प्रयोजनवश आते रहते हैं। अनेक भृत्य, सेवक, परिचारक आदि उसके घर में काम करते हैं। इन सबके भोजन की व्यवस्था, सुविधा अनेक रूपों में की जाती है। वैसे विविध प्रसंगों को दृष्टि में रख कर इन सूत्रों में भिक्षा की विशुद्ध ग्राह्यता के संबंध में समीक्षा की गई है, जिसका आशय भावार्थ से स्पष्ट है।

इसका एक मात्र अभिप्राय यह है कि साधु-साध्वियों द्वारा आहार-पानी पूर्ण गवेषणा के अनन्तर उसी व्यक्ति के यहाँ से ही लिया जाए, जिसका स्वामित्व यथार्थ रूप में उस आहार के साथ जुड़ा हो।

१५९ सागारिक की साझेदारी युक्त दुकान से वस्तु लेने के संबंध में विधि-निषेध

सागारिक की साझेदारी युक्त दुकान से वस्तु लेने के संबंध में विधि-निषेध

सागारियस्स चक्कियासाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३५ ॥

सागारियस्स चक्कियासाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३६ ॥

सागारियस्स गोलियसाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३७ ॥

सागारियस्स गोलियसाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३८ ॥

सागारियस्स बोधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २३९ ॥

सागारियस्स बोधियसाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४० ॥

सागारियस्स दोसियसाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४१ ॥

सागारियस्स दोसियसाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४२ ॥

सागारियस्स सोत्तियसाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४३ ॥

सागारियस्स सोत्तियसाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४४ ॥

सागारियस्स बोडियसाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४५ ॥

सागारियस्स बोडियसाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४६ ॥

सागारियस्स गंधियसाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४७ ॥

सागारियस्स गंधियसाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४८ ॥

सागारियस्स सोडियसाला साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २४९ ॥

सागारियस्स सोडियसाला णिस्साहारणवक्कयपउत्ता, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २५० ॥

सागारियस्स ओसहीओ संथडाओ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २५१ ॥

सागारियस्स ओसहिओ असंथडाओ, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २५२ ॥

सागारियस्स अंबफला संथडा, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २५३ ॥

सागारियस्स अंबफला असंथडा, तम्हा दावए, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २५४ ॥

कठिन शब्दार्थ - चक्कियासाला - चक्रिकाशाला - तैल विक्रय स्थान, साहारणवक्कयपउत्ता - साधारण विक्रय प्रयुक्त - दूसरे की भागीदारी से युक्त, णिस्साहारणवक्कयपउत्ता - अन्य की भागीदारी से रहित, गोलियसाला - गुड़ विक्रय का स्थान, बोधियसाला - किराणे की वस्तुओं के विक्रय का स्थान, दोसियसाला - दूष्य (द्युष्पिक) शाला - वस्त्र विक्रय स्थान, सोत्तियसाला - सूत्र (सूत) विक्रय स्थान, बोडियसाला - बोण्डकशाला - कपास या रूई का विक्रय स्थान, गंधियसाला - सुगंधित पदार्थ विक्रय स्थान, सोडियसाला - शौण्डिकशाला - मिष्ठान्न विक्रय स्थान, ओसहीओ - चावल, गेहूँ आदि अन्न निष्पादित खाद्य पदार्थ, संथडाओ - संस्तृत - (भोजनशाला या रसोईघर में) सर्वसाधारण के लिए रखे हुए - अन्यभागितायुक्त, अंबफला - आम्रफल - आम के फल।

भावार्थ - २३५. सागारिक की दूसरे की साझेदारी या भागीदारी से युक्त तेल की दुकान से तेल लेना साधु को नहीं कल्पता।

१६१। सागारिक की साझेदारी युक्त दुकान से वस्तु लेने के संबंध में विधि-निषेध

२३६. सागारिक की तेल की दुकान से, जो दूसरे की हिस्सेदारी में न हो, स्वयं अपने अकेले की हो, उससे साधु को तेल लेना कल्पता है।

२३७. सागारिक की अन्य की भागीदारी से युक्त गुड़ की दुकान से गुड़ लेना साधु को नहीं कल्पता।

२३८. सागारिक की अन्य की भागीदारी से रहित गुड़ की दुकान से गुड़ लेना साधु को कल्पता है।

२३९. सागारिक की अन्य की भागीदारी से युक्त किराणे की दुकान से किराणे की कोई वस्तु लेना साधु को नहीं कल्पता।

२४०. सागारिक की अन्य की भागीदारी से रहित किराणे की दुकान से किराणे की कोई वस्तु लेना साधु को कल्पता है।

२४१. सागारिक की अन्य की भागीदारी से युक्त वस्त्र की दुकान से साधु को वस्त्र लेना नहीं कल्पता।

२४२. सागारिक की अन्य की भागीदारी से रहित वस्त्र की दुकान से साधु को वस्त्र लेना कल्पता है।

२४३. सागारिक की अन्य की भागीदारी से युक्त सूत्र (सूत) की दुकान से साधु को सूत लेना नहीं कल्पता।

२४४. सागारिक की अन्य की भागीदारी से रहित सूत्र (सूत) की दुकान से साधु को सूत लेना कल्पता है।

२४५. सागारिक की अन्य की भागीदारी से युक्त कपास या रूई की दुकान से साधु को रूई लेना नहीं कल्पता।

२४६. सागारिक की अन्य की भागीदारी से रहित कपास या रूई की दुकान से साधु को रूई लेना कल्पता है।

२४७. सागारिक की अन्य की भागीदारी से युक्त सुगंधित पदार्थों की दुकान से साधु को किसी सुगंधित पदार्थ का लेना नहीं कल्पता।

२४८. सागारिक की अन्य की भागीदारी से रहित सुगंधित पदार्थों की दुकान से साधु को किसी सुगंधित पदार्थ का लेना कल्पता है।

२४९. सागारिक की अन्य की भागीदारी से युक्त मिठाई की दुकान से साधु को मिठाई लेना नहीं कल्पता।

२५०. सागारिक की अन्य की भागीदारी से रहित मिठाई की दुकान से साधु को मिठाई लेना कल्पता है।

२५१. सागारिक की पाकशाला - भोजनशाला से अन्यान्यजनों की सहभागिता युक्त (चावल, गेहूँ आदि से निष्पादित) बने हुए, रखे हुए खाद्य पदार्थों में से साधु को किसी पदार्थ को लेना नहीं कल्पता।

२५२. सागारिक की पाकशाला - भोजनशाला से अन्यान्यजनों की सहभागिता रहित बने हुए, रखे हुए खाद्य पदार्थों में से साधु को किसी पदार्थ को लेना कल्पता है।

२५३. सागारिक के अन्यान्यजनों के सहभागिता के साथ रखे हुए आम के फलों में से साधु को आम लेना नहीं कल्पता।

२५४. सागारिक के अन्यान्यजनों के सहभागिता के बिना अर्थात् उसके अकेले अपने ही स्वामित्व से युक्त रखे हुए आम के फलों में से साधु को आम लेना कल्पता है।

विवेचन - जैन शास्त्रों के विधान के अनुसार साधु-साध्वी उसी व्यक्ति से कोई आवश्यक वस्तु ले सकते हैं, जो उसका सम्पूर्णतः अधिकारी हो। जिस पदार्थ या वस्तु पर एकाधिक व्यक्तियों का अधिकार हो, वैसी वस्तु को वे नहीं ले सकते। कोई ऐसी दुकान, जो एक से अधिक व्यक्तियों की भागीदारी से चलती हो, उससे साधु किसी एक सागारिक से, व्यापारिक गृहस्थ से कोई वस्तु नहीं ले सकता, क्योंकि उस विक्रय केन्द्र या दुकान पर किसी व्यक्ति का अकेले का अधिकार नहीं होता। इसलिए कोई एक व्यक्ति वहाँ से कोई वस्तु देने का अधिकारी नहीं होता। अत एव अनधिकारी से कोई पदार्थ या वस्तु लेना साधु-साध्वियों के लिए वर्जित कहा गया है, क्योंकि वैसा करने से अदत्त वस्तु लेने का दोष लगता है।

इन सूत्रों में जिन वस्तुओं का उल्लेख हुआ है, वे अधिकांशतः दिन-प्रतिदिन लेने की नहीं हैं। दिन-प्रतिदिन तो केवल आहार-पानी ही लिया जाता है। किन्तु मानव-शरीर की आवश्यकतावश कभी कोई वस्तु यदा कदा अपेक्षित हो जाती है। अतः अचित्त निर्वद्य रूप में साधुचर्या के नियमानुसार उसे ग्रहण किया जा सकता है।

यहाँ वस्त्र के लिए दूष्य (दोसिय) शब्द का प्रयोग हुआ है। 'दूष्यति प्रयोगेण परिधारणेन वा इति दूष्यम्' - जो प्रयोग करने से या धारण करने से दूषित या मैला होता है, उसे दूष्य कहा जाता है। वस्त्र पर यह विशेष रूप से लागू होता है। इसलिए इस सामान्य अर्थद्योतक शब्द का वस्त्र में विशेष रूप से अर्थ सन्निहित हो गया। ऐसे शब्द योगरूढ कहे जाते हैं।

१६३. सागारिक की साझेदारी युक्त दुकान से वस्तु लेने के संबंध में विधि-निषेध

यहाँ आम का फल लिए जाने का जो वर्णन आया है, उसका आशय अचित्त एवं गुठली रहित आम से हैं, क्योंकि साधु सचित्त वस्तु तो ले ही नहीं सकते।

प्रज्ञापना सूत्र में प्रथम पद में पूर्ण पक्व आम्र फल को दो जीव वाला बताया है। एक जीव गुठली में तथा दूसरा जीव बीट (नोक) में होता है। इन दोनों से रहित होने पर पक्व आम्र फल पूर्ण अचित्त होता है यहाँ पर आम्रफल के उपलक्षण से एक गुठली वाले सभी फल पूर्ण पक्व हो जाने पर तथा गुठली व बीट से रहित होने पर ग्राह्य समझने चाहिए। आम्र फल सार्वजनीन होने से शास्त्रकारों ने उसका कथन किया है। बहुबीजीय फलों में तो पक जाने पर तथा बीजों को निकाल लेने पर भी सचित्त व मिश्रता की शंका रहती है। अतः शास्त्रकारों ने अग्नि आदि शस्त्रों से परिणत हुए बिना बहुबीजीय फलों को ग्रहण करने का विधान नहीं किया है। *

* निम्न चार सूत्र किसी किसी प्रति में ही मिलते हैं। प्राचीन भाष्य आदि में ये सूत्र नहीं हैं।

[सागारियणायए सिया सागारियस्स एगवगडाए एगदुवाराए एगणिक्खमणपवेसाए सागारियस्स एगवयू सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥१ ॥

सागारियणायए सिया सागारियस्स एगवगडाए एगदुवाराए एगणिक्खमणपवेसाए सागारियस्स अभिणिवयू सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ २ ॥

सागारियणायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए अभिणिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसाए सागारियस्स एगवयू सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ ३ ॥

सागारियणायए सिया सागारियस्स अभिणिव्वगडाए अभिणिदुवाराए अभिणिक्खमणपवेसाए सागारियस्स अभिणिवयू सागारियं च उवजीवइ, तम्हा दावए, णो से कप्पइ पडिगाहेत्तए ॥ ४ ॥

भावार्थ - १. सागारिक के साथ एक घर में, जिसके एक द्वार हो, बाहर निकलने और भीतर आने का एक ही मार्ग हो, सागारिक से प्राप्त सामग्री द्वारा जिसका एक ही चूल्हे पर भोजन बनता हो, वह यदि उसमें से साधु को दे तो उससे भिक्षा-आहार-पानी लेना साधु को नहीं कल्पता।

२. सागारिक के साथ एक घर में, जिसके एक द्वार हो, बाहर निकलने और भीतर आने का एक ही मार्ग हो, सागारिक से प्राप्त सामग्री द्वारा जिसका अलग चूल्हे पर भोजन बनता हो, वह यदि उसमें से साधु को दे तो उससे भिक्षा-आहार-पानी लेना साधु को नहीं कल्पता।

३. सागारिक के घर के पृथक् भाग में, जिसका द्वार अलग हो, निकलने और प्रवेश करने का मार्ग अलग हो, सागारिक से प्राप्त सामग्री द्वारा जिसका एक ही चूल्हे पर भोजन बनता हो, वह यदि उसमें से साधु को भिक्षा के रूप में दे तो साधु को लेना नहीं कल्पता।

४. सागारिक के घर के पृथक् भाग में, जिसका द्वार अलग हो, निकलने और प्रवेश करने का मार्ग अलग हो, सागारिक से प्राप्त सामग्री द्वारा जिसका अलग चूल्हे पर भोजन बनता हो, वह यदि उसमें से भिक्षा के रूप में साधु को दे तो उससे भिक्षा - आहार-पानी लेना साधु को नहीं कल्पता।]

सप्तसप्तमिका आदि भिक्षु प्रतिमाएँ

सत्तसत्तमिया णं भिक्खुपडिमा एगूणपण्णाए राइंदिएहिं एगेण छण्णउएणं भिक्खासएणं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ २५५ ॥

अट्टअट्टमिया णं भिक्खुपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्टासीएहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ २५६ ॥

णवणवमिया णं भिक्खुपडिमा एगासीए राइंदिएहिं चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ २५७ ॥

दसदसमिया णं भिक्खुपडिमा एगेणं राइंदियसएणं अब्बछट्ठेहि य भिक्खासएहिं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया आणाए अणुपालिया भवइ ॥ २५८ ॥

कठिन शब्दार्थ - सत्तसत्तमिया - सप्तसप्तमिका - सात-सात दिनों की, भिक्खुपडिमा-भिक्षु प्रतिमा, एगूणपण्णाए - उनपचास, राइंदिएहिं - रात-दिन में, एगेण छण्णउएणं भिक्खासएणं - एक सौ छियानवे भिक्षादत्तियों द्वारा, अहासुत्तं - यथासूत्र - सूत्रानुसार, अहाकप्पं - यथाकल्प - कल्पानुसार, अहामग्गं - यथामार्ग - मार्गानुरूप, अहातच्चं - यथातथ्य - सिद्धान्तानुसार यथावत्, सम्मं - सम्यक् - भलीभांति, काएणं - काय द्वारा - मन, वचन एवं काय रूप तीनों योगों द्वारा, फासिया - स्पर्शित - विराधना न करते हुए सेवित, पालिया - पालित, सोहिया - शोधित - जरा भी अतिचार के अभाव के कारण परिशोधित, तीरिया - तीरित - पार की हुई, किट्टिया - कीर्तित - आचार्यों के समक्ष प्रतिमा-समाप्ति के संबंध में कथित, आणाए - जिनाज्ञा - तीर्थंकर देव की आज्ञा के अनुसार, अणुपालिया - अनुपालित - सम्यक्, यथावत् परिपालित, अट्टअट्टमिया - अष्टअष्टमिका - आठ-आठ दिनों की, चउसट्ठीए - चौसठ, दोहि य अट्टासीएहिं भिक्खासएहिं - दो सौ अट्टासी भिक्षादत्तियों द्वारा, णवणवमिया - नवनवमिका - नौ-नौ

दिनों की, एगासीए - इक्यासी, चउहि य पंचुत्तरेहिं भिक्खासएहिं - चार सौ पांच भिक्षादत्तियों द्वारा, दसदसमिया - दशदशमिका - दस-दस दिनों की, एगेणं राइंदियसएणं - एक सौ रात-दिन में, अद्धछट्टेहि य भिक्खासएहिं - साढ़े पांच सौ-पांच सौ पचास भिक्षादत्तियों द्वारा।

भावार्थ - २५५. सप्तसप्तमिका भिक्षुप्रतिमा उनपचास रात्रि-दिवस में एक सौ छियानवें भिक्षादत्तियों द्वारा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य, भलीभाँति, मानसिक, वाचिक, कायिक-तीनों योगों के साथ स्पर्शित, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित, जिनेश्व देव की आज्ञानुरूप अनुपालित होती है।

२५६. अष्टअष्टमिका भिक्षुप्रतिमा चौसठ रात्रि दिवस में दो सौ अट्टासी भिक्षादत्तियों द्वारा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य, भलीभाँति, मानसिक, वाचिक, कायिक - इन तीनों योगों के साथ स्पर्शित, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित, जिनेश्वर देव की आज्ञानुरूप अनुपालित होती है।

२५७. नवनवमिका भिक्षुप्रतिमा इक्यासी रात्रिदिवस में चार सौ पांच भिक्षादत्तियों द्वारा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य, भलीभाँति, मानसिक, वाचिक, कायिक - इन तीनों योगों के साथ स्पर्शित, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित, जिनेश्वर देव की आज्ञानुरूप अनुपालित होती है।

२५८. दशदशमिका भिक्षुप्रतिमा एक सौ रात्रि दिवस में साढ़े पांच सौ - पाँच सौ पचास भिक्षादत्तियों द्वारा यथासूत्र, यथाकल्प, यथामार्ग, यथातथ्य, भलीभाँति, मानसिक, वाचिक, कायिक-इन तीनों योगों के साथ स्पर्शित, पालित, शोधित, तीरित, कीर्तित, जिनेश्वर देव की आज्ञानुरूप अनुपालित होती है।

विवेचन - इन सूत्रों में चार भिक्षु प्रतिमाओं का वर्णन है। उनका संबंध विशेषतः ऊनोदरी तप से है, जिसका पहले यथाप्रसंग वर्णन आ चुका है।

यहाँ चारों प्रतिमाओं में भिक्षा-विषयक दत्तियों की संख्या का जो उल्लेख हुआ है। इस संबंध में ज्ञातव्य है कि उन-उन प्रतिमाओं में सूचित संख्याओं से अधिक दत्तियाँ स्वीकार नहीं की जा सकती, किन्तु प्रतिमा आराधक चाहे तो उस द्वारा कम दत्तियाँ स्वीकार की जा सकती हैं। क्योंकि वैसा करने से ऊनोदरी तप और विशिष्टता पा लेता है।

अंतकृद्दशांग सूत्र के अष्टम वर्ग में सुकृष्णा आर्या द्वारा इन भिक्षु प्रतिमाओं की आराधन किए जाने का उल्लेख है।

इन प्रतिमाओं की आराधना साधु-साध्वी दोनों ही कर सकते हैं। प्रतिमाराधक अपनी गोचरी स्वयं लाते हैं।

साध्वी के लिए एकाकिनी भिक्षा हेतु जाने का निषेध है। इन प्रतिमाओं की आराधिका साध्वी जब भिक्षा लेने जाती है तब अन्य साध्वियाँ भी उसके साथ जाती हैं, ताकि एकाकी जाने का दोष न लगे, किन्तु अपने लिए भिक्षा वह स्वयं ही ग्रहण करती है।

इन प्रतिमाओं को भी सूत्र में 'भिक्षु प्रतिमा' शब्द से ही सूचित किया गया है। फिर भी इनको धारण करने में बारह भिक्षु प्रतिमाओं के समान पूर्वों का ज्ञान तथा विशिष्ट संहनन की आवश्यकता नहीं होती है।

मोक-प्रतिमा-विधान

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तंजहा- खुड्डिया वा मोयपडिमा महल्लिया वा मोयपडिमा, खुड्डियण्णं मोयपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ पढम सरयकालसमयंसि वा चरिमणिदाहकालसमयंसि वा बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ चोहसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ सोलसमेणं पारेइ, जाए जाए मोए आइयव्वे, दिया आगच्छइ आइयव्वे राइ आगच्छइ णो आइयव्वे, सपाणे मत्ते आगच्छइ णो आइयव्वे अप्पाणे मत्ते आगच्छइ आइयव्वे, सब्बीए मत्ते आगच्छइ णो आइयव्वे अब्बीए मत्ते आगच्छइ आइयव्वे, ससणिद्धे मत्ते आगच्छइ णो आइयव्वे अससणिद्धे मत्ते आगच्छइ आइयव्वे, ससरक्खे मत्ते आगच्छइ णो आइयव्वे अससरक्खे मत्ते आगच्छइ आइयव्वे, जाए जाए मोए आइयव्वे तंजहा - अप्पे वा बहुए वा। एवं खलु एसा खुड्डिया मोयपडिमा अहासुत्तं जाव अणुपालिया भवइ ॥ २५९ ॥

महल्लियण्णं मोयपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स कप्पइ से पढमसरय-कालसमयंसि वा चरिमणिदाहकालसमयंसि वा बहिया गामस्स वा जाव रायहाणीए वा वणंसि वा वणदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयदुग्गंसि वा, भोच्चा आरुभइ, सोलसमेणं पारेइ, अभोच्चा आरुभइ, अट्टारसमेणं पारेइ, जाए जाए मोए आइयव्वे तह चेव जाव अणुपालिया भवइ ॥ २६० ॥

कठिन शब्दार्थ - खुड्डिया - क्षुद्रिका - छोटी, मोयपडिमा - मोक प्रतिमा - पापकर्मों से मुक्त कराने वाली प्रतिमा, महल्लिया - महतिका - बड़ी, पडिवण्णस्स - प्रतिपन्न - स्वीकार किए हुए, पढमसरयकालसमयंसि - शरत् काल के प्रथम समय में - मार्गशीर्ष में, चरिमणिदाहकालसमयंसि - ग्रीष्म ऋतु के अंतिम समय में - आषाढ मास में, बहिया - बाहर, वणंसि - वन में - एक जातीय वृक्षों से युक्त वन में, वणदुगंसि - वन दुर्ग में - विभिन्न जातियों के वृक्षों से युक्त सघन वन में, पव्वयंसि - पर्वत पर, पव्वयदुगंसि - अनेक पर्वतों के समुदाय युक्त स्थान में, भोच्चा - भोजन करके, आरुभइ - आरूढ होता है - प्रतिमा की आराधना में संलग्न होता है, चोइसमेणं पारेइ - छह उपवास से पूर्ण करता है, अभोच्चा - बिना भोजन किए, सोलसमेणं पारेइ - सात उपवास से पूर्ण करता है, जाए-जाए - जब-जब, जितना-जितना, मोए - मात्रक - प्रस्रवण, मूत्र, आइयव्वे - आपातव्य - पान करना चाहिए, दिया - दिन में, आगच्छइ - आए, राइ - रात्रि में, सपाणे मत्ते - जीव विशिष्ट युक्त प्रस्रवण, अप्पाणे - जीव रहित, सबीए - सवीर्य - शुक्रयुक्त, अबीए - अवीर्य - शुक्र रहित, ससणिद्धे - सस्निग्ध - चिकनाई सहित, अससणिद्धे - अस्निग्ध - चिकनाई रहित, ससरक्खे - रज युक्त, अससरक्खे - रज रहित, अप्पे - अल्प - थोड़ा, बहुए - अधिक, अट्टारसमेणं - आठ उपवास से पूर्ण करता है।

भावार्थ - २५९. दो प्रतिमाएँ परिज्ञापित - प्रतिपादित हुई हैं। वे इस प्रकार हैं -
१. क्षुद्रिका - छोटी मोक प्रतिमा एवं २. महतिका - बड़ी मोक प्रतिमा।

छोटी मोक प्रतिमा को शरत् काल के प्रथम समय में - मार्गशीर्ष में अथवा ग्रीष्मकाल के अन्तिम समय में - आषाढ मास में साधु द्वारा स्वीकार करना तथा ग्राम यावत् राजधानी से बाहर, वन, वनदुर्ग, पर्वत या पर्वतदुर्ग में रहते हुए उसकी आराधना करना कल्पता है।

यदि साधु आहार करके प्रतिमा की आराधना में संलग्न होता है तो वह छह उपवास के साथ इसे पूर्ण करता है, इस प्रकार सात अहोरात्र हो जाते हैं।

यदि वह भोजन किए बिना - उपवास पूर्वक प्रतिमा की आराधना में संलग्न होता है तो सात उपवास के अनन्तर उसे पूर्ण करता है। अर्थात् उसके सातों ही अहोरात्र उपवास पूर्वक व्यतीत होते हैं।

जब-जब जितना-जितना प्रस्रवण होता है, वह आपातव्य - पान करने योग्य या पीने योग्य होता है।

दिन में जो प्रस्रवण होता है, वह पान करने योग्य है। रात में जो होता है, वह पान करने योग्य नहीं है।

जो प्रस्रवण जीवयुक्त, शुक्रयुक्त, चिकनाईयुक्त तथा रजयुक्त होता है, वह पान करने योग्य नहीं है। जो जीव रहित, शुक्ररहित, चिकनाईरहित और रजरहित होता है, वह पान करने योग्य है।

उस प्रकार का - जीवादि रहित प्रस्रवण जब-जब, जैसा-जैसा थोड़ा या बहुत होता हो, वह पान करने योग्य है।

इस प्रकार यह क्षुद्रिका - छोटी मोक प्रतिमा यथासूत्र यावत् जिनेश्वर देव की आज्ञानुरूप अनुपालित होती है।

२६०. महतिका - बड़ी मोक प्रतिमा को शरत् काल के प्रथम समय में - मार्गशीर्ष मास में अथवा ग्रीष्म काल के अन्तिम समय में - आषाढ मास में साधु द्वारा स्वीकार करना तथा ग्राम यावत् राजधानी से बाहर वन, वनदुर्ग, पर्वत या पर्वतदुर्ग में रहते हुए उसकी आराधना करना कल्पता है।

यदि साधु आहार करके प्रतिमा की आराधना में संलग्न होता है तो वह सात उपवास के साथ इसे पूर्ण करता है, इस प्रकार आठ अहोरात्र हो जाते हैं।

यदि वह भोजन किए बिना - उपवास पूर्वक प्रतिमा की आराधना में संलग्न होता है तो आठ उपवास के अनन्तर उसे पूर्ण करता है अर्थात् उसके आठों ही अरोहात्र उपवास पूर्वक व्यतीत होते हैं।

जब-जब, जितना-जितना प्रस्रवण होता है, वह पान करने योग्य है यावत् वह पूर्वानुरूप अनुपालित की जाती है।

विवेचन - इन सूत्रों में प्रयुक्त मोक (मोय) शब्द का एक अर्थ कायिक या शरीर संबंधी है, प्रस्रवण का संबंध शरीर से है। अत एव मुख्यतः उसके पान-विषयक विधान पर आधारित इस प्रतिमा को मोक-प्रतिमा कहा गया है।

“मोचयति पापकर्मभ्यः साधून् इति मोकः” इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो प्रतिमा साधकों को पापकर्मों से मुक्त कराती है, छुड़ाती है, वह मोक-प्रतिमा है।

इन दोनों अर्थों में दूसरा अर्थ अधिक संगत है। क्योंकि इस प्रतिमा में जो साधना का क्रम निर्देशित है, वह बहुत कठिन है, कर्म-निर्जरण का विशेष हेतु है।

इन प्रतिमाओं की आराधना करना साधारण साधक के वश की बात नहीं है, भाष्य में तीन संहनन युक्त पूर्वधारी साधु को ही इनकी आराधना का अधिकारी बतलाया है। साध्वियाँ इन प्रतिमाओं की आराधना नहीं कर सकती क्योंकि इनमें दुर्गम वन, पर्वत आदि स्थानों में एकाकी रहते हुए कायोत्सर्ग पूर्वक साधना करना आवश्यक है।

क्षुद्रिका या छोटी मोक प्रतिमा का कालमान सात अहोरात्र का है। दूसरी महतिका - बड़ी मोक प्रतिमा का कालमान आठ अहोरात्र का है। दोनों की ही दो-दो विधियाँ हैं - १. प्रथम दिन आहार कर प्रतिमा को शुरू करना, २. बिना आहार किए उपवास पूर्वक प्रतिमा को शुरू करना।

पहली विधि में दोनों में क्रमशः छह एवं सात उपवास होते हैं, दूसरी में क्रमशः सात और आठ उपवास होते हैं। अर्थात् दूसरी विधि में सारे ही दिन उपवास में निकलते हैं। छोटी-बड़ी का अन्तर एक दिन की अधिकता पर आधारित है।

प्रस्रवण-पान का प्रसंग साधारणजनों को सहसा जुगुप्सनीय प्रतीत होता है, क्योंकि सामान्यजनों द्वारा ऐसा किया जाना अति दुष्कर है। पुनश्च ऐसा करने में जुगुप्सा या घृणा विजय का उच्च भाव अन्तःकरण में होना चाहिए। उच्च कोटि के साधक, जो परभाव से अपने को क्रमशः हटाते जाते हैं, उससे ऊँचे उठ जाते हैं, वे ही ऐसा करने में समर्थ होते हैं। जब साधक आध्यात्मिक भाव में प्रकर्ष पा लेता है, तब दैहिक और भौतिक उत्तमता-अधमता से वह अतीत हो जाता है।

वाममार्गी साधनाक्रम में भी ऐसे साधकों का उल्लेख मिलता है, जो उच्चार-प्रस्रवण विषयक जुगुप्सनीयता के ऊपर सर्वथा विजय पा लेते हैं, उन्हें वाक्-सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी प्रस्रवण-पान पर गहन, सूक्ष्म चिन्तन-अन्वेषण हुआ है। भीषण रोगों के विनाश में इसकी उपयोगिता स्वीकार की गई है। वहाँ यह 'शिवांबु' शब्द से अभिहित हुआ है।

दत्ति-विषयक प्रमाण

संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पडिग्गहधारिस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए
अणुप्पविट्ठस्स जावइयं केइ अंतो पडिग्गहंसि उवइत्तुं दलएज्जा तावइयाओ ताओ दत्तीओ
वत्तव्वं सिया, तत्थ से केइ छव्वएण वा दूसएण वा वालएण वा अंतो पडिग्गहंसि

उवित्ता दलएज्जा, सा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया, तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडसाहणिय अंतो पडिग्गहंसि उवित्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ॥ २६१ ॥

संखादत्तियस्स णं भिक्खुस्स पाणिपडिग्गहियस्स णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स जावइयं केइ अंतो पाणिंसि उवइत्तु दलएज्जा तावइयाओ दत्तीओ वत्तव्वं सिया, तत्थ से केइ छव्वएण वा दूसएण वा वालएण वा अंतो पाणिंसि उवित्ता दलएज्जा, सा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया, तत्थ से बहवे भुंजमाणा सव्वे ते सयं सयं पिंडं साहणिय अंतो पाणिंसि उवित्ता दलएज्जा, सव्वा वि णं सा एगा दत्ती वत्तव्वं सिया ॥ २६२ ॥

कठिन शब्दार्थ - संखादत्तियस्स - दत्ति - विषयक संख्या के अभिग्रह से युक्त, पडिग्गहधारिस्स - पात्रधारी, पिंडवाय-पडियाए - आहार लेने की इच्छा से, जावइयं - यावत्क - जितनी बार, अंतो पडिग्गहंसि - पात्र के भीतर, उवइत्तु - ऊपर उठाकर, दलएज्जा - देवे, तावइयाओ - तावरक - उतनी, वत्तव्वं - वक्तव्य - कथन करने योग्य, छव्वएण - छबड़ी से, दूसएण - वस्त्र से, वालएण - चालनी से, भुंजमाणा - भोजन करते हुए अथवा भोजन करने वाले, सयं सयं - स्वक-स्वक - अपना-अपना, साहणिय - सम्मिलित कर - मिलाकर, पाणिपडिग्गहियस्स - कर-पात्रभोजी - हाथ का ही पात्र के रूप में उपयोग कर आहार करने वाला, अंतो पाणिंसि - हाथ में।

भावार्थ - २६१. दत्ति-संख्या-विषयक अभिग्रह युक्त पात्रधारी भिक्षु यदि भिक्षा लेने हेतु गृहस्थ के घर में गया हुआ हो। गृहस्थ जितनी बार भोज्य सामग्री को ऊपर उठाकर साधु के पात्र में दे, उतनी ही दत्तियाँ वहाँ कथन करने योग्य हैं - कही गई हैं।

वहाँ - गृहस्थ के घर में कोई छबड़ी से, वस्त्र से या चालनी से एक बार में साधु के पात्र में जो आहार दे, संख्या की दृष्टि से उसे एक दत्ति कहा गया है।

यदि गृहस्थ के घर में बहुत से व्यक्ति भोजन करते हों अथवा भोजन करने वाले हों और वे सब अपने-अपने आहार को एक साथ मिला कर ऊपर उठा कर साधु के पात्र में एक बार में दे तो उसे संख्या की दृष्टि से एक दत्ति कहा गया है।

२६२. दत्ति-संख्या-विषयक अभिग्रह युक्त कर-पात्रभोजी भिक्षु यदि भिक्षा लेने हेतु गृहस्थ के घर में गया हुआ हो। गृहस्थ जितनी बार भोज्य सामग्री को ऊपर उठा कर साधु के हाथ में दे, उतनी ही दत्तियाँ वहाँ कथन करने योग्य हैं - कही गई हैं।

वहाँ - गृहस्थ के घर में कोई छबड़ी से, वस्त्र से या चालनी से एक बार में साधु के हाथ में जो आहार दे, संख्या की दृष्टि से उसे एक दत्ति कहा गया है।

यदि गृहस्थ के घर में बहुत से व्यक्ति भोजन करते हों अथवा भोजन करने वाले हों और वे सब अपने-अपने आहार को एक साथ मिलाकर, ऊपर उठाकर साधु के हाथ में एक बार में दे, उसे संख्या की दृष्टि से एक दत्ति कहा गया है।

विवेचन - सप्तसप्तमिका आदि भिक्षुप्रतिमाओं में दत्तियों की संख्या के आधार पर भिक्षा लेने का वर्णन हुआ है। यहाँ इन सूत्रों में दत्तियों के स्वरूप या प्रमाण का निर्धारण किया गया है। तत्त्वतः एक बार में, ऊपर उठाकर पात्र या हाथ में दिया गया, उँडेला गया आहार एक दत्ति कहा जाता है। बहुत से व्यक्ति अपना आहार मिलाकर इसी रूप में दे तो वह भी एक दत्ति ही माना जाता है।

पेय पदार्थ अखण्डित धारा के रूप में एक बार में पात्र में उँडेल कर जितना दिया जाता है, वह एक दत्ति में परिगणित होता है।

यहाँ दत्ति-संख्या-विषयक अभिग्रह युक्त पात्रभोजी और कर-पात्रभोजी - दो प्रकार के भिक्षुओं का उल्लेख है। भोजन के लिए पात्र न रख कर पात्र के रूप में हाथ का ही प्रयोग करना तितिक्षा एवं अपरिग्रह का उत्कृष्ट रूप है।

त्रिविध आहार

तितिविहे उवहडे पण्णत्ते, तंजहा - सुद्धोवहडे फलिओवहडे संसद्धोवहडे ॥ २६३ ॥

कठिन शब्दार्थ - तितिविहे - तीन प्रकार का, उवहडे - उपहत - भिक्षा में प्राप्त आहार, सुद्धोवहडे - शुद्धोपहत - शुद्ध - अलेप्य खाद्य पदार्थ, फलिओवहडे - फलितोपहत- अनेक व्यंजन युक्त खाद्य पदार्थ, संसद्धोवहडे - संसृष्टोपहत - व्यंजन रहित संलेप्य खाद्य पदार्थ।

भावार्थ - २६३. भिक्षा में गृहीत खाद्य पदार्थ तीन प्रकार के बतलाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं -

१. शुद्धोपहत २. फलितोपहत एवं ३. संसृष्टोपहत।

विवेचन - लेप रहित सूखे खाद्य पदार्थ शुद्धोपहत कहे जाते हैं। यहाँ भूने हुए चने, मुरमुरे तथा फुली आदि शुद्धोपहत के अन्तर्गत आते हैं। इनमें और किसी वस्तु का मेल नहीं होता। यहाँ प्रयुक्त शुद्ध शब्द निर्दोष का वाचक नहीं है क्योंकि तीनों ही प्रकार के पदार्थ साधुचर्या के अनुरूप, अनुद्दिष्ट, अनवद्य तथा अचित्त होते हैं, इसलिए तीनों ही शुद्ध हैं, उनमें कोई अशुद्ध नहीं है। यह किसी से भी अमिलित या अमिश्रित का वाचक है।

शाक, भाजी, दाल, दही, खीर आदि व्यंजनों से युक्त पूड़ी, रोटी, चावल, मिष्ठान आदि पदार्थ फलितोपहत के अन्तर्गत आते हैं।

शाक, भाजी, दाल आदि व्यंजनों से रहित रोटी, घाट, भात, खिचड़ी आदि संलेप्य पदार्थ संसृष्टोपहत कहे जाते हैं।

अवगृहीत आहार के भेद

दुविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तंजहा-जं च ओग्गिण्हइ, जं च साहरइ, जं च आसगंसि पक्खिवइ, एगे एवमाहंसु ॥ २६४ ॥

(एगे पुण एवमाहंसु) दुविहे ओग्गहिए पण्णत्ते, तंजहा - जं च ओग्गिण्हइ, जं च आसगंसि पक्खिवइ ॥ २६५ ॥ त्ति बेमि ॥

॥ व्यवहारस्स णवमो उद्देशओ समत्तो ॥ ९ ॥

कठिन शब्दार्थ - ओग्गहिए - अवगृहीत - ग्रहण किया हुआ, ग्रहण किया जाता हुआ, जं - जो, ओग्गिण्हइ - अवगृहीत करता है - ग्रहण करता है, साहरइ - संहत करता है - जिसमें खाद्य पदार्थ रखा हो, उस पात्र से निकालता है, आसगंसि - पात्र के मुख में - पात्र के भीतर, पक्खिवइ - प्रक्षिप्त करता है - डालता है, एगे - एक नय की अपेक्षा से, एवं आहंसु - ऐसा कहते हैं, दुविहे - द्विविध - दो प्रकार का।

भावार्थ - २६४. अवगृहीत आहार तीन प्रकार का परिज्ञापित - निरूपित हुआ है। वह इस प्रकार है -

१. जो देने या प्रस्तुत करने हेतु ग्रहण किया जाता हो, वह प्रथम प्रकार में आता है।

२. जिस पात्र में खाद्य पदार्थ रखे हों, उसमें से देने हेतु, प्रस्तुत करने हेतु निकालना द्वितीय भेद के अन्तर्गत है।

३. देने हेतु, प्रस्तुत करने हेतु पात्र में प्रक्षिप्त करना - डालना तृतीय भेद में है।

एक नय की अपेक्षा से ऐसा कहा जाता है।

२६५. (एक नय की अपेक्षा से दूसरे प्रकार से ऐसा भी कहा जाता है।) अवगृहीत आहार के दो भेद हैं। वह इस प्रकार है -

१. देने हेतु अवगृहीत करना।

२. देने हेतु, प्रस्तुत करने हेतु पात्र में प्रस्तुत करना।

विवेचन - यहाँ प्रयुक्त प्राकृत के 'आसगंसि' शब्द का संस्कृत रूप 'आस्ये' है जो 'आस्य' शब्द का सप्तमी विभक्ति (अधिकरण कारक) का एक वचन का रूप है। आस्य का अर्थ मुख होता है। यहाँ मुख से पात्र अध्याहृत (Understood) है। अर्थात् यहाँ पात्र का मुख से मूर्व अध्याहार किया गया है।

उपरोक्त सूत्र में 'एगो पुण एवमाहंसु' शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे मान्यताभेद की कल्पना उत्पन्न होती है, किन्तु यहाँ दो अपेक्षाओं को लेकर सूत्र की रचना पद्धति है, ऐसा समझना चाहिए।

जीवाभिगम सूत्र में भी ऐसे वाक्य अनेक बार आए हैं। वहाँ पर टीकाकार ने भी वैसा ही स्पष्टीकरण किया है। अतः यहाँ भी "एगो पुण एवमाहंसु" शब्दों का प्रयोग होते हुए भी मान्यता भेद होना नहीं समझना चाहिए।

भाष्यकार ने भी इसे "आदेश" कहकर इसकी यह परिभाषा बताई है कि - अनेक बहुश्रुतों से चली आई भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं को आदेश कहते हैं। इसलिए प्रस्तुत सूत्र के दोनों विभागों को आदेश (अपेक्षा) ही समझना चाहिए।

॥ व्यवहार सूत्र का नववाँ उद्देशक समाप्त ॥

दसमो उद्देशओ - दशम उद्देशक

यवमध्य एवं वज्रमध्य चंद्रप्रतिमाएँ

दो पडिमाओ पण्णत्ताओ, तंजहा - जवमज्झा य चंदपडिमा वडरमज्झा य चंदपडिमा, जवमज्झण्णं चंदपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णिच्चं मासं वोसट्टुकाए चियत्तदेहे जे केइ परीसहोवसग्गा समुप्पज्जंति दिव्वा वा माणुस्सग्गा वा तिरिक्खजोणिया वा अणुलोमा वा पडिलोमा वा तत्थाणुलोमा वा ताव वंदेज्ज वा णमंसेज्ज वा सक्कारेज्ज वा संमाणेज्ज वा कल्लणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, तत्थ पडिलोमा वा अण्णयरेणं दंडेण वा अट्टीण वा जोत्तेण वा वेत्तेण वा कसेण वा काए आउट्टेज्जा ते सब्बे उप्पण्णे सम्मं स(हेज्जा)हइ खमइ तित्तिक्खेइ अहियासेइ ॥ २६६ ॥

जवमज्झण्णं चंदपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स सुक्कपक्खस्स से पाडिवए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए एगा पाणस्स, सब्बेहिं दुपयचउप्प-याइएहिं आहारकंखीहिं सत्तेहिं पडिणियत्तेहिं अण्णायउंछं सुद्धोवहडं णिज्जूहित्ता बहवे समणमाहणअइहिकिवणवणीमगा, कप्पइ से एगस्स भुंजमाणस्स पडिगाहेत्तए, णो दोणहं णो तिणहं णो चउणहं णो पंचणहं, णो गुक्विणीए णो बालवत्थाए णो दारगं पेज्जमाणीए णो अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, णो बाहिं एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलमाणीए, एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयं विक्खंभइत्ता एयाए एसणाए एसमाणे लब्भेज्जा आहारेज्जा एयाए एसणाए एसमाणे णो लब्भेज्जा णो आहारेज्जा (एवं दलयइ, एवं से कप्पइ पडिगाहेत्तए एवं णो दलयइ, एवं से णो कप्पइ पडिगाहेत्तए) बिइज्जाए से कप्पइ दोणिण दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए दोणिण पाणस्स (सब्बेहिं...), तइयाए से कप्पइ तिणिण दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए तिणिण पाणस्स, चउत्थीए से कप्पइ चउदत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए चउपाणस्स, पंचमीए से कप्पइ पंचदत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पंचपाणस्स, छट्टीए से कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए छ पाणस्स सत्तमीए से कप्पइ सत्त

दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए सत्त पाणस्स, अट्टमीए से कप्पइ अट्ट दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए अट्ट पाणस्स, णवमीए से कप्पइ णव दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए णव पाणस्स, दसमीए से कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए दस पाणस्स, एगार(सी)समीए से कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए एगारस पाणस्स, बारसमीए से कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए बारस पाणस्स, तेरसमीए से कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए तेरस पाणस्स, चोदसमीए से कप्पइ चोदस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए चोदस पाणस्स, पण्णरसमी(पुण्णिमा)ए से कप्पइ पण्णरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पण्णरस पाणस्स, बहुलपक्खस्स से पाडिवए कप्पंति चोदस (दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए चोदस पाणस्स सव्वेहिं दुप्पय जाव णो आहारेज्जा), बिइयाए कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए तेरस पाणस्स जाव णो आहारेज्जा, तइयाए कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए बारस पाणस्स जाव णो आहारेज्जा, चउत्थीए कप्पइ एक्कारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, पंचमीए कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, छट्ठीए कप्पइ णव दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, सत्तमीए कप्पइ अट्ट दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, अट्टमीए कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, णवमीए कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, दसमीए कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, एक्कारसीए कप्पइ चउदत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, बारसीए कप्पइ ति दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, तेरसीए कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, चउदसीए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, अमावासाए से य अभत्तट्ठे भवइ, एवं खलु एसा जवमण्णचंदपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं जाव अणुपालिया भवइ ॥ २६७ ॥

इमण्णं चंदपडिमं पडिवण्णस्स अणगारस्स णिच्चं मासं वोसट्टुकाए चियत्तदेहे जे केइ परिसहोवसग्गा समुप्पज्जंति, तंजहा - दिव्वा वा माणुस्सगा वा तिरिक्खजोणिया वा अणुलोमा वा पडिलोमा वा, तत्थ अणुलोमा वा ताव वंदेज्जा वा णमंसेज्जा वा सक्कारेज्जा वा सम्माणेज्जा वा कल्लणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेज्जा, तत्थ पडिलोमा

वा अण्णयरेणं, दंडेण वा अट्टीण वा मुट्टीण वा जोत्तेण वा वेत्तेण वा कसेण वा काए
आउट्टेज्जा, ते सव्वे उप्पण्णे सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अहियासेज्जा ॥ २६८ ॥

वइरमञ्जणं चंदपडिमं पडिवण्णस्स अण्णारस्स बहुलपक्खस्स पाडिवए कप्पइ
पण्णरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए पण्णरस पाण्णरस सव्वेहिं दुप्पयचउप्पयाइएहिं
आहारकंखेहिं जाव णो आहारेज्जा, बिइयाए से कप्पइ चउहस दत्तीओ भोयणस्स
पडिगाहेत्तए जाव णो आहारेज्जा, तइयाए कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो
आहारेज्जा, चउत्थीए कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, पंचमीए
कप्पइ एगारस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, छट्ठीए कप्पइ दस दत्तीओ
भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, सत्तमीए कप्पइ णव दत्तीओ भोयणस्स जाव णो
आहारेज्जा, अट्टमीए कप्पइ अट्ट दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, णवमीए
कप्पइ सत्त दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, दसमीए कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स
जाव णो आहारेज्जा, एगारसीए कप्पइ पंच दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा,
बारसीए कप्पइ चउदत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, तेरसीए कप्पइ तिण्णिण
दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, चउदसीए कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स जाव
णो आहारेज्जा, अमावासाए कप्पइ एगा दत्ती भोयणस्स पडिगाहेत्तए जाव णो आहारेज्जा,
सुक्कपक्खस्स पाडिवए से कप्पइ दो दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, बिइयाए
से कप्पइ तिण्णिण दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, तइयाए से कप्पइ चउदत्तीओ
भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, चउत्थीए से कप्पइ पंचदत्तीओ भोयणस्स जाव णो
आहारेज्जा, पंचमीए कप्पइ छ दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, छट्ठीए कप्पइ
सत्त दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, सत्तमीए कप्पइ अट्ट दत्तीओ भोयणस्स
जाव णो आहारेज्जा, अट्टमीए कप्पइ णव दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा,
णवमीए कप्पइ दस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, दसमीए कप्पइ एगारस
दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, एगारसीए कप्पइ बारस दत्तीओ भोयणस्स
जाव णो आहारेज्जा, बारसीए कप्पइ तेरस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा,
तेरसीए कप्पइ चउहस दत्तीओ भोयणस्स जाव णो आहारेज्जा, चउहसीए कप्पइ

पण्णरस दत्तीओ भोयणस्स पडिगाहेत्तए, पण्णरस पाणगस्स पडिगाहेत्तए, सव्वेहिं दुप्पयचउप्पय जाव णो लभेज्जा णो आहारेज्जा, पुण्णिमाए अभत्तट्टे भवइ, एवं खलु एसा वइरमज्झा चंदपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं जाव अणुपालिया भवइ ॥ २६९ ॥

कठिन शब्दार्थ - जवमज्झा - यवमध्या, चंदपडिमा - चन्द्रप्रतिमा, वइरमज्झा - वज्रमध्या, णिच्चं - नित्य - सदा दिन-रात, मासं - एक मास पर्यन्त, वोसट्टुकाए - व्युत्सृष्ट काय - शरीर के प्रति ममत्व रहित, चियत्तदेहे - त्यक्त देह - शरीर पर होने वाले उपसर्गों और परीषहों से अतीत, सर्वथा दैहिक चिन्ता रहित, परीसहोवसग्गा - परीषह एवं उपसर्ग, समुप्पज्जंति - उत्पन्न हों, दिव्वा - देव संबंधी, माणुस्सगा - मनुष्य संबंधी, तिरिक्खजोणिया - तिर्यंच जीव संबंधी, अणुलोमा - अनुकूल - प्रीतिकर, पडिलोमा - प्रतिकूल - अप्रीतिजनक, वंदेज्ज - वंदना करे, णमंसेज्ज - नमस्कार करे, सक्कारेज्ज - सत्कार करे, संमाणेज्ज - सम्मान करे, कल्लाणं - कल्याण कर, मंगलं - मंगलमय, देवयं - धर्मदेवस्वरूप, चेइयं - चैत्य - ज्ञानस्वरूप, पज्जुवासेज्जा - पर्युपासना करे - भक्तिभाव प्रकट करे, अण्णयरेणं - अन्यतर, दंडेण - दण्ड - लट्टी द्वारा, अट्टीण - हड्डी से बने प्रहारक साधन द्वारा, जोत्तेण - जोत - गाय, बैल आदि पशुओं को ताड़ित करने हेतु प्रयुक्त मोटे रस्से द्वारा, वेत्तेण - बेंत द्वारा, कसेण - चमड़े से बने चाबुक द्वारा, आउट्टेज्जा - ताड़ित करे या पीटे, ते - उन, सव्वे - सब, उप्पण्णे - उपस्थित, सम्मं - सम्यक् - मनोमालिन्य रहित भाव से, सहइ (सहेज्जा) - सहता है, खमइ - क्षमा करता है, तित्तिक्खेइ - तित्तिका - निर्जरा के भाव से सहन करना है, अहियासेइ - निश्चलभाव से सहन करता है, सुक्कपक्खस्स - शुक्ल पक्ष, पाडिवाए - प्रतिपदा - एकम, भोयणस्स - भोजन की, पाणस्स - पानी, सव्वेहिं - सब, दुप्पयचउप्पयाइएहिं - द्विपद - चतुष्पद - दो पैर वाले तथा चार पैर वाले, आहारकंखीहिं - आहार के इच्छुक, सत्तेहिं - सत्व-प्राणी, पडिणियत्तेहिं - प्रतिनिवृत्त - लौट गए हो, अण्णायउंछं - अज्ञात-उच्छ - अज्ञात स्थान से, सुद्धोवहडं - शुद्धोपहत - देने के लिए उठाया हुआ निर्दोष आहार, णिज्जूहिन्ता - वर्जित कर, समण - श्रमण - शाक्य या बौद्ध भिक्षु आदि, माहण - भिक्षावृत्तिक ब्राह्मण, अइहि - अतिथि - बिना सूचना के पहुँचा हुआ व्यक्ति, किवण - कृपण - दीन-दरिद्र, वणीमगा - वनीपक - याचक, गुव्विणीए - गर्भवती, बालवत्थाए - बालवत्सा - छोटे बच्चे की माँ, दारगं - बच्चे को, पेज्जमाणीए - दूध पिलाती हुई, अंतो - भीतर, एलुयस्स-

घर की देहली, साहदु - संहत कर - रख कर, दलमाणीए - देते हुए, किच्चा - करके, विक्खंभइत्ता - दोनों के बीच में करके, एयाए एसणाए - इस प्रकार गवेषणा पूर्वक, एसमाणे - गवेषणा करता हुआ, लब्भेज्जा - प्राप्त हो, आहारेज्जा - आहार स्वीकार करे, बिइज्जाए - द्वितीया - दूज के दिन, तइयाए - तृतीया - तीज, चउत्थीए - चतुर्थी - चौथ, पंचमीए - पंचमी - पांचम, छट्ठीए - षष्ठी - छठ, सत्तमीए - सप्तमी - सातम, अट्ठमीए - अष्टमी - आठम, णवमीए - नवमी, दसमीए - दशमी, एगार(सी)समीए - एकादशी - ग्यारस, बारसमीए - द्वादशी - बारस, तेरसमीए - त्रयोदशा - तेरस, चोहसमीए - चतुर्दशी - चवदस, पण्णारसमीए (पुण्णिमा) - पूर्णमासी (पूर्णिमा) पूनम, बहुलपक्खस्स - कृष्ण पक्ष, अमावासाए - अमावस्या, अभत्तडे - अभक्तार्थ - उपवास युक्त, मुट्ठीण - मुष्टिका-मुक्का या बंधी हुई मुट्ठी।

भावार्थ - २६६. दो प्रतिमाएं परिज्ञापित - निरूपित हुई हैं। वे इस प्रकार हैं - १. यवमध्य चन्द्रप्रतिमा तथा २. वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा।

जो साधु यवमध्य चन्द्रप्रतिमा को स्वीकार करता है, वह सदा दैहिक ममत्व से दूर रहता है तथा शरीर पर होने वाले परीषहों और उपसर्गों से अतीत रहता है, उनकी जरा भी चिन्ता नहीं करता।

जो भी कोई देव, मनुष्य या तिर्यच विषयक अनुकूल या प्रतिकूल परीषह तथा उपसर्ग उत्पन्न हों, जैसे - कोई उसे वंदना करे, नमस्कार करे, सत्कार करे, सम्मान करे, कल्याणकर, मंगलमय, धर्मदेवस्वरूप एवं ज्ञानस्वरूप मानता हुआ पर्युपासना करे तथा कोई डण्डे, हड्डी से बने प्रहारक साधन, मोटे रस्से, बेंत एवं चमड़े के चाबुक से उसके शरीर पर प्रहार करे, ताड़ित करे - दोनों ही (अनुकूल-प्रतिकूल परीषहोपसर्ग) परिस्थितियों में वह (साधु) यह सब निर्विकार भाव से सहता है, क्षमा करता है - क्षन्तव्य मानता है, निर्जरा भाव से, निश्चल भाव से सहन करता है।

२६७. यवमध्य चन्द्रप्रतिमा स्वीकार किए हुए साधु को शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा - एकम के दिन आहार एवं पानी की एक-एक दत्ति प्रतिगृहीत करना - लेना कल्पता है।

सभी आहारकांक्षी - भोजन चाहने वाले द्विपद-चतुष्पद प्राणियों के खाद्य प्राप्त कर लौट जाने पर तथा सभी श्रमण, माहण, अतिथि, दीन-दरिद्र तथा याचकों के भोजन लेकर चले जाने पर अपरिचित स्थान से - घर से निर्दोष, शुद्ध रूप से दिया गया आहार लेना कल्पता है।

ऐसे यवमध्य चन्द्रप्रतिमा प्रतिपन्न साधु को एक व्यक्ति के भोजन में से आहार लेना कल्पता, दो, तीन, चार या पांच व्यक्तियों के सम्मिलित भोजन में से आहार लेना नहीं कल्पता।

गर्भवती, छोटे बच्चे वाली एवं बच्चे को दूध पिलाती हुई स्त्री से आहार लेना नहीं कल्पता।

देने वाले व्यक्ति के दोनों पैर यदि घर की देहली के भीतर या बाहर हों तो उससे आहार लेना नहीं कल्पता।

यदि देहली को बीच में कर दाता का एक पैर भीतर और एक पैर बाहर हो, ऐसी स्थिति में शुद्ध आहार की गवेषणा करता हुआ साधु उससे भिक्षा ग्रहण करे। इस प्रकार आहार की गवेषणा करता हुआ साधु यदि ऐसी स्थिति न पाए तो वह आहार-पानी ग्रहण न करे। (इस प्रकार - ऐसी स्थिति में दाता यदि देता हो तो यवमध्य चन्द्रप्रतिमा प्रतिपन्न साधु को आहार लेना कल्पता है, यदि ऐसी स्थिति में वह नहीं दे रहा हो तो उससे लेना नहीं कल्पता)।

यवमध्य चन्द्रप्रतिमा प्रतिपन्न साधु को शुक्लपक्ष की द्वितीया - दूज के दिन आहार एवं पानी की दो-दो दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना - लेना कल्पता है। (पूर्ववत् सभी स्थितियों के अनुरूप)

तृतीय - तीज के दिन आहार एवं पानी की तीन-तीन दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

चतुर्थी - चौथ के दिन आहार एवं पानी की चार-चार दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

पंचमी - पांचम के दिन आहार एवं पानी की पांच-पांच दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

षष्ठी - छठ के दिन आहार एवं पानी की छह-छह दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

सप्तमी - सातम के दिन आहार एवं पानी की सात-सात दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

अष्टमी - आठम के दिन आहार एवं पानी की आठ-आठ दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

नवमी के दिन आहार एवं पानी की नौ-नौ दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

दशमी के दिन आहार एवं पानी की दस-दस दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

एकादशी - ग्यारस के दिन आहार एवं पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

द्वादशी - बारस के दिन आहार एवं पानी की बारह-बारह दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

त्रयोदशी - तेरस के दिन आहार एवं पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

चतुर्दशी - चवदस के दिन आहार एवं पानी की चवदह-चवदह दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

पूर्णिमा - पूनम के दिन आहार एवं पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ प्रतिगृहीत करना कल्पता है।

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार और पानी की चवदह-चवदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है। (पूर्व वर्णन के अनुरूप सभी द्विपद-चतुष्पद प्राणियों के खाद्य प्राप्त कर लौट जाने पर यावत् तदनुरूप अन्य सभी स्थितियाँ होने पर कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार-पानी की चवदह-चवदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है, वैसा न होने पर आहार-पानी लेना नहीं कल्पता।)

द्वितीया के दिन आहार और पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

तृतीया के दिन आहार और पानी की बारह-बारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

चतुर्थी के दिन आहार और पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

पंचमी के दिन आहार और पानी की दस-दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

षष्ठी के दिन आहार और पानी की नौ-नौ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

सप्तमी के दिन आहार और पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

अष्टमी के दिन आहार और पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

नवमी के दिन आहार और पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

दशमी के दिन आहार और पानी की पाँच-पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

एकादशी के दिन आहार और पानी की चार-चार दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

द्वादशी के दिन आहार और पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

त्रयोदशी के दिन आहार और पानी की दो-दो दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

चतुर्दशी के दिन आहार और पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है यावत् उपर्युक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

अमावस्या के दिन वह आहारार्थी नहीं होता - उपवास करता है।

इस प्रकार यह यवमध्य चन्द्रप्रतिमा यथासूत्र - सूत्रों में वर्णित सिद्धान्तानुरूप, यथाकल्प-कल्पानुरूप यावत् जिनाज्ञा के अनुरूप अनुपालित होती है।

२६८. जो साधु वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा को स्वीकार करता है, वह सदा दैहिक ममत्व से दूर रहता है तथा शरीर पर होने वाले परीषहों और उपसर्गों से अतीत रहता है, उनकी जरा भी चिन्ता नहीं करता।

जो भी कोई देव, मनुष्य या तिर्यच विषयक अनुकूल या प्रतिकूल परीषह तथा उपसर्ग उत्पन्न हों, जैसे - कोई उसे बंदना करे, नमस्कार करे, सत्कार करे, सम्मान करे, कल्याणकर, मंगलमय, धर्मदेव स्वरूप एवं ज्ञान स्वरूप मानता हुआ पर्युपासना करे तथा कोई डण्डे, हड्डी से बने प्रहारक साधन, मुष्टिका - मुक्के, मोटे रस्से, बेंत एवं चमड़े के चाबुक से उसके शरीर पर प्रहार करे, ताड़ित करे - दोनों (अनुकूल-प्रतिकूल परीषहोपसर्ग) ही परिस्थितियों में वह (साधु) यह सब निर्विकार भाव से सहन करे, क्षमा करे - क्षन्तव्य माने, निर्जरा भाव से, निश्चल भाव से सहन करे।

२६९. वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा स्वीकार किए हुए साधु को कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार तथा पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है।

सभी द्विपद-चतुष्पद प्राणियों के खाद्य प्राप्त कर दाता के यहाँ से लौट जाने पर यावत् पूर्व वर्णन के अनुसार याचकों आदि के भिक्षा लेकर चले जाने पर दाता यदि पूर्व वर्णित स्थिति में हो तो उससे आहार-पानी ग्रहण करे, अन्यथा ग्रहण न करे।

द्वितीया के दिन उसे आहार तथा पानी की चवदह-चवदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

तृतीया के दिन आहार तथा पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

चतुर्थी के दिन आहार तथा पानी की बारह-बारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

पंचमी के दिन आहार तथा पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

षष्ठी के दिन आहार तथा पानी की दस-दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

सप्तमी के दिन आहार तथा पानी की नौ-नौ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

अष्टमी के दिन आहार तथा पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

नवमी के दिन आहार तथा पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

दशमी के दिन आहार तथा पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

एकादशी के दिन आहार तथा पानी की पांच-पांच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

द्वादशी के दिन आहार तथा पानी की चार-चार दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

त्रयोदशी के दिन आहार तथा पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

चतुर्दशी के दिन आहार तथा पानी की दो-दो दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

अमावस्या के दिन आहार तथा पानी की एक-एक दत्ति ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन आहार एवं पानी की दो-दो दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

द्वितीया के दिन आहार एवं पानी की तीन-तीन दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

तृतीया के दिन आहार एवं पानी की चार-चार दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

चतुर्थी के दिन आहार एवं पानी की पाँच-पाँच दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

पंचमी के दिन आहार एवं पानी की छह-छह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

षष्ठी के दिन आहार एवं पानी की सात-सात दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

सप्तमी के दिन आहार एवं पानी की आठ-आठ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

अष्टमी के दिन आहार एवं पानी की नौ-नौ दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

नवमी के दिन आहार एवं पानी की दस-दस दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

दशमी के दिन आहार एवं पानी की ग्यारह-ग्यारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

एकादशी के दिन आहार एवं पानी की बारह-बारह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

द्वादशी के दिन आहार एवं पानी की तेरह-तेरह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

त्रयोदशी के दिन आहार एवं पानी की चवदह-चवदह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है यावत् पूर्वोक्त स्थितियाँ होने पर वह आहार-पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

चतुर्दशी के दिन आहार एवं पानी की पन्द्रह-पन्द्रह दत्तियाँ ग्रहण करना कल्पता है।

सभी द्विपद-चतुष्पद प्राणी यावत् अपना-अपना खाद्य लेकर वापस लौट गये हो, इत्यादि पूर्ववर्णित स्थितियों के होने पर वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा प्रतिपन्न साधु आहार पानी ग्रहण करे अन्यथा ग्रहण न करे।

पूर्णिमा के दिन वह आहारार्थी नहीं होता - उपवास करता है।

इस प्रकार यह वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा यथासूत्र - सूत्रों में वर्णित सिद्धान्तानुरूप, यथाकल्प-कल्पानुरूप यावत् जिनाज्ञा के अनुरूप अनुपालित होती है।

विवेचन - कर्म निर्जरण हेतु जैन आगमों में तपःसाधना के अनेक प्रकार निरूपित हुए हैं। साधक अपनी रुचि के अनुकूल तपश्चरण में संलग्न होकर कर्मक्षय की आध्यात्मिक यात्रा में अग्रसर रहता है।

इन सूत्रों में वर्णित यवमध्य चन्द्रप्रतिमा तथा वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा इसी प्रकार की तपःसाधना के दो रूप हैं। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना शुक्लपक्ष में प्रतिपदा से उत्तरोत्तर बढ़ती हुई पूर्णिमा को पूर्णत्व प्राप्त करती है, कृष्णपक्ष में वह उत्तरोत्तर घटती जाती है। जिस तरह पूर्णिमा का दिन वृद्धि का सर्वोत्कृष्ट रूप है उसी प्रकार अमावस्या का दिन हानि - हास का निम्नतम रूप लिए हुए हैं, उस दिन चन्द्र-ज्योत्स्ना का सर्वथा अभाव रहता है।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के दशवें अध्ययन (चन्द्रज्ञात) में एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र में - अमावस्या की रात्रि में चन्द्रमा की ज्योत्स्ना का राहू से पूर्ण आवृत्त होना बताया है। कुछ भी अंश अनावृत नहीं रहता है।

जिस प्रकार जौ का बीच का भाग स्थूल - मोटा तथा दोनों किनारों के भाग पतले होते हैं, उसी प्रकार इस प्रतिमा में दत्तियों की संख्या लगभग वैसी ही न्यूनाधिक स्थिति पा लेती है। दोनों ही पक्षों की दत्तियाँ बीच में अधिक हो जाती हैं, किनारों पर कम रहती हैं।

शुक्लपक्ष के प्रारम्भ के किनारे पर प्रतिपदा है, कृष्णपक्ष के अन्त से पूर्व चतुर्दशी दूसरी ओर का किनारा है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा तथा कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन यवमध्य चन्द्रप्रतिमा में एक-एक दत्ति आहार-पानी लिया जाता है। अमावस्या की रात्रि को जिस प्रकार चन्द्रोदय नहीं होता उसी प्रकार यवमध्य चन्द्रप्रतिमा प्रतिपन्न साधु अमावस्या को आहार पानी की एक भी दत्ति नहीं लेता अर्थात् उपवास करता है।

इसी प्रकार वज्रमध्य चन्द्रप्रतिमा की दत्तियों की वृद्धि-हानि का क्रम वज्र के आकार के अनुरूप होता है।

जिस प्रकार वज्र रत्न या डमरू का एक किनारा विस्तृत, मध्य भाग संकुचित और दूसरा किनारा, विस्तृत होता है। उसी प्रकार जिस प्रतिमा के प्रारंभ में पन्द्रह दत्ति, मध्य में एक दत्ति और बाद में उपवास किया जाता है, उसे 'वज्रमध्य चंद्रप्रतिमा' कहा जाता है।

वैदिक धर्म में स्वीकृत चान्द्रायण नामक व्रत भी इसी रूप में चन्द्र-ज्योत्स्ना के शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष की क्रमिक वृद्धि-हानि के अनुसार उत्तरोत्तर बढ़ाए जाते तथा कम किए जाते कवलों - ग्रासों के आधार पर अनुपालित होता है। वहाँ दत्तियों के स्थान पर कवल - कौर को लिया गया है।

पंचविध व्यवहार

पंचविधे व्यवहारे पण्णत्ते, तंजहा - आगमे सुए आणा धारणा जीए। जत्थेव तत्थ आगमे सिया, आगमेणं व्यवहारं पट्टवेज्जा, णो से तत्थ आगमे सिया, जहा से तत्थ सुए सिया, सुएणं व्यवहारं पट्टवेज्जा, णो से तत्थ सुए सिया, जहा से तत्थ आणा सिया, आणाए व्यवहारं पट्टवेज्जा, णो से तत्थ आणा सिया, जहा से तत्थ धारणा सिया, धारणाए व्यवहारं पट्टवेज्जा, णो से तत्थ धारणा सिया, जहा से तत्थ जीए सिया, जीएणं व्यवहारं पट्टवेज्जा, एएहिं पंचहिं व्यवहारेहिं व्यवहारं पट्टवेज्जा, तंजहा - आगमेणं सुएणं आणाए धारणाए जीएणं, जहा से आगमे सुए आणा धारणा जीए तहा तहा व्यवहारे पट्टवेज्जा, से किमाहु भंते? आगमबलिया समणा णिगंथा, इच्च्वेयं पंचविहं व्यवहारं जया जया जहिं जहिं तहा तहा तहिं तहिं अणिस्सिओवस्सियं व्यवहारं व्यवहारेमाणे समणे णिगंथे अणाए आराहए भवइ ॥ २७० ॥

कठिन शब्दार्थ - आगमे - द्वादश अंग आगम - उनके धारक, सुए - श्रुत - श्रुतधर या शास्त्रवेत्ता, आणा - आज्ञा - जिनेश्वर देव की आज्ञा, धारणा - गीतार्थ गुरुजन आदि द्वारा प्रदर्शित पद्धति, व्यवस्था, जीए - जीत - गुरुपरंपरागत प्रक्रियानुरूप, षड्वेज्जा - प्रस्थापित करे, आगमबलिया - आगम रूप बल, शक्ति या सामर्थ्य युक्त, जहा - यथा - जिस प्रकार, जया जया - यदा-यदा - जब-जब, जहिं जहिं - यत्र-यत्र - जहाँ-जहाँ, तहा तहा - तदा-तदा - तब-तब, तहिं तहिं - तत्र-तत्र - वहाँ-वहाँ, अणिसिओवसिसियं- अनिश्रित-उपाश्रित - निश्रा-वर्जनपूर्वक, आराहए - आराधना करे।

भावार्थ - २७०. पाँच प्रकार का व्यवहार परिज्ञापित - प्रतिपादित हुआ है। वह इस प्रकार का है - आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा एवं जीत।

जहाँ आगमधर या आगमवेत्ता हो, वहाँ आगमानुसार - आगमज्ञों के आदेश-निर्देश के अनुसार व्यवहार करे।

जहाँ आगमधर न हों, श्रुतधर हों, वहाँ श्रुतानुसार - श्रुतवेत्ताओं के आदेश-निर्देशानुसार व्यवहार करे।

जहाँ श्रुतधर न हो, वहाँ दूर स्थित गीतार्थ आचार्य आदि की आज्ञा अथवा जिनाज्ञा के अनुसार व्यवहार करे।

जहाँ ऐसी आज्ञामूलक स्थिति न हो, वहाँ गीतार्थ गुरुजन आदि द्वारा निर्देशित पद्धति, व्यवस्था के अनुसार व्यवहार करे।

जहाँ ऐसी धारणामूलक स्थिति न हो, वहाँ गुरुपरम्परागत प्रक्रियानुरूप व्यवहार करे।

इस प्रकार साधु आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा एवं जीत इन पाँच प्रकार की व्यवहार विधाओं के अनुसार व्यवहार करे - दैनन्दिन आचरण करे।

जिस प्रकार आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा तथा जीत में व्यवहार का निरूपण हुआ है, वैसे-वैसे साधु व्यवहार करे।

हे भगवन्! ऐसा क्यों कहा गया है?

(इसके उत्तर में बतलाया गया है) श्रमण-निर्ग्रन्थ आगम व्यवहार की प्रमुखता वाले होते हैं। वे इस पंचविध व्यवहार को जब-जब, जहाँ-जहाँ जिस रूप में उपादेय मानते हैं, तब-तब, वहाँ-वहाँ वे "अमुक की निश्रा लूंगा तो वे मुझे कम प्रायश्चित्त देंगे, इस प्रकार" निश्रा विशेष का वर्जन कर उसी (उपादेय) रूप में व्यवहार करते हुए जिनेश्वर देव की आज्ञा के आराधक होते हैं।

विवेचन - इस सूत्र में आगम शब्द का प्रयोग गुण और गुणी के अभेद की अपेक्षा से आगमवेत्ता के अर्थ में हुआ है। केवलज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर तथा नवपूर्वधर - ये छह आगम-व्यवहार के अन्तर्गत हैं। ये आगमव्यवहारी माने गए हैं।

श्रुत व्यवहार के अन्तर्गत आचारप्रकल्प एवं निशीथ आदि सूत्रों के यावत् उत्कृष्ट नौ पूर्व से कम श्रुत के धारक समाविष्ट हैं, ये श्रुतव्यवहारी अभिहित हुए हैं।

इस सूत्र का विशेष अभिप्राय यह है कि साधु-साध्वी सदैव सर्वज्ञ, पूर्वधर - विशिष्ट ज्ञानी तथा आगमशास्त्रवेत्ता, आचार्य, उपाध्याय आदि गुरुजनों के आदेश - निर्देश, मार्गदर्शन के अनुसार अपना समग्र प्रवृत्ति-निवृत्ति मूलक व्यवहार करें। जिन कार्यों के करने का विधान है, उन्हें करें तथा जिन कार्यों के करने का निषेध है, उन्हें न करें।

यदि ये साक्षात् प्राप्त न हो तो उनकी आज्ञा - उन द्वारा संप्रवर्तित, निर्देशित आचार विषयक अथवा प्रवृत्ति-निवृत्ति विषयक सिद्धान्त, धारणा एवं गुरुपरम्परागत चर्यापद्धति का अनुसरण करते हुए प्रवृत्ति-निवृत्ति विषयक व्यवहार में क्रियाशील रहें। वे व्यवहार विषयक अनुशासन का कदापि उल्लंघन न करे, क्योंकि आध्यात्मिक जीवन में अनुशासन का सर्वोपरि महत्त्व है, लौकिक जीवन में भी अनुशासन का महत्त्व कम नहीं है।

यद्यपि आगमों में जहां पर भी पांच व्यवहारों का उल्लेख है वहाँ पर उनका संबंध प्रायश्चित्त दान से ही बताया है। प्रायश्चित्त दान में ही पांच व्यवहारों का प्रमुख उपयोग होता है तथापि तत्त्व निर्णय आदि में भी इनका उपयोग करने में बाधा ध्यान में नहीं आती है, जैसे किन्हीं परम्पराओं का जीत है कि - 'वे कदलीफल को अचित्त समझते हैं किन्तु भगवती सूत्र के शतक २२ में - उसमें बीज बताये हैं, अतः सचित्त समझना चाहिए।' इस प्रकार इस दृष्टान्त में जीत व्यवहार से श्रुत व्यवहार की प्रधानता समझी जा सकती है। आगमों में देवकर्त्तव्यों के लिए भी 'जीत' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसे भी जीत व्यवहार का रूप ही समझा जाता है।

विविध रूप में कार्यशील साधक

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - अट्टकरे णामं एगे णो माणकरे, माणकरे णामं एगे णो अट्टकरे, एगे अट्टकरे वि माणकरे वि, एगे णो अट्टकरे णो माणकरे ॥ २७१ ॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - गणट्टुकरे णामं एगे णो माणकरे, माणकरे णामं एगे णो गणट्टुकरे, एगे गणट्टुकरे वि माणकरे वि, एगे णो गणट्टुकरे णो माणकरे ॥२७२॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - गणसंगहकरे णामं एगे णो माणकरे, माणकरे णामं एगे णो गणसंगहकरे, एगे गणसंगहकरे वि माणकरे वि, एगे णो गणसंगहकरे णो माणकरे ॥ २७३ ॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - गणसोहकरे णामं एगे णो माणकरे, माणकरे णामं एगे णो गणसोहकरे, एगे गणसोहकरे वि माणकरे वि, एगे णो गणसोहकरे णो माणकरे ॥ २७४ ॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - गणसोहिकरे णामं एगे णो माणकरे, माणकरे णामं एगे णो गणसोहिकरे, एगे गणसोहिकरे वि माणकरे वि, एगे णो गणसोहिकरे णो माणकरे ॥ २७५ ॥

कठिन शब्दार्थ - पुरिसजाया - साधनाशील पुरुष, अट्टुकरे - अर्थकर - उपकारात्मक कार्य करने वाला, माणकरे - मान करने वाला (मैंने यह किया है, ऐसा कर्तव्य का अभिमान करने वाला), गणट्टुकरे - गणार्थकर - साधु समुदाय या गच्छ का कार्य करने वाला, गणसंगहकरे - गणसंग्रहकर - गण का द्रव्य एवं भाव रूप संग्रह - संवर्धन या विकास करने वाला, गणसोहकरे - गणशोभाकर - गण की शोभा - प्रतिष्ठा या प्रशस्ति बढ़ाने वाला, गणसोहिकरे - गणशोधिकर - प्रायश्चित्त-दान तथा धर्मप्ररूपणा आदि द्वारा गण को विशुद्ध बनाए रखने वाला।

भावार्थ - २७१. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष परिज्ञापित हुए हैं - कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं, जो अपना कार्य - उपकार करते हैं, किन्तु मान नहीं करते।
२. कई ऐसे होते हैं, जो मान करते हैं, किन्तु अपना कार्य या उपकार नहीं करते।
३. कई ऐसे होते हैं, जो कार्य भी करते हैं और मान भी करते हैं।
४. कई ऐसे होते हैं, जो न तो कार्य करते हैं तथा न मान ही करते हैं।

२७२. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष बतलाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं जो गण का कार्य करते हैं किन्तु मान नहीं करते।

२. कई ऐसे होते हैं जो मान करते हैं किन्तु गण का कार्य नहीं करते।
३. कई ऐसे होते हैं जो गण का कार्य भी करते हैं और मान भी करते हैं।
४. कई ऐसे होते हैं जो न तो गण का कार्य करते हैं तथा न मान ही करते हैं।

२७३. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं जो गण का संवर्धन एवं विकास करते हैं, किन्तु मान नहीं करते।
२. कई ऐसे होते हैं जो मान करते हैं, किन्तु गण का संवर्धन एवं विकास नहीं करते।
३. कई ऐसे होते हैं जो गण का संवर्धन एवं विकास भी करते हैं और मान भी करते हैं।
४. कई ऐसे होते हैं जो न तो गण का संवर्धन एवं विकास करते हैं तथा न मान ही करते हैं।

२७४. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष परिज्ञापित हुए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं जो गण की शोभा - प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, किन्तु मान नहीं करते।
२. कई ऐसे होते हैं जो मान करते हैं किन्तु गण की शोभा - प्रतिष्ठा नहीं बढ़ाते।
३. कई ऐसे होते हैं जो गण की शोभा - प्रतिष्ठा भी बढ़ाते हैं और मान भी करते हैं।
४. कई ऐसे होते हैं जो न तो गण की शोभा - प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं तथा न मान ही करते हैं।

२७५. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष अभिहित हुए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं जो गण को विशुद्ध बनाए रखने वाले होते हैं, किन्तु मान नहीं करते।
२. कई ऐसे होते हैं जो मान करते हैं, किन्तु गण को विशुद्ध बनाए रखने वाले नहीं होते।
३. कई ऐसे होते हैं जो गण को विशुद्ध बनाए रखने वाले भी होते हैं और मान भी करते हैं।
४. कई ऐसे होते हैं जो न तो गण को विशुद्ध बनाए रखने वाले होते हैं तथा न मान ही करते हैं।

विवेचन - "भिन्नरुचिर्हि लोकः" लोगों की रुचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, सब एक से नहीं होते। रुचियों के अनुसार व्यक्ति कार्य में प्रवृत्त होते हैं। इन सूत्रों में भिन्न-भिन्न शक्ति युक्त साधुओं का पाँच चतुर्भंगियों में वर्णन हुआ है।

प्रथम चतुर्भंगी का संबंध साधु के अपने स्वयं के व्यक्तित्व के साथ है, द्वितीय चतुर्भंगी गण के कार्य से, तृतीय चतुर्भंगी गण के संग्रह से, चतुर्थ चतुर्भंगी गण की शोभा से तथा पंचम चतुर्भंगी गण की शुद्धि से संबंधित है।

कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपना या गण का कार्य करते हैं, किन्तु अपने कर्तृत्व का अभिमान नहीं करते, कुछ ऐसे होते हैं, जो केवल अभिमान करते हैं, कार्य नहीं करते। कतिपय ऐसे होते हैं, जो कार्य भी करते हैं और अभिमान भी करते हैं। कई ऐसे होते हैं जो न कार्य करते हैं तथा न अभिमान ही करते हैं।

इन चारों भंगों के परीक्षण-निरीक्षण करने से यह स्पष्ट है कि इन पाँचों चतुर्भागियों में प्रथम भंग के अन्तर्गत जिस साधनाशील पुरुष का उल्लेख हुआ है, वह सर्वोत्कृष्ट है। क्योंकि वह अपना और संघ का कार्य आदि करता हुआ भी अभिमान नहीं करता। अपना कर्तव्य-पालन करते हुए जरा भी अभिमान न करना व्यक्ति की उच्चता, उत्तमता का सूचक है।

द्वितीय भंग में कार्य न करते हुए भी अभिमान करने का वर्णन है। कार्य न करते हुए भी उसे करने का मिथ्या अभिमान करना व्यक्ति का बहुत बड़ा दोष है। एक साधनाशील पुरुष में ऐसा कदापि नहीं होना चाहिए।

तृतीय भंग में कार्य करने और उसका अभिमान करने का उल्लेख हुआ है। अपना या गण का कार्य करना एक साधनाशील पुरुष का दायित्व है, उसका अभिमान करना कदापि उचित नहीं है। साधु को अपना तथा गण का कार्य करते हुए तद्विषयक उत्तरदायित्व वहन करते हुए कदापि अभिमान नहीं करना चाहिए। अपना और गण का कार्य करना उसका धर्म है, फिर उसका अभिमान कैसा ?

चतुर्थ भंग में जिस साधनाशील पुरुष का वर्णन किया गया है, वह सामान्य कोटि का है। वैसा साधक कार्य नहीं करता तो अभिमान भी नहीं करता। यद्यपि कार्य नहीं करना कोई अच्छी बात नहीं है, किन्तु न करके मिथ्या अभिमान न करना व्यक्ति की सरलता एवं सदाशयता का द्योतक है। ऐसे व्यक्ति यदि संयम साधना में सावधान और जागरूक रहे तो आगे बढ़ सकता है, किन्तु यहाँ वर्णित सामान्य स्थिति में न वह अधिक कर्मनिर्जरा करता है तथा न अधिक कर्मबंध और पुण्यक्षय ही करता है।

धार्मिक दृढता के तीन चतुर्भाग

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा.- रूवं णामेगे जहइ णो धम्मं, धम्मं णामेगे जहइ णो रूवं, एगे रूवं पि जहइ धम्मं पि जहइ, एगे णो रूवं जहइ णो धम्मं जहइ ॥२७६ ॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - धम्मं णामेगे जहइ णो गणसंठिइं, गणसंठिइं णामेगे जहइ णो धम्मं, एगे गणसंठिइं पि जहइ धम्मं पि जहइ, एगे णो गणसंठिइं जहइ णो धम्मं जहइ ॥ २७७ ॥

चत्तारि पुरिसजाया पण्णत्ता, तंजहा - पियधम्मे णामेगे णो दढधम्मे, दढधम्मे णामेगे णो पियधम्मे, एगे पियधम्मे वि दढधम्मे वि, एगे णो पियधम्मे णो दढधम्मे ॥ २७८ ॥

कठिन शब्दार्थ - रूवं - रूप - लिंग या वेश, जहइ - छोड़ते हैं, गणसंठिइं - गणसंस्थिति - गण की मर्यादा, पियधम्मे - प्रियधर्मा - धर्म को प्रिय या प्रीतिकर समझने वाले, दढधम्मे - दृढधर्मा - धर्म में दृढ़तायुक्त।

भावार्थ - २७६. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष - साधु परिज्ञापित हुए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं, जो (किसी अनिवार्य कारणवश) अपना साधुवेश छोड़ देते हैं, किन्तु धर्म को नहीं छोड़ते।

२. कई ऐसे होते हैं, जो धर्म को तो छोड़ देते हैं, किन्तु साधुवेश को नहीं छोड़ते।

३. कई ऐसे होते हैं, जो साधुवेश को भी छोड़ देते हैं और धर्म को भी छोड़ देते हैं।

४. कई ऐसे होते हैं जो न तो साधुवेश को छोड़ते हैं तथा न धर्म को ही छोड़ते हैं।

२७७. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष बतलाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं, जो धर्म को छोड़ देते हैं, किन्तु गण की मर्यादा को नहीं छोड़ते।

२. कई ऐसे होते हैं, जो गण की मर्यादा को छोड़ देते हैं, किन्तु धर्म को नहीं छोड़ते।

३. कई ऐसे होते हैं, जो गण की मर्यादा को भी छोड़ देते हैं और धर्म को भी छोड़ देते हैं।

४. कई ऐसे होते हैं, जो न तो गण की मर्यादा को छोड़ते हैं तथा न धर्म को ही छोड़ते हैं।

२७८. चार प्रकार के (साधनाशील) पुरुष कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई ऐसे होते हैं, जिन्हें धर्म प्रिय तो होता है, किन्तु जो धर्म में दृढ़ नहीं होते।

२. कई ऐसे होते हैं, जो धर्म में दृढ़ तो होते हैं, किन्तु जिन्हें धर्म प्रिय-प्रीतिकर नहीं होता।

३. कई ऐसे होते हैं, जिनको धर्म प्रिय भी होता है और जो धर्म में दृढ़ भी होते हैं।

४. कई ऐसे होते हैं, जिनको न तो धर्म प्रिय ही होता है तथा जो न धर्म में दृढ़ ही होते हैं।

विवेचन - इन सूत्रों में साधु-जीवन की विभिन्न स्थितियों का तीन चतुर्भंगियों में वर्णन किया गया है।

पहली चतुर्भंगी साधुधर्म एवं साधुवेश से संबंधित है। साधुधर्म मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदित पूर्वक पाँच महाव्रतों के पालन पर आधारित है। उसमें सावद्य कर्मों का सर्वथा वर्जन है। रूप साधु के विशेष लिंग या वेश का सूचक है। पहली चतुर्भंगी इन दोनों के आधार पर परिगठित है।

सर्वश्रेष्ठ साधु वे हैं, जो न अपने धर्म को छोड़ते हैं और न वेश को ही छोड़ते हैं। वे दोनों को कायम रखते हैं। पहली चतुर्भंगी का यह चौथा भंग है।

कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें अपरिहार्य कारणवश साधु के वेश को छोड़ देना पड़ता है, किन्तु वे धर्म का त्याग नहीं करते, वैसे व्यक्ति दुर्गति में नहीं जाते क्योंकि वे मूल की हानि या नाश नहीं करते।

कई ऐसे होते हैं, जो साधु का वेश तो धारण किए रहते हैं, किन्तु धर्म को छोड़ देते हैं। वे निकृष्टतम हैं, क्योंकि वे केवल साधुत्व का प्रदर्शन करते हैं।

कई ऐसे होते हैं, जो वेश और धर्म दोनों को ही छोड़ देते हैं। वे मार्गच्युत होते हैं, किन्तु वे वेश रखने तथा धर्म छोड़ने वाले व्यक्ति जैसे अपराधी नहीं होते।

दूसरी चतुर्भंगी धर्म और गण की मर्यादा पर आधारित है। जो साधु धर्म और गण-मर्यादा दोनों का ही त्याग नहीं करता - परिपालन करता है, वह सर्वोत्तम है। जो धर्म एवं गण-मर्यादा दोनों को ही छोड़ देता है, वह सबसे निकृष्ट है। जो धर्म को छोड़ देता है, किन्तु गण-मर्यादा को नहीं छोड़ता, वह मूल का नाश कर देता है, अतः मार्गच्युत है। किन्तु गण-मर्यादा का पालन करना उसका सद्भाव है। जो गण-मर्यादा छोड़ देता है, किन्तु धर्म को नहीं छोड़ता वह धर्म छोड़ने वाले, मर्यादा का पालन करने वाले से श्रेष्ठ है। क्योंकि वह मूल का नाश नहीं करता, किन्तु साधुत्व के परिपूर्ण स्वरूप से वह रहित है।

तीसरी चतुर्भंगी धर्म की प्रियता और दृढता से संबंधित है। धर्मप्रियता का संबंध भक्ति एवं प्रगाढ़ श्रद्धा से और धर्म दृढता का संबंध मानसिक स्थिरता एवं गंभीरता से है। जिस साधु में धर्मप्रियता एवं धर्मदृढता ये दोनों गुण हों, वह सर्वश्रेष्ठ है, जिसका इस चतुर्भंगी के तीसरे भंग में उल्लेख हुआ है। चौथे भंग में ऐसे साधु का उल्लेख हुआ है, जिसे धर्म न तो प्रिय है और न जो धर्म में दृढ है, वह निम्नतम कोटि का है।

इस चतुर्भुगी के प्रथम एवं द्वितीय भंग में वर्णित स्थितियाँ साधुत्व के उत्कर्ष की दृष्टि से किंचित् न्यूनता की द्योतक हैं।

आचार्य एवं शिष्य के भेद

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तंजहा-पव्वावणायरिए णामेगे णो उवट्ठावणायरिए, उवट्ठावणायरिए णामेगे णो पव्वावणायरिए, एगे पव्वावणायरिए वि उवट्ठावणायरिए वि, एगे णो पव्वावणायरिए णो उवट्ठावणायरिए धम्मायरिए ॥ २७९ ॥

चत्तारि आयरिया पण्णत्ता, तंजहा-उद्देसणायरिए णामेगे णो वायणायरिए, वायणायरिए णामेगे णो उद्देसणायरिए, एगे उद्देसणायरिए वि वायणायरिए वि, एगे णो उद्देसणायरिए णो वायणायरिए धम्मायरिए ॥ २८० ॥

चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तंजहा-पव्वावणंतेवासी णामेगे णो उवट्ठावणंतेवासी, एगे उवट्ठावणंतेवासी णामेगे णो पव्वावणंतेवासी, एगे पव्वावणंतेवासी वि उवट्ठावणंतेवासी वि, एगे णो पव्वावणंतेवासी णो उवट्ठावणंतेवासी धम्मंतेवासी ॥ २८१ ॥

चत्तारि अंतेवासी पण्णत्ता, तंजहा-उद्देसणंतेवासी णामेगे णो वायणंतेवासी, वायणंतेवासी णामेगे णो उद्देसणंतेवासी, एगे उद्देसणंतेवासी वि वायणंतेवासी वि, एगे णो उद्देसणंतेवासी णो वायणंतेवासी धम्मंतेवासी ॥ २८२ ॥

कठिन शब्दार्थ - पव्वावणायरिए - प्रव्राजनाचार्य - प्रव्रज्या - दीक्षा देने वाले, उवट्ठावणायरिए - उपस्थापनाचार्य - उपस्थापन या महाव्रतों का आरोपण करने वाले, उद्देसणायरिए - उद्देशनाचार्य - उद्देशना या श्रुतोक्त क्रियाकलाप आदि शिक्षण द्वारा द्वादशांग आदि श्रुताध्ययन की योग्यता संपादित करने वाले, वायणायरिए - वाचनाचार्य - आगमों की वाचना देने वाले, धम्मायरिए - धर्माचार्य - प्रतिबोध देने वाले आचार्य, अंतेवासी - शिष्य, पव्वावणंतेवासी - प्रव्राजना-अंतेवासी - प्रव्रज्या शिष्य, उवट्ठावणंतेवासी - उपस्थापना-अंतेवासी - महाव्रत आरोपण से संबंधित शिष्य, उद्देसणंतेवासी - उद्देशना-अंतेवासी - उद्देशना शिष्य, वायणंतेवासी - वाचना-अंतेवासी - वाचना शिष्य। धम्मंतेवासी - धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य।

भावार्थ - २७९. चार प्रकार के आचार्य परिज्ञापित हुए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई प्रब्रज्या देने वाले आचार्य होते हैं, किन्तु महाव्रतों का आरोपण करने वाले नहीं होते।
२. कई महाव्रतों का आरोपण करने वाले होते हैं, किन्तु प्रब्रज्या देने वाले नहीं होते।
३. कई प्रब्रज्या देने वाले भी होते हैं और महाव्रतों का आरोपण करने वाले भी होते हैं।
४. कई न तो प्रब्रज्या देने वाले होते हैं तथा न महाव्रतों का आरोपण करने वाले ही होते हैं।

२८०. चार प्रकार के आचार्य बतलाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई उद्देशनाचार्य होते हैं, किन्तु वाचनाचार्य नहीं होते।
२. कई वाचनाचार्य होते हैं, किन्तु उद्देशनाचार्य नहीं होते।
३. कई उद्देशनाचार्य भी होते हैं और वाचनाचार्य भी होते हैं।
४. कई न तो उद्देशनाचार्य होते हैं तथा न वाचनाचार्य ही होते हैं।

२८१. चार प्रकार के शिष्य कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई प्रब्रज्या शिष्य होते हैं, उपस्थापन शिष्य नहीं होते।
२. कई उपस्थापन शिष्य होते हैं, प्रब्रज्या शिष्य नहीं होते।
३. कई प्रब्रज्या शिष्य भी होते हैं और उपस्थापन शिष्य भी होते हैं।
४. कई न तो प्रब्रज्या शिष्य होते हैं तथा न उपस्थापन शिष्य ही होते हैं। किन्तु

धर्मोपदेश से प्रतिबोधित शिष्य है।

२८२. चार प्रकार के शिष्य बतलाए गए हैं। वे इस प्रकार हैं :-

१. कई उद्देशनाशिष्य होते हैं, वाचनाशिष्य नहीं होते।
२. कई वाचना शिष्य होते हैं, उद्देशनाशिष्य नहीं होते।
३. कई उद्देशनाशिष्य भी होते हैं और वाचनाशिष्य भी होते हैं।
४. कई न तो उद्देशनाशिष्य होते हैं तथा न वाचनाशिष्य ही होते हैं। किन्तु धर्मोपदेश से

प्रतिबोधित शिष्य होते हैं।

विवेचन - उपर्युक्त सूत्रों के अन्तर्गत प्रथम एवं द्वितीय सूत्र में प्रब्रज्या - छोटी दीक्षा, उपस्थापन या महाव्रतारोपण - बड़ी दीक्षा, उद्देशना - द्वादशांग युक्त के अध्ययन की प्रारम्भिक योग्यता का संपादन तथा वाचना - आगमों के पाठ की एवं अर्थ की वाचना देने के आधार पर यहाँ आचार्य के चार भेदों का वर्णन किया है।

आचार्य शब्द से यहाँ उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर आदि वे विशिष्ट साधु भी उपलक्षित हैं, जिन्हें आचार्य ने प्रव्रज्या आदि देने हेतु अधिकृत किया हो।

ये चारों कार्य करने वाले भिन्न-भिन्न हों यह आवश्यक नहीं है। एक ही आचार्य आदि द्वारा चारों प्रकल्प संपादित किए जा सकते हैं। कारणवश ये पृथक्-पृथक् कार्य, पृथक्-पृथक् आचार्य आदि द्वारा भी संपादित किए जा सकते हैं। दोनों ही पद्धतियाँ विहित हैं, इनमें प्रशस्त या अप्रशस्त का कोई भेद नहीं है।

उपर्युक्त सूत्रों के अन्तर्गत धर्माचार्य - प्रतिबोध देने वाले आचार्य शिष्य भी बतलाए हैं। जिस प्रकार प्रव्रज्या आदि चार प्रकल्पों के आधार पर चार प्रकार के आचार्य प्रतिपादित हुए हैं, उसी प्रकार ज्ञातव्यता की दृष्टि से चार प्रकार के शिष्यों का वर्णन हुआ है।

त्रिविध स्थविर

तओ थेरभूमीओ पण्णत्ताओ, तंजहा-जाइथेरे सुयथेरे परियायथेरे। सट्ठिवासजाए समणे णिगंग्थे जाइथेरे, ठाण समवायंगधरे समणे णिगंग्थे सुयथेरे, वीसवासपरियाए समणे णिगंग्थे परियायथेरे ॥ २८३ ॥

कठिन शब्दार्थ - तओ - त्रय - तीन, थेरभूमीओ - स्थविर भूमियाँ - अवस्थाएं, जाइथेरे - जातिस्थविर - वयस्थविर, सुयथेरे - श्रुतस्थविर - ज्ञानस्थविर, परियायथेरे - दीक्षा स्थविर, सट्ठिवासजाए - जिसका जन्म हुए साठ वर्ष हो गए हों या साठ वर्ष की आयु से युक्त, ठाण - स्थानांग, समवायांगधरे - समवायांग श्रुतधारक - श्रुतवेत्ता वीसवासपरियाए - बीस वर्ष के दीक्षा पर्याय से युक्त।

भावार्थ - २८३. तीन स्थविर भूमियाँ बतलाई गई हैं, वे इस प्रकार हैं - १. जातिस्थविर-वयस्थविर, २. श्रुतस्थविर एवं ३. पर्याय स्थविर।

१. जिसका जन्म हुए साठ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं - जो साठ वर्ष की आयु का होता है, वह साधु जाति-स्थविर या वय-स्थविर होता है।

२. जो स्थानांग तथा समवायांग श्रुत का धारक होता है - आगमों का ज्ञाता होता है, वह श्रुतस्थविर होता है।

३. जिसका दीक्षा-पर्याय बीस वर्ष का होता है - जिसे दीक्षा लिए बीस वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, वह पर्याय स्थविर होता है।

विवेचन - जैन आगमों में स्थविर शब्द का स्थान-स्थान पर प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। यह शब्द अनेक दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

संस्कृत में 'स्था' धातु के आगे 'किट्च्' प्रत्यय के लगने और उसे 'स्थव' आदेश होने से स्थविर शब्द बनता है। जो दृढता, परिपक्वता, स्थिरता, वृद्धता युक्त होता है, उसे स्थविर कहा जाता है।

स्थविर का मुख्य गुण स्थिरता या अचंचलता है। जो वय की परिपक्वता, शास्त्राध्ययन की गहनता और अध्यात्म-साधना की दीर्घता - चिरन्तनता से उत्पन्न होती है।

जैन आगमों में उपर्युक्त गुणों से युक्त श्रमणों को स्थविर कहा जाता है। उनका धर्म संघ में बहुत आदर होता है। उनके विमर्श - परामर्श को महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

इन सूत्रों में अवस्था, ज्ञान और साधना के आधार पर स्थविरों के तीन भेद किए गए हैं। ये तीनों उनकी विशेषताएँ हैं। महाव्रतपालनात्मक संयम रूप मौलिक आचार से तीनों युक्त होते हैं, यह उनका सामान्य गुण है।

यहाँ स्थविर के प्रथम भेद में स्थविर से पूर्व **जाति(जाड़)** शब्द का प्रयोग हुआ है। जाति शब्द 'जन्' धातु और 'क्तिन्' प्रत्यय के योग बना है। जाति शब्द अनेक अर्थों का वाचक है किन्तु 'जायते-उत्पद्यते इति जातिः' व्युत्पत्ति के अनुसार जाति का मुख्य अर्थ जन्म है। यहाँ प्रयुक्त जाति शब्द इसी अर्थ का बोधक है। इसी कारण जन्म से लेकर जिसके साठ वर्ष व्यतीत हो जाते हैं, उसे यहाँ जातिस्थविर, वयस्थविर या अवस्था स्थविर कहा गया है। वय या अवस्था को महत्त्व इसलिए दिया गया है कि जीवन का इतना समय व्यतीत करने वाला व्यक्ति बहुत प्रकार के बहुमूल्य अनुभवों का धनी होता है, जो उसके अपने लिए तथा औरों के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। किन्तु यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है, जो केवल अवस्था मात्र से वृद्ध होता है, ज्ञानी, संयमी, अनुभवी नहीं होता, उसका वयोवृद्ध होना कोई महत्त्व नहीं रखता। इसीलिए मनुस्मृति में कहा गया है।

न तेन वृद्धो भवति, येनास्य पलितं शिरः।

यो युवाप्यधीयानस्तं देवा स्थविरं विदुः॥

अर्थात् सिर के बाल सफेद हो जाने से ही या अवस्था पक जाने पर ही कोई वृद्ध नहीं होता। जो अवस्था में युवा होता हुआ भी शास्त्रों का अध्येता होता है, ज्ञानी होता है, वही वास्तव में स्थविर या वृद्ध होता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वयस्थविरता की तभी सार्थकता है, जब वह ज्ञान दर्शन एवं चारित्र्य से संपृक्त हो।

उपर्युक्त सूत्र में तीनों प्रकार के स्थविर साधु-साध्वियों की अपेक्षा से ही कहे गये हैं। श्रुत स्थविर में - स्थानांग - समवायांग सूत्रों का कथन करने से उपलक्षण से उनसे पूर्ववर्ती आचारांग, सूयगडांग तथा चार छेद सूत्र भी समझ लेना चाहिए।

त्रिविध शैक्ष-भूमिका

तओ सेहभूमीओ पण्णत्ताओ, तंजहा - सत्तराइंदिया चाउम्मासिया छम्मासिया, छम्मासिया उक्कोसिया, चाउम्मासिया मज्झमिया, सत्तराइंदिया जहणिया ॥ २८४ ॥

कठिन शब्दार्थ - सेहभूमीओ - शैक्षभूमियाँ, सत्तराइंदिया - सप्तरात्रिन्दिवा - सप्त रात्रि-दिवस परिमित या सात रात-दिन प्रमाण युक्त, चाउम्मासिया - चातुर्मासिक - चार मास परिमित, छम्मासिया - षण्मासिक - छह मास परिमित, उक्कोसिया - उत्कृष्ट - अधिक से अधिक, मज्झमिया - मध्यमिका - मध्यवर्तिनी या बीच की, जहणिया - जघन्य - कम से कम।

भावार्थ - २८४. तीन शैक्षभूमिकाएं प्रतिपादित हुई हैं, जो इस प्रकार हैं - १. सप्तरात्रिन्दिवा, २. चातुर्मासिका तथा ३. षण्मासिकी।

षण्मासिकी - छह मास के प्रमाण से युक्त भूमि उत्कृष्ट - सर्वोत्कृष्ट है।

चातुर्मासिकी - चार मास के प्रमाण से युक्त भूमिका मध्यम है।

सप्तरात्रिन्दिवा - सातवें रात दिन के प्रमाण से युक्त भूमिका जघन्य-कम से कम है।

यहाँ सात रात-दिन का तात्पर्य - प्रव्रज्या ग्रहण करने के दिन से लेकर सातवें दिन (सूर्योदय) होने पर अर्थात् सातवें दिन समझना चाहिए।

विवेचन - इस सूत्र में प्रयुक्त शैक्ष (सेह) शब्द नव-दीक्षित साधु का सूचक है। इस शब्द के मूल में शिक्षा है। शिक्षा का अर्थ जीवनोपयोगी विषयों, तथ्यों को जानना या समझना है। जो इन्हें जानने में, समझने में तत्पर हो, शाब्दिक दृष्टि से वह शैक्ष कहा जाता है।

जैन आगमों में प्रव्रजित साधु जब तक महाव्रतारोपण में उपस्थापित नहीं होता तब तक वह शैक्ष कहा जाता है। क्योंकि उसे साधुजीवनोचित तथ्यों को सीखना, स्वायत्त करना आवश्यक होता है।

व्यवहार भाषा में प्रव्रज्या और उपस्थापन - महाव्रतारोपण क्रमशः छोटी दीक्षा एवं बड़ी दीक्षा को कहा जाता है।

इसकी - शैक्षकाल की या छोटी दीक्षा एवं बड़ी दीक्षा के बीच के समय की अवधि तीन प्रकार की कही गई हैं। नवदीक्षित श्रमण की योग्यता आदि के आधार पर वह कम से कम सातवें दिन या चार मास अथवा अधिक से अधिक छह मास परिमित है। इन्हें क्रमशः जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट कहा गया है।

इस संबंध में इसी (व्यवहार) सूत्र के चतुर्थ उद्देशक में विस्तार से वर्णन हुआ है, जो दृष्टव्य है।

बौद्ध धर्म में दीक्षा से पूर्व उपसंपदा दिए जाने का विधान है। उसके अनन्तर ही दीक्षा प्रदान की जाती है। क्योंकि उपसंपन्न भिक्षु तब तक भिक्षु जीवन की साधना में समर्थ होने हेतु शिक्षित, अभ्यस्त हो जाता है।

आठ वर्ष से कम वय में प्रव्रजित बालक-बालिका को बड़ी दीक्षा देने का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुहुगं वा खुहुियं वा ऊणट्टवासजायं उवट्टावेत्तए वा संभुजित्तए वा ॥ २८५ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुहुगं वा खुहुियं वा साइरेगट्टवासजायं उवट्टावेत्तए वा संभुजित्तए वा ॥ २८६ ॥

कठिन शब्दार्थ - खुहुगं - क्षुल्लक - अल्पवयस्क बालक, खुहुियं - क्षुल्लिका - अल्पवयस्क बालिका, ऊणट्टवासजायं - ऊनाष्टवर्षजात - आठ वर्ष से कम वय युक्त, उवट्टावेत्तए - उपस्थापित करना - महाव्रतारोपण करना या बड़ी दीक्षा देना, संभुजित्तए - एक साथ में - मांडलिक आहार कराना, साइरेगट्टवासजायं - सातिरेकअष्टवर्षजात - आठ वर्ष से अधिक वय युक्त।

भावार्थ - २८५. साधु-साध्वियों को आठ वर्ष से कम आयु में प्रव्रजित बालक एवं बालिका को उपस्थापित करना - बड़ी दीक्षा देना, उनके साथ मांडलिक आहार करना नहीं कल्पता।

२८६. साधु-साध्वियों को आठ वर्ष से अधिक आयु में प्रव्रजित बालक एवं बालिका को उपस्थापित करना - बड़ी दीक्षा देना, उनके साथ मांडलिक आहार करना कल्पता है।

१९९ प्राप्त-अप्राप्त-यौवन साधु-साध्वी को आचारप्रकल्प पढ़ाने का विधि-निषेध

विवेचन - इन सूत्रों में अल्पायु में प्रव्रजित बालक और बालिका को उपस्थापित करने के संदर्भ में निषेध मूलक वर्णन है।

सामान्यतः जैन परंपरा में सातिरेक आठ वर्ष और गर्भ के सवा नौ मास मिलाकर कम से कम नौ वर्ष का बालक या बालिका प्रव्रज्या के योग्य माने गए हैं। किन्तु अल्पवयस्क बालक-बालिका के माता-पिता आदि अभिभावक प्रव्रजित हो रहे हों तो उनके साथ उनके अल्पवयस्क पुत्र या पुत्री भी आपवादिक रूप में प्रव्रजित किए जा सकते हैं। किन्तु जब तक वे आठ वर्ष की आयु पार न कर लें, तब तक उन्हें सामायिक चारित्र में ही रखा जाता है। छेदोपस्थापनीय चारित्र में उपस्थापित नहीं किया जाता - महाव्रतारोपण नहीं किया जाता। क्योंकि अल्पवयस्क बालक-बालिकाओं में स्वभावतः मानसिक स्थिरता कम होती है।

प्राप्त-अप्राप्त-यौवन साधु-साध्वी को आचारप्रकल्प पढ़ाने का विधि-निषेध

णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डुगस्स वा खुड्डियाए वा अक्खंजणजायस्स आचारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिस्सित्तए ॥ २८७ ॥

कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा खुड्डुगस्स वा खुड्डियाए वा वंजणजायस्स आचारपकप्पे णामं अज्झयणे उद्दिस्सित्तए ॥ २८८ ॥

कठिन शब्दार्थ - अक्खंजणजायस्स - अव्यंजनजात - अप्राप्त यौवन या जिसने युवावस्था प्राप्त न की हो, उद्दिस्सित्तए - उद्दिष्ट करना - पढ़ाना या अध्ययन कराना, वंजणजायस्स - व्यंजनजात-यौवनप्राप्त या जिसने युवावस्था प्राप्त कर ली हो।

भावार्थ - २८७. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को अप्राप्त यौवन साधु-साध्वी को आचार प्रकल्प अध्ययन उद्दिष्ट करना - पढ़ाना नहीं कल्पता।

२८८. निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थिनियों को यौवनप्राप्त साधु-साध्वी को आचार प्रकल्प अध्ययन उद्दिष्ट करना - पढ़ाना कल्पता है।

विवेचन - यहाँ प्रयुक्त आचार प्रकल्प का अभिप्राय आचारांगसूत्र एवं निशीथसूत्र है। सोलह वर्ष की आयु से कम साधु-साध्वी को इन्हें पढ़ाना निषिद्ध है। निशीथ सूत्र में इस संबंध में विस्तार से वर्णन हुआ है।

दीक्षा-पर्याय के आधार पर आगमाध्ययनक्रम

तिवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आयारपकप्पे णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ २८९ ॥

चउवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सूयगडे णामं अंगे उद्दिसित्तए ॥ २९० ॥

पंचवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दसाकप्पववहारे उद्दिसित्तए ॥ २९१ ॥

अट्टवास-परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ ठाणसमवाए उद्दिसित्तए ॥ २९२ ॥

दसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ वि(वाहे)याहे णामं अंगे उद्दिसित्तए ॥ २९३ ॥

एक्कारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ खुड्डिया विमाणपविभत्ती महल्लिया विमाणपविभत्ती अंगचूलिया वर(वं)गचूलिया वियाहचूलिया णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ २९४ ॥

बारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ गरुलोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ २९५ ॥

तेरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ उट्टाण(सु)परियावणिए समुट्टाणसुए देविंदोववाए णाग-परियावणिए णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ २९६ ॥

चोह(चउद)स-वास परियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ सि(सु)मिणभावणा णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ २९७ ॥

षण्णरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ चारणभावणा णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ २९८ ॥

सोलसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ तेयणीसंगे णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ २९९ ॥

सत्तरसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आसीविस-भावणा णामं अञ्जयणे उद्दिसित्तए ॥ ३०० ॥

अट्टारसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठीविसभावणा णामं
अञ्जयणे उद्दिस्सित्तए ॥ ३०१ ॥

एगूणवीसवासपरियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ दिट्ठिवाए णामं अंगे
उद्दिस्सित्तए ॥ ३०२ ॥

वीसवासपरियाए समणे णिग्गंथे सव्वसुयाणुवाइ भवइ ॥ ३०३ ॥

कठिन शब्दार्थ - तिवासपरियायस्स - तीन वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त,
आचारपकप्पे - आचार प्रकल्प - आचारांग सूत्र एवं निशीथ सूत्र, चउवासपरियायस्स -
चार वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त, सूयगडे णामं अंगे - सूत्रकृतांग नामक अंग,
पंचवासपरियायस्स - पाँच वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त, दसाकप्पववहारे -
दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार सूत्र, अट्टुवासपरियायस्स - आठ वर्ष तक के दीक्षा-
पर्याय से युक्त, ठाणसमवाए - स्थानांगसूत्र एवं समवायांग सूत्र, दसवासपरियायस्स - दस
वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त, वि(वाहे)वाहे णामं अंगे - व्याख्याप्रज्ञप्ति(भगवती)
नामक अंग सूत्र, एक्कारसवासपरियायस्स - ग्यारह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त,
खुट्ठिया विमाणपविभत्ती - क्षुल्लिका-विमान-प्रविभक्ति, महत्तिया विमाणपविभत्ती -
महती-विमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिया - अंगचूलिका, व(वं)गचूलिया - वर्गचूलिका,
वियाहचूलिया - व्याख्या-प्रज्ञप्ति चूलिका, बारसवासपरियायस्स - बारह वर्ष तक के
दीक्षा-पर्याय से युक्त, गरुलोववाए - गरुडोपपात, धरणोववाए - धरणोपपात, वेसमणोववाए-
वैश्रमणोपपात, वेल्धरोववाए - वेल्धरोपपात, तेरसवासपरियायस्स - तेरह वर्ष तक के
दीक्षा-पर्याय से युक्त, उट्टाण(सु)परियावणिणए - उत्थान परियापनिका, समुट्टाणसुए -
समुत्थानश्रुत, देविंदोववाए - देवेन्द्रोपपात, णागपरियावणिणए - नागपरियापनिका,
चोइ(चउद)सवासपरियायस्स - चवदह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त,
स्सि(सु)मिणभावणा - स्वप्नभावना, पण्णारसवासपरियायस्स - पन्द्रह वर्ष तक के दीक्षा-
पर्याय से युक्त, चारणभावणा - चारणभावना, सोलसवासपरियायस्स - सोलह वर्ष तक
के दीक्षा-पर्याय से युक्त, तेयणीसंगे - तेजोनिर्गम, सत्तरसवासपरियायस्स - सतरह वर्ष
तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त, आसीविसभावणा - आशीविषभावना, अट्टारसवासपरियायस्स-
अठारह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त, दिट्ठीविसभावणा - दृष्टिविषभावना,
एगूणवीसवासपरियायस्स - उन्नीस वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त, दिट्ठिवाए - दृष्टिवाद,

वीसवासपरियाए - बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय से युक्त, सव्वसुयाणुवाई - सर्वश्रुतानुपाती-सर्वश्रुतधारक।

भाष्यार्थ - २८९. तीन वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को आचारप्रकल्प नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२९०. चार वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को सूत्रकृतांग नामक (द्वितीय) अंग सूत्र पढाना कल्पता है।

२९१. पाँच वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, बृहत्कल्पसूत्र एवं व्यवहार सूत्र पढाना कल्पता है।

२९२. आठ वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्थानांग सूत्र एवं समवायांग सूत्र पढाना कल्पता है।

२९३. दस वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) नामक अंग सूत्र पढाना कल्पता है।

२९४. ग्यारह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को क्षुल्लिका-विमान-प्रविभक्ति, महती-विमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वर्गचूलिका एवं व्याख्याप्रज्ञप्ति चूलिका नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२९५. बारह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को गरुडोपपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात तथा वेलंधरोपपात नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२९६. तेरह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को उत्थानपरियापनिका, समुत्थानश्रुत, देवेन्द्रोपपात तथा नागपरियापनिका नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२९७. चवदह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को स्वप्नभावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२९८. पन्द्रह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को चारणभावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

२९९. सोलह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को तेजोनिर्गम नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३००. सतरह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को आशीविषभावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३०१. अठारह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टिविषभावना नामक अध्ययन पढाना कल्पता है।

३०२. उन्नीस वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को दृष्टिवाद नामक (बारहवां) अंग पढाना कल्पता है।

३०३. बीस वर्ष की दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ सर्वश्रुतानुपाती - सर्वश्रुतधारक होता है।

विवेचन - इन सूत्रों में दीक्षा-पर्याय की कालावधि या वर्षों के आधार पर श्रमण-निर्ग्रन्थों को आगमों का अध्ययन कराने का वर्णन हुआ है। उसका आशय - 'इतने-इतने वर्षों की दीक्षा-पर्याय में उपरोक्त सूत्रों में वर्णित आगमों का तो अध्ययन कर ही लेना चाहिए', ऐसा समझना आगम पाठों से उचित है।

ज्यों-ज्यों अध्ययन तथा साधना का समय बढ़ता जाता है त्यों-त्यों साधक में प्रज्ञाशक्ति अनुभूत प्रवणता तथा धारणा भी बढ़ती जाती है। वह गहन, गंभीर विषयों को स्वायत्त करने में समर्थ होता जाता है।

तीन वर्ष तक, चार वर्ष तक, पाँच वर्ष तक, आठ वर्ष तक तथा दस वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थों को जिन-जिन आगमों के अध्ययन कराने का, पढाने का निरूपण हुआ है, वे आगम आज उपलब्ध हैं।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि द्वादशांग का अन्तिम अंग दृष्टिवाद है, जो इस समय उपलब्ध नहीं है। दृष्टिवाद के पाँच विभाग माने गए हैं :- १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका।

ग्यारह वर्ष तक की दीक्षा-पर्याय से लेकर अठारह वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को जिन आगम शास्त्रों के पढाने का निर्देश है, उनका संबंध प्रायः दृष्टिवाद के पाँचवें अंग-चूलिका से संभव है।

उन्नीस वर्ष तक के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थों को समुच्चय रूप में सामान्यतः समग्र दृष्टिवाद का अध्ययन कराने का निर्देश है।

दृष्टिवाद के अन्तर्गत समस्त श्रुत का समावेश हो जाता है। भेद-प्रभेदात्मक दृष्टि से वह अत्यन्त विशाल है। उसका अध्ययन परिपक्व बुद्धि युक्त एवं अनुभव-निष्णात श्रमण-निर्ग्रन्थ ही करने में सक्षम होते हैं।

बीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय से युक्त श्रमण-निर्ग्रन्थ को, जो सर्वश्रुतानुपाती कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि वह समग्र श्रुत का अध्येता होता है।

तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को उपाध्याय, पाँच वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को आचार्य उपाध्याय और आठ वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाले को सब पदवियाँ देना बताया है। आचारांग निशीथ का ज्ञान किये बिना उपाध्याय की, दो अंग चार छेद के बिना आचार्य की और चार अंग और चार छेद के बिना शेष पदवियाँ नहीं दी जाती है। यदि तीन वर्षों तक आचार प्रकल्प आदि पढ़ाये ही नहीं जाते तो आगमकार तीन वर्षों में पद देने का विधान कैसे करते? अतः इस पाठ की तथा १०वें उद्देशक के पाठ 'तिवासपटियायस्स समणस्स णिग्गंथस्स कप्पइ आयाटपकप्पे णामं अज्झयणे उद्विसित्तए।' इन दोनों पाठों की संगति - 'साधारण क्षयोपशम वाले को भी ३ वर्ष आदि में आचार प्रकल्पादि का अध्ययन कर ही लेना चाहिए।' इस प्रकार अर्थ करने में संगति ब्रैठ जाती है। विशेष क्षयोपशम वाले धन्ना अनगार (अणुत्तरोववाई वर्णित) आदि अनेक साधकों ने तो नव महीने आदि की दीक्षा पर्याय में ही ११ अंगों का अध्ययन कर लिया था, इत्यादि अनेक प्रमाण मिलते हैं। अतः व्यवहार सूत्र उद्देशक में १० के उल्लेख को एकांत नियम रूप नहीं समझना चाहिए।

दशविध वैयावृत्य : महानिर्जरा

दसविहे वैयावच्चे पण्णत्ते, तंजहा-आयरियवेयावच्चे उवज्झायवेयावच्चे थेरवेयावच्चे तवस्सिवेयावच्चे सेहवेयावच्चे गिलाणवेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे कुलवेयावच्चे गणवेयावच्चे संघवेयावच्चे ॥ ३०४ ॥

आयरियवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥३०५ ॥

उवज्झायवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥३०६ ॥

थेरवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ३०७ ॥

तवस्सिवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥३०८ ॥

सेहवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ३०९ ॥

गिलाणवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥३१०॥

साहम्मियवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे
भवइ ॥३११॥

कुलवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ३१२ ॥

गणवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ३१३ ॥

संघवेयावच्चं करेमाणे समणे णिग्गंथे महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥ ३१४ ॥

त्ति बेमि ॥

॥ ववहारस्स दसमो उद्दसेओ समत्तो ॥ १० ॥

॥ ववहारसुत्तं समत्तं ॥

कठिन शब्दार्थ - दसविहे - दस प्रकार का, तवस्सिवेयावच्चे - तपस्वी-वैयावृत्य, गिलाण - ग्लान - रोग अथवा तप के कारण दुर्बल, क्षीण, महाणिज्जरे - महानिर्जरा - अत्यंत कर्म-क्षय करने वाला, महापज्जवसाणे - महापर्यवसान - सर्व कर्मक्षयकर - कर्मों के सभी प्रकारों का क्षय करने वाला।

भावार्थ - ३०४. दस प्रकार का वैयावृत्य परिज्ञापित - प्रतिपादित हुआ है, जो इस प्रकार है -

१. आचार्य-वैयावृत्य, २. उपाध्याय-वैयावृत्य, ३. स्थविर-वैयावृत्य, ४. तपस्वी-वैयावृत्य, ५. शैक्ष-वैयावृत्य, ६. ग्लान-वैयावृत्य, ७. साधर्मिक-वैयावृत्य, ८. कुल-वैयावृत्य, ९. गण-वैयावृत्य एवं १०. संब-वैयावृत्य।

३०५. आचार्य की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान - नाश करता है।

३०६. उपाध्याय की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान - नाश करता है।

३०७. स्थविर की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान-नाश करता है।

३०८. तपस्वी की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान-नाश करता है।

३०९. शैक्ष की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान-नाश करता है।

३१०. रोग-क्षीण, तप-क्षीण साधु की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान - नाश करता है।

३११. साधर्मिक की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान-नाश करता है।

३१२. कुल की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान - नाश करता है।

३१३. गण की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान-नाश करता है।

३१४. संघ की वैयावृत्य करता हुआ श्रमण-निर्ग्रन्थ कर्मों की अत्यन्त निर्जरा करता है, अत्यन्त पर्यवसान - नाश करता है।

विवेचन - इन सूत्रों में आचार्य, उपाध्याय आदि की वैयावृत्य - सेवा-परिचर्या का महान् फल निरूपित हुआ है।

तन्मयता, रुचि एवं श्रद्धापूर्वक सेवा करना बहुत कठिन कार्य है। वैसा करने में धीरता, स्थिरता और गंभीरता की बड़ी आवश्यकता होती है।

आचार्य, उपाध्याय एवं स्थविर संघ में माननीय आदरणीय और श्रद्धेय होते हैं। इनका सम्मान करना, सेवा करना प्रत्येक साधु का कर्तव्य है। इससे धर्म की प्रभावना होती है तथा धर्म संघ की प्रतिष्ठा बढ़ती है। वैयावृत्य करने वाले की आत्मा में विनयशीलता, ऋजुता एवं मृदुता आदि गुण वृद्धिगत होते हैं।

कर्मक्षय की दृष्टि से तपस्या का बहुत महत्त्व है। जो मुनि तपस्या करते हैं, अनशन आदि के परित्याग से उनकी दैहिक शक्ति कम हो जाती है, वे परिश्रान्त होते हैं। अपने दैनन्दिन कार्य करने में उन्हें कठिनाई होती है। अतः संघवर्ती साधु का यह कर्तव्य है कि वह उसकी सेवा-परिचर्या करे। इससे तपस्वी को अनुकूलता रहती है तथा सेवा करने वाले के आत्म-परिणाम उज्वल बनते हैं।

नवदीक्षित साधु की सेवा करने का इसलिए महत्त्व है कि उसे साधु-जीवन का अनुभव नहीं होता। क्योंकि अनुभव तो शनैः-शनैः समय बीतने पर ही प्राप्त होता है। अत एव उनकी वैयावृत्य उनको संयमपथ पर आगे बढ़ाने में सहायक होती है। ऐसी सेवा - परिचर्या करने वाले साधु के मन में उदारता, शालीनता एवं अध्यायत्म-पोषकता का भाव समुदित होता है।

जिन मुनियों का रुग्णता या तपस्या के कारण शरीर विशेष दुर्बल एवं क्षीण हो जाता है, उन्हें स्वयं अपने दैहिक कार्य करने में अत्यधिक कठिनाई होती है। अत एव उनकी सेवा करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो साधु उनकी वैयावृत्य करता है, उसकी आत्मा में सौम्यता, सहृदयता एवं सहयोगिता का उत्कृष्ट भाव उत्पन्न होता है।

एक साथ, एक गण या गच्छ में साधनाशील श्रमण-निर्ग्रन्थों का जीवन पारस्परिक सहयोग से ही चलता है। सामूहिक जीवन पारस्परिक सहयोग के बिना भलीभाँति चल नहीं सकता। प्रत्येक साधर्मिक को कभी न कभी, किसी सेवा कार्य की आवश्यकता हो ही जाती है। साधर्मियों की सेवा की परंपरा का महत्त्व होने के कारण उस समय उसे कोई कठिनाई नहीं होती। तत्काल सहयोग प्राप्त हो जाता है, अपेक्षित सेवा-परिचर्या प्राप्त हो जाती है। अत एव साधर्मिक-वैयावृत्य का भी अत्यन्त महत्त्व माना गया है।

उपर्युक्त दसों प्रकार के वैयावृत्य करने वाले श्रमण-निर्ग्रन्थों को महानिर्जरा और महापर्यवसान करने वाला बतलाया गया है। क्योंकि इन दसों ही प्रकार की वैयावृत्य करते समय, करने वाले की आत्मा में पवित्र एवं शुद्ध भावों का उद्गम होता है, जो महानिर्जरा तथा महा कर्मक्षय का हेतु होता है।

इन सूत्रों में प्रयुक्त महापर्यवसान(महापञ्चवसाणे) की व्युत्पत्ति इस प्रकार है -

“महत् - पुनः अबन्धकत्वेन पर्यवसानम् - ज्ञानावरणीयाद्यष्टविध-कर्मणाम्, परि - समन्तात् - आत्मप्रदेशात्, अवसानमन्तः, जातो यस्य स महापर्यवसानः।”

अर्थात् जिससे ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का, जो आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट हैं, सर्वथा नाश हो गया हो, वह यहाँ महापर्यवसान शब्द द्वारा अभिहित है।

आत्मा के निर्मल, उज्वल, शुद्ध परिणामों की धारा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लिष्ट कर्मपुद्गल निर्जीण होते जाते हैं - झड़ते जाते हैं। यह क्रम चलता रहे तो कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाता है, जीव मोक्षगामी बन जाता है।

इसी कारण यहाँ आचार्य, उपाध्याय आदि की तन्मयता, तत्परता तथा समर्पण भाव से सेवा-परिचर्या करने वाले श्रमण-निर्ग्रन्थ को महानिर्जरा एवं महापर्यवसान करने वाला कहा गया है।

इस सूत्र में गण और कुल शब्द का जो प्रयोग हुआ है, उनकी विशद् व्याख्या इस प्रकार है -

गण - भगवान् महावीर का श्रमण-संघ बहुत विशाल था। अनुशासन, व्यवस्था, संगठन, संचालन आदि की दृष्टि से उसकी अपनी अपनी अप्रतिम विशेषताएं थीं। फलतः उत्तरवर्ती समय में भी वह समीचीनतया चलता रहा, आज भी एक सीमा तक चल रहा है।

भगवान् महावीर के नौ गण थे, जिनका स्थानांग सूत्र में निर्मांकित रूप में उल्लेख हुआ है -

'समणस्स भगवओ महावीरस्स णव गणा होत्था। तंजहा - १. गोदासगणे २. उत्तर-बलिस्सहगणे, ३. उद्देहगणे ४. चारणगणे ५. उद्वाइयगणे ६. विस्सवाइयगणे ७. कामड्डियगणे ८. माणवगणे ९. कोडियगणे।' - स्थानांग-सूत्र - ९.२६

इन गणों की स्थापना का मुख्य आधार आगम-वाचना एवं धर्मक्रियानुशीलन की व्यवस्था था। अध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन श्रमण-जीवन का अपरिहार्य अंग है। जिन श्रमणों के अध्ययन की व्यवस्था एक साथ रहती थी, वे एक गण में समाविष्ट थे। अध्ययन के अतिरिक्त क्रिया अथवा अन्यान्य व्यवस्थाओं तथा कार्यों में भी उनका साहचर्य एवं ऐक्य था।

गणस्थ श्रमणों के अध्यापन तथा पर्यवेक्षण का कार्य गणधरों पर था। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे -

१. इन्द्रभूति २. अग्निभूति ३. वायुभूति ४. व्यक्त ५. सुधर्मा ६. मण्डित ७. मौर्यपुत्र ८. अकम्पित ९. अचलभ्राता १०. मेतार्य ११. प्रभास।

इन्द्रभूति भगवान् महावीर के प्रथम व प्रमुख गणधर थे। वे गौतम गोत्रीय थे, इसलिए आगम-वाङ्मय और जैन परम्परा में वे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम से सप्तम तक के गणधरों के अनुशासन में उनके अपने-अपने गण थे। अष्टम व नवम गणधर का सम्मिलित रूप में एक गण था। इसी प्रकार दशवें तथा ग्यारहवें गणधर का भी एक ही गण था। कहा जाता है कि श्रमण-संख्या कम होने के कारण इन दो-दो गणधरों के गणों को मिला कर एक-एक किया गया था।

अध्यापन, क्रियानुष्ठान की सुविधा एवं सुव्यवस्था रहे, इस हेतु गण पृथक्-पृथक् थे। वस्तुतः उनमें कोई मौलिक भेद नहीं था। वाचना का भी केवल शाब्दिक भेद था, अर्थ की दृष्टि से वे अभिन्न थीं। क्योंकि भगवान् महावीर ने अर्थ रूप में जो तत्त्व-निरूपण किया, भिन्न-भिन्न गणधरों ने अपने-अपने शब्दों में उसका संकलन या संग्रहन किया, जिसे वे अपने गण के श्रमण-समुदाय को सिखाते थे। अत एव गण विशेष की व्यवस्था करने वाले तथा उसे वाचना देने वाले गणधर का निर्वाण हो जाने पर उस गण का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। निर्वाणोन्मुख गणधर अपने निर्वाण से पूर्व दीर्घजीवी गणधर सुधर्मा के गण में उसका विलय कर देते।

भगवान् महावीर के संघ की यह परम्परा थी कि सभी गणों के श्रमण, जो भिन्न-भिन्न गणधरों के निर्देशन और अनुशासन में थे, प्रमुख पट्टधर के शिष्य माने जाते थे। इस परंपरा के अनुसार सभी श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के अनन्तर सहजतया सुधर्मा के शिष्य माने जाने लगे। यह परम्परा आगे भी चलती रही। भिन्न-भिन्न साधु मुमुक्षुजनों को आवश्यक होने पर दीक्षित तो कर लेते थे, पर परम्परा या व्यवस्था के अनुसार उसे अपने शिष्य रूप में नहीं लेते, दीक्षित व्यक्ति मुख्य पट्टधर का ही शिष्य माना जाता था।

यह बड़ी स्वस्थ परम्परा थी। जब तक रही, संघ बहुत सबल एवं सुव्यवस्थित रहा। वस्तुतः धर्म संघ का मुख्य आधार श्रमण-श्रमणी समुदाय ही है। उनके संबंध में जितनी अधिक जागरूकता और सावधानी बरती जाती है, संघ उतना ही स्थिर और दृढ़ बनता है।

भगवान् महावीर के समय से चलती आई गुरु शिष्य परम्परा का आचार्य भद्रबाहु तक निर्वाह होता रहा। उनके बाद इस क्रम ने एक नया मोड़ लिया। तब तक श्रमणों की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। भगवान् महावीर के समय व्यवस्था की दृष्टि से गणों के रूप में संघ का जो विभाजन था, वह यथावत् रूप में नहीं चल पाया। सारे संघ का नेतृत्व एक मात्र पट्टधर पर होता था, वह भी आर्य जम्बू तक तो चल सका, आगे संभव नहीं रहा। फलतः उत्तरवर्ती काल में संघ में से समय-समय पर भिन्न-भिन्न नामों से पृथक्-पृथक् समुदाय निकले, जो 'गण' नाम से अभिहित हुए।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् महावीर के समय में 'गण' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त था, आगे चल कर उसका अर्थ परिवर्तित हो गया। भगवान् महावीर के आदेशानुवर्ती

गण संघ के निरपेक्ष भाग नहीं थे, परस्पर सापेक्ष थे। आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर जो 'गण' निकले वे एक दूसरे से निरपेक्ष हो गये। फलतः दीक्षित श्रमणों के शिष्यत्व का ऐक्य नहीं रहा। जिस समुदाय में वे दीक्षित होते, उस समुदाय या गण के प्रधान के शिष्य कहे जाते।

कुल - श्रमणों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। गणों के रूप में जो इकाइयाँ निष्पन्न हुई थीं उनका रूप भी विशाल होता गया। तब स्यात् गण व्यवस्थापकों को वृहत् साधु-समुदाय की व्यवस्था करने में कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ हो। क्योंकि अनुशासन में बने रहना बहुत बड़ी सहिष्णुता और धैर्य की अपेक्षा रखता है। हर कोई अपने उदीप्त अहं का हनन नहीं कर पाता। अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं, जिनसे व्यवस्थाक्रम में कुछ और परिवर्तन आया। जो समुदाय गण के नाम से अभिहित होते थे, वे कुलात्मक इकाइयों में विभक्त हुए।

इसका मुख्य कारण और भी है। जहाँ प्रारम्भ में बिहार और उसके आस-पास के क्षेत्र में जैन धर्म प्रसृत था, उसके स्थान पर उसका प्रसार क्रम तब तक काफी बढ़ चुका था। श्रमण दूर-दूर के क्षेत्रों में विहार, प्रवास करने लगे थे। जैन श्रमण बाह्य साधनों का मर्यादित उपयोग करते थे, अब भी वैसा है। अत एव यह संभव नहीं था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पर्यटन करने वाले मुनिगण का पारस्परिक सम्पर्क बना रहे। दूरवर्ती स्थान से आकर मिल लेना भी संभव नहीं था, क्योंकि जैन श्रमण पद-यात्रा करते हैं। ऐसी स्थिति में जो-जो श्रमण-समुदाय विभिन्न स्थानों पर विहार करते थे, वे दीक्षार्थी मुमुक्षुजनों को स्वयं अपने शिष्य रूप में दीक्षित करने लगे। उनका दीक्षित श्रमण-समुदाय उनका 'कुल' कहलाने लगा। यद्यपि ऐसी स्थिति आने से पहले भी स्थविर-श्रमण दीक्षार्थियों को दीक्षित करते थे, परन्तु दीक्षित श्रमण मुख्य पट्टधर या आचार्य के ही शिष्य माने जाते थे। परिवर्तित दशा में ऐसा नहीं रहा। दीक्षा देने वाले दीक्षा गुरु और दीक्षित उनके शिष्य - ऐसा सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इससे संघीय ऐक्य की परम्परा विच्छिन्न हो गई और कुल के रूप में एक स्वायत्त इकाई प्रतिष्ठित हो गई।

भगवती सूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेवसूरि एक स्थान पर कुल का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं -

“एत्थ कुलं विण्णेरं, एगायटियस्स संतई जाउ।

तिण्ह कुलानमिहं पुण, सावेक्खारणं गणो होई ॥” - भग०सूत्र, श० ८, उ० ८ वृत्ति

(एतत् कुलं विज्ञेयम्, एकाचार्यस्य सन्ततिर्यातु।

त्रयाणां कुलानामिह पुनः, सापेक्षाणां गणं भवति ॥)

एक आचार्य की सन्तति या शिष्य परम्परा को कुल समझना चाहिए। तीन परस्पर सापेक्ष कुलों का एक गण होता है।

पंचवस्तुक टीका* में तीन कुलों के स्थान पर परस्पर-सापेक्ष अनेक कुलों के श्रमणों के समुदाय को गण कहा है।

प्रतीत होता है कि उत्तरोत्तर कुलों की संख्या बढ़ती गई। छोटे-छोटे समुदायों के रूप में उनका बहुत विस्तार होता गया। यद्यपि कल्पस्थविरावली में जिनका उल्लेख हुआ है, वे बहुत थोड़े से हैं पर जहाँ कुल के श्रमणों की संख्या नौ तक मान ली गई, उससे उक्त तथ्य अनुमेय है। पृथक्-पृथक् समुदायों या समूहों के रूप में विभक्त रहने पर भी ये भिन्न-भिन्न गणों से सम्बद्ध रहते थे। एक गण में कम से कम तीन कुलों का होना आवश्यक था। अन्यथा गण की परिभाषा में वह नहीं आता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक गण में कम से कम तीन कुल अर्थात् तदन्तर्वर्ती कम से कम सत्ताईस साधु तथा एक उनका अधिनेता, गणपति या आचार्य - कुल अट्ठाईस सदस्यों का होना आवश्यक माना गया। ऐसा होने पर ही गण को प्राप्त अधिकार उसे सुलभ हो सकते थे। यह न्यूनतम संख्या-क्रम है। इससे अधिक चाहे जितनी बड़ी संख्या में श्रमणवृन्द उसमें समाविष्ट हो सकते थे।

सभी गणों, गच्छों तथा कुलों का सामंष्टिक नाम संघ है।

॥ व्यवहार सूत्र का दसवां उद्देशक समाप्त ॥

॥ व्यवहार सूत्र समाप्त ॥

॥ त्रीणि षेदसूत्राणि समाप्त ॥

* परस्परसापेक्षणामनेककुलानां साधूनां समुदाये।

- पंचवस्तुक टीका द्वार - १

